प्रकाशक
विनोदचन्द्र पाण्डेय
निदेशक,
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९८३

प्रतियाँ १६००

मूल्य : रु० २७'००

मुद्रक
भार्गव भूषण प्रेस,
त्रिलोचन, वाराणसी
७/११-८२

प्रकाशकीय

भारतीय औषधियाँ नामक प्रस्तुत ग्रथ कर्नल सर आर० एन० चोपडा लिखित 'इण्डिजेनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया—देयर मेडिकल ऐण्ड एकानॉमिक आस्पेक्टस' नामक ग्रथ के द्वितीय सस्करण का अनुवाद है जो हिन्दी मे प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि इस ग्रथ का श्रीगणेश पटना विश्वविद्यालय मे १९२९-३० मे सुखराज राय रीडरशिप व्याख्यान माला के अन्तर्गत प्रकृति विज्ञान पर दिए गए डॉ० चोपडा के व्याख्यानो से हो जाना था, पर पुस्तक रूप मे इसके प्रथम सस्करण का प्रकाशन स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन, कलकत्ता के अन्तर्गत नवम्बर, १९३२ में हुआ। इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही चिकित्सीय तथा भैपजिक वृत्ति वालो, शोधकर्ताओ, भेपज निर्माताओ तथा साधारण जनता ने इसका इतना अधिक स्वागत किया कि अल्पकाल मे ही इस सस्करण की सब प्रतियाँ बिक गयी। इसके हिन्दी अनुवाद करने की माँग तभी से प्रारभ हो गयी थी। भारतीय औषधियो के प्रभाव को देखकर पाश्चात्य देशो के चिकित्सक भी इसमे रुचि लेने लगे थे और राउल्फिया सर्पेण्टाइना (सर्पगन्धा) जैसे भेपजो की विशेप चर्चा होने लगी थी। स्वय हमारे देश में ही भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिपद, भारतीय कृषि अनुसधान परिपद तथा वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिपद जैसे सघटनो के प्रोत्साहन से इसे विशेप गति मिली, फिर भी इसके दूसरे सस्करण के प्रकाशन मे २५-२६ वर्ष लग गए और ड्रग रिसर्च लेबोरेटरी जम्मू-कश्मीर के विशेप सहयोग से अप्रैल, १९५८ मे इसका प्रकाशन सभव हो पाया। इसमे भाग ४ जो भारतीय मैटीरिया मेडिका से सम्बन्धित है, फिर से लिखा गया और उसमें कई नये अध्याय जोडे गए। यह कर्नल आर० एन० चोपडा और उनके सहयोगियो के ४० वर्षो के अध्ययन और अध्यवसाय का प्रतिफल है, जिसमे प्रमुख यूनानी तथा आयुर्वेदिक चिकित्सको, सुप्रसिद्ध भेपज निर्माताओ और शोधकर्ताओं का बहुमूल्य योगदान है। आयुर्वेद के तथा अन्य द्रव्यो का इसमे विस्तृत विवेचन है।

अष्टाग आयुर्वेद के अतर्गत सुश्रुत-शल्यविज्ञान और चरक-चिकित्सा विज्ञान की बहुमूल्य उपलब्धियो ने विश्व के चिकित्सको को विशेप आकर्षित किया। बारह अध्यायो मे द्रव्य-गुण शास्त्र (Materia Medica) का विलक्षण वर्णन और औषधियो की सेवन विधियो का वैविध्य भी कम विस्मयकारी नही था। चरक ने केवल एकल औषधियो को ५० वर्गों मे विभाजित किया है। उस समय भी इजेक्शन द्वारा औषधि प्रवेश करने का विधान पाया जाना कम कौतूहलपूर्ण नही था। सवेदनाहारी द्रव्यो

(Anaesthetics) का भी ज्ञान किसी न किसी रूप मे पाया जाता है, भोज प्रबंध (१० वी सदी) में ऐसे द्रव्यो का उल्लेख है। उससे भी पूर्व बौद्ध काल मे सम्मोहिनी नामक द्रव्य का प्रयोग विशेष चर्चित है।

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद फार्मास्यूटिक्स विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर एव विभागाध्यक्ष, डॉ० सकठा प्रसाद के अध्ययन और अध्यवसाय का प्रतिफल है। उन्होने जब अनुवाद कार्य प्रारम्भ किया था उस समय चिकित्सा सम्बन्धी कोई मानक शब्दावली उपलब्ध नही थी, अतएव प्रारम्भ मे उन्हे डॉ० रघुवीर के अंग्रेजी हिन्दी कोष का आधार लेना पडा। बाद मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत तथा प्रकाशित विज्ञान शब्दावली (१९६४ ई०) तथा आयुर्विज्ञान शब्दावली (१९६७ ई०) उपलब्ध हो जाने पर समस्त पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण करना पडा जिससे उसको अन्तिम रूप देने मे अनावश्यक विलम्ब हो गया। इस रूप में भी यह हिन्दी अनुवाद ३१-५-७५ को समिति को प्राप्त हो गया था पर प्रमादवश अभी तक पडा रहा। यद्यपि इस बीच इस क्षेत्र मे काफी महत्वपूर्ण अनुसधान हो चुके हैं पर उनकी प्रतीक्षा मे इस बहुमूल्य ज्ञानराशि से चिकित्सको, भेषज निर्माताओ और प्रबुद्ध शोधार्थियो को वचित रखना सामाजिक हित और वैज्ञानिक अध्ययन दोनो के हक मे हानिकारक है। अतएव क्षमा याचना सहित यह विनम्र प्रयास देश-विदेश व चिकित्सा प्रेमियो की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्वत्जनो और प्रयोगकर्ताओ के सुझावो का पूरा लाभ अगले सस्करण मे समाहित करने का प्रयत्न किया जायगा। हिन्दी सस्थान डॉ० सकठा प्रसाद के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हुआ, उनके द्वारा अगले सस्करण को पूर्ण समृद्ध और समसामयिक बना सकने के प्रति आशान्वित है।

शिव मगल सिंह 'सुमन'
उपाध्यक्ष

समर्पण

प्रोफेसर एम० एस० थैकर

को

भारत की औषधीय वनस्पतियो के प्रति उनकी
विशेष अभिरुचि के लिए

–आर० एन० चोपडा

TIN 08051602286

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्लाट न 1, झालाना सास्थानिक क्षेत्र, जयपुर–4

Phone 0141-2711129, Fax 0141-2710341
Web Site www rajhga org

नकद पत्र संख्या : 319

नकद पत्र पुस्तक प्रदर्शनी

दिनांक : 25/11/2005

नाम

मात्रा	पुस्तक का नाम	दर	राशि	अकादमी	अन्य विवरण
0	*पिछला शेष*		0 00		
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 1 अक 1 जुलाई 1971	6 00	6 00	R-RHPT	
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 1 जुलाई 1972	6 00	6 00	R-RHPT	
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 1 जुलाई 1972	6 00	6 00	R-RHPT	
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 2 अक 2 दिसम्बर 1972	6 00	6 00	R-RHPT	
1	इतिहास समीक्षा वर्ष 3 अक 1 जुलाई 1973	6 00	6 00	R-RHPT	

5

सकल राशि	30 00
0 % या सकल राशि की पूर्णता हेतु छूट की राशि	0 00
शुद्ध राशि	30 00

नोट – बेची हुई पुस्तके वापिस नही होगी।
भूल–चूक लेनी देनी।

जाच कर्ता

प्रभारी

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'इण्डिजेनस ड्रग्स आफ इण्डिया—देयर मेडिकल ऐण्ड इकॉनॉमिक आस्पेक्ट्स' के प्रथम संस्करण का चिकित्सीय तथा भेषजिक वृत्ति वालो, शोधकर्त्ता, भेषज निर्माता और साधारण जनता ने इतना अधिक स्वागत किया कि थोडे ही समय मे इस संस्करण की सब प्रतियाँ चुक गयी। फिर भी इस ग्रन्थ की माँग बराबर बनी रही और सुझाव दिया गया कि इसे इसी रूप में पुन प्रकाशित किया जाय। कुछ लोगों ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने की अनुमति भी चाही जिससे देशी चिकित्सक-वृन्द तथा इस विषय में रुचि रखने वाले दूसरे लोग इसका उपयोग कर सकें। इन दोनो प्रस्तावो पर विचार किया गया पर इन्हे स्वीकार नही किया जा सका, क्योकि कालान्तराल के कारण प्रथम संस्करण की विषय सामग्री पुरानी हो गयी थी। पहले संस्करण के प्रकाशित होने के बाद से लगभग चौथाई शताब्दी की अवधि मे लोगों की अभिरुचि इस विषय मे बढ गयी थी और देश तथा विदेश में बहुत शोध कार्य किया जा चुका था। स्वय हमारे देश में ही 'भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान-परिषद्', 'भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद्', तथा 'वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान-परिषद्' जैसे सगठनो ने इस विषय पर अनुसन्धान कार्य करने के लिए बहुत प्रोत्साहन दिया था। अन्य लोगो ने भी इस विषय मे रुचि रखनेवाले शोधकर्त्ताओं को प्रायोगिक अनुसन्धान के लिए उदार अनुदान दिया था। विश्वविद्यालयो तथा महाविद्यालयो की प्रयोगशालाओं में पर्याप्त मौलिक शोध हुए थे और भेषजो के रासायनिक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य किये गये थे। लब्ध-प्रतिष्ठ चिकित्सको द्वारा रोगियो पर परीक्षण करके ऐसी कई औषधियो का पता लगाया गया था जो रोग-ग्रस्त मनुष्यो के कष्ट निवारण मे लाभप्रद सिद्ध हो सकती थी। पाश्चात्य देशो के चिकित्सक भी इस विषय में रुचि लेने लगे थे और राउल्फिया सर्पेण्टाइना जैसे भेषज की बहुत चर्चा होने लगी थी और उससे निर्मित योगो की माँग बहुत बढ गयी थी।

इन सब कार्यों के परिणामस्वरूप अत्यधिक सख्या में शोध-पत्र, विनिबन्ध और पुस्तकें प्रकाशित हुई। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि इन सबको पढकर जो आवश्यक सूचना उपलब्ध हो उसका समावेश द्वितीय संस्करण मे कर लिया जाय।

यह कार्य एक दशक पूर्व आरम्भ किया गया और वरिष्ठ लेखक ने जम्मू एव कश्मीर स्थित ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी के अपने सहयोगियो की सहायता से आवश्यक सामग्री इकट्ठा करना आरम्भ कर दिया जिससे इस विषय पर व्यापक तथा अद्यतन समीक्षा प्रस्तुत की जा सके। वर्तमान लेखको का यह प्रयास रहा है कि यह नया संस्करण भली-भाँति सशोधित हो और इस विषय पर जो कुछ भी अद्यावधि (शोध) कार्य भारतवर्ष मे तथा विदेशो मे हुआ हो उन सबको इसमें समाविष्ट किया जाय। इसी कारण इस द्वितीय सस्करण को निकालने मे इतना विलम्ब हुआ।

सामान्यतया भारत के औषधीय पादपो पर और विशेषकर भारतीय औषधियो पर शोध-कार्य मे सक्रिय रूप से लगे रहने से प्रस्तुत ग्रन्थकारो को उपरोक्त कार्य में बडी सुगमता मिली। वस्तुत ऐसा अन्वेषण कार्य वरिष्ठ ग्रन्थकार ने कलकत्ता के 'स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' में ही आरम्भ कर दिया था जिसे उसने बिना व्यवधान के जम्मू एव कश्मीर स्थित 'ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी' में न केवल चालू ही रखा, बल्कि इसके निदेशक के रूप में उसका विस्तार करने में तथा त्वरितगति से कार्यान्वित करने मे सफलता प्राप्त की। जम्मू एव कश्मीर राज्य मे सभी प्रकार के औषधीय पादप विशेषकर प्रचुरता से उगते है, इसलिए शोध कार्य के लिए वे सरलता से उपलब्ध हो जाते है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थकार भेषज सम्बन्धी शोध कार्य के अद्यतन स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे।

इस सस्करण में भी विषय-सूची को पाँच बडे भागो में विभाजित रहने दिया गया है। प्राय प्रत्येक भाग और खण्ड का सशोधन करके उसमे पर्याप्त वृद्धि की गयी है, और वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित जो भी जानकारी ग्रन्थो और शोध पत्रिकाओ से उपलब्ध हुई है उसे इसमें समाविष्ट किया गया है। भारतीय भेषज कोश को बनाने के सम्बन्ध मे तथा पौधो के रासायनिक सघटन और शरीरक्रियात्मक गुणो का उनके वानस्पतिक वर्गीकरण से जो सह-सम्बन्ध है उसके विषय में कुछ नये अध्याय भाग १ में जोडे गये हैं।

भाग २ में भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषजो का वर्णन किया गया है तथा उनके आर्थिक पक्ष का भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

भाग ३ मे उन सब औषधियो का वर्णन किया गया है जो देशी चिकित्सा में व्यवहृत होती हैं। वानस्पतिक स्रोतो से उपलब्ध भेषजो से सम्बन्धित खण्ड का बहुत विस्तार कर दिया गया है और इसमें भेषजो की संख्या प्रथम सस्करण में वर्णित भेषजो की सख्या से लगभग दुगुनी कर दी गयी है। इस खण्ड में जो जानकारी दी गयी है वह भारतवर्ष में किये गये शोध कार्यो पर मुख्यत आधारित है, पर विदेशों में की गयी

गवेषणा को भी समाविष्ट किया गया है। इसमें भेपजो का रासायनिक संघटन, उनसे पृथक्कृत सक्रिय तत्त्वो का गुण-कर्म तथा रोगियों पर परीक्षणो के परिणाम दिये गये हैं। सामान्य बूटियो की कृपि तथा उपयोग (विदोहन) से सम्बन्धित आर्थिक पक्ष का भी विवेचन सक्षिप्त रूप से किया गया है। भेपजो के प्राय सभी नाम जो भारत के विभिन्न भागो मे वहाँ की स्थानीय भाषाओ में व्यवहृत होते हैं, दिये गये हैं, जबकि प्रथम सस्करण में केवल महत्त्वपूर्ण नाम ही दिये गये थे। खनिज स्रोत से उपलब्ध अनेक औषधियो का जो देशी चिकित्सा मे साधारणतः प्रयुक्त होती हैं, वर्णन अलग खण्ड में दिया गया है। अभ्रक-भस्म, वङ्ग-भस्म, लौह-भस्म, स्वर्ण-भस्म तथा रौप्य भस्म जैसे प्रमुख खनिज भस्मों का विस्तृत वर्णन उनके तैयार करने और शोधन की विधियों और प्रयोग के सम्बन्ध मे जानकारी दी गयी है। इसी भाग में जान्तव स्रोत से उपलब्ध औषधियो का भी वर्णन किया गया है।

भाग ४ जो भारतीय मैटीरिया मेडिका से सम्बन्धित है, फिर से लिखा गया है और उसमे कई नये अध्याय जोडे गये हैं। यद्यपि खण्ड १ के अध्याय 'अ' में वानस्पतिक उत्पाद शब्दावली के अन्तर्गत भेपजो की सख्या कम कर दी गयी है, तथापि देशी चिकित्सा में साधारणत. व्यवहृत भेपजो के सम्बन्ध में अधिक जानकारी दी गयी है। इस सूची को तैयार करने में प्रमुख आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सकों, सुप्रसिद्ध भेपज-निर्माताओ और शोधकर्त्ताओं से परामर्श लिया गया है। साधारण रूप से व्यवहृत भेपजो के देशी भाषाओ में नाम यथासम्भव दिये गये हैं। इससे इन स्थानीय नामों से परिचित पाठकों को किसी भी पौधे को पहचानने में सुविधा होगी तथा पौधो के सक्रिय तत्त्वों, चिकित्सीय उपयोगो और उनके उत्पत्ति-स्थानो के सम्बन्ध में सक्षिप्त जानकारी मिलेगी। चिकित्सीय पौधो से सम्बन्धित जो भी महत्त्वपूर्ण सदर्भ भारत, यूरोप एवं अमेरिका में १९५७ ई० तक प्रकाशित हुए हैं, इसमें दिये गये हैं, जिससे ऐसी आशा है कि इस ग्रन्थ की उपयोगिता शोधकर्त्ताओं के लिए बहुत बढ जायगी।

खण्ड २ में पाँच नये अध्याय जोडे गये हैं जिनमें क्रमश ऐसे पौधो का वर्णन है जो विपैले गुण वाले माने जाते है, जो त्वक्-क्षोभ पैदा कर सकते हैं, जो गर्भस्रावक तथा आर्त्तवजनक के रूप में प्रसिद्ध हैं, जो कीटनाशी एव कीटनिवारक हैं तथा जो मत्स्यनाशी हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में शब्दावली (ग्लॉसरी) दी गयी है। खण्ड ३ मे चार नये अध्याय जोडे गये हैं जिनमें ऐसे पौधो की सूची दी गयी है जिन्हें क्रमश पूतिरोधी, यक्ष्मारोधी तथा अतिसाररोधी गुणो के कारण ख्याति प्राप्त है। हैजा तथा दीर्घकालिक ज्वर के उपचार में जिन भेपजो को देशी चिकित्सा में लाभप्रद

माना जाता है उनकी सूची भी दी गयी है। खण्ड ४ में चार नये अध्याय दिये गये है जिनमें सुरभि तथा वाष्पशील तैल वाले पौधो, लाइकेन एवं फर्न के चिकित्सीय तथा अन्य उपयोगो का वर्णन किया गया है; भारत में साधारणतौर से उगने वाले खाद्य मासल कवकों तथा विषैले छत्रको का भी सक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है।

भारतवर्ष के वनस्पति-समूह में सुरभि तथा वाष्पशील तैल वाले पादपो का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है जिसमें कई देशी चिकित्सा मे प्रयुक्त होते हैं। मनुष्यो के भिन्न-भिन्न क्रिया-कलाप में सगन्ध अथवा वाष्पशील तैल की उपयोगिता बहुत अधिक है और देश की अर्थ-व्यवस्था में इस उद्योग का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसलिए इस खण्ड में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। भिन्न-भिन्न पादपो का तथा उनके उन भागो का जिनसे तेल निकाला जाता है, और उनके उपयोगो के सम्बन्ध मे वर्णन किया गया है।

भाग ५ में उन भेषजो का वर्णन किया गया है जो भारत के बाजारो में साधारण तौर से पाये जाते हैं। उनको नवीनतम नाम-पद्धति के अनुसार पुन व्यवस्थित किया गया है तथा कुछ भेषजो के पर्याय उनके अन्त सन्दर्भ के साथ दिये गये हे।

ग्रन्थ के अन्त में (द्रव्यो के) वैज्ञानिक नामो की वर्णानुक्रमणिका और भारताय भाषाओ में व्यवहृत साधारण तथा लोकप्रिय नामो की वर्णानुक्रमिका के अतिरिक्त रासायनिक सघटको की वर्णानुक्रमणिका अलग से दी गयी है जिससे ग्रन्थ में उनको ढूंढ निकालने मे सुविधा हो।

इस ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण वरिष्ठ ग्रन्थकार के इस विषय पर ४० वर्षों के सूक्ष्म अध्ययन और प्रयोगात्मक कार्यों पर आधारित है। देशी भेपजो से सम्बन्धित पूरे विषय का सर्वतोमुखी तथा साथ ही सक्षिप्त वर्णन, आधुनिक चिकित्सा-पद्धति में इसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए, करने का प्रयास किया गया है। लेखको को पूर्ण आशा है कि जिस उद्देश्य को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है उसकी पूर्ति में यह सक्षम होगा, अर्थात् इन भेषजो के द्वारा मनुष्यो का कष्ट निवारण होगा और देश में उगने वाले औषधीय पादपो के समुपयोजन से आर्थिक लाभ होगा। हम आशा करते है कि इस सस्करण का प्रथम सस्करण जैसा ही स्वागत किया जायेगा।

हम डा० आई० बी० बोस के प्रति उनकी बहुमूल्य सहायता के लिए आभार प्रगट करते है। उन्होने पाण्डुलिपि तथा सन्दर्भों का अन्तिम निरीक्षण, प्रूफ पढने तथा ग्रन्थ के प्रकाशित होने तक का सारा भार सम्हाला। प्रूफ सशोधन में जो सतर्कता उन्होंने वरती तथा इस ग्रन्थ की प्रगति में हर समय जो बहुमूल्य सुझाव दिये उससे इस ग्रन्थ की अनेक दोषो से रक्षा हो पायी। हम उनकी इस अमूल्य सहायता और सुझाव के लिए अत्यन्त कृतज्ञ हैं। प्रूफ पढने तथा बहुमूल्य सुझाव देने के लिए हम

श्री एस. एन. सोव्ती तथा श्री बालकृष्ण के आभारी हैं। भारत के बाजारों में साधारण तौर से जो भेषज पाये जाते हैं उनका वर्णन जिस खण्ड (भाग ५) मे दिया गया है उसके निरीक्षण में तथा भेषजो के नामो की जाँच में जो सहायता श्री आर० एल० बधवार ने दी है उसके लिए हम उनका आभार मानते हैं। वर्णानु-क्रमणिका तय्यार करने मे श्री बी. पी. अग्नोल को जो कठोर परिश्रम करना पडा उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। कलकत्ता के के पी बसु मुद्रण-कार्यालय के मुद्रको के उनकी पर्याप्त तत्परता से ग्रन्थ के प्रकाशन मे सहयोग के लिए हम ऋणी हैं तथा कलकत्ता के यू एन धर ऐण्ड सन्स लिमिटेड के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, जिन्होने अनेक कठिनाइयो के रहते हुए भी इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया है।

आर. एन. चोपड़ा
आइ. सी. चोपडा
के. एल. हाण्डा
एल. डी. कपूर

ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी
जम्मू-कश्मीर
अप्रैल, १९५८

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

भारतीय औषधियो से सम्बन्धित कई पुस्तकें गत वर्षों में प्रकाशित हुई है, फिर भी इस नवीन ग्रन्थ को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में क्षमा-याचना की कोई आवश्यकता नही है। विषय पुराना है, फिर भी लोगो की अभिरुचि इसमे कम नही हुई है। बल्कि ऐसा विश्वास करने का कारण है कि चिकित्सको तथा साधारण जनता का ध्यान इस ओर और भी बढ रहा है। ऐसा समझा जाता है कि देशी चिकित्सा-पद्धति के द्रव्य-गुण-शास्त्र से अन्वेषण और शोध द्वारा ऐसी अनेक औषधियो को वैज्ञानिक समुदाय को उपलब्ध कराया जा सकता है जिनसे मनुष्यो का कष्ट दूर हो सके। यद्यपि भारतीय भेषजो पर क्रमबद्ध अध्ययन लगभग एक शताब्दी पूर्व आरम्भ हो गया था और उस समय के यूरोपीय तथा भारतीय शोधकर्त्ताओ द्वारा सराहनीय प्रयास भी किये गये थे, पर प्रगति धीमी रही। इसका कारण ढूँढने दूर नही जाना है। पौधो के रासायनिक अन्वेषण की वैज्ञानिक विधियाँ लगभग ३० वर्षों से ही ज्ञात हुई हैं। शरीरक्रियात्मक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी परीक्षणो के लिए समुचित उपकरणयुक्त प्रयोगशालाएँ भारत में अभी कुछ वर्षों पूर्व तक नही थी तथा औषधियो का चिकित्सीय मूल्याकन करने के लिए उपयुक्त शोध अस्पताल भी नही थे। कलकत्ता के 'ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन' में फार्माकॉलोजी के प्राध्यापक के रूप मे तथा 'कार्माइकेल अस्पताल' मे ट्रॉपिकल डिजीजेज (उष्ण-कटिबन्धीय रोगो) के चिकित्सक के रूप में मेरा सौभाग्य था कि मेरे आधीन न केवल उपकरण-सम्पन्न रासायनिक तथा फार्माकॉलोजीय प्रयोगशालाएँ थी, बल्कि रोगियो पर परीक्षण करने की पूरी सुविधा उपलब्ध थी। उपरोक्त स्कूल में मेरे सहयोगियो की सहकारिता तथा चिकित्सा के विभिन्न महत्वपूर्ण क्षेत्रो में विशेषज्ञो का योगदान मिलने से मेरे कार्य मे अपेक्षाकृत कम कठिनाई हुई। भारतीय रिसर्च फण्ड एसोसिएशन का उदार अनुदान प्राप्त होने से मैं इन भेषजो का अध्ययन सभी स्तरो पर करने में सफल रहा।

इस ग्रन्थ में अनुसन्धान-अध्ययन के इन्ही परिणामो को चिकित्सको, शोधको, भेषजिक रसायनज्ञो और भेषज-निर्माताओ के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ मे समाविष्ट सामग्री मुख्यत उन सब शोध कार्यों पर आधारित है जिन्हें मैंने तथा मेरे सहयोगियो ने फर्माकॉलोजी तथा रसायन विभाग मे सम्पादित किया था, फिर भी भारतीय औषधियो पर जो कुछ भी अनुसधान हाल में हुआ है उन सबका साराश पाठको की सुविधा के लिए इसमे दिया गया है।

इस ग्रन्थ को ५ भागो मे विभाजित किया गया है। देशी औपधियो के विस्तृत क्षेत्र में शोध की जो आवश्यकता है उसके सम्बन्ध में सामान्य विवेचन तथा इस कार्यक्रम में जिन समस्याओ का सामना मुझे करना पडा, उन सब बातो का समावेश प्रथम भाग में किया गया है। 'भारतीय औपधियां' पद का प्रयोग व्यापक रूप में किया गया है, और इसके अन्तर्गत न केवल वे भेपज आते हैं जो मूलत भारतीय है, अपितु वे सब भेषज भी समाविष्ट है जो विदेशो से लाकर यहां किसी न किसी समय कृषि द्वारा उगाये गये है और अब पूर्णत यहां को जलवायु तथा मिट्टी के अनुकूल हो गये हैं। इस भाग मे यह स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि शोधकर्ता को किस दिशा मे प्रयास करना चाहिये जिससे लाभप्रद परिणाम उपलब्ध हो। मितव्ययिता किस प्रकार लायी जाये जिससे भारत की गरीब जनता को उसके साधन के भीतर रोग-उपचार सुलभ हो सके और परिष्कृत तथा तैयार औषधियो के स्थान पर अपरिष्कृत भेपजो का जो अपेक्षाकृत सस्ते हैं, प्रयोग क्यों वाछनीय है, इन बातो का विवेचन किया गया है। महत्त्वपूर्ण औपधीय पादपो की कृषि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी दी गयी है। ऐसी आशा है कि उन सब लोगो को जो भारत के औपधीय पादपो के अध्ययन मे रुचि रखते है तथा देश को औषधि-क्षेत्र मे आत्म-निर्भर बनाना चाहते हैं, इस भाग के अनुशीलन से प्रभूत जानकारी मिलेगी।

द्वितीय भाग मे भेपजकोशीय तथा सम्बद्ध भेपजो का वर्णन किया गया है। इस भाग में इन भेपजो के वानस्पतिक, रासायनिक, गुण-कर्म सम्बन्धी तथा चिकित्सीय जानकारी विस्तृत रूप से नही दी गयी हैं जो तत्सम्बन्धी किसी भी मानक ग्रन्थ मे उपलब्ध है। इस भाग में पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करने का मेरा सतत् प्रयास रहा है कि भारत में इन औपधियों के सम्बन्ध में अत्यधिक सम्भावनाएँ विद्यमान है और यदि इन्हें समुचित ढग से उपयोग में लाया जाय तो देश आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभान्वित हो सकेगा। देशी औपधियो से सम्बन्धित समस्या के इस पक्ष पर देश के चिकित्सको और भेपजज्ञो का ध्यान बहुत कम या बिलकुल ही नही गया है।

तृतीय भाग देशी चिकित्सा में व्यवहृत औपधियो के सम्बन्ध मे है। पाठको के समक्ष इन भेपजो का रासायनिक सघटन, गुण-कर्म तथा चिकित्सीय उपयोगिता का सक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहा है। ऐसी आशा की जाती है कि इस जानकारी से चिकित्सको तथा अन्य लोगो को जो इसमें अभिरुचि रखते है, किसी भेपज के गुण-दोष का विवेचन करने मे तथा उसके प्रयोग मे लाने या न लाने का निर्णय करने में सहायता मिलेगी। इस भाग मे उन सब बातों की जानकारी देने का

प्रयास नही किया गया है जो पुराने ग्रन्थो में उपलब्ध है। इस जानकारी के लिए पाठक डाइमाक का 'फार्मेकोग्रैफिया इण्डिका', वाट की 'डिक्शनरी ऑफ दि इकॉनॉमिक प्रॉडक्ट्स ऑफ इण्डिया', कीर्तिकर एव वसु का 'इण्डियन मेडिसिनल प्लैण्ट्स ऑफ इण्डिया' आदि ग्रन्थो का अवलोकन करें। वर्गीकरण वनस्पतिविज्ञान और भेषज-अभिज्ञान के क्षेत्र में अधिक ज्ञान उपलब्ध कराना इसका उद्देश्य नही रहा है, अपितु वनस्पतिविज्ञान तथा स्वरूप सम्बन्धी उतनी ही जानकारी जो सामान्य प्रयोजन के लिए नितान्त आवश्यक है, दी गयी है।

भाग ४ में भारत मे उगनेवाली सभी औपधीय पादपो की शब्दावली दी गयी है। अब तक जितनी सूचियाँ बनायी गयी है उन सबमे यह सर्वाधिक पूर्ण सूची है और इसके अन्तर्गत दो हजार से भी अधिक पौधे दिये गये है। उन पौधो में निहित सक्रिय तत्त्वो तथा देशी चिकित्सा मे उनके प्रयोगो के सम्बन्ध में सक्षिप्त जानकारी दी गयी है। प्रकाशित सन्दर्भों का उल्लेख भी किया गया है। इस भाग मे औषधीय पादपो के अतिरिक्त, जान्तव तथा खनिज स्रोतो से उपलब्ध औषधियो का जो देशी चिकित्सा में व्यवहृत होते है, वर्णन है। विषैले तत्त्व वाले पौधो एव सर्प-दंश और वृश्चिक-दश की चिकित्सा में प्रयुक्त पौधो की भी सूची दी गयी है।

भाग ५ में बाजार में मिलने वाली सामान्य औषधियो का सक्षिप्त वर्णन और भारतीय भाषाओ में उनके प्रमुख नाम तथा प्रसिद्ध प्रयोगो का उल्लेख किया गया है। तत्पश्चात् भारतीय भाषाओ में प्रयुक्त नामो की वर्णानुक्रमणिका दी गयी है। इससे पाठक को जिस किसी भी भारतीय भाषा मे किसी भेषज के नाम की जानकारी हो, उसे खोजने में उसे सुविधा होगी।

इस ग्रन्थ के श्री गणेश का श्रेय पटना विश्वविद्यालय को है जिसने १९२९-३० ई० में सुखराज राय रीडरशिप व्याख्यान-माला के अन्तर्गत प्रकृति-विज्ञान में व्याख्यान देने को मुझे आमन्त्रित किया। इन व्याख्यानो का विषय भारत के कुछ औषधीय पादपो के चिकित्सीय तथा आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित था। इससे इस विषय में लोगो की अभिरुचि कितनी बढ गयी वह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि भारत के सभी भागों से पत्रो और पूछताछ की भरमार होती जा रही है। इसी कारण यह विचार उत्पन्न हुआ कि इस विषय को और बढाकर ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया जाय। पर कुछ काल तक इस विचार को क्रियान्वित नही किया जा सका, क्योकि भारत के बाजारो मे बिकने वाली औषधियो के गुणो का पता लगाने के लिए भारत सरकार ने जो 'औषधि जाच समिति' (ड्रग्स एन्क्वायरी कमेटी) बनायी उसका मुझे अध्यक्ष प्रतिनियुक्त किया गया। इस कार्य में मुझे पूरे भारत का दौरा करना पडा और चिकित्सा तथा

भेषजी वृत्तिवालो के निजी सम्पर्क में आना पडा, जिससे इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में मेरी धारणा और प्रबल हो गयी। इसलिए पटना के व्याख्यानो को केन्द्र बनाकर इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस ग्रन्थ की सामान्य रूपरेखा तथा विन्यास मूलत उन व्याख्यानो से बहुत कुछ साम्य रखता है, पर इसमें प्रचुर नयी सामग्री का भी समावेश किया गया है। मै इस अवसर पर पटना विश्वविद्यालय के अधिकारियो के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ।

इस ग्रन्थ को लिखने में जो सहायता मुझे अपने पुराने शिष्य और अब फार्मा-कॉलोजी विभाग मे मेरे सहायक डा० बी० मुकर्जी से तथा रसायन विभाग के प्राध्यापक डा० एस० घोष से मिली है उसके लिए उनका आभार प्रगट करते हुए मुझे बडी प्रसन्नता हो रही है। यदि इन दोनो विभागो के कर्मचारियो की सहायता मुझे न प्राप्त होती तो इतने अल्पकाल में इस ग्रन्थ को पूरा करना मेरे लिए सम्भव न हो पाता। उन्होने देशी औषधियो की सूची के सकलन, सन्दर्भों के सचयन तथा वर्णानुक्रमणिका को तैयार करने में मेरी सहायता की है। यह बडा क्लान्तिकर तथा श्रमसाध्य कार्य रहा है। डॉ० आई० बोस ने अन्त में इन सन्दर्भों की जाँच, प्रूफ का सशोधन तथा प्रेस में छपाई तक सारा कार्य सम्भाल कर मुझे बहुमूल्य सहायता प्रदान की है। इन सब कार्यकर्ताओ का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मै डॉ० एल० ई० नेपियर तथा लेफ्टिनेन्ट-कर्नल आर० नाउल्स का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ जिन्होने प्रूफ को सतर्कता पूर्वक पढा और बहुमूल्य सुझाव दिये, जिससे ग्रन्थ की अनेक दोषो से रक्षा हो पायी। स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन के निदेशक लेफ्टिनेन्ट-कर्नल एच० डब्ल्यू० ऐक्टन, सी०, आइ० ई०, आइ० एम० एस० का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होने मुझे शोध कार्य मे लगाया जिसका परिणाम प्रस्तुत ग्रन्थ है। उनकी सलाह इस ग्रन्थ के हर स्तर पर अमूल्य रही है। इण्डियन रिसर्च फराड ऐसोसिएशन के शासी-निकाय, स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन के भूतपूर्व निदेशक मेजर-जेनेरल जे० डब्ल्यू० डी० मेगा, सी० आइ० ई०, के० एच० पी०, आइ० एम० एस० जो अब भारतीय चिकित्सा सेवा के महानिदेशक (डाइरेक्टर-जेनेरल) है, तथा ऐसोसिएशन के मत्री मेजर-जेनेरल जे० डी० ग्राहम, सी० बी०, सी० आइ० ई०, के० एच० एस०, आइ० एम० एस० का आभार मानता हूँ जिन्होने भारतीय औषधियो के अध्ययन के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। देशी औषधियो से सम्बन्धित मेरे अधिकाश शोध-पत्र 'इण्डियन मेडिकल गजट' तथा 'इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च' में प्रकाशित हुए हैं, इन दोनो पत्रिकाओ के सम्पादको ने उन शोध-पत्रो का इस ग्रन्थ में उपयोग करने की जो अनुमति दी है उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। जो लोग इस शोध कार्य को विस्तार पूर्वक जानना

चाहते हैं वे उन मौलिक शोध-पत्रों का अध्ययन करें जिनके सन्दर्भ इस ग्रन्थ में दिये गये हैं। आर्ट प्रेस के श्री एन० मुकर्जी तथा कर्मचारियों ने इस ग्रन्थ के मुद्रण तथा प्रकाशन में जो सावधानी दिखायी उसके लिये मैं उन लोगो का आभारी हूँ।

स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन — आर० एन० चोपड़ा
कलकत्ता
नवम्बर, १९३२

दो शब्द

स्व० कर्नल सर आर० एन० चोपडा एव उनके सहयोगियो द्वारा रचित 'इण्डिजेनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया' के द्वितीय सस्करण का हिन्दी अनुवाद 'भारतीय औषधियां' पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। जिस समय यह अनुवाद कार्य आरम्भ किया गया, उस समय कोई मानक शब्दावली नही उपलब्ध थी। इसलिए अग्रेजी वैज्ञानिक शब्दो का अनुवाद स्व० डॉ० रघुवीर के 'अग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश' तथा भारत सरकार द्वारा छोटे-छोटे खण्डो मे प्रकाशित अलग-अलग विज्ञान के तकनीकी शब्दो के कोश के आधार पर किया गया। पर जब भारत सरकार द्वारा स्वीकृत तथा प्रकाशित 'विज्ञान शब्दावली' (१९६४ ई०) तथा 'आयुर्विज्ञान शब्दावली' (१९६७ ई०) उपलब्ध हुई तो बहुत से वैज्ञानिक शब्दों के अनुवाद में परिवर्तन करना पडा और पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण आवश्यक हो गया। इसी कारण पाण्डुलिपि को तैयार करने में विलम्ब हुआ।

प्रस्तुत पुस्तक मे वैज्ञानिक शब्दों के अनुवाद मे उपर्युक्त दोनो शब्दावलियो का उपयोग किया गया है। पाठको की सुविधा के लिए आवश्यक स्थानो पर, हिन्दी के शब्दो के साथ अग्रेजी के रूपान्तरित या मूलशब्द कोष्ठांकित हैं। कुछ आवश्यक सूचनाएँ यथास्थान टिप्पणी, फुटनोट या कोष्ठ में दी गयी हैं। भेषजो के विभिन्न भारतीय भाषाओ में प्रचलित नाम यथास्थान दिये गये हैं। अत आवश्यक स्थानो को छोडकर इनकी सर्वत्र पुनरावृत्ति नही की गयी है।

आशा है, इस पुस्तक से भारतीय औषधियो का जन-कल्याण मे उपयोग होगा तथा उनका प्रचार-प्रसार भी बढेगा। इसके हिन्दी सस्करण का अभाव दीर्घकाल से खटक रहा था, जिसका अनुभव वरिष्ठ मूल ग्रन्थकार ने भी किया था। इस सस्करण द्वारा इस अभाव की पूर्ति होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

३१-५-७५
काशी

सकठा प्रसाद
अनुवादक

विषय-सूची

भाग–१

भाग—२

●

संकेत

अ० — अंग्रेजी
अ०, अर० — अरबी
अफ० — अफगानी
अस० — असमिया
इरा० — ईरानी
उ०, उडि० — उडिया
उ० प्र० — उत्तर प्रदेश
कन्न० — कन्नड
क०, कश्मी० — कश्मीरी
कु० — कुमायू
गु० — गुजराती
त० — तमिल
ते० — तेलुगू
ने० — नेपाली
पं० — पजावी
फा० — फारसी
व० — बगला
वम्व० — बम्बई
म० — मराठी
मल० — मलयालम
यू० — यूनानी
स० — सस्कृत
सिं — सिन्धी
हिं० — हिन्दी

भाग १

भारत के देशीय भेषजों का चिकित्सीय एवं आर्थिक पक्ष

(१)

ऐतिहासिक तथा सामान्य :—

प्रारम्भ में ही यह बतला देना उचित जान पडता है कि इस ग्रन्थ मे 'भारतीय औपधिया या भारतीय भेपज' पद का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे किया गया है ताकि इसकी परिधि के अन्दर न केवल वे भेपज आयें जो मूलत भारतीय है, बल्कि वे भी आ सकें जो बाहर से लाये गये है और अब पूर्णत देशज बन गये है। ऐसे भेषजो को भी, जिनका उत्पादन कृषि द्वारा भारतवर्ष में होता है, चाहे उनका उपयोग देशीय चिकित्सा-प्रणाली मे या विभिन्न पाश्चात्य देशो की मान्य भेपजकोशो (Pharmacopoeias) मे होता हो, इन शब्दो की सीमा के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

आर्थिक एवं व्यवसायिक दोनो ही दृष्टि से भारतवर्ष के देशीय भेषजो का बड़ा महत्त्व है। चिकित्सा एक बहुत प्राचीन कला है, और भेषजो का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है, उस प्राचीन काल से, जहाँ तक इतिहास हमको ले जा सकता है। यह सोचना असम्भव है कि औपधि का उपचार से कोई संबंध नही है और मनुष्य के स्मृति-काल के आरम्भ से ही भेपज उपचार का अभिन्न अग बन गया है।

भारतीय द्रव्यगुण-शास्त्र की प्राचीनता

भारतवर्ष मे आयुर्विज्ञान का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वनस्पतियो का औपध रूप में उपयोग किये जाने का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद मे पाया जाता है जो अत्यन्त प्राचीन है और यदि अत्यन्त प्राचीन नही तो कम से कम मनुष्य के ज्ञान का प्राचीनतम संग्रहागार है, जो ईसा से लगभग ४५०० से १६०० वर्ष पूर्व लिखा गया था। इस ग्रन्थ मे 'सोम' वनस्पति एवं मानव पर उसके प्रभाव का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद मे, जो ऋग्वेद के पश्चात् लिखा गया, भेपजो की अनेक विभिन्न उपयोगिताओं का वर्णन किया गया है। भेषजो के सुनिश्चित गुणों एव उपयोगो का उल्लेख कुछ विस्तार के साथ आयुर्वेद में ही हुआ है जिसे उपवेद माना जाता है

(या अनुपूरक मन्त्र, जो मानव जाति के विस्तृत अनुदेश के लिए लिखे गये हैं)। वास्तव मे आयुर्वेद भारत के प्राचीन चिकित्सा-विज्ञान की आधारशिला है। इसके आठ अग हैं जिनमे आयुर्विज्ञान एव चिकित्सा के विभिन्न पक्षो पर विचार किया गया है। इसका रचना-काल विभिन्न पाश्चात्य विद्वानो द्वारा ईसा से २५०० से ६०० वर्ष पूर्व के आस पास माना गया है। अष्टाग आयुर्वेद के बाद दो ग्रन्थ सुश्रुत एव चरक लिखे गये। सुश्रुत के रचनाकाल के विषय मे बहुत बडी अनिश्चितता है, फिर भी यह ईसा से १००० वर्ष पूर्व ही लिखा गया होगा। इस ग्रन्थ में शल्य-विज्ञान का विस्तार-पूर्वक वर्णन है, परन्तु एक स्थान (उत्तर तन्त्र—अनु०) मे चिकित्सा (Therapeutics) का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। चरक में जो लगभग इसी काल मे लिखा गया, चिकित्सा-विज्ञान का अपेक्षाकृत विशद वर्णन है। और इसके सातवे स्थान (कल्पस्थान—अनु०) मे केवल रेचक एवं वमनकारक द्रव्यो का ही विस्तृत विवेचन है। इस स्थान के बारह अध्यायो मे द्रव्य-गुण-शास्त्र (Materia Medica) का विलक्षण वर्णन, जितना उस समय के भारतीयो को ज्ञात था, पाया जाता है। चरक ने केवल एकल औषधियो को पैंतालीस (पचास-अनु०) वर्गों मे व्यवस्थित किया है। इसमें औषधियो की सेवन विधियो का पूर्ण रूप से वर्णन है जो आज की प्रचलित विधियो से आश्चर्यजनक साम्य रखती हैं। यहाँ तक कि विभिन्न रोगो मे इन्जेक्शन द्वारा औषधि प्रवेश कराने की ओर भी ध्यान आकर्षित किया गया है। सुश्रुत और चरक से ही विभिन्न चिकित्सापद्धतियो का प्रादुर्भाव हुआ। डा० वाईज (Dr Wise, १८४५) ने हिन्दू शल्य-विज्ञान की दो, चिकित्सा विज्ञान की नौ, द्रव्य-गुण-शास्त्र (Materia Medica) की तीन, मात्रा-विज्ञान (Posology) की एक, औषधि-निर्माण की एक और केवल रस (Metallic) औषधियो की तीन पद्धतियो का वर्णन किया है। इन तथ्यो से प्राचीन भारत के विज्ञान की प्रौढता और विशालता का अनुमान, विशेषकर कार्बनिक (Organic) एव अकार्बनिक (Inorganic) स्रोतो से प्राप्य चिकित्सीय भेषजो के सम्बन्ध में लगाया जा सकता है। सवेदनाहारी द्रव्यो (Anaesthetics) का भी ज्ञान किसी न किसी रूप में था। 'भोज प्रबन्ध' नामक ग्रंथ में जो ९८० ई० के लगभग लिखा गया, ऐसे द्रव्यो का उल्लेख मिलता है जो शल्य-क्रिया के पूर्व निश्वास द्वारा प्रयोग मे लाये जाते थे। एक निश्चेतक द्रव्य जिसे 'सम्मोहिनी' कहते थे, बौद्ध काल मे उपयोग में लाया जाता था।

इस काल से लेकर मुसलमानो के भारत पर आक्रमण होने तक भारतीय आयु-विज्ञान की अभिवृद्धि होती रही, जिसे सक्षिप्त रूप से चार चरणो (stages) मे

दर्शाया जा सकता है—अर्थात् (१) वैदिक काल, (२) वह काल जिसमे मौलिक शोध हुए और शास्त्रीय ग्रथ रचे गये, (३) सकलन कर्त्ताओ, तत्रो और सिद्धो, रसायनज्ञ चिकित्सको का काल और (४) ह्रास एव पुन· सकलन काल। इस प्रगति के द्वितीय और तृतीय काल में प्रत्येक दृष्टिकोण से असाधारण उन्नति हुई और आयुर्वेद उस समय अपने उत्कर्ष की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस अवधि के अन्तिम काल में आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचार भारतवर्ष की सीमाओ को लांघ कर सुदूर देशो मे होने लगा था। तत्कालीन सभ्य संसार के राष्ट्र भारतीयों से चिकित्सीय ज्ञान की जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहा करते थे। भारतीय आयुर्विज्ञान का प्रभाव मिस्र, यूनान और रोम आदि सुदूर देशो में फैला और उसने यूनानी एव रोमन चिकित्सापद्धतियो पर व्यापक प्रभाव डाला तथा यूनानी चिकित्सापद्धति के द्वारा अरबो के आयुर्विज्ञान को भी प्रभावित किया। जैकोलियो (Jacolliot) का यह कथन कितना ठीक और युक्तिसगत है कि, "हमें यह कभी नही भूलना चाहिये की भारतवर्ष, जो प्राचीन काल में एक बृहत् एव प्रज्ज्वलित (ज्ञान का) केन्द्र था, एशिया के सभी देशो से निरतर सपर्क स्थापित किये हुए था तथा पुरातन काल के सभी दार्शनिक और संत वहाँ आयुर्विज्ञान के अध्ययनार्थ जाते रहते थे।" भारतीय चिकित्सा-विज्ञान का यूनानी तथा रोमन चिकित्साविज्ञान पर जो प्रभाव पडा है, उसके अस-न्दिग्ध प्रमाण मिलते हैं। सिकन्दर महान् की विजय द्वारा यूनानी सभ्यता भारतीय सभ्यता के घनिष्ठ सपर्क मे आयी। इस समय भारतीय चिकित्साविज्ञान अपने उत्कर्ष की चरमसीमा पर था और भारतीय चिकित्सको की भेपज एव विप-विज्ञान संबधी जानकारी अन्य देशो की अपेक्षा अत्यधिक समुन्नत थी। भूमि से उत्पन्न प्रत्येक (खनिज) पदार्थ के गुणो का उन्होंने गहन अध्ययन किया था और रोग तथा भेपजो की सहायता से उनके उपचार की दिशा में विधिपूर्वक अध्ययन और अनुसधान किया था।

यूनानी सैनिको को सर्पदश तथा अन्य व्याधियो से विमुक्त करने मे जिस कौशल का परिचय इन भारतीय चिकित्सकों ने दिया था वह उनके एतद् सम्बन्धी ज्ञानश्रेष्ठता का साक्षी है। इसीलिए इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि यूनानी चिकित्सा-विज्ञान ने भारतीय आयुर्विज्ञान को पर्याप्त मात्रा मे आत्मसात् कर लिया था और इससे अपने द्रव्य-गुण-शास्त्र को सुसम्पन्न बना लिया था। इस बात के विश्वास के पर्याप्त प्रमाण हैं कि पार्सेल्सस (Parcelsus), हिपोक्रेटिस (Hippocrates) और पाइथागोरस (Pythagoras) जैसे अनेको यूनानी दार्शनिको ने वस्तुत पूर्वीय देशो का भ्रमण किया था और अपने अपने देशो मे भारतीय सस्कृति के प्रचार मे सहायता की थी।

प्रख्यात चिकित्सक डायस्कोरॉयडेस (Dioscoroides) का ग्रन्थ स्पष्ट बतलाता है कि पाश्चात्य देशो के लोग अपने चिकित्सा विज्ञान के लिए भारत तथा पूर्वीय देशो के कितने ऋणी है। उसके प्रथम ग्रन्थ मे अनेक भारतीय वनस्पतियो का उल्लेख है, विशेषत सुरभि-वर्ग के द्रव्यो (aromatic group of drugs) का, जिसके लिए भारतवर्ष सदा से विख्यात रहा है। श्वास रोग (दमा) मे धतूरे का धूम्रपान, पक्षाघात तथा अग्निमान्द्य में कुचले (nux vomica) का प्रयोग और रेचक के रूप मे जमालगोटे (croton) का व्यवहार निश्चय ही प्रकट करते है कि इनका उद्भव प्राचीन भारतवर्ष से है। धतूरे के अत्यधिक धूम्रपान के प्रभाव की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित हुआ था।

रोमन लोग भी भारतीय भेषजो में अत्यधिक रुचि रखते थे। इस बात का यथेष्ट प्रमाण मिलता है कि अनेको शताब्दी पूर्व भारतवर्ष और रोम के बीच भारतीय भेषजो का विस्तृत व्यापार सम्बन्ध बना हुआ था। यह देश जलवायु की विपुल विभिन्नताओ एव हिमालय जैसे पहाडो की शृंखलाओ के कारण, अतीतकाल से ही वानस्पतिक द्रव्यो की सुसम्पन्न 'सर्वधिनी' के रूप में मान्य रहा है। प्लिनी (Pliny) के समय मे इस भेषज व्यापार की इतनी वृद्धि हो गयी थी कि भारतीय बहुमूल्य भेषजो और ममालो के क्रय में रोम की जो स्वर्ण-राशि व्यय हो रही थी उसके विरुद्ध उन्होने परिवाद किया था। इस सबध मे प्राच्य साहित्य के एक ब्रिटिश विद्वान के लेख से लिया गया निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य है। कैप्टेन जानस्टन सेन्ट ने अपने एक अभिभाषण मे, शल्य एव चिकित्सा-विज्ञान में भारत की असाधारण उन्नति का उल्लेख करते हुए, जो उस काल मे हुई थी जिस समय यूरोपीय सभ्यता यूनान में अपनी शैशवावस्था में ज्ञान के प्रकाश के लिए इधर-उधर भटक रही थी, कहा है कि "यदि हमे शल्य-विज्ञान मे भारत की इतनी देन मिली तो चिकित्सा-विज्ञान में हमें उस महान् उर्वर देश से, जो वानस्पतिक द्रव्यो का आदर्श विश्वकोश है, क्या नही प्राप्त हो सकता ? प्राचीन भारतीयो का द्रव्य-गुण-शास्त्र (Materia Medica) आश्चर्यजनक है जिससे यूनानी और रोमन लोगो ने मुक्त रूप से सभी कुछ ग्रहण किया।"

वर्तमान भारतीय भेषजों का विकास

भारतीय आयुर्विज्ञान का ह्रास :

तन्त्रो और सिद्धोके काल के पश्चात् भारतीय आयुर्विज्ञान की ज्योति शीघ्र ही धुंधली और मन्द पड गयी। भारत पर यूनानियो, शको और मुसलमानो के लगातार होने वाले

आक्रमण काल में किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नही हुई और भारतीय आयुर्विज्ञान का ह्रास धीरे-धीरे आरम्भ हो गया। इन आक्रमणो के कारण जो अराजकता और अशान्ति फैली उसके फलस्वरूप तत्कालीन आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे से अधिकाश छिन्न-भिन्न या लुप्त हो गये और सर्वत्र पतन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। आयुर्विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ पुजारियो और पुरोहितो के हाथो मे चली गयी और भेषज और बूटियो के स्थान पर तत्र-मत्र के प्रयोग होने लगे। स्वयं चिकित्सकवृन्द ब्राह्मणो की, जिनका ज्ञान-विज्ञान पर प्रमुख अधिकार था, एक उपजाति बन गये। उनमे से एक बडा वर्ग सोचने लगा कि आयुर्विज्ञान, विशेषकर शल्य-विज्ञान का अध्ययन और अभ्यास, दूषित और भ्रष्ट करनेवाला है। मृत शरीर का स्पर्श अपवित्र समझा जाने लगा। अत शवच्छेदन (dissection) बन्द हो जाने से शारीरीय (anatomical) एव शल्य-ज्ञान का स्वाभाविक रूप से ह्रास होने लगा। बुद्ध-प्रतिपादित अहिंसा का भी व्यापक प्रभाव इस दिशा मे पडा। यद्यपि बुद्ध-काल मे शल्य-विज्ञान का ह्रास प्रचुर परिमाण में हुआ फिर भी चिकित्साविज्ञान में पुन तीव्र प्रगति हुई। इसी काल में अनेको बहुमूल्य वानस्पतिक औषधियो का समावेश भारतीय निघटुओ मे किया गया जो पहले से ही सुसम्पन्न और समृद्ध थे तथा इन औषधियो की विधिपूर्वक कृषि और अध्ययन आरम्भ किया गया। बौद्धधर्म की अवनति के साथ-ही-साथ शल्य और चिकित्साविज्ञान के अनुशीलन, शिक्षा एवं वृत्ति में चतुर्दिक पतन आरम्भ हो गया और मुसलमानो के आक्रमण काल तक पतन की यह प्रक्रिया और भी बढ गयी।

मुस्लिम विजेताओ के आगमन के साथ-ही अवनति की गति तीव्रतर हो गयी। ये आक्रामक अपनी चिकित्सा-प्रणाली भी साथ ले आये जो उस समय के लिए पर्याप्त उन्नत दशा मे थी और जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गया तो प्राचीन भारतीय या आयुर्वेदिक चिकित्सा-प्रणाली की अत्यन्त उपेक्षा की गयी। इस प्रकार अरबो की चिकित्सापद्धति इस देश में आयी और राजकीय चिकित्सा-प्रणाली बन गयी। रॉयल कालेज ऑफ फिजीशियन्स के समक्ष जो भाषण प्राध्यापक ब्राउन ने दिया था उसमे उन्होने यह बतलाया था कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे अरबो का आयुर्विज्ञान यूनानी आयुर्विज्ञान से कितना अधिक प्रभावित था। यद्यपि रसायनज्ञो की प्रमुख खोज का विषय इस समय पारस पत्थर और अमृत तत्त्व (Elixir of life) था, फिर भी उन्होने कई मौलिक आविष्कार किये। इनमे से अनेक खोजो का श्रेय अरब लोगो को है जैसा कि ऐल्कोहॉल, अलेम्बिक आदि शब्दो द्वारा स्पष्ट है जो अभी भी प्रचलित है। निस्सदेह अरब लोगो की वैज्ञानिक देन जिसे उन्होने यूनानियो

से प्राप्त किया, रसायन और द्रव्य-गुण-शास्त्र के क्षेत्र मे सबसे अधिक है। लेक्लर्क (Leclerc) ने अपने ग्रन्थ 'Histoire de la Medicine Arabe' में उल्लेख किया है कि अरबो के मिस्र पर विजय प्राप्त करने के एक शताब्दी पूर्व से ही यूनानी आयुर्विज्ञान को आत्मसात करने की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी थी। अरब आयुर्विज्ञान पर फारस के जुण्डी शापर स्कूल (Jundi-Shapor School) का भी प्रभाव पडा, जो फारस में ५वी शताब्दी मे उन्नत दशा मे था। इसका प्रमाण विशेपकर अरब लोगो के द्रव्यगुणशास्त्र मे उल्लिखित भेपजों को कतिपय नामावलियो में पाया जाता है जिनकी व्युत्पत्ति फारसी भापा के शब्दो से है। आठवी शताब्दी के मध्य काल में जिस समय बगदाद नगर की नवीन नीव डाली गयी थी, मुसलिम जगत् में प्राचीन ज्ञान की धारा प्रवाहित होने लगी और उसे अरबी वेशभूषा में पुन सुसज्जित किया जाने लगा। इस प्रकार इस देश मे मुसलिम चिकित्सा-प्रणाली अपने साथ-साथ औपधिविज्ञान का एक समृद्ध कोष भी लायी, जो इस देश को सर्वथा अज्ञात था।

अरब तथा पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान का आगमन

अरबो या मुसलमानो की चिकित्सा-प्रणाली, जो पठानो और मुगलो के राज्यकाल में प्रचलित थी, दुर्भाग्यवश इस देश मे अधिक उन्नति नही कर सकी। मुगलो के पतन के साथ ही साथ इस चिकित्सा-प्रणाली का भी शीघ्र ही ह्रास हो गया। प्राचीन भारतीय तथा अरबो की चिकित्सापद्धतियों मे घनिष्ट सम्पर्क जो कई शताब्दियो तक बना रहा उससे इनमें परस्पर यथेष्ट सम्मिश्रण हुआ और प्रत्येक ने दूसरे के द्रव्यगुण-शास्त्र का समुचित उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि दोनो पद्धतियाँ अवनति दशा को प्राप्त हुई थी फिर भी इनका सयुक्त द्रव्यगुणशास्त्र अत्यन्त समृद्ध बना रहा। यूरोपवासियों के आगमन के साथ-साथ—सर्वप्रथम पुर्तगालवासी, फिर फ्रान्सीसी और अन्त मे अँग्रेजो के आने पर—इन चिकित्सापद्धतियो की अवनति और भी तीव्र हो गयी।

जब अँग्रेजी राज्य की स्थापना हुई तो पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का प्रवेश इस देश में हुआ जिसका मुख्य उद्देश्य था इस देश के शासको का रोग-शमन। उस समय किसी समुचित चिकित्सापद्धति का व्यवहार सर्वसाधारण में न होने के कारण, इस नवीन पाश्चात्य पद्धति का प्रवेश साधारण जनता मे हुआ और इसका स्वागत किया गया। इसकी प्रशसा और माँग समूचे देश में फैल गयी, विशेपकर इसकी शल्य-क्रिया सम्बन्धी सफलताओ की ओर जन-रुचि बहुत बढ गयी और इनसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए। पाश्चात्य चिकित्सापद्धति अपने साथ-साथ अपने द्रव्यगुणशास्त्र को

भी लायी। इसमे देशीय चिकित्सापद्धतियो का सम्मिश्रण हुआ और देश मे अनेक नयी वनस्पति औषधियो का समावेश हो गया।

भारतीय औषधियो के विकास की यह सक्षिप्त कथा है। इन तीनो चिकित्सा-पद्धतियो में प्रयुक्त औषधियो को 'भारतीय औषधियाँ' की सज्ञा दी गयी है, जिनसे सम्प्रति हमारा सम्बन्ध है।

—o—

(३)
देशीय चिकित्सापद्धतियों के पुनरुत्थान के प्रयत्न

प्राच्य विद्या में अभिरुचि रखने वाले अनेक विद्वानो ने भारतीय चिकित्सापद्धतियों को ज्ञान का समृद्ध आगार कहा है जिससे अनेक उपयोगी चीजें ढूँढ निकाली जा सकती है। कहा गया है कि भारतीय आयुर्विज्ञान निरीक्षण तथा प्रयोग, सामान्यानुमान तथा विशेषानुमान (Induction and deduction) द्वारा प्रकृति के रहस्यो के उद्घाटन के लिए और उसके आधार पर एक तर्क-सगत चिकित्सापद्धति के निर्माण के लिए वैज्ञानिक चेतना से अनुप्राणित हुआ था। दूसरी ओर विरोधी विचार धाराओ का भी अभाव नही है जिनके अनुसार उन प्राचीन पद्धतियो के अध्ययन से कोई लाभ नही, जो विज्ञान की अपेक्षा मुख्यत अनुभव पर आधारित है। परन्तु इस विचार का कोई तर्क-सगत आधार नही है। उस पद्धति को जो इतनी लम्बी अवधि तक काल की विनाश लीलाओ से बचती चली आ रही है, अवैज्ञानिक कह कर तिलाजलि नही दी जा सकती। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के लोक स्वास्थ्य सेवा विभाग के भूतपूर्व महाशल्य चिकित्सक डा० ह्यूग एस० क्यूमिंग का विचार इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि किसी भी चिकित्सापद्धति अथवा किसी भी प्राचीन प्रथा या रुढि की, जो कई पीढियो तक जनता द्वारा अपना ली गयी हो, लोक प्रियता के मूल मे कुछ न कुछ तथ्य अवश्य है, भले ही उसका समर्थन आधुनिक विज्ञान द्वारा न्यून मात्रा मे होता हो। उनके कथनानुसार शिकार मे मारे हुए जानवर के मास का बँटवारा करते समय, अमेरिका के रेड इण्डियन शिकारी सदा उसके यकृत को और श्वेताग पुरुष उसके मास को लेना पसन्द करता था। इस तथ्य को अमेरिका के इण्डियनो की अनभिज्ञता एव उनकी अल्प विकसित सभ्यता के प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता था, परन्तु यकृत की प्रचुर पोषण शक्ति को अब मान्यता प्राप्त हो गयी है और रक्तक्षीणता के उपचार में उसका महत्त्व सुनिश्चित हो गया है। इन सब तथ्यों को दृष्टि मे रखते हुए प्राचीन पद्धतियो को बिल्कुल अनुपयोगी और निष्प्रयोज्य

ठहराकर सर्वथा तिरस्कृत नही किया जा सकता, वरन् वे अनुसधान और छानबीन के लिए उपयुक्त विषय है।

कुछ समय से भारतवासियो के हृदय मे इन प्राचीन पद्धतियो में गवेपणा और अनुसधान के लिए स्पष्ट रूप से चेतना जागृत हो गयी है। देश के अनेक भागो मे इन प्राच्य चिकित्सापद्धतियो के पुनरुत्थान के लिए भारतीयो की बलवती इच्छा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। इसके परिणाम स्वरूप जनता तथा चिकित्सको ने रोगो के उपचार के लिए देशीय औपधियो के व्यवहार के प्रति पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की है। वस्तुत यह तर्क उपस्थित किया गया है कि आर्थिक दृष्टि से सस्ती होने के साथ ही ये औषधियाँ देश की जलवायु तथा यहाँ के निवासियो की प्रकृति के अधिक अनुकूल है। भारतीय सघ के विभिन्न प्रान्तीय विधान मण्डलो में देशीय चिकित्सापद्धतियो के पुनर्नवीकरण और विकास पर पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका है। यह भी तर्क दिया गया है कि आज भी इस विशाल देश की २० प्रतिशत से अधिक जनता को पाश्चात्य चिकित्सा नही सुलभ हो पा रही है और शेष लोग प्राच्य चिकित्सापद्धति पर ही किसी-न-किसी रूप मे अवलम्बित है। यह बात सम्बद्ध अधिकारियो द्वारा भी मान ली गयी है। एक बार लार्ड हार्डिज ने अपने भाषण में कहा था, "जब मैं इस बात का स्मरण करता हूँ कि भारत सरकार द्वारा दी जाने वाली ऐलोपैथिक चिकित्सा का लाभ यहाँ की करोडो जनता को नही मिल पाता है, और जो लोग योग्य डाक्टरो की सलाह और सहायता पाने मे समर्थ भी है, उनमे से अधिकाश लोग देशीय चिकित्सापद्धतियो और औपधियो को ही पसन्द करते हैं, तब मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि चिकित्सा विज्ञान की इस शाखा के विकास तथा उत्कर्ष की किसी योजना को हतोत्साहित करना एक भूल होगी।"

इन (देशीय) चिकित्सापद्धतियो के पूर्ण उत्थान एव विकास मे पर्याप्त कठिनाइयाँ है जिन्हे इन पद्धतियो के विद्वान समर्थको ने भी स्वीकार किया है। आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति पन्द्रह सौ वर्षो से प्राय प्रगतिहीन रही है और ससार की प्रगति के साथ इसके ज्ञान मे अभिवृद्धि का कोई प्रयास नही किया गया है। ऐसी परिस्थिति में दो हजार वर्ष के पुराने सिद्धान्तो का आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति के साथ समन्वय स्थापित करने मे किसी को भी कठिनाई होगी, भले ही वे पुराने सिद्धान्त कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यो न समझे जायँ। आयुर्वेद के विद्यार्थियो को आधुनिक शरीर-क्रियाविज्ञान, जीवाणुविज्ञान, विकृतिविज्ञान इत्यादि की शिक्षा देने के बाद उनसे कफ, पित्त और वायु के सिद्धान्तो पर चलने को कहना और इन सिद्धान्तो के आधार पर व्याधि के कारण को समझाना लाभप्रद नही होगा। सम्भवत उनको इसमें विश्वास

नही होगा और उनके मन में विभ्रम और मतभेद पैदा होगा। इस चिकित्सापद्धति के आधीन प्रशिक्षित विद्यार्थी सम्भवत दोनो प्रणालियो में से किसी में भी दक्ष न होगे। यही बात यूनानी चिकित्सापद्धति के सम्बन्ध मे भी लागू होती है। अत आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सापद्धतियो को इनके वर्तमान रूप मे पुनर्जीवित करने के प्रयासो का असफल होना अवश्यम्भावी है।

—o—

(४)
भारतीय भेषजों पर अनुसंधान की आवश्यकता

यद्यपि हमारा उद्देश्य यहाँ पर इन चिकित्सा पद्धतियो के पुनर्जीवन की उपयुक्तता के सम्बन्ध में विचार करना नही है, तथापि इसमें जरा भी सन्देह नही कि बहुसख्यक भेषजो मे से जिनका उपयोग कविराज और हकीम शताब्दियो से करते चले आये है और आज भी करते हैं, कई ऐसे है जिन्हे उनकी निरोग क्षमता के कारण ख्याति मिली है। इतिहास से पता लगता है कि हमारे मान्य भेषजकोश में उल्लिखित अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण भेषज है जिनका उपयोग हम किसी न किसी रूप में उस समय से करते चले आये है जब पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली मे उनका प्रवेश तक नही था, और न जिनके सम्बन्ध मे कोई विज्ञान सम्मत शोध कार्य ही हुआ था। साथ ही नि सन्देह रूप से कई ऐसे भेषज भी पाये जाते है जिनका चैकित्सिक मूल्याकन (Therapeutic value) अत्यन्त अल्प है, पर उनका प्रयोग केवल इसलिए किया जाता रहा है कि उनका उल्लेख किसी पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ में किया गया है और किसी ने भी अब तक इन कथनो की सत्यता की जाँच के लिए कोई कष्ट नही किया है। अतएव यह आवश्यक है कि अच्छे भेषजो को अनुपयोगी भेषजो से अलग छाँट लिया जाय और उनके सम्बन्ध में क्रमबद्ध अनुसधान किया जाय। आयुर्विज्ञान एक प्रगतिशील विज्ञान है, उसके प्रत्येक विभाग में अनुभववाद का स्थान युक्ति-सगत अनुसधान ले रहा है और यह बात और क्षेत्रो के मुकाबले में भेषज-गुणविज्ञान (Pharmacology) और चिकित्सा-शास्त्र (Therapeutics) में विशेष रूप से स्पष्ट है।

इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि सराका इण्डिका (अशोक) के सदृश भेषज अत्यार्त्तव (menorrhagia) मे, या सिफैलैन्ड्रा इण्डिका (तेलाकुचा) मधुमेह मे या बोएर्हाविया डिफ्यूजा (पुनर्नवा) जलशोथ मे बडा लाभ पहुँचाता है, तब चिकित्सक वर्ग इस बात को स्वीकार नही करेगा, क्योकि ये सब लक्षण और सकेत मात्र है, रोग नही। वास्तव में हम जानना तो यह चाहेगे कि विविध परिस्थितियो

में इनके क्या विशेष गुण हैं और ये किस प्रकार ऊतक को उनकी सामान्य स्थिति में ला सकते हैं। वैज्ञानिक मन केवल कथन मात्र से संतुष्ट नही होता, चाहे वह किसी भी स्रोत से प्राप्त हुआ हो, जब तक कि उसकी सत्यता की पुष्टि रोगी पर जाँच और प्रायोगिक परीक्षणो द्वारा न हो जाय, और यह है सावधानी के साथ श्रम-साध्य कार्य, जिसके लिए समय भी चाहिये और विस्तृत अध्ययन भी। उन सक्रिय तत्त्वो को जिनके कारण रोग दूर होते हैं, विलग करना पडता है और फिर उन पर अनुसंधान करना पडता है। किस तरह वे अपना कार्य करते हैं और किस प्रकार उनका शरीर के मुख्य अवयवो पर प्रभाव पडता है, यह सब जानवरो पर परीक्षण करके निश्चित करना पड़ता है। इसके पश्चात् यह प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आता है कि किस विधि से उनका उपयुक्त निर्माण एव परिरक्षण किया जाय जिससे जलवायु और ऋतु-जन्य परिवर्तन का इनकी शक्ति पर कोई प्रभाव न पडे। रासायनिक तथा जैविक विधियो द्वारा भेषजो तथा उनसे निर्मित औषधियो का मानकीकरण, शोध का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसके द्वारा चैकित्सिक एकरूपता लायी जाती है, ताकि औषधि के प्रत्येक मात्रा के सक्रिय तत्त्वों मे अन्तर न आ सके। कहना न होगा कि ऐसे अन्तर का होना अत्यन्त अवाछनीय है और इनसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है, विशेष-कर जब शक्तिवान भेषजो का उपयोग किया जा रहा हो। ताजा रस और क्वाथ भले ही प्रभावी सिद्ध हो, पर समस्त व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए इनकी उपयोगिता अवश्यमेव सीमित हो जाती है। अतएव जब तक इन भेषजो के सम्बन्ध मे युक्तियुक्त अनुसंधान न कर लिया जाय, चिकित्सकों द्वारा इनका उपयोग भारत मे नियत्रित रूप से किया जाना चाहिये। जहाँ तक अन्य देशो का सम्बन्ध है जो इन परम्पराओं के कायल नही है, ऐसे भेषजो का उपयोग वे तभी करेंगे जब उन्हें इनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध हो जायेंगे।

अत्यन्त परिवर्तित वातावरण मे प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली को पूर्णरूपेण पुनर्जीवित करने की अपेक्षा, देशी भेषजो का भलीभाँति अध्ययन करके उन्हे अपने देशवासियो के लिए वास्तविक रूप में उपयोगी बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। सक्रिय और उपयोगी भेषजो को निष्क्रिय और महत्त्वहीन भेषजो से विलग कर देना चाहिये और उन्हे इस देश के विशाल जन समुदाय के कष्ट निवारण और उपचार के काम में लाना चाहिये। हमारे देश मे लोगो की आर्थिक स्थिति इतनी निम्न है कि वे पाश्चात्य प्रणाली द्वारा निर्मित मूल्यवान औषधियो को, जो विदेशों से यहाँ निर्यात होती है खरीदने मे प्राय असमर्थ हैं। परिणाम यह होता है कि अधिकाश जनता या तो ऐसी औषधियो से लाभ नही उठा पाती, या फिर उन्हे बाजार में प्राप्त

उन अपरिष्कृत औषधियो पर निर्भर होना पडता है जिनमें से कुछ सक्रिय और कुछ चिकित्सीय गुणो से रहित होते हैं।

—०—

(५)

भारतीय भेषजों पर अनुसंधान का महत्त्व

यह प्रश्न किया जा सकता है कि भारतीय भेषजो पर अनुसधान का क्या महत्त्व है। इधर कुछ वर्षो के अन्दर रसायन ने द्रुत गति मे उन्नति की है और सश्लिष्ट रसायन के क्षेत्र मे तो असाधारण प्रगति हुई है। प्रोटोजुवाजनित व्याधियो के उपचार के लिए रसायनज्ञो ने बडी शक्तिशाली और प्रभावी औषधियो का संश्लेषण किया है, जैसे कि आर्सेनिकीय एव मलेरियारोधी यौगिक। जीवाणु-जनित रोगो के उपशमन के लिए उन्होंने सल्फोनामाइड वर्ग के यौगिको का सश्लेषण किया है। प्रतिजैविक (Antibiotics) औषधियो ने जीवाणु-जनित एव रिकेट्सिया-जनित (Rickettsial) रोगों के उपचार मे क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया है और कई वाइरस रोगो में भी इनका उपयोग किया जा रहा है। कुछ ही समय पूर्व जो रोग असाध्य माने जाते थे वे अब इन औषधियो की सहायता से सरलता पूर्वक दूर किये जा रहे हैं। इन सब तथ्यो को ध्यान में रखते हुए प्रश्न यह उठता है कि क्या देशीय औषधियो के ऊपर अनुसधान करने की कोई आवश्यकता है और क्या उससे कोई लाभ होगा? तथा इस प्रकार के व्यय-साध्य और दीर्घकालिक शोध कार्य मे क्या कोई महत्त्पूर्ण फल की उपलब्धि हो सकेगी? इन प्रश्नो का उत्तर कुछ ही समय पूर्व व्यावहारिक चिकित्सा-विज्ञान की विख्यात एव प्रमुख पत्रिका "प्रेक्टिश्नर" के १९५० ई० के दिसम्बर अक के सम्पादकीय स्तम्भो में दिया गया है। "इण्डिजेनस हर्ब्स" शीर्षक के अन्तर्गत उसने लिखा है कि "बुद्धिमान एव अनुभवी चिकित्सक वयो-वृद्ध गृहिणी की बातो का तिरस्कार तब तक कदापि नही करता, जब तक कि उसको ऐसा करने का पर्याप्त प्रमाण न मिले। लोक परम्परा पीढियों नही, शताब्दियो के अनुभव के आधार पर निर्मित होती चली आयी है तथा वह सामग्री जिन पर वह आधारित होती है मानव प्राण के ऐसे मूल्य पर प्राप्त की गयी है जिसकी कल्पना आधुनिक अन्वेषक स्वप्न मे भी नही कर सकता। इस समय ससार मे भेषज निर्माण करने वाली कम्पनियाँ निरतर नई नई सश्लिष्ट औषधियो का उत्पादन कर रही हैं। यही उपयुक्त समय है जब कि एतद्देशीय तथा अन्य देशीय जडी बूटियो से उपलब्ध होने वाली सम्भाव्य औषधियों की ओर ध्यान दिया जाय। इस प्रकार के अन्वेषण के चार सफल उदाहरणो का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। पूर्वी

भूमध्य सागरीय देशों तथा अरब मे स्थानीय चिकित्सक वर्ग अम्मी विस्नागा (*Ammi visnaga*) नामक पादप के सूखे बीजो का क्वाथ, मूत्रल के रूप मे एव वृक्कशूल में शामक के रूप मे बहुधा देते हैं। काहिरा मे जी वी ऐन्रेप तथा उनके सहयोगियो के अन्वेपण से पता चला है (*Brit Heart* J 1946,8, 171) कि इन बीजो में खेलिन (Khellin) नामक एक सक्रिय तत्त्व है जिसे उन्होंने प्रभावी वाहिकाविस्फारक (Vasodilator) पाया तथा जिसकी विशिष्ट क्रिया हृद्-गत धमनियो पर होती है। बाद में रोगियो पर परीक्षण द्वारा हृद्शूल (Angina pectoris) की चिकित्सा मे खेलिन की उपयोगिता सिद्ध हुई। प्राचीन काल से सर्पगन्धा (*Rauwolfia serpentina*) नाम के देशीय पौधे के मूल का विस्तृत प्रयोग भारत वर्ष और मलाया में सर्पदंश तथा कीट-दंश के उपचार के लिए प्रतिविष (antidote) के रूप में होता रहा है। इन देशो मे इसका उपयोग ज्वर शामक तथा गर्भाशय सकोचन की वृद्धि के लिए एव शामक के रूप मे भी होता रहा है। आर. जे वकील ने अन्वेपण करके इसे अतिरक्तदाब के उपचार के लिए, रक्तदाब कम करने में बडा उपयोगी पाया (*Brit. Heart J* 1949, 11,350)"

"यक्ष्मा की प्रचलित रसायन चिकित्सा में भी देशीय वनस्पतियाँ लाभ-दायक सिद्ध हो रही हैं। उदाहरण स्वरूप, जापानी वैज्ञानिको ने स्टेफैनिया सिफैरैन्था (*Stephania cepharantha*) नामक लता से एव स्टेफैनिया ससाकी (*S sasakii*) से जो विस्टेरिया (Wisteria) की तरह का पौधा है, सिफेरैन्थिन ऐल्केलॉयड निकाला है जिसका जापान मे यक्ष्मा की चिकित्सा तथा उसके रोधन (Prophylaxis) के लिए प्रयोग किया जा रहा है (*Jap. J Exp Med*, 1949, 20, 69)। चीनी वैज्ञानिक स्थानीय वनस्पतियो से यक्ष्मारोधक ऐसे अनेक तत्वो को निकालने के लिए अनुसधान कर रहे हैं, और वर्जिनिया वाग (Virginia Wang) ने कॉप्टिस चाइनेन्सिस (*Coptis chinensis*) के सत्व (extract) में यक्ष्मावरोधक गुण विशेष रूप से पाया है (*Chinese Med* J, 1950, 68, 169), यह सक्रियता स्पष्टत इसके ऐल्केलॉयड बर्बेरिन सल्फेट मे निहित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि देशीय औषधियो के सूक्ष्म अध्ययन से बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करना अभी शेष रह गया है। इस सम्बन्ध में चीन, भारत और पाकिस्तान जैसे देश बहुत कुछ कर सकते हैं। पाश्चात्य देशो को चाहिये कि वे इन्हे इस सम्बन्ध में उत्साह प्रदान करते रहें। हम पाश्चात्यो ने पूर्व की प्राचीन सस्कृति से बहुत कुछ सीखा है। क्या यह सम्भव नही है कि पूर्व एक अन्य क्षेत्र अर्थात् चिकित्सा के क्षेत्र में भी, अभी मूल्यवान योग दान दे?"

मा ह्वाग (Ma Huang) नामक चीनी भेषज से उपलब्ध एफेड्रिन का जब से पता चला है, तब से चीन के औषधनिघंटु (मैटीरिया मेडिका) की ओर पाश्चात्य वैज्ञानिकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। साथ ही चीनी वैज्ञानिको ने भी इस ओर उतना ही ध्यान दिया है जैसा कि इस देश मे देशीय भेषजो के अनुसधान की ओर दिया जा रहा है। पेपिंग और शाघाई मे इस प्रकार के अध्ययन के लिए दो स्कूल हैं जो उन अनेक चीनी भेषजों का वैज्ञानिक मूल्याकन करने मे सलग्न हैं जिनमे चिकित्सीय गुणों की सम्भावना है। श्री टोकिन और वर्क[1] के अनुसार चागशान नामक भेषज प्राय उतना ही मलेरियारोधी सिद्ध हुआ है जितना कि कुनैन। द्वितीय युद्ध के समय जब चीन का ससार के अन्य देशों से सम्पर्क टूट गया था, तब इसी औषधि का वहाँ पर्याप्त सफलता के साथ प्रयोग किया गया था।

अम्मी विस्नागा (*Ammi visnaga*) से मिलते-जुलते एक अन्य भेषज, अम्मी मेजस (*Ammi majus*) के फल का उपयोग ल्यूकोडर्मा (श्वेतकुष्ठ) के उपचार में मिस्र में बहुत काल से होता चला आया है। अनुसधान से यह ज्ञात हुआ है कि इस भेषज के सत्व को खाने और उसके पश्चात श्वेत दाग वाले अगों को धूप में खुला रखने से श्वेत दाग मिट जाते हैं। इस भेषज से अमॉयडिन नामक एक सक्रिय क्रिस्टलीय पदार्थ भी निकाला गया है।

रुटिन (Rutin) नामक ग्लाइकोसाइड जिसको सर्वप्रथम रूटा ग्रेवियोलेन्स (*Ruta graveolens*) से प्राप्त किया गया था, ४० विभिन्न जाति की वनस्पतियो में पाया गया है। इन वनस्पतियो मे कुट्टू (Buckwheat), तम्बाकू, एल्डर और फॉरसिथिया (Forsythia) भी शामिल हैं। सन् १९४२ तक तो यह प्रयोगशाला की ही अनुसधान की वस्तु थी, परन्तु अब इसका अधिकाधिक प्रयोग केशिकाओ की भगुरता की चिकित्सा में होने लगा है। अभी हाल ही में भेपज-गुण विज्ञानियो के एक दल को अचानक ही इस बात का पता लगा कि रुटिन का महत्वपूर्ण उपयोग परमाण्वीय विकिरण से होने वाले उत्तरवर्त्ती दुष्प्रभावो को दूर करने मे भी किया जा सकता है।[2] ऐसे कई और अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं।

सश्लेषात्मक प्रक्रियाओं के लिए रसायनज्ञ को उच्चतम ताप और दबाव की आवश्यकता पडती है, पर प्रकृति द्वारा वनस्पतियों में ये क्रियाएँ साधारण ताप-मान

---

(1) Tonkin and Work, 'A New Antimalarial Drug,' *Nature* Lond 1945, 156, 630

(2) Knowlton, *et al, Jour Am Med. Assoc*, 1949, 141, 239.

और दवाव की अवस्थाओ मे सम्पादित होती रहती है । रसायनज्ञ कुनैन जैसे ऐल्केलॉयड को अर्द्ध शताब्दी से अधिक परिश्रम करके सश्लिष्ट कर पाये, जब कि सिनकोना पादप इसे बिना किसी कठिनाई के प्रति दिन सश्लेषित करता रहता है। वनस्पतियो मे तो अनेक सक्रिय ऐण्टिबायोटिक (Antibiotics) पाये जाते है, फिर भी अभी इस दिशा मे और अधिक अनुसधान अपेक्षित है। वास्तव मे हम अभी वनस्पतियो के विश्लेषण और अनुसंधान कार्य की देहली पर ही पहुँच पाये है। आगे चल कर क्या मिलने वाला है इसे प्रकृति को छोडकर कोई नही जानता। अतएव इन भेपजो के सम्बन्ध मे अनुसधान कार्य लोक-कल्याण की भावना से चलते ही रहना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन, स्विटजरलैण्ड, और अमेरिका में भी भारतीय भेपजो पर अध्ययन कार्य उनके अनेक अनुसधान केन्द्रो में जोरो से चल रहा है।

ज्ञात देशीय भेपजो का पुनरनुसधान .

इस कार्य का दूसरा पहलू सुविदित वानस्पतिक भेषजों पर पुनरनुसधान करना है। यद्यपि इनमे से कई भेपजो के विषय मे जानकारी पहले से प्राप्त है, पर अभी तक इनके सम्बन्ध में अन्तिम बात कहना शेप ही है। यह तथ्य बहुत दिनो से ज्ञात है कि पोडोफिलम (Podophyllum) और उसका रेजिन श्लेष्म-कला पर और त्वचा पर भी क्षोभ पैदा करते है। संभवत इसी तथ्य की जानकारी के कारण पोडोफिलम रेजिन का प्रयोग मसा और कॉनडिलोमेटा (Condylomata) को विनष्ट करने में किया जाने लगा। खनिज तेल में इस रेजिन का २५ प्रतिशत निलम्बन तैयार करके रति रोग जन्य मसो पर लगाने से सफल परिणाम मिले है। यह अनुसन्धान अमेरिकी पोडोफिलम पेल्टेटम (*Podophyllum peltatum*) पर किया गया था, किन्तु भारतीय पोडोफिलम हेक्सेण्ड्रम (*P. hexandrum*) में अमेरिकी पोडोफिलम की अपेक्षा रेजिन और पोडोफिलोटॉक्सिन (Podophyllotoxin) ज्यादा है, पर अल्फा और बीटा पेल्टेटिन की विद्यमानता की सम्पुष्टि नही की जा सकी है[3]।

डच वैज्ञानिको ने अभी हाल में बताया है कि आमाशय-व्रणो पर मुलेठी (Liquorice) के सत्व का प्रभाव लाभकारी सिद्ध हुआ है। उन्होने यह भी कहा है कि चिकित्सा के दौरान करीब २० प्रतिशत रोगियो को हृद्जन्यश्वास (Cardiac asthama) हो गया और अनुसधान करने पर यह भी पता लगा कि इसके सत्व

---

(3) Mukerji, B, Indigenous Drugs Research—Present and Future, *I C M R.*, 1953.

को खाने से वही असर होता है जो डिऑक्सीकॉरटोन (deoxycortone) के इन्जेक्शन का होता है, जिसके परिणाम स्वरुप सोडियम तो शरीर के अन्दर बना रहता है किन्तु पोटाशियम निकल जाता है। वे बताते है कि ऐडिसन व्याधि (Addison's disease) मे इसके सत्व के सेवन से लाभकारी प्रभाव होता है। मुलेठी के संघटको मे ग्लिसरेटिक अम्ल भी है जो पॉलीटरपीन है जिसका संचारना सूत्र साइक्लोपेन्टैनोफिनैन्थ्रिन स्टिरॉयड से आश्चर्यजनक साम्य रखता है।

डिजिटैलिस पर किये जाने वाले अभी हाल के अध्ययन से एक और ध्यान देने योग्य बात यह सामने आयी है कि इसके हृद्विषाक्त (Cardiotoxic) गुणो की अपेक्षा, इसके हृद्वल्य (Cardiotonic) गुणोको अधिक महत्व दिया गया है, और डिजिकोरिन (Digicorin) नामक एक नये ग्लाइकोसाइड का पता लगा हे। इस ग्लाइकोसाइड मे विषालुता (Toxicity) न्यून हे और इसके सम्बन्ध में यह दावा किया गया है कि इसमें डिजिटैलिस के उपचारी गुण वर्त्तमान है जबकि अन्य ग्लाइकोसाइड का जो इससे अधिक विख्यात हैं हृदय पर विषाक्त प्रभाव पडता है। डिजिकोरिन डिजिटैलिस पुरपुरिया (*D purpurea*) तथा डिजिटैलिस लैनेटा (*D lanata*) की पत्तियो से निकाला जाता है।

"विरेचक औषधियो मे ऐन्थ्राक्विनोन (Anthraquinone) वर्ग के ऊपर जो हाल मे अनुसन्धान कार्य हुआ है, उससे इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है कि अपरिष्कृत भेषजो में ये ऐन्थ्राक्विनोन किस रूप मे वर्तमान है। इनके रसायनिक एवं जैविक आमापन की जो सन्तोषपूर्ण विधियाँ विकसित हुई है, उनसे पता चलता है कि ऐन्थ्रैनॉल ग्लाइकोसाइड के रूप मे ऐन्थ्रैसिन व्युत्पन्ना (Anthracene derivatives) बहुत ही सक्रिय होते है, पर मुक्त ऐन्थ्रैनॉल के रूप में कम और मुक्त ऐन्थ्राक्विनोन के रूप में और भी कम सक्रिय होते हैं। इन्ही दिशाओ मे जो अनुसन्धान सनाय, रेंवदचीनी (Rhubarb), कैस्कारा (Cascara) और ऐलो (Aloes) पर किये गये है उनसे इन भेषजो में पाये जाने वाले सक्रिय सघटको (Ingredients) के रूप का ठीक ठीक पता चलता है। अब इससे चिकित्सा के लिए शक्तिशाली और स्थायी औषधियाँ तैयार की जा सकती है जो पहले सम्भव नही था।"

"अमेरिकी विरैट्रम, विरैट्रम विरडी (*Veratrum viride*) पर हाल मे जो अनुसन्धान कार्य हुआ है उससे पता लगा है कि अतिरक्तदाब (Hypertension) की चिकित्सा के लिए यह बडा उपयोगी है और यह बहुत सम्भव है कि यूरोपीय विरैट्रम या श्वेत हेलीबोर (White Hellebore) की क्रिया भी उसी प्रकार की होती हो।

विरैट्रम की जटिल रसायनिक संरचना के कारण जन्तुओ तथा रोगियो मे इसके गुणो का मूल्याकन करने मे बडी बाधा पडी है। अब तक १५ ऐल्कोलॉयड पाये जाने की सूचना मिल चुकी है और इनपर कुछ अनुसन्धान कार्य भी किया जा चुका है। आगे अनुसन्धान करने से सम्भव है कि इनके स्वरूप और गुण-कर्म के सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश पडे।"

"पर्णहरिम व्युत्पन्नो (Chlorophyll derivatives) के दुर्गन्धहारी गुणो के सम्बन्ध मे जो अनुकूल सूचनाएँ मिली है उनके बारे मे कोई निष्पक्ष राय बताना कठिन है, क्यो कि प्रकृति के सग्रहालय से उपलब्ध इस आश्चर्यजनक पदार्थ के बारे मे व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के बडे-बडे दावे आरहे है। जो भी हो, विश्वसनीय अनुसन्धान कार्यकर्त्ताओ द्वारा जो निष्कर्ष निकले है उसमे इस बात पर आश्चर्यजनक साम्य है कि पर्णहरिम व्युत्पन्नो मे दुर्गन्धहारी गुण वर्तमान है, और युद्धजन्य व्रणो को भरने मे बडे प्रभावी हैं।"

भारतीय भेषजो के अनुसन्धान के बारे मे उपर्युक्त प्रकार की विचारधारा चल रही है। उपरोक्त कतिपय उदाहरणो से स्पष्ट रूप से प्रगट होता है कि व्याधिग्रस्त मानवता के कल्याण के लिए वनस्पतियो पर अनुसन्धान का क्षेत्र कितना विस्तृत होता जा रहा है।

---

(६)

देशीय भेषजों के अनुसंधान का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

हमने इसके पहले ही देशी भेषजो के उद्विकास का अनुरेखण, वैदिक काल से आरभकर, भारत मे पाश्चात्य औषधियो के प्रवेश पर्यन्त किया है। अब हम क्षण भर के लिए प्राचीन सस्कृत द्रव्य-गुण-शास्त्र पर जो अरब चिकित्सापद्धति के आगमन के पूर्व प्रचलित था, दृष्टिपात करेंगे। कुछ प्राचीन संस्कृत ग्रन्थो मे वानस्पतिक भेषजो का वर्गीकरण किया गया है तथा १४ या १५ शताब्दी पूर्व के हिन्दू चिकित्सको के द्वारा उन भेषजो के जिन अंग-उपागो का प्रयोग औषधियो मे किया जाता था, इनका वर्णन उनमें किया गया है, उन ग्रथो का अध्ययन अत्यत सुन्दर है। 'कल्पस्तानम' जैसे ग्रन्थ (सम्भवत सहिताओ के 'कल्प स्थान'-अनु०) मे तो भेषजो और औषधीय वनस्पतियो का वर्गीकरण विस्तार पूर्वक किया गया है। उसमें इन वनस्पतियो का भिन्न-भिन्न शीर्षको मे विभाजन कर दिया गया है, जैसे कन्दिल मूल, शल्कीय मूल, जडो की छाल, वृक्षो की छालें जिनमें विशेष प्रकार की गंध हो, पत्ते, फूल, बीज, तीक्ष्ण तथा कषाय वनस्पति, क्षीरीणि

तथा वे पौधे जिनमें गोंद और रेजिन पाये जाते हो, इत्यादि। उसी ग्रन्थ मे वानस्पतिक भूगोल, विभिन्न वनस्पतियो के उत्पत्ति स्थान तथा उनकी जलवायु, वानस्पतिक भेषजो के लिए उपयुक्त भूमि तथा संग्रह काल, उनके गुणधर्मो की अवधि, सरक्षण विधि तथा विभिन्न प्रकार के माप तौल जो भेषजी मे प्रयुक्त होते है, इत्यादि का अति प्राचीन वर्णन मिलता है। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि बौद्धकाल के प्रथम चरण में चिकित्सको की, भेषज और जडी बूटियो सबधी माग पूरी करने के लिए इन सबके बाग बगीचे लगाये जाते थे। इन ग्रन्थो मे भेषजो के दक्ष प्रयोग (manipulation) के विस्तृत निर्देश दिये गये है और उनमें से कुछ तो ऐसे है जो वर्तमान प्रचलित विधियो से किसी प्रकार कम नही हैं। इनमें प्रत्येक विचारणीय बातो की जानकारी दी गयी है जैसे भेषजो का सग्रह काल, इनके सग्रह योग्य भाग, इनसे औषधि निर्माण आदि। इनमें इन बातो की भी जानकारी दी गयी है कि एक वर्षीय वनस्पतियो को बीज की परिपक्वावस्था से पूर्व सग्रह करना चाहिये और द्विवर्षीय को बसत मे तथा त्रिवर्षीय को शरद में, टहनियो का सग्रह एक वर्ष का होने पर, मूलो का सग्रह शीतकाल में, पत्रो का ग्रीष्म मे और छाल तथा काष्ठ का वर्षा में किया जाना चाहिये। कम से कम २६ प्रकार के कल्पो (preparations) का वर्णन मिलता है जैसे जल एवं क्षीर निर्मित क्वाथ और फाट, निरप, स्वरस, आसव, चूर्ण, सत्व, चिकित्सीय तैल तथा किण्वन-उत्पाद (fermentation products) आदि। यद्यपि पुरातन भारतीय चिकित्सकों को वानस्पतिक बूटियो का विस्तृत ज्ञान था और उनका द्रव्य गुण-शास्त्र भी वृहद् था, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उन्होने पर्वत और मैदानो की कुछ असाधारण शक्तिशाली सक्रिय तत्त्व वाली बूटियो को तो चुना, किन्तु कुछ वही पास पास पैदा होने वाली उतनी ही गुणकारी शक्तिशाली अन्य बूटियो को अछूता छोड दिया। उदाहरण स्वरूप बेलाडोना, एफेड्रा, आर्टिमीसिया आदि, जो हिमालय के अधिकाश भाग मे प्रचुर मात्रा में पाये जाते है, किन्तु उनकी ओर उन्होने ध्यान नही दिया। इन्ही भेषजो में से कुछ को तो चीन और अरब के समकालीन चिकित्सको द्वारा बडी सफलता के साथ उपयोग में लाया गया, पर भारतीय चिकित्सकों ने इनका उपयोग क्यो नही किया, यह समझना कठिन है। अवनति काल के आरभ हो जाने पर नये भेषजो की ओर उनकी बहुत कम रुचि रही। आयुर्वेद तथा तत्सम अन्य ग्रथो मे निहित ज्ञान अपौरुपेय समझा जाने लगा और उसकी अभिवृद्धि मानवीय बुद्धि के लिए अगम्य समझी जाने लगी। परिणामस्वरूप तत्कालीन ज्ञान १५ शताब्दियो तक न केवल प्रगतिहीन बना रहा बल्कि धीरे-धीरे बहुत कुछ लुप्त हो गया।

मुसलमानो के आठवी और नवी शताब्दी के चिकित्सा विषयक ज्ञान का हम उल्लेख

कर चुके हैं। एडोल्फ फोनान (Adolf Fonahn) ने अपनी 'Zur Quellenkunde der Persischen Medizin' नामक पुस्तक मे ४०० फारसी पुस्तकों का उल्लेख किया है। इनमे से कुछ ही का प्रकाशन हुआ है जिनका पूर्णत या अशत सम्बन्ध चिकित्सा से रहा है। इनमें से दो पुस्तकें विख्यात हैं—एक अबू मसूर मुवफ्फक की मैटेरियामेडिका जो ९५० ई० में रची गयी तथा दूसरी जखिराये ख्वारिज्मशाही ('Dhakhira-i-Khworazmshahi') जिसमें एक चिकित्सा-पद्धति का वर्णन किया गया है और जो बारहवी शताब्दी में लिखी गयी। इन पुस्तको में द्रव्य-गुण-शास्त्र का तीन भागो में विभाजन किया गया है। पहला जिसमे प्राणीय उत्पादो का वर्णन है, दूसरा जिसमे साधारण वानस्पतिक द्रव्यों का वर्णन है और तीसरा जिसमें योगो का वर्णन है। इनमें से कुछ पुस्तको में उन औषधियो का उल्लेख किया गया है जो शल्य क्रिया मे सवेदना-हरण का कार्य करती हैं। 'शाहनामा' नामक ग्रन्थ में जिसकी रचना ११ वी शताब्दी के आरम्भिक काल में हुई थी, सिजेरियन शल्य क्रिया का जिक्र मिलता है जो रुस्तम की मा रुदाबा के ऊपर की गयी थी, उसमें सवेदनाहरण के लिए मद्य का प्रयोग किया गया था। इस तरह अरबी चिकित्सापद्धति अपने साथ एक समृद्ध द्रव्य-गुण-शास्त्र (मैटेरिया मेडिका) लायी और उसके हिमायतियो ने देशी भेषजो की ओर बहुत कम ध्यान दिया। पाश्चात्य चिकित्सापद्धति का आगमन होने पर प्राच्य विद्वानो की गवेषणात्मक बुद्धि ने भारत के औषधीय पादपो के रहस्यो का छानबीन करना शुरू किया।

भारतीय भेषजो का अध्ययन सर्वप्रथम गत शताब्दी के पूर्वार्ध में शुरू हुआ। उस समय यह कार्य विभिन्न औषधीय पादपो के सम्बन्ध में उपलब्ध जानकारी को सग्रहीत करने तक ही सीमित था। इस दिशा में सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स ने लेख लिखे। उन्होने 'बोटैनिकल ऑबजर्वेशन्स ऑन सिलेक्ट प्लैण्ट्स' शीर्षक से एक विवरण ग्रथ लिखा। इसके बाद १८१० ई० में जान फ्लेमिंग ने 'कैटेलग ऑफ इन्डियन मेडिसिनल प्लैन्ट्स ऐण्ड ड्रग्स', १८१३ में एनस्लीज (Ainslies) ने 'मैटिरिया मेडिका ऑफ हिन्दुस्तान' तथा १८७४ में रॉक्स बर्ग ने 'फ्लोरा इन्डिका' नामक पुस्तको की रचना की। वालिच, रॉयल और बाद में मुवा तथा मैकनामारा (Mouat and Macnamara) ने इस देश की विस्तृत वनस्पति सामग्री के सम्बन्ध में व्याप्त अव्यवस्था को कुछ हद तक दूर कर वैज्ञानिक ढग से इस दिशा में बहुत कुछ कार्य किया। इसके बाद १८४१ मे ओ'शाउघ्नेसी (O'Shaughnessy) द्वारा 'दी बगाल डिस्पेन्सेटरी ऐण्ड फार्माकोपिया' का निर्माण हुआ जो अपने ढंग की पहली पुस्तक थी, जिसमे बगाल में व्यवहृत वनस्पतियो के गुण और प्रयोग का वर्णन मिलता है। १८६८ मे वारिंग

(Waring) के योग्य सपादन मे 'फर्माकोपिया ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ । इससे भारतीय भेषजो के महत्त्व निर्धारण और मूल्याकन की दिशा मे एक नये युग का आरम्भ हुआ । अधिक महत्त्वपूर्ण भेपजो को राजकीय स्तर पर मान्यता दी गयी ताकि उन्हे ब्रिटिश फार्माकोपिया में शामिल किया जा सके । बहुत से भेपजों पर विशेषत जिनका स्थानीय उपयोग होता था, इस पुस्तक में कोई अध्ययन नही प्रस्तुत किया गया । इसलिए अगले वर्ष मोहिदीन शेरीफ ने 'सप्लिमेन्ट टुदी फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया' नामक अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया जिससे श्री वारिंग की पुस्तक की उपयोगिता काफी बढ गयी । उसी लेखक के द्वारा 'मैटेरिया मेडिका ऑफ मद्रास' नामक पुस्तक लिखी गयी जिसका सपादन और प्रकाशन श्री हूपर ने लेखक की मृत्यु के बाद किया । इस पुस्तक में मद्रास प्रदेश मे उत्पन्न होने वाले तथा प्रयोग में लाये जाने वाले भेपजो का वर्णन है । श्री यू० सी० दत्त द्वारा तैयार किये गये, सस्कृत मेटिरिया मेडिका के अनुवाद से हिन्दू वैद्यो द्वारा व्यवहृत होने वाले भेपजो को प्रमुखता मिली । फ्लुकिगर और हेनबरी की 'फार्मैको-ग्रैफिया' दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी जिसमे देशीय औषध उत्पादो से सबध रखने वाली महत्त्वपूर्ण सामग्री का सकलन है । कुछ अन्य पुस्तकें जो अपेक्षाकृत नवीन है उनमे डाइमाक द्वारा रचित 'वेजिटेबुल मैटिरिया मेडिका ऑफ वेस्टर्न इण्डिया' नामक पुस्तक का प्रकाशन १८८३ में हुआ । उसके बाद ही भारतीय भेपजो पर एक व्यापक ग्रन्थ 'फार्मैकोग्राफिया इण्डिका' नाम से १८९०-९३ मे डाइमाक, वार्डेन तथा हूपर के सयुक्त सपादन में प्रकाशित हुआ । यह बहुत ही सावधानी से तैयार किया गया एक उपयोगी सकलन है, जिसमें पाश्चात्य एव पूर्वीय देशो की चिकित्सापद्धति मे व्यवहृत किये जाने वाले भारतीय औषधियो के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है । सर्वाधिक विस्तृत ग्रन्थ 'ए डिक्शनरी ऑफ दी इकॉनामिक प्रोडक्ट्स ऑफ इण्डिया' है जिसका प्रकाशन १८८९-१९०४ की अवधि मे हुआ । इसके रचयिता सर जार्ज वाट भारत सरकार के इकॉनामिक प्रॉडक्ट्स के रिपोर्टर थे । यह वृहद् ग्रन्थ न केवल औषधीय वनस्पति पर लिखे गये पूर्व के सभी ग्रन्थो का साराश देता है, बल्कि इसका प्रत्येक पृष्ठ विभिन्न प्रकार के त्वक, मूल, पुष्प, पत्र तथा काष्ठ के उपयोग सबधी जानकारी से भरा है । अनेक भेपजो के कृपि के बारे में टिप्पणियाँ दी गयी है । उसमे यह भी वर्णित है कि आन्तरिक एव निर्यात व्यापार मे इनका कितना आर्थिक महत्त्व है; यहाँ पैदा होने वाले भेपजो के गुण क्या है, देश के किस भाग में वे उत्पन्न होते है, और विभिन्न चिकित्सा अधिकारियो द्वारा किये गये रोगियो पर परीक्षणो का परिणाम उनके सम्बन्ध में क्या रहा, यह सब सावधानी से बताया गया है ।

कन्हाई लाल डे की 'इण्डिजेनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया' तथा कीर्तिकार एवं बसु के 'इण्डियन मेडिसिनल प्लॉण्ट्स' नामक ग्रन्थों में, जो उसके बाद प्रकाशित हुए थे, अधिकांशत उपरोक्त ग्रन्थ का सारांश सकलित किया गया है। 'इण्डियन मेडिसिनल प्लॉण्ट्स' में अनेक महत्त्वपूर्ण औषधीय जड़ी-बूटियों के चित्र दिये गये हैं जिनसे अनुसधानकर्ताओं को औषधीय वनस्पतियों का विभेद करने मे बडी सहायता मिलती है।

इस प्रस्तुत ग्रन्थ के अलावा इस विषय पर इधर हाल में १९४९-५३ में एक अन्य बहुत व्यापक ग्रन्थ 'दि वेल्थ ऑफ इण्डिया' रचा गया है जिसका प्रकाशन 'काउन्सिल आफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के तत्त्वावधान में हो रहा है। यह पुस्तक वस्तुत १८८९-१९०४ में प्रकाशित 'ए डिक्शनरी आफ इकॉनामिक प्रॉडक्ट्स ऑफ इण्डिया' का नया सस्करण है जिसमें अद्यतन सामग्री दे दी गयी है। यह करीब १० खण्डों मे प्रकाशित किया जायगा। पहले ५ खण्ड (अब तक ९ खण्ड-अनु०) प्रकाशित हो चुके हैं और इसके सपादक मण्डल ने प्रशसनीय कार्य किया है। बहुत से भेषजों पर उपरोक्त तरीके से जो अनुसधान किये गये हैं उनके परिणाम इन पुस्तकों में दिये गये हैं। इस तरह यह स्पष्ट है कि भारतीय भेषजों पर गवेषणा का कार्य अब समुचित वैज्ञानिक आधार पर चलने लगा है।

उपरोक्त साहित्य बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इसमें न केवल आयुर्वेदिक तथा तिब्बी भेषजों के बारे में जानकारी दी गयी है बल्कि उनके कुछ लेखकों के व्यक्तिगत निरीक्षणों और अनुभवों के परिणाम भी दिये गये हैं। इसमें सदेह नहीं कि भेषजों के वैज्ञानिक नामों के बारे में पर्याप्त अनुसंधान हुआ है, फिर भी बहुत से ऐसे भेषज हैं जिनके सबध में वानस्पतिक स्रोत तथा अन्य कई बातों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना शेष है। नये भेषजों का, जो पहले के अनुसधानकर्ताओं की दृष्टि में नहीं आये, विस्तार पूर्वक समन्वेषण होना चाहिये। वार्डन तथा हूपर ने अनेक महत्त्वपूर्ण भेषजों की रसायनिक सरचना के बारे मे बहुत परिश्रम से अध्ययन किया है। "दि इण्डिजेनस ड्रग्स कमेटी" ने बहुत उपयोगी कार्य किया है। प्रयोग सिद्ध औषधियों के प्रामाणिक नमूने को प्राप्त करने, मानक औषधियों का निर्माण करने तथा देशभर की विभिन्न राजकीय संस्थाओं में उनके उपयोग को प्रोत्साहन देने का श्रेय इस कमेटी को है। इन प्रयासों के अतिरिक्त बहुत से कार्यकर्ताओं ने समय-समय पर व्यक्तिगत रूप से कुछ भेषजों पर कार्य किया, और गवेषणा के आधुनिक तरीकों से उनका भेषजीय गुण-कर्म निर्धारित करने की कोशिश की, किन्तु इन कार्यकर्त्ताओं को, समुचित रूप से उपकरण-सम्पन्न प्रयोगशालाओं के अभाव के कारण बडी अड़चन रही। यद्यपि

ये सारे प्रयत्न प्रशंसनीय रहे हैं, फिर भी अधिकांश भेषजों के गुण-कर्म की छानबीन करने का क्षेत्र प्राय अछूता ही रहा है। इसका कारण जानना कठिन नही है। इस प्रकार के अनुसंधान कार्यों के लिए पर्याप्त धनराशि की आवश्यकता होती है, जिसे उपकरण-सम्पन्न रासायनिक तथा भेषज-गुण-विज्ञान संबंधी प्रयोगशालाओं की स्थापना मे लगाया जा सके। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक रसायनज्ञो तथा भेषज-गुणविज्ञो का होना अत्यन्त आवश्यक है। सम्प्रति चिकित्सा-शास्त्र का रसायन-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुत-सी शरीर-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान सम्बन्धी समस्याओं का अन्तिम समाधान भौतिक या रासायनिक तथ्यो पर आधृत रहता है। भेषजो के गुण कर्मात्मक अध्ययन में यह बात बलात् सामने आती है। गवेषणा कार्य में पग-पग पर रसायनज्ञो का सहयोग कितना आवश्यक है इसका अनुभव केवल अनुसंधानकर्ताओं को ही मिल सकता है। यदि सन्तोषप्रद परिणाम प्राप्त करने हैं तो निष्णात् रसायनज्ञो का सहयोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त केवल एक औषधि की रासायनिक संरचना निर्धारित करने में बहुत परिश्रम और समय देना पड़ता है। इस बात को इस तथ्य से जाना जा सकता है कि एक कुशल रसायनज्ञ को भी केवल एक अपरिष्कृत भेषज के विभिन्न रासायनिक घटकों को शुद्ध रूप में अलग करने और उनकी रासायनिक रचना का पता लगाने में कई महीनों का समय सम्भवत एक वर्ष या उससे अधिक लग जायगा। यदि रसायनज्ञ अपना सारा समय केवल एक ही सक्रिय तत्त्व पर लगा दे तो भी उसकी रासायनिक संरचना का विनिश्चयन करने में बड़ा लम्बा समय लग जायगा। पर्याप्त सक्रिय तत्त्वों को अलग करने और उनके भेषजीय गुण-कर्म का पता लगाने में कई महीने लग जायेंगे। देशीय चिकित्सा-पद्धति में व्यवहृत सभी भेषजो पर अनुसंधान करने का काम कितना विशाल है इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इस दिशा में गवेषण का क्षेत्र इतना विस्तृत है और काम इतना कम हुआ है कि किसी एक व्यक्ति या संस्था के लिए इसको पर्याप्त रूप से पूरा करना असंभव है। इन सब बातो की खोज के लिए बहुसंख्यक योग्य, सद्भावी तथा निष्ठावान कार्यकर्त्ताओ के सहयोग और साहचर्य की आवश्यकता है। विभिन्न विश्व विद्यालयो और मेडिकल कालेजो मे भेषज गुणविज्ञान के प्राध्यापक की पीठ (Chair) स्थापित की जानी चाहिये और गवेषणा कार्य के लिए सुविधाएँ दी जानी चाहिये।

जो भी हो, स्थिति का सामना करना ही होगा। इन भेषजो या इनके सक्रिय तत्त्वो की क्रिया या प्रभाव का विनिश्चयन तभी किया जा सकता है जब सावधानी से उनपर रासायनिक, गुण-कर्म एवं नैदानिक अध्ययन किया जाय। तीनो ही पक्षों पर

अनुसधान कार्य साथ-साथ चलना चाहिये। भैपजकीय गुण-कर्म सम्बन्धी प्रायोगिक कार्य केवल उन्ही प्रयोगशालाओ में हो सकता है जो सभी आधुनिक उपकरणो से सुसज्जित हो। १९२१ ई० मे कलकत्ता के "ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन्स" की स्थापना से पूर्व इस देश मे एक भी समुचित प्रयोगशाला नही थी जहाँ कोई भी व्यक्ति वैज्ञानिक ढग से भेपजो पर अनुसंधान कार्य करता। उस संस्था के भेपज-गुण-विज्ञान के प्राध्यापक के कर्त्तव्यो मे एक मुख्य काम यह भी था कि वह देशीय भेषजो पर वैज्ञानिक ढग से अनुसधान करे। उस सस्था के रसायन विभाग मे अनुभवी रसायनज्ञो का एक दल था जिसने भेपजो की रासायनिक रचना पर अनुसंधान कार्य किया, उनके सक्रिय तत्त्वो को अलग कर भेपजगुणविज्ञ को दिया कि वह इस बात का विनिश्चयन करे कि प्राणी या जन्तुओ पर उनका क्या प्रभाव पडता है। भेपजो का क्लिनिकल परीक्षण "कारमाइकेल हॉस्पिटल फॉर ट्रॉपिकल डिजीजेज" मे की गयी जो गवेपणात्मक अस्पताल के रूप मे उस सस्था से सन्नद्ध थी। इस तरह अनेक भेपजो पर विभिन्न अनुसधान कार्य पूरा किया जा सका, अर्थात् उनके सक्रिय तत्त्वो को अलग करने से लेकर प्राणियो पर उनके प्रभाव का परीक्षण और अन्ततोगत्वा रोगियो पर प्रयोगात्मक परीक्षण करने के लिए समुचित औषधि निर्माण करने तथा चिकित्सकीय परीक्षणो के परिणामो का अभिलेखन करने का सारा काम पूरा किया जा सका।

इसके बाद की तीन दशाब्दियो मे देशीय भेपजो पर गवेपणा कार्य को काफी प्रोत्साहन मिला है और इस दिशा मे सतोपप्रद प्रगति हुई है। 'भारतीय चिकित्सा-अनुसन्धान परिपद' (Indian Council of Medical Research), 'भारतीय कृपि-अनुसन्धान परिपद' (Indian Council of Agricultural Research), 'भारतीय वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिपद' (Indian Council of Scientific and Industrial Research) जैसे अर्ध सरकारी सगठनो ने इस काम के लिए विभिन्न चिकित्सीय सस्थाओ और गवेषणा-निकायो को उदार अनुदान दिये है। "वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिपद" ने तो १९५० मे लखनऊ मे "सेन्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट" नामक सस्था स्थापित की जो भारत की ११ (अब-३५-अनु) बडी राष्ट्रीय प्रयोगशालाओ में से एक है। इस महती सस्था का एक पूरा सभाग ही भारतीय भेपजो के अध्ययन मे लगा हुआ है। स्वतत्रता के आते ही गवेपणा का कार्य एक सुस्थित और सुदृढ आधार पर बढने लगा है।

—o—

(७)
समस्या के तीन प्रमुख पक्ष

भारतीय वानस्पतिक भेषजों की पूरी छानबीन के पश्चात् वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से समस्या के तीन पक्षों की ओर बलात् ध्यान आकृष्ट हुआ। भारतीय भेषज पर शोधकार्य जो इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक द्वारा कलकत्ता के स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन में प्रारम्भ किया गया था, निम्नलिखित तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए शुरू किया गया।

१—भारतवर्ष को भेषज उत्पादन की दिशा में स्वावलम्बी बनाया जाय जिसके लिए यह आवश्यक है कि देश में उत्पन्न भेषजों को व्यवहार में लाया जाय और औषधियों का उपयुक्त रूप से निर्माण किया जाय।

२—आयुर्वेदिक, तिब्बी और अन्य भेषजों पर परीक्षण करके ऐसी औषधियों की खोज निकाली जाय जो पाश्चात्य चिकित्सापद्धति में चिकित्सकों को ग्राह्य हो एवं जिनका वे समुचित उपयोग कर सकें।

३—इस सबंध में मितव्ययिता के साधनों की खोज की जाय ताकि इन औषधियों का उपयोग भारतवर्ष की अधिकांश जनता जिसकी आर्थिक दशा निम्नस्तर की है, कर सके।

इस समस्या के अध्ययन के फलस्वरूप उपर्युक्त तीनों पक्ष सामने आते हैं, जिनकी समीक्षा की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया जाता है।

भेषजकोशीय एवं सम्बद्ध द्रव्य उपरोक्त समस्या के प्रथम पक्ष के समाधान से बृहद् परिणामों की सम्भावना है, क्योंकि इस देश में जो भेषज उत्पन्न होते हैं उनमें से अधिकांश का ज्ञान प्राच्य एवं पाश्चात्य चिकित्सकों को है तथा इनमें से अनेकों के गुण एवं कर्म से भी वे अनभिज्ञ नहीं हैं। इस दिशा में अनुसंधान कार्य दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे अनेक भेषज हैं जिनकी रोग-निवारण-क्षमता सिद्ध हो चुकी है और जिनको विभिन्न देशों के भेषजकोशों ने मान्यता दे रखी है। इनमें से अधिकांश भेषज अपने आप पैदा होते हैं तथा भारतवर्ष के अनेक भागों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं और कुछ भेषज कृषि द्वारा उत्पन्न भी किये जाते हैं। जो भेषज यहाँ उत्पन्न होते हैं, उनमें से कुछ को अति न्यून परिमाण में एकत्र किया जाता था और विदेशों को निर्यात किया जाता था। फिर मानकित भैषजिक योगों एवं शुद्ध सक्रिय तत्त्व के रूप में, अपरिष्कृत भेषजों के मूल्य की तुलना में कई गुना अधिक कीमत पर उन्हें पुन: आयात किया जाता था, और बहुत से ऐसे भेषज उत्पन्न होते हैं जो पूर्णावस्था को प्राप्त होकर अन्ततोगत्वा

बिना किसी व्यावहारिक उपयोग मे आये नष्ट हो जाते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनका विस्तृत उल्लेख अगले पृष्ठो मे किया जायगा, किन्तु उनमें से थोड़े मे उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनके विकास की कितनी सम्भावना है।

ऐट्रोपा ऐक्युमिनेटा (*Atropa acuminata*) प्राकृतिक अवस्था में हिमालय की श्रेणियो मे शिमला से कश्मीर तक, समुद्र के धरातल से ६,००० से १२,००० फीट की ऊँचाई तक प्रचुर मात्रा में पैदा होता है। इसके मूल को अधिक परिमाण में एकत्र किया जाता था और यूरोप तथा अमेरिका को निर्यात किया जाता था। हाइओसायमस नाइजर (*Hyoscyamus niger*) हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश मे ६,००० से १०,००० फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है और पजाब की समतल भूमि पर भी इसी भेषज की अच्छी कोटि का उत्पादन किया जा सकता है। सेन्था, ऐकोनाइट और जूनिपर की अनेक जातियाँ पूरे हिमालय प्रदेश मे उत्पन्न होती है। जूनिपेरस काम्यूनिस (*Juniperus communis*) कश्मीर के कुछ भागो में प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है। वैलेरिआना वालिचाइ (*Valeriana wallichii*) अधिक परिमाण मे कश्मीर और भूटान में पाया जा सकता है। आर्टिमोसिया की अनेक उपजातियाँ उत्तरी हिमालय एवं पश्चिमी पाकिस्तान की पहाडी श्रेणियो में उत्पन्न होती हैं तथा कश्मीर और कुर्रम की घाटी में सैन्टोनिनयुक्त आर्टिमीसिया ब्रेविफोलिया (*Artemisia brevifolia*) प्रचुर परिमाण मे पैदा होती है। हिमालय के सिक्किम से कश्मीर तक साच्छाय शीतोष्ण वनो मे ७,००० से ९०,०० फीट की ऊँचाई पर अच्छे किस्म का पोडोफिलम इमोडी (*Podophyllum emodi*) पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे भेषजकोशीय द्रव्य है जिनका उपयोग चिकित्सको द्वारा विस्तृत रूप में होता है किन्तु जो इस देश मे नैसर्गिक रूप मे नही उत्पन्न होते है। फिर भी वे इस देश के उपयुक्त भागो में तथा अनुकूल वातावरण मे कृषि द्वारा खूब पैदा होते है। ऐसे भेषजो के अनेक उदाहरण हैं परन्तु उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण भेषजो का उल्लेख कर देना यथेष्ट होगा, जैसे डिजिटैलिस, इपेकाकुआनहा, यूकैलिप्टस, सिनकोना तथा जैलप इत्यादि। अनेक वर्षो पूर्व इन भेषजो को विदेशो से मँगा कर यहाँ लगाया गया था और अब वे यहाँ खूब फल-फूल रहे है। इन भेषजो की बढती हुई माँग के कारण इनका देश मे उत्पादन करना आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होगा, विशेषकर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि पाश्चात्य ओषधियों का उपयोग जन-साधारण में यहाँ धीरे-धीरे बढता जा रहा है। जहाँ तक तापमान और जलवायु का सम्बन्ध है भारतवर्ष मे इनकी आश्चर्यजनक विविधता पायी जाती है। जैसा कि आगे के पृष्ठो में बताया जायगा, हर प्रकार की ओषधि जो हमारी कल्पना में आ सकती है

यहाँ उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसी औषधि जो अत्यन्त उष्ण तथा आर्द्र जलवायु में होती है या जो समशीतोष्ण तथा अत्यन्त शीत जलवायु में होती है ये सभी यहाँ किसी न किसी भाग मे पैदा की जा सकती है और यहाँ की जलवायु के अनुकूल बनायी जा सकती है। भौमिकीय दृष्टिकोण से भी प्रत्येक श्रेणी की भूमि, कछार से लेकर कठिन चट्टानोवाली भूमि तथा बालुकामय मरुभूमि भी यहाँ उपलब्ध है। लन्दन के फारमेसी स्कूल के प्राध्यापक श्री ग्रीनिश ने यथार्थ ही कहा है कि भारत-वर्ष अपने जलवायु, ऊँचाई एव भूमि सम्बन्धी आश्चर्यजनक वैविध्य के कारण इस स्थिति मे है कि वह सब प्रकार की जडी-बूटियो को जिसकी आवश्यकता यूरोप को है सफलता पूर्वक उत्पन्न कर सकता है।

फिर भी वनस्पतियो के सम्बन्ध में मिट्टी, मौसम, सग्रहकाल जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें है जिन्हे ध्यान में रखना होगा और कदाचित ही यह आशा की जा सकती है कि सक्रिय सघटको की मात्रा सभी अवस्थाओ में एक सी बनी रह सकती है। कुछ भेषजो मे तो उनके गुण ठीक और अपरिवर्त्ती बने रहते है किन्तु अनेक भेषजो में सावधानी के साथ किये गये रासायनिक एव जैविक परीक्षणो द्वारा उनके सक्रिय तत्त्वो की सघटक प्रतिशतता अभी भी निश्चित करनी है जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न होने वाली ये औषधियाँ गुण में आयातित औषधियो के समान ही उपयोगी है। यदि ये भेषज अपेक्षित मानक तक नही पहुँच पाते तो देश के उन भागो मे जहाँ इन्हें अल्प व्यय मे उत्पन्न किया जा सके, वहाँ समुचित कृषि द्वारा उनके सक्रिय तत्त्वो को समुन्नत करके जन साधारण के उपयोग में इन्हे किस प्रकार लाया जाय इसके लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय ढूँढ निकालना अभी शेष है।

द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत भारतवर्ष में उगने वाली वे अनेक वनस्पतियाँ है जो आयातित बहुमूल्य वनस्पतियो के ठीक सदृश तो नही होती, पर गुण और कर्म मे उनके समान होती है, और इसलिए वे उत्तम प्रतिनिधि-द्रव्य बन सकती है। प्राय ये वनस्पतियाँ आयातित भेषजो के निकट सबद्ध जाति की होती है और गुण-कर्म की दृष्टि से उतनी ही सक्रिय होती है। इसमें किंचित भी सन्देह नही है कि बहुत सी उपरोक्त प्रकार की वनस्पतियाँ यहाँ विद्यमान है किन्तु उनके चिकित्सीय गुणो का वैज्ञानिक स्तर पर परिक्षण करने के लिए कोई प्रयत्न नही किया जा सका है या जो भी कार्य अब तक हो चुका है उसकी पुष्टि नही की जा सकी है। इन कारणो से उनके गुण-कर्म के बारे मे बहुत अनिश्चितता बनी हुई है। जब तक इस दिशा में ऊपर सुझाये गये काम नही किये जाते यह आशा करना व्यर्थ है कि चिकित्सक वर्ग परीक्षित और निश्चित गुण-कर्म वाली औषधियो के स्थान पर उनका उपयोग

करेगा। इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरणो का स्मरण आता है, किन्तु कुछ का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा। कॉल्चिकम ल्यूटियम (*Colchicum luteum*) पश्चिमी शीतोष्ण हिमालय के ढालों पर उत्पन्न होता है और यह मान्य कॉल्चिकम आटम्नेल (*Colchicum autumnale*) का सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि-द्रव्य वन सकेगा। सिला इण्डिका (*Scilla indica*) समुद्रतट, एव हिमालय की नीची शुष्क पहाडियों पर और साल्टरेंज मे प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होता है जो सिला मैरिटाइमा (*S maritima*) का उत्तम प्रतिनिधि-द्रव्य वन सकेगा। फेरुला नार्थेक्स (*Ferula narthex*) जिनमें हींग के समान एक गमरेजिन (*Gum-resin*) पाया जा सकता है, कश्मीर मे पैदा होता है। पिक्राज्मा क्वैसिआइडिस (*Picrasma quassioides*) और जेन्शिआना कुरु (*Gentiana kurroo*) के गुण क्रमश पिक्राज्मा एक्सेल्सा (*P excelsa*) तथा जेन्शिआना ल्यूटिया (*G lutea*) के सदृश है जो ब्रिटिश भेषजकोश के द्रव्य है।

ऐसे प्रतिनिधि-द्रव्यो के अनेक और उदाहरण दिये जा सकते है। इन भेषजो पर तथा इनके सक्रिय तत्त्वो पर शोध कार्य किया जा रहा है, इनकी सघटक प्रतिशतता निश्चित की जा रही है, इनकी क्रियाशीलता सुनिश्चित एव मानकित की जा रही है, और इनसे भैपजिक योग तैयार किये जा रहे हैं, जिससे देश को आर्थिक लाभ हो रहा है।

—o—

(८)

भारतवर्ष का विदेशों से भेषज व्यापार :—

उपरोक्त प्रथम उद्देश्य के आर्थिक महत्त्व का पूर्णरूपेण मूल्याकन भारतवर्ष में भेपज व्यापार के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इस शताब्दी के प्रथम तीन चार दशको के आयात व निर्यात के कुल मूल्य के आंकडो के अध्ययन मे पता चलता है कि आयात निर्यात-दोनो में बराबर वृद्धि होती रही है, जैसे कि सन् १९०८-९ में करीव १५ ५ लाख रुपये का भेपज भारतवर्ष से निर्यात हुआ और ७३ लाख रुपये का आयात किया गया था। सन् १९२८-२९ में निर्यात एवं आयात क्रमश. ४२ लाख और २०० लाख रुपये का हुआ था। इससे स्पष्ट होता है कि किस आश्चर्यजनक सीमा तक व्यापार में वृद्धि हुई और साधारण दृष्टि से यह वृद्धि सतोषजनक प्रतीत होगी। परन्तु सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि निर्यात की अपेक्षा आयात अत्यधिक हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि जब अधिक परिमाण में कच्चे माल विदेशो को जाते थे तो उसके बदले में विदेशो से

परिष्कृत भेषजीय योग अत्यधिक मात्रा में भारतीय बाजारो मे आते थे। इस स्थिति में विशेष सुधार नही हुआ। यद्यपि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान, और युद्धोत्तर काल के, तथा १९२४-२५ से १९२८-२९ तक इन पाँच वर्षों की अवधि के, आयात और निर्यात के औसत के आँकडे, आयात में हल्की गिरावट और निर्यात मे किंचित वृद्धि बताते हैं।

सारिणी—१

	आयात मूल्य	निर्यात मूल्य
	रु०	रु०
प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व का औसत	९४,१०,२८९	१८,१७,८३५
प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान का औसत	१२७,८५,१८९	२९,५४,३५०
प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् का औसत	१७९,९१,३२६	३६,१५,८७८
५ वर्ष का औसत (१९२४-२५ से १९२८-२९ तक)	१६६,४०,१९६	३७,१९,८७०

यदि इस सम्बन्ध मे और विस्तार में जाकर अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्यात की तुलना मे अत्यधिक आयात का कारण यह था कि अधिकाश आयातित भेपज मानकित औषधकोशीय योग थे, जैसे परिष्कृत ऐल्केलॉयड जो बहुधा यहाँ के निर्यातित भेषजो से ही तैयार किये गये थे। इसके अतिरिक्त एक बडी मात्रा में आधिस्वामिक (proprietary) एव पेटेण्ट औषधियो का आयात होता था। सारिणी २ के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि १९२८-२९ मे प्रथम वर्ग के द्रव्य (मानकित योग) जिन्हें 'अन्य किस्म के भेषज और औषधियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत दर्शाया गया है, १०० ९ लाख के मूल्य के आयातित हुए, और आधिस्वामिक योगों का आयात ४२ ८ लाख के मूल्य का हुआ। पाँच वर्षों में आधिस्वामिक एव एकस्व (Patent) औषधियो के आयात में २५ लाख रुपये से ४२ ८ लाख रुपये की आशातीत वृद्धि हुई। यह इस बात का द्योतक है कि किस प्रकार उत्तरोत्तर इन औषधि-निर्माताओ द्वारा भारतीय बाजारो का शोषण बढता जा रहा था। इन पाँच वर्षों के आँकडो से यह भी प्रतीत होता है कि औषधकोशीय योगो एव रासायनिक द्रव्यों का आयात ८७ ८ लाख रुपये से ११४ ३ लाख रुपये तक सन् १९२७-२८ ई० में बढ गया, परन्तु सन् १९२८-२९ में कुछ घट कर १०० ९ लाख का रहा। कुल मिलाकर भेपजो के आयात व्यापार मे बडी वृद्धि हुई। इस सारिणी में अन्य ध्यान देने वाली वस्तुओं मे कर्पूर है जिसके निर्यात में बराबर वृद्धि होती रही, और कुनैन के लवण हैं जिनके निर्यात मे कुछ घटा बढी हुई, किन्तु कुल मिलाकर यथेष्ट वृद्धि ही हुई।

सारिणी ३ में निर्यात के प्रमुख आँकड़ें "कुल भेषज और औषधियाँ" शीर्षक के अन्तर्गत आते है जो ५ वर्षों मे निरतर बढकर ३५ ८ लाख से ४१ ६ लाख रुपये पर पहुँच गया। यह वृद्धि आशाजनक प्रतीत होगी, किन्तु निर्मित औषधियो के आयात मे और भी वृद्धि हुई। भारत के समुद्री व्यापार के विवरण (Sea-borne Trade Returns) मे निर्यातित द्रव्यो की सूची मे निम्नलिखित भेषज हैं जिन्हे 'अन्य किस्म के भेषज और औषधियाँ', मसाले, तैल, बीज, नार्कोटिक आदि शीर्षको के अन्तर्गत दर्शाया गया है। यह सूची सर्वथा पूर्ण नही है, परन्तु इसमे उपरोक्त वर्गों के अन्तर्गत केवल महत्त्वपूर्ण औषधियो को ही शामिल किया गया है।

ऐकोनिटम नैपेलस, आल्स्टोनिया स्कोलैरिस, ऐट्रोपा वेलाडोना, ऐल्थिया ऑफिसिनैलिस, ऐरेकिस हाइपोजिया, ऐरिका कैटेचू, ऐनोगाइसस लैटिफोलिया, बर्बेरिस अरिस्टाटा, व्यूटिया फ्रांण्डोसा, कैटेचू नाइग्रम, स्वर्शिया चिराता, कैनाबिस इण्डिका, काकुलस इन्डिकस, कम्बोजिया इण्डिका, क्रोटन टिग्लियम, क्यूमिनम फक्टस, सिसलपिनिया बॉण्डुसेला, कैसिया फिस्चुला, एफेड्रा वल्गेरिस, दतूरा फैस्चुओसा, हेमिडेस्मस इण्डिका, आइपोमिया हेडरेशिया, टर्मिनैलिया चेवुला, पोडोफिलम इण्डिका, पैपावर सॉम्निफेरम, पाइपर लॉगम, पाइपर नाइग्रम, पिक्रोराइजा कुरुआ, रिसिनस कॉम्युनिस सासुरिया लैप्पा, सैन्टेलम ऐल्बम, अर्जिनिया इण्डिका, जिन्जीवर आफिसिनेल।

उपरोक्त सूची के अवलोकन से प्रतीत होगा कि ये सभी अपरिष्कृत भेषज प्रत्येक वर्ष भारत से विदेशो को बहुत ही अल्प मूल्य में निर्यात किये जाते थे और इनका उपयोग अनेक औषधि और तत्सम्बद्ध उद्योगो द्वारा किया जाता था और उनका कुछ अंश कीमती औषधियो के रूप मे भारत में आयात किया जाता था। यह स्वाभाविक था कि ये तैयार किये गये उत्पाद काफी मूल्यो पर निर्यात किये जाते और इसलिए निर्यात राजस्व की वृद्धि केवल यह प्रकट करता है कि किस हद तक भारतीय कच्चे माल का उपयोग अन्य देशो के भेषज निर्माताओं द्वारा अपने लाभ के लिए भारतवर्ष को आर्थिक क्षति पहुँचा कर किया जाता था।

—०—

(९)

भारतीय चिकित्सा पद्धति मे व्यवहृत होने वाले भेषज

द्वितीय उद्देश्य जो नये भेपजो को लोकप्रिय बनाने एव उनका पाश्चात्य चिकित्साविज्ञान में समावेश कराने का है वह अपेक्षाकृत और भी कठिन है। भारतीय

१९२४–२५ से १९२८–२९ के बीच की अवधि म निर्यातित-

निर्यातित-भेषज	परिमाण			
	१९२४–२५	१९२५–२६	१९२६–२७	१९२७–२
हीग (असाफोटिडा) हड्रेडवेट	९	५४	६५	—
कपूर (कैम्फर)–पौड	१,३८२	१६	—	१०
सिन्कोना के छाल–पौंड	५,५९,५९२	४,८६,१८७	८०,६११	१,७३,५
कुलञ्जन–हड्रेडवेट	१८८	५११	५३६	६३
कुचला–हड्रेडवेट	३०,२५८	४४,०७९	५४,३४७	५०,७०
सनाय–हड्रेडवेट	४७,५४४	४४,९९५	४९,११७	५२,८१
अन्य किस्म की भेषज	—	—	—	—
कुल भेषज और औषधियाँ	—	—	—	—
चाय का चूरा कैफीन बनाने के लिए–पौड	३२,३९,९०७	३०,००,९६९	१५,९१,३३०	४१,१४,६

भेषज एव औषधियाँ (रासायनिक द्रव्यो और नार्कोटिक्स को छोडकर)

		मूल्य-रुपया				
	१९२८–२९	१९२४–२५	१९२५–२६	१९२६–२७	१९२७–२८	१९२८–२९
	—	१,७८३	२,९५३	४,२११	७३५	—
०	—	१,४२५	८०	—	१७५	—
२१	१,३८,१०४	२,१२,७१२	२,४५,३९८	४३,४६०	९०,००२	७८,०२४
३	५७५	५,१५७	१२,६६२	११,११५	१४,०९६	१२,८५०
२	४३,२१२	२,२७,८३६	२,९६,०११	३,४८,६५३	३,२७,८५८	३,०३,२०८
८	४६,११५	१०,७४,६७८	८,१३,०५२	८,९३,०५२	९,४८,८१२	८,६०,२०८
	—	१९,८३,३८४	२,२२,७११	२४,०३,४२६	२०,११,६८९	२१,०६,१४२
	—	३५,८७,४२५	३६,७७,३४७	३७,१०,२२०	३४,५३,३६७	४१,६०,९८८
३८	—	४,९०,६४४	५,५०,९८३	२,६३,८१०	४,४१,६७१	—

भेषजो की अवनति एव पुनर्सकलनकाल से अब-तक अनेक प्रभावी ओषधियों का लोप हो गया है और कई अनिश्चित प्रभाववाले भेषजों का समावेश हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि देशीय चिकित्सापद्धति मे सम्प्रति देश में उत्पन्न होने वाले प्राय प्रत्येक पादप और गुल्म कुछ न कुछ चिकित्सीय गुण रखने वाले समझे जाने लगे है। कुछ भेषजो के सम्बन्ध में तो इस प्रकार के विश्वास के मूल में आयुर्विज्ञान के प्राचीन समीक्षको की शिक्षा, कारण रूप रही है और वे रोगियो के परीक्षण पर आधारित रही है, किन्तु अन्य भेषजो के सम्बन्ध में इस विश्वास का कोई भी आधार नही है। इन भेषजो का समावेश अनुभव के आधार पर हुआ था और बहुधा किसी भेषज का प्रयोग केवल इसीलिए किया जाता था कि किसी रोगी को इससे कुछ लाभ हो गया था। इस प्रकार बिना प्रमाण के, केवल विश्वास के आधार पर, ओषधियो की सख्या मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी। चूकि वे भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे प्रयुक्त होती है, इसलिए किसी को भी उनके प्रयोग और गुणो के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान नही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उनमे से अधिकाश ओषधियो का व्यवहार वशानुगत अनुभवजन्य प्रमाण के ऊपर आधृत रहा है। इन सभी भेषजो की सम्यक रूप से गवेषणा करने में असंख्य रसायनज्ञो, भेषजगुणविज्ञानियों और चिकित्सको को अपना सारा जीवन लगा देना होगा। अब तक जो प्रणाली रही हैं वह यह रही है कि वैद्यो और हकीमों के अनुभव का उपयोग किया जाता रहा है और अनुसधान के लिए उन्ही भेषजो को लिया जाता रहा है जिनको पर्याप्त स्थानीय ख्याति प्राप्त रहती थी और उसके बाद कम ख्याति वाले भेषजो को लिया जाता था। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य पद्धति के चिकित्सको द्वारा बहुत से भेषजो का रोगियो पर परीक्षण किया गया है और उन्होने उन भेषजो की लाभकारिता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये है, अनुसधान के लिए भेषजों का चयन करने में इससे भी सहायता मिली है।

बहुधा ऐसा भी होता है कि अनुसधान करनेवाले स्वय ही उन भेषजों का रोगियो पर परीक्षण वैज्ञानिक स्तर पर अनुसधान कार्य आरम्भ करने से पूर्व कर लेते है। राय जानने के लिए बहुत से भेषजो को चिकित्सक तथा अन्य लोग अनुसन्धानकर्ताओ के पास भेजते है और बहुधा यह अनुरोध करते है कि भेजा हुआ भेषज बडा उपयोगी है इसलिए उस पर अनुसधान कार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया जाय। समय और धन के अपव्यय को बचाने के लिए दिये गये निर्देशो के अनुसार सावधानी के साथ उसका अनेक रोगियो पर परीक्षण किया जाता है। परीक्षणो के परिणाम यदि सन्तोषप्रद होते है तो वह भेषज, रासायनिक जाँच के लिए, रसायनज्ञो को दे दिया जाता है अन्यथा उसे त्याग दिया जाता है।

देशीय जडी-बूटियो की पहचान : भारतीय भेषजों की सख्या बडी है और उनके स्वभाव और गुण मे काफी भेद है, उनके वैज्ञानिक छानबीन की क्रिया बडी लम्बी, कठिन और श्रम-साध्य है। इनके अलावा बहुत सी और भी कठिनाइयाँ है, जिनका अनुसधानकर्ताओ को समाधान करना पडता है। प्राचीन पुस्तको मे दी गयी बहुत सी औषधियाँ ऐसी है जिनको पहचानना और उनकी जाति-निर्धारण करना बडा कठिन है। इन पुस्तको में दिये गये विवरण से निश्चित नही किया जा सकता कि कोई विशिष्ट भेषज ठीक वही है जिसका वर्णन उक्त ग्रंथों में दिया गया है।

भेषजो के अभिनिर्धारण (पहचान) का काम तब तक कठिन बना रहेगा जब तक कि प्रत्येक भेषज के प्रमुख आकृतिक लक्षण सुनिश्चित न हो जायँ। उन पुस्तको में भेषजो का चाहे जितना भी शाब्दिक विवरण दिया गया हो, उसके आधार पर वनस्पतिज्ञ किसी भी पौधे या उसके अवयवो का अभीनिर्धारण नही कर पायेगा, क्योकि इन वनस्पतियो या उनके अवयवो मे स्वरूप और गुण सबधी एकरूपता नही पायी जाती। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनके सबंध में पर्याप्त विभ्रम पैदा हो गया है। बहुत से भेषजो को भिन्न-भिन्न नामो से बेचा जा रहा है, कई भेषजो को एक ही नाम से बेचा जा रहा है। विद्वान कविराज और हकीम भी निश्चय-पूर्वक यह नही कह सकते कि प्राचीन पुस्तको मे वर्णित भेषज का सच्चा नमूना कौन सा है। हमने बहुधा देखा है कि विभिन्न जडी-बूटियाँ एक ही नाम से कई प्रदेशों में बेची जाती है। बहुधा बडी सावधानी से छानबीन करनी पडती है और इस कार्य मे जडी-बूटियो के स्थानीय नामो से बडी सहायता मिल सकती है। बहुत सी ऐसी जातियाँ है जिनका व्यवसाय ही जडी-बूटियो के बेचने का है, जिनको इनके बारे में काफी ज्ञान है और जो, अन्य सभी उपायो के असफल होने पर, इस दिशा में बडा प्रकाश डाल सकती है। मध्य एव उत्तरी भारत में मुसहर जाति के लोग, बगाल में भील, बेदिया, बागदी, कैवर्त्त, पोद (Pods), चडाल, कवरा (Kaoras) और करगा जैसी नीच जातियो के लोग, तथा बबई में चद्रा, भील और गामत जाति के लोग, देशीय औषधियो में प्रयुक्त होने वाली तथा प्राचीन पुस्तको मे वर्णित जडी-बूटियो के बारे में बडी जानकारी रखते है।

भेषजो मे अपमिश्रण भेषजो में अपमिश्रण करने वालो को भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से कठोर दण्ड देने का विधान था। बौद्ध काल में अपमिश्रण करने वालो के विरुद्ध बडे कडे कानून बने थे और यदि कोई चिकित्सक इनके पालन में जरा भी असावधानी दिखाता तो उसे कठोर दण्ड मिलता। विधान यह था

कि 'अपने रोगियो के उपचार में गलती करने वाले सभी चिकित्सको को अर्थ दण्ड भोगना पड़ेगा।' दुर्भाग्य से आयुर्वेदीय चिकित्सा के ह्रास के साथ-साथ इस दिशा मे भी बडा परिवर्तन हुआ। कुछ तो अज्ञानतावश और कुछ जडी-बूटी बेचने वालो की मिलावट करने की प्रवृत्ति के कारण, भेपजो मे अपमिश्रण कई शताब्दियो से होता चला आ रहा है। अपमिश्रण और नकली जडी-बूटियो के बेचने का काम इतना बढ गया कि भारतवासियों का विश्वास अपने ही देश में देशी जडी-बूटियों से बनी औषधियो पर से क्षीण होने लगा। इसी कारण से विदेशो में आज भारतीय भेपज को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है और उसे मूल्य-हीन और अविश्वसनीय समझा जाता है। गाजा (कैनेबिस इन्डिका) की ख्याति आज यूरोप मे पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गयी है जिसका कारण यह है कि इसका स्तर वह नहीं रह गया है जो पहले था। इसी तरह कुरची की छाल की अतिसार के इलाज के लिए जो प्रसिद्धि थी वह घट गयी क्योकि इसमे निकृष्ट छालो का अपमिश्रण होने लगा। वत्सनाभ (Aconite) की भी यही दशा है। यहां तक कि निर्मित उत्पादो (Finished Products) मे भी बहुत अपमिश्रण होने लगा है। गुप्त औषधियों (Nostrums) और कटवैद्यक (quackery) का इतना प्रसार हो गया है कि लोग रोज ठगे जा रहे हैं। अनेक टिंक्चर और स्पिरिट मानकित स्तर से बहुत नीचे होते हैं, इसके परिणामस्वरूप भारतीय औषधि-निर्माताओ की स्थिति बडी हीन हो गयी है और भारत के निर्यात व्यापार पर घातक प्रभाव पड रहा है। "ड्रग्स इन्क्वायरी कमेटी" के समक्ष जो साक्ष्य आयें है उनमे इस बारे में कोई सदेह नही रह जाता कि भेपजो में अपमिश्रण और उनके गुण और शक्ति मे अपह्रास तथा अन्त क्षेप के कारण आयातित और यहाँ की निर्मित औषधियो मे भेद कर पाना कठिन है। यह साक्ष्य न केवल चिकित्सक वर्ग ने ही दिया था जिन्होंने इन औषधियो को रोगियो पर परीक्षण किया था, बल्कि रासायनिक परीक्षक (केमिकल इक्जामिनर), पब्लिक एनालिस्ट, कस्टम तथा एक्साइज प्रयोगशालाओं के अधिकारी जैसे उच्च पदस्थ लोगो के भेपजों के विश्लेपण पर आधारित था। इस समस्या की गम्भीरता तथा इसके दूरवर्ती परिणामो को ध्यान मे रखते हुए इस कमेटी ने अनेक नमूने भारत के विभिन्न प्रान्तो से एकत्रित किये और विशेपज्ञो की देखरेख में उनका सावधानी से विश्लेपण करवाया। विश्लेपण के परिणामों से इन साक्ष्यो की सर्वथा पुष्टि हुई और प्रचलित धारणा सही साबित हुई। अपमिश्रण की बात तो दूर रही, कुछ व्यापारी ऐसे भी है जो निर्धारित मात्रा से कम वजन की औषधियो की पैकिंग बेचते हैं। भेपजो में अपमिश्रण का व्यापार बडे व्यापक पैमाने पर बिना किसी भेद भाव के होता है। जब तक अपमिश्रण और नकली या घटिया

दवा वेचने का काम बन्द नही किया जाता, भारतीय भेषजो तथा उनसे निर्मित औषधियो का व्यापार, यहाँ या विदेशो मे, प्रगति नही कर सकता और चिकित्सा मे यहाँ की भेपजो का व्यवहार सफल नही हो सकता। यह एक सुविख्यात तथ्य है कि कार्य-कुशलता की उपेक्षा करके मितव्ययिता नही लायी जा सकती है, इस तथ्य की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना चाहिये।

देशीय चिकित्सापद्धतियों मे व्यवहृत होने वाले भेषज

हकीम, वैद्य और औषधि निर्माण करने वाले कुछ प्रतिष्ठान, अपरिष्कृत भेषजो की प्राप्ति के लिए बाजार के साधारण जडी-बूटी बेचने वालो (पन्सारियो) पर निर्भर करते हैं। भारतीय चिकित्सापद्धति सम्बन्धी समिति (कमेटी ऑन इण्डिजेनस सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन) के समक्ष साक्ष्य देते हुए (१९४८), इन पद्धतियो के ख्यातिप्राप्त चिकित्सको ने यह शिकायत की थी कि विशुद्ध भेपज प्राप्त करने में उन्हे बड़ी कठिनाई होती है। बाजार से मिलने वाली औपधियो में अधिकाश निश्चित रूप से बहुत अपमिश्रित होती है या उनके स्थान पर सस्ता तथा अत्यन्त निकृष्ट भेपज दे दिये जाते हैं, जिनका रूप बदल कर देखने मे असली जैसा बना दिया जाता है। सभी साक्षियो ने और विशेप करके औषधि निर्माण करने वाले बडे-बडे प्रतिष्ठानो ने बडा असन्तोष व्यक्त किया तथा इस स्थिति को सुधारने के लिए शीघ्र कार्य करने पर जोर दिया है। उन्होने यह विचार व्यक्त किया कि चिकित्सीय भेपजो की सही-सही पहचान करने मे जो कठिनाइयाँ है उनके कारण आमतौर पर व्यवहार में लाये जाने वाले भेषजो का असली नमूना बाजार मे मिलना कठिन हो गया हैं।

समय के प्रवाह के साथ साथ वानस्पतिक वर्ग की अधिकाधिक औपधियाँ भारतीय मैटीरिया मेडिका मे सम्मिलित कर ली गयी हे और इस समय इस तरह की दो हजार औपधिया जिनमें चिकित्सीय गुण बताया जाता है इसमें समाविष्ट कर ली गयी है। उनकी पहचान के बारे मे ठीक-ठीक वर्णन नही दिया गया है। इन वनौपधियो का कुछ अस्पष्ट वर्णन अवश्य मिलता है किन्तु वह भी भ्रमोत्पादक है। इनके अभिनिर्धारण के लिए उनके सुनिश्चित स्वरुप का वर्णन नही अभिलिखित है। इसके अतिरिक्त वनस्पति-भेषज-अभिज्ञान (फार्माकॉग्नोसी) की जानकारी जो आज पश्चिमी चिकित्सा को प्राप्य है, वह यहाँ अज्ञात थी। ऐसे अस्पष्ट और भ्रामक विवरण के फलस्वरूप कुछ महत्वपूर्ण आयुर्वेदिक औषधियो का पता लगाना दुष्कर हो गया है। उदाहरणार्थ, अष्टवर्ग की औपधियाँ (आठ वनस्पतियो का वर्ग जिन्हे बडा ही लाभकारी समझा

(१०)

चिकित्सा को अल्पव्यय साध्य तथा सुलभ बनाना

तृतीय उद्देश्य का सम्बन्ध मितव्ययिता के लिए समुचित उपायो की व्यवस्था करने से है, जिससे औषधियाँ जनसाधारण के लिए सुलभ हो सके। यह तभी सम्भव हो सकता है जब औषधियो का मूल्य पर्याप्त मात्रा में कम हो जाय, क्योकि भारतवर्ष जैसे गरीब देश मे करोडो ऐसे निर्धन व्यक्ति है जिनके लिए किसी प्रकार की भी चिकित्सा सम्भव नही है, चाहे वे सस्ती हो या मँहगी। परिणामस्वरूप उन्हे दातव्य चिकित्सा सस्थाओ पर निर्भर रहना पडता है। औषधियो का मूल्य इतना अधिक है कि प्राय ये सभी सस्थाएँ जिनका वार्षिक बजट बहुत सीमित होता है, आवश्यक एव अनिवार्य कीमती औषधियो की बात तो दूर रही, कुनैन, एरण्ड तैल तथा मैग्नीशिया जैसी साधारण तथा आवश्यक औषधियो की माग भी पूरा करने मे असमर्थ रहती है।

औषधियो के मूल्य को कम करने तथा उन्हें जन सुलभ बनाने के लिए एक ही उपाय है कि स्थानीय साधनो का उपयोग किया जाय और पाश्चात्य देशो से आयात की जाने वाली औषधियो के स्थान पर भारतीय औषधियो का प्रयोग किया जाय। यह तभी सभव हो सकता है जब औषधीय योगो (कल्प) को ढग से तैयार करके स्थानीय भेषजो के उत्पादन, सग्रहण एव निर्माण को प्रोत्साहन दिया जाय। आयातित भेषजो के स्थान पर तत्सम शक्तिशाली भारतीय भेषजो का उपयोग करके तथा उनका स्थानीय उत्पादन करके चिकित्सा के व्यय को काफी कम किया जा सकता है। हमने पूर्व के पृष्ठो में इन औषधियो की तथा इनकी उन्नति की सभावनाओ का उल्लेख किया है। इनके सक्रिय तत्वो को पृथक किया जा सकता है तथा टिन्क्चर, सत्व, चूर्ण, जैसी मानकित औषधियों को कम खर्चीले उपकरणो से विना किसी कठिनाई के तैयार किया जा सकता है। अगर वडे पैमाने पर ऐसा किया जाय तो इससे न केवल समुद्री भाडे की ही वचत की जा सकती है वल्कि अन्य कई प्रभारो (charges) में भी बचत की जा सकती है।

चिकित्सीय प्रयोजनो के लिए यहाँ के कच्चे उत्पादो से परिशोधित रसायन तथा औषधीय योगो को तैयार करने की दिशा मे इधर हाल के वर्षों में काफी प्रगति हुई है। देश के भेषजिक और औषधीय उद्योगो एव बाहर से आयातित तैयार औषधियो के वारे में स्थिति का सिंहावलोकन कर लेना यहाँ उपयुक्त होगा। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध से भारत के भेषजिक एव औषधीय उद्योगो को बडा प्रोत्साहन मिला है। नागरिक एव प्रतिरक्षा प्रयोजनो के लिए देश मे माग

के बहुत बढ जाने से तथा जहाजरानी की कठिनाइयो के कारण से विदेशो से औपधियो का आयात बहुत कम हो गया था। सुतरा, भारत सरकार ने उसके लिए बडा बढावा दिया कि जहाँ तक सभव हो सभी औषधीय योग तथा भेपज उद्योग के उप-उत्पाद देश में ही तैयार किये जायँ। मुख्यत प्रतिरक्षावालो की माँग को पूरा करने के लिए ही ऐसा किया गया था, किन्तु नागरिको को भी उससे लाभ मिला। दूसरा परिणाम यह हुआ कि द्वितीय विश्व युद्ध की अवधि मे यहाँ वहुत से उद्योग चालू हो गये और युद्ध समाप्त होने पर भी वे बने रहे और अपने कार्य-क्षेत्र और बढा लिये। कई नये उद्योग चालू हो गये और अब वे खूब फूलने फलने लगे हैं। इन बातो के फल-स्वरूप भेषज उद्योग अपनी वर्तमान समुन्नत स्थिति तक पहुँच पाया है।

भारतीय वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिपद् की "फार्मास्युटिक्स ऐण्ड ड्रग्स कमेटी" के अनुरोध पर लखनऊ के "सेण्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट" के डाइरेक्टर डॉ० बी० मुकर्जी ने कुछ विशिष्ट औषधियो से सम्बन्धित भारत के भैषजिक उद्योग की क्षमता एव उत्पादन के आँकडे तथा विदेशो से आनेवाली औपधियो के आकड़े अभी हाल मे संकलित किये हैं। निम्नलिखित विवरण मे इन भैपजिक उद्योगो की क्षमता एव उत्पादन के आँकडे दिये गये हैं। ये आँकडे विलकुल ठीक-ठीक तो नही हैं, किन्तु इस बात का कुछ परिज्ञान अवश्य करा देते हैं कि भारत मे विभिन्न औपधियो का उत्पादन किस सीमा तक होता है।

कुछ विशिष्ट औषधियो के बनाने की भैषजिक उद्योगो की क्षमता एवं उत्पादन सम्बन्धी विवरण

गैलेनिकल वर्ग—क्षमता लगभग १२,००,००० गैलन प्रति वर्प। आत्म निर्भर तथा निर्यात के लिए अतिरेक (Surplus)।

टिकिया—क्षमता १०५६० लाख प्रति वर्ष। वर्त्तमान आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन।

अधिस्वामिक औषधियाँ—खाँसी की औपधियो, पुल्टिस, अम्लहर (Antacid) औषधियों, टानिक, रक्त वर्धक औपधियो, विटामिन एव एन्जाइमयुक्त औपधियो का उत्पादन आवश्यकता पूर्ति के लिए पर्याप्त।

इन्जेक्शन · ग्लूकोज, नार्मल सलाइन, आसुत जल, कैल्सियम ग्लूकोनेट, क्विनीन बाइहाइड्रोक्लोराइड, एमेटीन हाइड्रोक्लोराइड, विटामिन तथा लिवर एक्स्ट्रैक्ट आदि की १०९० लाख ऐम्पुल प्रतिवर्ष तैयार की जा रही है जो आवश्यकता पूर्ति के लिए यथेष्ट है।

ऐल्केलॉयड —ऐफड्रिन, कैफीन, ऐट्रोपिन, स्ट्रिक्नीन, क्विनीन, अफीम, कुरची के ऐल्केलॉयड, सन्टोनिन, ऐमेटिन तैयार किये जा रहे हैं। लगभग ७५ प्रतिशत ब्रिटिश भेपजकोश के ऐल्केलॉयड भारत मे उत्पन्न होनेवाले पौधो से प्राप्त किये जा सकते हैं।

कैफीन —सस्थापित क्षमता (Installed Capacity) २०,००० पौराड प्रति वर्प

स्ट्रिक्नीन १५,००० पौराड प्रति वर्प

क्विनीन १,००,००० „ „ „

अफीम व्युत्पन्न सस्थापित चमता ८,००० पौराड प्रति वर्प

जैविक औपधियाँ —निजी उद्योगो की क्षमता ६०० लाख घन से० मी० प्रति वर्प

सरकारी उद्योगो की क्षमता —९६० लाख घ० से० मी० प्रति वर्प

लिकर ऐड्रेनेलीन हाइड्रोक्लोराइड क्षमता ४०० लाख घन से० मी० प्रति वर्प

लिकर ऐड्रेनेलीन टारट्रेट —४४० लाख घ० से० मी० प्रति वर्प

लिवर एक्स्ट्रैक्ट क्षमता (मौखिक) १४ लाख पौण्ड प्रति वर्प

इजक्टचूल २३८ लाख घ० से० मी० प्रति वर्प

विटामिन ए ' शार्क लिवर तैलः क्षमता ५,५००,००० लाख अतर्राष्ट्रीय यूनिट प्रति वर्प

किण्वन उत्पाद एव व्युत्पन्न : कैल्सियम लैक्टेट, माल्ट इक्स्ट्रैक्ट क्लोरोफार्म, ईथर, एथिल क्लोराइड क्लोरल हाइड्रेट, इन सबका उत्पादन आवश्यकता की पूर्त्ति भर होता है।

अकार्वनिक औपधियाँ मैग्नेशियम सल्फेट की पर्याप्त मात्रा, मैग्नेशियम कार्वोनेट, मैग्नेशियम ऑक्साइड, फासफोरिक अम्ल, फासफोरस, सोडियम क्लोराइड, अमोनियम क्लोराइड, पोटैशियम ब्रोमाइड, पोटैशियम परमैंगनेट, पोटैशियम वाइकार्वोनेट, पोटैशियम, सोडियम एव आयरन साइट्रेट, सोडियम एव पोटैशियम ऐसिटेट

इन आकडो से प्रगट होता है कि भैपजिक योगो और गैलेनिकल आदि का उत्पादन सन्तोपप्रद है। इनमें से अनेको के उत्पादन में देश आत्मनिर्भर ही नही है, वल्कि निर्यात भी करता है। दुर्भाग्य से मलेरियारोधी औपधियो, सल्फा वर्ग की औपधियो तथा प्रतिजैविक वर्ग की औपधियो के उत्पादन मे कमी है। गत तीन वर्पो की अवधि मे विदेशो से भेपजो और औपधियो का जो आयात हुआ है उसके मूल्य के आकडे नीचे दिये गये है।

	१९४९–५०	१९५०–५१	१९५१–५२
कुल भेषज और औपधियाँ	रु० ७,८५,९६,१३३	रु० ९,९३,५५,७३६	रु० १५,१५,१५,१०२

सबसे ज्यादा आयात यूनाइटेड किंगडम (संयुक्त-ब्रिटिश राज्य) से हुआ है; उनके बाद नम्बर आता है संयुक्त-राज्य अमेरिका का। अन्य देशों से होने वाले आयात की मात्रा अपेक्षाकृत बहुत कम है। आयात द्रुत गति से बढ़ता जा रहा है। इनमें से प्रमुख भेषज हैं प्रतिजैविक वर्ग, सल्फा औषधियाँ, मलेरियारोधी और आधिस्वामिक (प्रोप्राइटरी) औषधियाँ, जिनके कारण आयात में वृद्धि हुई है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नयी औषधियों पर गहन खोज की बड़ी आवश्यकता है, विशेषकर प्रतिजैविक के क्षेत्र में, सम्भवतः इस देश की मिट्टी से प्राप्त सूक्ष्मजीवों (Micro-organisms) पर। अभी भी इस देश का पर्याप्त धन विदेशों को जा रहा है, जिसे अपने समाधनों को विकसित करके और देश को आत्म निर्भर बनाकर रोका जा सकता है। यह सन्तोष की बात है कि पेनिसिलीन का एक कारखाना पूना के पास, यूनिसेफ (UNICEF) तथा डब्ल्यू एच ओ (WHO) की सहायता से स्थापित होने जा रहा है (स्थापित होगया—अनु०)। इसमें सन्देह नहीं कि इसके साथ ही अन्य प्रतिजैविक वर्ग की औषधियाँ भी तैयार की जायेंगी और नये-नये प्रतिजैविक औषधियों का स्थानीय स्रोत ढूँढ़ निकाला जायगा।

दो विशाल क्षेत्र जिनमें प्रगति करनी है ये हैं, (क) संश्लिष्ट औषधियाँ तथा (ख) प्रतिजैविक औषधियाँ (ऐन्टिबॉयोटिक्स)

(क) संश्लिष्ट औषधियाँ —सल्फा वर्ग की औषधियाँ भारत में बन रही हैं, सल्फाग्वानिडीन ४००,००० पौण्ड, सल्फापिरिडिन ५०,००० पौण्ड से ज्यादा, सल्फाडायाजिन २,००,००० पौण्ड। देश की वर्तमान आवश्यकता के लिए ये यथेष्ट हैं। आइसोनिकोटिनिक अम्ल हाइड्रेजाइड का उत्पादन शुरू हो गया है। पैराऐमिनोसैलिसिलिक अम्ल भी बन रहा है। यक्ष्मा के उपचार में ये दोनों औषधियाँ बड़ी ही लाभकारी हैं। निकेथामाइड भी बनने लगा है। इनके अतिरिक्त और भी औषधियाँ तैयार होने लगी हैं जैसे, कैल्सियम ग्लूकोनेट, कैल्सियम ग्लूकोनो-गैलेक्टो ग्लूकोनेट, सल्फाऐसिटेमाइड, डाइआयोडोहाइड्राक्सी क्विनोलिन, आयोडोक्लोरोहाइड्रॉक्सी क्विनोलिन, सल्फोनिक अम्ल, ब्रोमो-आइसो-वैलेरिल यूरिया, मिल्कोफेन, डाइऐमिनो डाइफेनिल सल्फोन तथा इसके लवण, डाइफेनिल हाइडैन्टोयन, ऐण्टिमनी ग्लूकोनेट, कार्बरसान, सल्फाआर्सफिनामाइन, यूरिआन्टीमामाइन, पैरा-डैक्स्ट्रो एसिटिल ऐमिनोबेन्जैल्डिहाइड, थायोसेमीकार्बजोन, निकोटिनिक अम्ल, निकोटिनामाइड। अमीबारोधी (Antiamoebic) औषधियों में आयोडोक्लोरोहाइड्रॉक्सी क्विनोलिन निर्मित होने लगी है। मलेरियारोधी औषधियों में बहुत कम ही औषधियाँ तैयार हो रही हैं।

(ख) प्रतिजैविक औषधियाँ :—जहाँ तक प्रतिजैविक वर्ग की औषधियों का सम्बन्ध है देश की वार्षिक आवश्यकता इस प्रकार है —पेनिसिलिन लगभग १ करोड़ मेगा यूनिट, स्ट्रेप्टोमाइसिन लगभग ७० लाख ग्राम, क्लोरोमाइसिटिन लगभग २० लाख ग्राम, तथा ऑरियोमाइसिन लगभग २ लाख ग्राम। ये औषधियाँ भारत में थोक परिमाण में आयात की जा रही हैं और यहाँ ही उन्हें शीशियों में भरा जाता है। इनके निर्माण की प्रक्रियाएँ बड़ी ही जटिल हैं इसलिए ये अभी देश में नहीं बन रही हैं। भारत सरकार द्वारा एक पेनिसिलिन का कारखाना लगाया जा रहा है जिसमें ३६ लाख मेगा यूनिट पेनिसिलिन का उत्पादन होगा और आगे चलकर इसकी उत्पादन क्षमता ६० लाख मेगायूनिट हो जायगी। स्ट्रेप्टोमाइसिन और क्लोरोमाइसिटिन के उत्पादन का काम शीघ्र ही निजी उपक्रमों द्वारा शुरू किया जायगा।

जहाँ तक कोलतार के अन्तवर्ती उत्पादों (Intermediates) के निर्माण के विकास का सम्बन्ध है, इनकी आवश्यकता रंजक द्रव्यों, सूक्ष्म रसायनों तथा प्लास्टिक उद्योगों के लिए होती है। अब तक इन उद्योगों का विकास देश में नहीं हुआ है, सुतरां कोलतार के अन्तवर्ती उत्पादों की मांग बहुत कम है। चूँकि ये उद्योग अब पनपते जा रहे हैं और कोलतार के अन्तवर्ती उत्पादों कि माँग होती जा रही है इसलिए यह आवश्यक है कि अपेक्षित कच्चे माल का पता लगाया जाय। इसके कच्चे मालों में बेन्जीन प्रमुख है और कोक की गैस इसके सम्भरण का एक सशक्त स्रोत है। इस गैस से बेन्जॉल (अपरिष्कृत बेन्ज़ीन) प्राप्त किया जा सकता है। इस समय वर्तमान कोक भट्टियों से लगभग ५० लाख गैलन बेन्ज़ॉल हर साल प्राप्त किया जा सकता है, जब कि हमारी वर्तमान क्षमता केवल १८.२४ लाख गैलन की है। यह वांछनीय है कि कोलतार के अन्तवर्ती उत्पादों के निर्माण के लिए जब तक बेन्ज़ॉल की मांग काफी मात्रा में नहीं आती, तब तक पेट्रोल के साथ मिलाकर मोटर गाड़ी के ईंधन के रूप में इसको उपयोग में लाने के लिए यथाशक्य अधिकतम मात्रा में इसे प्राप्त करने की व्यवस्था की जाय (यहाँ इसका उपयोग २० प्रतिशत तक किया जा सकता है)।

आधिस्वामिक औषधियाँ —चिकित्सा में मितव्ययिता लाने की समस्या के समाधान का एक और मार्ग भी है और वह यह है कि जहाँ तक सम्भव हो अधिस्वामिक एवं एकस्व औषधियों का व्यवहार न किया जाय। पीछे दी गयी सारणियों से यह स्पष्ट है कि उपरोक्त वर्ग के भेषजों का आयात प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर अधिक परिमाण में होता जा रहा है। भारत के चिकित्सकों की यह प्रवृत्ति है कि भेषजकोशीय औषधियों की अपेक्षा वे अधिस्वामिक औषधियों का अधिक उपयोग करते हैं, यह बड़े ही शोक का विषय है। यह देख कर बड़ा दुख होता

है कि प्राय प्रत्येक नुस्खे मे जो भेपजज्ञ को वनाने के लिए दिया जाता है कोई न कोई अविस्वामिक औपधि अवश्य रहती है। इनसे रोगी के लिए औपधि व्यय बहुत बढ जाता है और यह दुर्भाग्य की बात है कि चिकित्सावृत्ति वाले इस तथ्य की प्राय उपेक्षा करते है। हम लोगो का सदा ही यह मत रहा है कि अगर ब्रिटिश और अमरीकी भेपजकोशो के सम्मिलित भेपजो से रोगी को लाभ नही पहुँच सकता है तो अविस्वामिक औपधियो से जिनके सघटक और प्रभाव बहुधा अज्ञात होते है, स्थिति में निश्चय ही सुधार नही आ सकता है। इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता कि कुछ अविस्वामिक औपधियाँ ऐसी है जिनमे बहुत ही प्रभावी चिकित्सीय तत्त्व है किन्तु बहुसख्यक औपधियाँ ऐसी है जिनमे उतना भी प्रभाव नही होता जितना कि उनसे कही सस्ते और सुगमता से उपलब्ध होने वाली औपधियो मे होता है। इनमे से कुछ औपधियाँ तो न केवल निरर्थक सिद्ध हुई है बल्कि हानिप्रद भी सिद्ध हुई है। अविस्वामिक औपधियो के इतने व्यापक उपयोग का कारण इसके सिवाय और कुछ नही बताया जा सकता कि चिकित्सावृत्ति वाले भेपजगुण-विज्ञान मे रुचि नही रखते। औपधियो के उपयोग में यदि वे अनुभववाद की अपेक्षा विज्ञानवाद की ओर अधिक ध्यान दें तो उन्हे इस तरह धोखा न खाना पडेगा। उस दशा मे वे उन बहुत बडे चढे दावो पर आसानी से विश्वास नही करेंगे, जो औपधि निर्माताओं द्वारा भेजे गये सूचनापत्रो या परिपत्रो में दिये रहते है। ये औपधि निर्माता बडे ही विस्तृत पैमाने पर अपनी औपधियो का विज्ञापन करते है, और उसमें ऐसे दावे पेश करते है जिनकी सच्चाई कभी साबित नही की जा सकती। ये विज्ञापन न केवल साधारण पत्रों मे निकलते हैं बल्कि देश के कई मेडिकल जरनलो में निकलते है। यह बडे खेद की बात है कि मेडिकल जरनल ऐसी सूचनाओ और विज्ञापनो के प्रकाशन में सहायक होते है।

—o—

(११)

अपरिष्कृत भेषजो का उपयोग

अपरिष्कृत भेपजों (Crude drugs) और उनसे निर्मित औपधियों का उपयोग कर चिकित्सा का खर्च काफी कम किया जा सकता है। पाश्चात्य औपधियों के कीमती होने के कारण भारतीय जनता मे उनका उपयोग काफी सीमित रहा है। तमाम प्रयासो के बावजूद, आर्थिक कारणो से पाश्चात्य औपधियों के प्रसार मे बाधा पड रही है, क्यो कि कृपि से यहाँ के लोगो

की आय बहुत कम होती है और जनता की मजदूरी कमाने की क्षमता भी सीमित है, इसलिए लोग उपचार के लिए सस्ती दवाइयो का ही उपयोग कर सकते है। जबतक भारत की वर्त्तमान आर्थिक स्थिति बनी रहती है, तब तक यहाँ का औसत ग्रामीण ऐसी ही औषधियाँ चाहेगा और ऐसा ही चिकित्सीय परामर्श चाहेगा जो उसे कुछ आनो मे सुलभ हो तथा उपचार उससे भी कम में ही उपलब्ध हो सके। उसका ऐसा चाहना सर्वथा स्वाभाविक है। भेषजो से सक्रिय तत्वो को निकालने और उनको शुद्ध करने मे अथवा मानकित औषधियाँ बनाने मे काफी अतिरिक्त खर्च पडता है। परिणाम यह होता है कि चन्द रोज चलने वाली औषधियो के एक बोतल की क़ीमत बारह आने से दो रुपये तक बैठ जाती है। इतनी कीमत चुकाना एक सामान्य व्यक्ति के क्षमता के बाहर है। दैनन्दिन जीवन की बहुत सी बीमारियाँ जिनके लिए औषधि का प्रयोग करना पडता है, बहुत साधारण ढग की होती है। बाजार मे मिलने वाले बहुत से अपरिष्कृत भेषज ऐसे है कि उनका यदि बुद्धिमत्ता के साथ उपयोग किया जाय तो वे प्राय उतने ही लाभकारी हो सकते हैं जितनी परिष्कृत औषधियाँ। कीमती औषधियो की जगह ऐसी सस्ती दवाओं का उपयोग करने से चिकित्सा व्यय मे काफी कमी की जा सकती है। अपरिष्कृत वानस्पतिक रेचक प्राय उतने ही प्रभावी होते हैं जितनी वे औषधियाँ जो बडी प्रक्रिया के बाद तैयार की जाती हैं। ऐसी बहुत सी औषधियो पर व्यय कम किया जा सकता है जो इस देश मे बहुत व्यापक पैमाने पर प्रयुक्त होती हैं। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते है। सिनकोना के छाल से प्राप्य कुल ऐल्केलॉयड से कुनैन को बहुत वर्षो तक इसी धारणा से अलग किया जाता था कि यही एक मात्र प्रभावी ऐल्केलॉयड है जो मलेरिया को दूर कर सकता है। इस ऐल्केलॉयड को अलग करने और परिष्कृत करने मे इसका मूल्य और ज्यादा हो जाना स्वाभाविक था। ऐक्टन, मैक्गिलक्राइस्ट तथा फ्लेचर के अनुसधानो ने इस बात को निर्णयात्मक रूप से स्पष्ट कर दिया है कि इसके छाल में जो तीन अन्य मुख्य ऐल्केलॉयड है वे भी उष्णप्रदेश मे व्याप्त मलेरिया के निवारण के लिए बहुत प्रभावी हैं। इस छाल के कुल ऐल्केलॉयड का 'सिनकोना फेब्रिफ्यूज' के रूप मे बहुत व्यापक पैमाने पर परीक्षण प्रयोग किया गया और सावधानी के साथ निरीक्षण करने पर यह पाया गया कि वे भी बिल्कुल उतने ही प्रभावी है जितना कि शुद्ध कुनैन। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनो मे कुनैन की कीमत सौ रुपया पौण्ड से ज्यादा हो गयी थी और हाल में इसकी कीमत घटकर ४० रुपया पौण्ड आ गयी है। फिर भी यहाँ की आम जनता की जो आर्थिक स्थिति है उसको देखते हुए यह कीमत भी उनके लिए काफी ज्यादा है। सुतरा, परिणाम यह होता है कि उपनगरो के बहुत से अस्पताल

और औषधालय जिनका सालाना बजट बहुत बडा नही होता है, मलेरियारोधी अत्यावश्यक भेषजो को बहुत सीमित मात्रा मे मँगा पाते हैं। ऐसी औषधियो को मँगाने के लिए उन्हे प्राय अन्य आवश्यक भेषजो मे भी कमी करनी पडती है। शुद्ध कुनैन की जगह अपरिष्कृत कुल ऐल्केलॉयडो (सिनकोना फेब्रिफ्यूज) का प्रयोग करने से व्यय मे बहुत बचत की जा सकती है। इस प्रश्न पर हमने अन्यत्र सिनकोना के प्रसग मे पूर्ण रूप से विचार किया है। अमीबारुग्णता (Amoebiasis) जो इस देश मे बहुत ही व्यापक है, के उपचार के लिए इपेकाकुआन्हा (Ipecacuanha) के कुल ऐल्केलॉयड भी उतने ही प्रभावी सिद्ध हुए है जितना कि शुद्ध एमेटिन (Emetin)। पुन कुटज (*Holarrhena antidysenterica*) के छाल के सम्बध मे भी यही देखा गया है कि कुल ऐल्केलॉयड और उनसे निर्मित औषधियाँ, शुद्ध कोनेसिन (Conessine) की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। एफेड्रा वलगैरिस (*Ephedra vulgaris*) से निर्मित टिक्चर, दमा तथा हृद्पात आदि रोगो मे उतना ही प्रभावी है जितना कि मूल्यवान ऐल्केलॉयड एफेड्रिन। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। देशीय भेषजो से टिकिया निर्मित की जा सकती है जो सस्ते दाम पर बेची जा सकती है। देश के हित के लिए इस दिशा में ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि यदि मितव्ययिता और अल्प व्यय-साध्य चिकित्सा की ओर समुचित ध्यान नही दिया गया तो कोई भी चिकित्सा नियोजन इस देश में सफल नही हो सकेगा।

---

(१२)

सहायक उद्योगों का विकास

विलायक:—औषधीय उपयोगो के लिए परिष्कृत रसायनिक द्रव्यो, ऐल्केलॉयड आदि का निर्माण औषधि निर्माण करने वाले वर्तमान प्रतिष्ठानो द्वारा भी बडे पैमाने पर सुगमता से किया जा सकता है, किन्तु विलायको की समस्या बडी कठिन है। विलायको का इस काम में बहुत अधिक उपयोग किया जाता है, पर ऐल्कोहॉल को छोडकर प्राय अन्य सभी विलायक जैसे क्लोरोफार्म, ईथर, बेन्जीन, पेट्रोलियम इत्यादि सीमित मात्रा में उपलब्ध है और उनके लिए बहुत ऊँची कीमतें चुकानी पडती है। जहाँ तक ऐल्कोहॉल का सम्बन्ध है, परिशोधित स्पिरिट के उत्पादन की वास्तविक लागत आजकल यद्यपि करीब डेढ रुपया प्रति गैलन ही बैठती है पर इसपर

उत्पादन शुल्क सैंतीस रुपये आठ आने, अर्थात् उत्पादन लागत का प्राय सोलह गुना लिया जाता है। यह सच है कि औषधीय प्रयोजनों के लिए, कतिपय भेषज निर्माताओ को जिनके पास करदेय सग्रहागार (bonded stores) हैं, पाँच रुपया (थोक पर ७ रु० ४ आना) प्रति प्रूफ गैलन की खास रियायत दी जाती है किन्तु इसके बावजूद भी स्पिरिटयुक्त (आसवीय) औषधियो की कीमत इतनी ज्यादा है कि गरीब जनता उतनी नही दे सकती है। औषधीय प्रयोजनो के लिए ऐल्कोहॉल की कीमत अगर काफी कम नही की जाती है तो औषधियो के मूल्य को उस स्तर पर लाना सम्भव नही हो सकता है जिस पर भारतीय कृषक उन्हे खरीद सकें।

बेन्जीन और पेट्रोलियम ऐसे दो विलायक हैं जिनका महत्त्व की दृष्टि से ऐल्कोहॉल के बाद दूसरा स्थान है। ये दोनो ही विलायक भारत मे बहुत ही सस्ते मिलने वाले कच्चे माल से बहुत आसानी के साथ बडे पैमाने पर बनाये जा सकते है। बेन्जीन का निर्माण पत्थर के कोयले से कोयला-क्षेत्रो मे किया जा सकता है। एक या दो ऐसे प्रतिष्ठानो द्वारा जिनके पास कोक भट्टी (Coke oven) है, इसका निर्माण किया जा सकता है, किन्तु जब दूसरे देशो में इसकी कीमत प्रति गैलन एक शिलिंग के लगभग पडती है यहाँ यह एक रुपया दस आने प्रति गैलन बिक रहा है और ऊपर से ६ आने का शुल्क भी देना पडता है। इस ऊँची कीमत पर भी इसकी आपूर्ति बहुत सीमित मात्रा में हो पाती है जो माँग को पूरा करने के लिए पर्याप्त नही है। कोक को तैयार करने में जो बहुत से उपोत्पाद (by-products) प्राप्त होते है उनमें से अधिकाश बेकार चले जाते हैं। ऐसिटोन, ग्लिसरीन जैसे अन्य विलायक भी यहाँ सुगमता से बन सकते है। ऐसिटोन लकडी के छीलन या बुरादे से बनता है। इसके लिए बहुत बडी मात्रा में कच्चा माल यहाँ उपलब्ध है, क्योकि इस विशाल देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग नवा हिस्सा जगलो से भरा पडा है। फिर भी आज सारे देश मे केवल एक या दो ही ऐसिटोन फैक्टरियाँ है। भारत के साबुन के कारखानो मे साबुन बनाने के बाद जो द्रव बच जाता है उसमें ग्लिसरीन की बहुत बडी मात्रा फेंक दी जाती है, जिसे हम पुन प्राप्त कर सकते है। बडे पैमाने पर साबुन बनाने वाले कुछ प्रतिष्ठान हिन्दुस्तान में ऐसे है जो इतना सस्ता ग्लिसरिन निकाल सकते है कि आयातित ग्लिसरिन जिस कीमत पर यहाँ बिकता है उसका वे मुकाबिला कर सकते है। भेषज निर्माण करने वाली फैक्टरियो के लिए जिन मशीनो की जरूरत होती है उनका ९० प्रतिशत से ज्यादा भाग यूरोप या अमेरिका से इस समय मँगाया जा रहा है। यह सब हिन्दुस्तान

में सुगमता से बन सकता है और बहुत सस्ते दामो पर। भेषज निर्माण से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उद्योग है जिनके विकास का भविष्य बडा उज्ज्वल है।

---

(१३)

औषधीय पादपों की कृषि

वन ससाधनो का उपयोग —अब हम इस देश मे व्यापारिक स्तर पर कृषि द्वारा भेषजो के उत्पादन के महत्वपूर्ण प्रश्न पर दृष्टिपात करेंगे। भारतवर्ष विभिन्न प्रकार की वनस्पतियो का एक सग्रहालय है। लगभग तीन चौथाई औषधियाँ, जिनका उल्लेख ब्रिटिश अथवा अन्य भेषजकोशो में है, प्राकृतिक अवस्था में यहाँ पैदा होती है। जहाँ तक औषधीय वनस्पतियो का प्रश्न है, इस देश में इन औषधियो के विशाल भण्डार है। यही नही, अपितु अनेक प्रकार के सुगधित द्रव्य तथा मसाले, जो विश्व भर में प्रसिद्ध हैं, यहाँ प्राप्त होते है। यहाँ उष्ण से शीत कटिबन्धीय जल-वायु पाया जाता है, उष्णकटिबधीय पौधो का एक विस्तृत भू-भाग है, शीतोष्णकटिबंधीय पहाडियाँ और घाटियाँ है, सिक्तभूमि है, आर्द्र एव शुष्क जलवायु तथा सस्ते मजदूर उपलब्ध है। वस्तुत इसे ससार के जल-वायु, ऋतुओ और मिट्टी का प्रतिरूपक (epitome) कहा गया है। इन कारणो से जो भेषज यहाँ प्राकृतिक अवस्था में नही पैदा होते है, उनका भी यहाँ उत्पादन आसानी से संभव हो सकता है। किसी भी पादप को बहुत हद तक वातावरणक्षम बनाया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमे किसी एक देश में पैदा होने वाली तथा किसी एक देश से ही बाहर भेजी जाने वाली वनस्पति का अन्य देशो में प्रचलन किया गया और वहाँ भी उसने अपनी नीव मजबूत कर ली। अब तक प्राय देश के प्राकृतिक ससाधनो पर ही भरोसा किया जा रहा है और वन्य अवस्था में पैदा होने वाली वनस्पतियों का ही संग्रह और उपयोग किया जा रहा है किन्तु यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि यद्यपि देश में सभी तरह की जलवायु एव परिस्थितियाँ विद्यमान है, तथापि वनौषधि साधनो के विकास में सबसे बडी कठिनाई रही है परिवहन की। ये जगल कई स्थानो पर तो रेलवे लाइन से सैकडो मील दूर पडते है जिससे उनका परिवहन बडा महँगा पड जाता है। फिर भी, कुछ वर्षों से परिवहन की सुविधाएँ काफी बढ गयी हैं और मोटर परिवहन के आ जाने से दूरस्थ प्रदेशो मे भी पहुँचना सुगम हो गया है। नि सदेह राज्यो के वन-विभागो ने अपने साधनो का भरपूर उपयोग करने में कुछ भी उठा नही रखा है और कार्यपरायणता के चिह्न वहाँ दृष्टिगोचर हो रहें है। 'भारतीय कृषि-अनुसधान-परिषद्' (इन्डियन काउन्सिल ऑफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च) तथा

'वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसंधान परिषद्' (काउन्सिल ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च) और 'भारतीय चिकित्सा-अनुसधान-परिषद्' (इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च) की स्थापना से तथा इन परिषदो द्वारा अनुसंधान के लिए दिये गये बृहद् अनुदानों से औषधीय पादपो की ओर समुचित ध्यान दिया जा रहा है और देश के औषधि ससाधनों का भरपूर विकास किया जा रहा है।

जंगलो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई वनौषधियो का सग्रहण बहुत ही श्रमसाध्य है और प्राय सचयन व्यय के कारण भेषजो और उनसे बनी औषधियो का मूल्य बहुत अधिक बढ जाता है। बिखरे हुए क्षेत्रो मे वन्य दशा में पैदा होने वाले भेषजो के सग्रहण में जो असुविधाएँ हैं, वे ये हैं (क) यदि औषधीय पादप का नैसर्गिक उत्पत्ति स्थान दूर हुआ तो वहाँ तक पहुँचने में और उनके परिवहन में कठिनाई होती है, (ख) उनका छुटपुट वितरण होता है, (ग) उनका अविवेकपूर्ण सग्रहण किया जाता है जिससे उनका निर्मूलन हो सकता है, वेलाडोना और सर्पगधा के सबध में प्राय ऐसा ही हुआ।। (घ) सग्रह करने वालो की अनभिज्ञता के कारण असली पौधो में नकली पौधे भी मिल जाते हैं।

वन्यदशा में पैदा होने वाली औषधियो के सग्रहण में होने वाली इन कठिनाइयो के कारण ही इनकी खेती का सुझाव दिया जाता है। भारत की भूमि तथा जलवायु में बहुत बडी अनेकरूपता होने के कारण ससार के प्रत्येक प्रदेश से पौधे लाकर यहाँ लगाये जा सकते है। इस प्रकार भारतवर्ष विदेशो से अपरिष्कृत भेषजो के आयात के बारे में स्वतत्र हो सकता हे। भैषजिक उद्योगो को मानकित गुणवाले भेषजो का नियमित रूप से आपूर्ति होती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि वन्यदशा मे उत्पन्न होने वाले भेषजो की समुचित ढग से खेती की जाय तथा वाहर के भेषजो को यहाँ लाकर उनकी खेती की जाय। बहुत पहले १८ वी शताब्दी के प्रारभ मे अभ्यागत (बाहरी) पौधो की परीक्षणात्मक कृषि यहाँ आरभ की गयी थी। भारत सरकार तथा निजी अभिकरणो (एजेन्सी) द्वारा बोटानिकल गार्डेनो तथा चाय और कॉफी के बागानो में डिजिटेलिस, सिनकोना, इपेकाकुआन्हा, पाइरेथ्रम जैसे औषधीय पादपो को लगाने के प्रयत्न किये गये है। अभ्यागत पौधे अच्छे उगे हैं और कुछ ही वर्षो के सवर्धन से उन्होने आश्चर्यजनक रूप से अपने को यहाँ की मिट्टी के अनुकूल बना लिया हैं। अब उनमें से अनेक इस देश में औद्योगिक स्तर पर उगाये जा रहे है।

विश्व व्यापार की सामान्य स्थिति मे वानस्पतिक औषधियों को प्राप्त करने की समस्या नही रहती, इसलिए उस समय इन औषधियो को प्राप्त करने के लिए नये

स्रोतो को विकसित करने की ओर ध्यान नही दिया जाता। इसका विशेष कारण यह भी है कि ये भेषजीय वनस्पतियाँ आसानी से बेचने योग्य नकदी फसल (Cash Crop) नही समझी जाती। केवल दूरविस्तृत युद्ध के समय ही, जब आपूर्ति के सामान्य स्रोत अवरुद्ध हो जाते हैं, इन वानस्पतिक उत्पादो को स्थानीय स्रोतो से प्राप्त करने की सभावना पर कुछ गभीरता से विचार किया जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय भारतवर्ष मे कई आवश्यक भेषजो की आपूर्ति बिलकुल वद हो गयी थी। यहाँ तक कि भारतवर्ष मे उत्पन्न होने वाले भेषज भी पर्याप्त मात्रा मे नही प्राप्त हो रहे थे। उस समय भेषजो की बहुत कमी हो जाने के कारण यह अनुभव किया गया कि औषधीय वनस्पतियो के सुव्यवस्थित उत्पादन के लिए कुछ अवश्य किया जाना चाहिये। बहुत से लोगो ने जिनकी इस दिशा में अभिरुचि थी, और जो इनके बढते हुए दामो से आकृष्ट हुए थे, सरकार के सन्मुख इन वनस्पतियो के उत्पादन के कार्यक्रम प्रस्तुत किये और उनको सरकार का अनुमोदन भी मिला। एक बात जिसकी ओर बहुधा लोगो का ध्यान नही जा पाता है, यह है कि इस प्रकार की कृषि एक विशेषज्ञ का कार्य है तथा कृषि और वनस्पति-विज्ञान का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति इस कार्य को सफलतापूर्वक नही कर सकता है। कोई पौधा अमुक क्षेत्र मे सफलतापूर्वक उत्पन्न हो सकता है, इस प्रकार का निर्णय करने के पूर्व सवर्धन (Culture), मिट्टी, रोग तथा लवाई आदि बातो पर पूरी तरह से विचार कर लेना चाहिये। सिनकोना तथा कोका का भारत तथा पूर्वी डच द्वीप समूह में किस प्रकार उत्पादन किया गया, इसको देखने से उपर्युक्त बातें स्पष्ट हो जायेगी। सिनकोना की खेती के लिए सबसे पहले प्रयास किया था श्री क्लेमेन्ट्स मारखम ने, जब उन्होने दार्जिलिंग की पहाडियो में सिनकोना का बागान लगाया। डच पादप सवर्धन विशेषज्ञो ने तो बहुत बाद में काम शुरु किया, किन्तु सवर्धन की उन्नत प्रणालियाँ अपनाकर तथा जातियो के ठीक-ठीक चुनाव और संकरण द्वारा सिनकोना उत्पादो के लिए विश्व बाज़ार को नियत्रित करने में वे सफल हुए, जब भारतवर्ष आज भी अपनी आवश्यकता के लिए पर्याप्त उत्पादन नही कर पा रहा है। इसी तरह भारत ने इस शताब्दी के आरम्भ में नीलगिरि एव ट्रावकोर की पहाडियो मे कोका की कृषि का असफल प्रयास किया, जब डच लोग जावा में बडे पैमाने पर इसकी (एरिथ्रॉक्सिलम कोका के स्थान पर एरिथ्रॉक्सिलम ट्रक्सिलेंस की) खेती को सुदृढ बनाने में सफल हो गये। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते है। पादप सवर्धन की विधिया अब इतनी विकसित हो गयी है कि जिन पौधो के उत्पत्ति स्थान केवल उष्णकटिबधीय प्रदेश रहे है वे अब राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता एव राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के हित में कृत्रिम परिस्थितियो में समशीतोष्ण

या अन्य जलवायु में भी सफलतापूर्वक उगाये जा रहे है। भारत मे जलवायु की सुविधा है और मजदूर भी सस्ते हैं। इसलिए अगर वैज्ञानिक ढंग पर इस समस्या को हल करने की कोशिश की जाय तो कोई कारण नही है कि सफलता न मिले। इस प्रयोजन के लिए पादप सवर्धन विशेषज्ञो, वनस्पतिज्ञो, रसायनज्ञो, भेषजगुणविज्ञो एवं कीटविज्ञानिओ में परस्पर सहयोग होना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित होती है जिनके समाधान मे सयुक्त प्रयास आवश्यक हो जाता है ताकि यह निश्चय किया जा सके कि अमुक क्षेत्र मे किस जाति या सकर नस्ल की खेती ठीक होगी। इसके लिए आवश्यक वैज्ञानिक प्रतिभा यहाँ उपलब्ध है और उसका उपयोग किया जाना चाहिये।

ब्रिटिश राष्ट्रमडलीय देशो में, औपधीय वनस्पतियो की खेती करने, तथा कई वानस्पतिक प्राकृतिक-उत्पादो के स्रोतो का अविलम्ब विकास करने के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन की मेडिकल रिसर्च कौसिल की "थिरैप्युटिक रिक्वायरमेण्ट्स कमेटी" ने १९४१ मे आवाज उठायी थी। निम्नलिखित औपधियो के उत्पादन की उसने सिफारिश की थी।

(१) ऐसिडम टार्टरिकम; (२) अगर, (३) बैल्सैमम टोलुटैनम; (४) बेन्ज़ॉयन, (५) कैलम्बा; (६) कैम्फर, (७) कैन्थेराइड्स, (८) कैस्केरा सैग्राडा, (९) क्राइसारोबिन, (१०) सिनकोना, (११) कोका, (१२) कोलोफोनी, (१३) क्रियोजोट, (१४) धतूरा, (१५) डेरिस, (१६) एफेड्रीन; (१७) एरगॉट, (१८) जेन्शिअन, (१९) ग्लिसिराइज़ा, (२०) हैमामेलिस, (२१) हाइओसायमस म्युटिकस, (२२) इपेकाकुआन्हा; (२३) जवोरेण्डी, (२४) क्रैमेरिया, (२५) लोबेलिआ, (२६) मेन्थॉल, (२७) मीलाब्रिस, (२८) ओलियम कैडिनम, (२९) ओलियम ऐमिग्डाली; (३०) ओलियम ऐनिसी, (३१) ओलियम चिनोपोडी, (३२) ओलियम मेंथी पीपेरिटी, (३३) सैन्टोनिन, (३४) सिला, (३५) स्टोरैक्स, (३६) थाईमॉल, (३७) ट्रैगाकैन्थ।

बालसम टोलू, कैम्फर, कैस्कैरा सैग्रेडा, क्राइसारोबिन, हैमामेलिस, जैवोरेण्डी, क्रैमेरिया, मेंथॉल, स्टोरैक्स, और थाइमॉल के लिए भारत के पास कोई स्रोत नही हैं या अल्प स्रोत है, किन्तु अपेक्षाकृत थोडे पुरुषार्थ से ही अन्य भेषजो को वह पैदा कर सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध की अवधि में चिकित्सा विभाग तथा सभरण निदेशालय (चिकित्सा मंडल) के प्रयास से इस दिशा में काफी काम किया गया और जिन ३९ भेषजों के उत्पादन की मेडिकल रिसर्च कौसिल ने सिफारिश की, उनमें से १७ या १८ के सम्बन्ध मे भारत आज आत्मनिर्भर हो गया है, व ये है—अगर, कैन्थेराइड्स, कोलोफोनी, धतूरा, ऐफेड्रा, जेन्शिअन, ग्लिसिराइज़ा, हाइओसायमस, लोबेलिआ,

ओलियम ऐमिग्डाली, ओलियम लिमोनिस, ओलियम टरवेन्थिनी, सिलियम, र्‌यूवर्ब, सैन्टोनिन, सिला, ट्रैगाकैन्थ। और आगे प्रयास करने से और अधिक सफलता की संभावना है।

विदेशो मे भेषजीय वनस्पतियो की कृषि

ब्रिटेन, अमेरिका और सोवियत रूस समेत यूरोप के प्राय सभी देशों मे, राज्य की ओर से तथा भेषजीय पदार्थ निर्माण करने वाले सस्थानो द्वारा भेषजीय वनस्पतियो की कृषि का कार्य शुरू किया गया। अमेरिका में राज्य के कृषि विभाग (स्टेट डिपार्टमेन्ट आफ ऐग्रिकल्चर) द्वारा १९०३ ई० मे ही अभ्यागत पादपो को उगाने के लिए 'प्लाट इन्ट्रोडक्शन आॅरगेनाइजेशन' नामक एक सस्था सगठित की गयी। ऐसे सगठन जर्मनी, बेल्जियम, हाॅलैण्ड, फ्रास और सोवियत रूस मे भी है। आर्थिक महत्त्व के पादपो को बाहर से लाकर लगाने और उनकी कृषि करने की दिशा में इन सगठनो ने बडा प्रशसनीय कार्य किया है।

अमेरिका का यह सगठन, अन्य बहुत से कामो के अतिरिक्त, भेषजीय पादपो के वर्धन मे बडी सहायता पहुँचाता है। ऐसे उत्पादों के लिए, उत्पादन स्थल के सर्वाधिक सन्निकट कौन से प्रमुख बाजार हैं इसको बताने के लिए वह साख्यिकीय सूचनाएँ प्रकाशित करता है तथा राजनयिक एव अन्य माध्यमो से दूसरे देशो के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। इस तरह यहाँ भी आर्थिक अथवा औद्योगिक महत्त्व वाली नयी वनस्पतियो को वातावरणक्षम बनाने हेतु बीज एव कृषि सम्बन्धी अन्य सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं।

पिपरमिंट तेल का उत्पादन इग्लैण्ड, फ्रास और इटली में अमेरिका की अपेक्षा बहुत पहले शुरू किया गया था, किन्तु वर्धन तथा आसवन की समुन्नत प्रणालियो की सहायता से अमेरिका ने इसके सम्भरण में विश्व में अपना प्रमुख स्थान बना लिया। "प्लाट इण्ट्रोडक्शन आॅरगेनाइजेशन" की प्रेरणा से स्पीयरमेंट (मेन्था विरिडिस) और जापानी पिपरमिंट (मेन्था आरवेन्सिस वेराइटी पिपरासेन्स) का भी अमेरिका मे प्रवेश कराया गया है।

"ब्यूरो आफ प्लाण्ट इन्ट्रोडक्शन एण्ड एक्सप्लोरेशन" जैसे एक सगठन को स्थापित करने का आवश्यकता यहाँ बहुत दिनो से अनुभव की जा रही थी। सौभाग्य से "भारतीय कृषि-अनुसन्धान-परिषद्" के तत्वावधान मे अभी हाल में इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया गया ह। यद्यपि यह ब्यूरो अभी शैशवावस्था मे ही हे तथापि आशा की जाती है कि यह अभ्यागत पादपो की कृषि के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना

प्राप्त करेगी और देश की जलवायु के लिए अनुकूल होने वाले आर्थिक महत्त्व के पादपो के विषय मे जानकारी एकत्र करेगी। यहाँ कितनी एकड भूमि भेषजीय वनस्पतियो की कृषि के अन्तर्गत है और प्रति एकड कितना उत्पादन होता है, इसकी कोई सांख्यिकीय आँकड़े देश में उपलब्ध नही है। प्रत्येक अपरिष्कृत भेषज का कितना निर्यात और आयात है, इसकी सूचना भी उपलब्ध नही है। जो लोग कृषि करना चाहते है, उनके लिए ये सूचनाएँ बडे महत्त्व की है और ब्यूरो को ये सूचनाएँ एकत्र करने और सम्बद्ध लोगो को पहुँचाने मे समर्थ होना चाहिये।*

सौन्दर्य प्रयोजनो के लिए वृक्षो की कृषि इस देश मे लोकप्रिय होती जा रही है। इस हेतु यदि सुन्दर वृक्षो को, विशेषतया उनको जिनमें भेषजीय गुण है, उगाये जायँ तो उचित ही होगा। बहुत से ऐसे वृक्ष है जैसे कैसिया फिस्टुला, स्ट्रोफैन्थस कोम्ब्रे और गुल्म-सदृश रोजमैरिनस ऑफिसिनैलिस तथा अन्य कई जो ग्रामीण क्षेत्रो को सुन्दर बना सकते है और साथ ही चिकित्सीय भेषज प्रदान कर सकते है। आर्थिक एव सौन्दर्य प्रयोजनो के लिए ऐसे कई वृक्षो की कृषि के बारे में यह सगठन मत्रणा दे सकता है। यह ब्यूरो देश के विभिन्न भागो मे, जहाँ की जलवायु सम्बन्धी स्थिति भिन्न-भिन्न है, अभ्यागत पादपो की परीक्षणात्मक खेती कर सकता है। सारे भारत में यत्र-तत्र वन रोपणिया (Forest nurseries) तथा बोटानिकल गार्डेन है जिनका इस प्रयोजन के लिए उपयोग किया जा सकता है।

भारत मे भेषज-कृषि

डिजिटैलिस, इपिकाकुआन्हा, सिनकोना, जैलप जैसे भेषजीय महत्त्व वाले पादप यहाँ पहले से ही उगाये जा रहे है। फिर कोई कारण नही है कि यदि निर्यात के लिए नही तो कम से कम अपनी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिए देश में प्रत्येक भेषज क्यो न पैदा किया जाय। देश मे विशाल भूभाग आज बजर पडे हुए है। यदि इनका भेषज-कृषि के लिए उपयोग किया जाय तो इससे इस उद्यम से सम्बन्धित व्यक्ति ही समृद्ध न होंगे वरन् देशवासियो को उचित मूल्य पर औषधियाँ भी मिलने लगेगी। भेषजो की सुचारु ढग से खेती करने से सबसे बडा लाभ यह होगा कि मानकित गुणवाली असली औषधियो की नियमित आपूर्ति का पक्का निश्चय हो जायगा। अखाद्य अर्थात् अन्नेतर फसलो मे, भेषज एवं स्वापक (नार्कोटिक) की खेती मे लगभग २६ लाख एकड भूमि लगी हुई है, अर्थात् कुल कृषि भूमि का ०८

* उपरोक्त कार्य हेतु अब 'वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद' के अन्तर्गत 'केन्द्रीय औषधीय एव सगध पौधा सस्थान' (सेन्ट्रल इन्स्टिट्यूट ऑफ मेडिसिनल ऐन्ड ऐरोमैटिक प्लैन्ट्स की स्थापना हो गई है—अनु०

प्रतिशत भाग। सिनकोना की सरकारी खेती के लिए लगभग १५,००० एकड भूमि रखी गई है, किन्तु वस्तुत ६००० एकड से ज्यादा भूमि इसमें नही लगी हुई है। गांजा, भाँग, तम्बाकू और अफीम जैसे स्वापक (नार्कोटिक) भेषजो की कृषि में अपेक्षाकृत बहुत कम एकड भूमि लगी हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि सिनकोना एव अन्य भेषजो के लिए कश्मीर, सहारनपुर, कोयम्बटूर और उटकमण्ड में परीक्षण के लिए जो फार्म है उनको छोडकर, भेषजीय वनस्पतियो की खेती को बढाने के लिए आज प्रायः कुछ भी नही किया जा रहा है। वस्तुत यह खेद का विषय है।

विशेषज्ञो की देख-रेख में बोटैनिकल गार्डेनो मे भेषजीय पादपो की कृषि कराने का विचार कोई नयी बात नही है। बहुत पहले १६ वी और १७ वी शताब्दी में भेषजीय पादपो की कृषि के लिए वानस्पतिक उद्यान विद्यमान थे और उनकी ठीक-ठीक देखभाल करने में बहुत रुचि ली जाती थी। १५६० ई० में ऐसे लगभग ५० बाग इटली में थे। पिसा का बोटैनिकल गार्डेन तथा पडुआ का भेषज उद्यान, जो १५४६ ई० मे लगाये गये बताये जाते है, आज भी विद्यमान है। हालैण्ड के लीडेन नामक स्थान में जो भेषज विक्रयालय (एम्पोरियम) है, वह १५७५ ई० का है। भारत में भी बौद्ध शासन काल मे भेषज की कृषि के लिए बडे योग्य विशेषज्ञो की देख-रेख में वानस्पतिक उद्यानो का अभिपोषण किया जाता था। इस बात के साक्ष्य मिलते है कि महान् सम्राट् अशोक की इस दिशा मे बडी रुचि थी और इन बागो के विकास के लिए वे राज्य कोष से काफी अनुदान देते थे। आज भी भेषज बागानो की उपयोगिता लोग खूब समझते है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण योजना के पिछडे रह जाने का मुख्य कारण सम्भवत यह है कि देश मे भेषजीय वनस्पतियो की कृषि की आर्थिक सफलता के सम्बन्ध मे कई क्षेत्रो में सदेह व्यक्त किया गया है। वानस्पतिक भेषजो की खपत गत ५० वर्षो मे यद्यपि बहुत घट गयी है, और प्राकृतिक प्रयोगशाला में विकसित इन भेषजो का स्थान द्रुत गति से सश्लिष्ट औषधियाँ लेती जा रही है, फिर भी, वानस्पतिक भेषजो का उपयोग अभी भी बहुत हो रहा है। वानस्पतिक भेषजो का उत्पादन और उपयोग वस्तुत कई जगह बढ गया है। जर्मनी एव बेल्जियम जैसे देशो मे भेषजीय पादपो एव वाष्पशील तैल वाली वनस्पतियो के बागान बडे सफल सिद्ध हुए है। फ्रास मे भेषजो को बडे पैमाने पर पैदा करने के लिए, राज्य बडी रुचि ले रहा है और अमेरिका मे तो भेषजीय वनस्पतियो की खेती औद्योगिक पैमाने पर हो रही है और खेती करने वाले काफी अच्छी फसल पैदा कर रहे है और खूब लाभ कमा रहे है। इस दिशा मे लोगो की अभिरुचि को प्रोत्साहित करना सभी के लिए लाभप्रद होगा।

बहुत से भेषजो का सम्बन्ध तो वन विभाग से है, किन्तु अनेक भेषजो में कृषि

विभाग की भी अभिरुचि होगी। ऐसी योजना की सफलता के लिए प्रवीण वनस्पतिज्ञो भैषजिक रसायनज्ञो, एव भेषजगुण विज्ञानियो मे परस्पर सहयोग बडा आवश्यक है, वे न केवल इस सम्बन्ध में यह राय दे सकते हैं कि अमुक भेषज की सफल खेती कहाँ की जा सकती है वल्कि इन सब बातो के बारे में भी प्रत्यक्ष मार्ग दर्शन कर सकते हैं कि इनकी कृषि और इनके सग्रहण आदि के लिए कौन सा समय उपयुक्त होगा ताकि उनमें सक्रिय तत्त्व अधिकतम हो और इनकी क्रियाशीलता भी अधिकतम रहे तथा जिन सक्रिय तत्त्वो की कमी हो, उनको बढाने के लिए वे उपाय निकाल सके। भारत की भेषजीय वनस्पतियो की रसायन रचना के सविस्तार अध्ययन से न केवल भेषजीय रसायन को नये तथ्यो की जानकारी उपलब्ध होगी, बल्कि भारत या अन्यत्र के चिकित्सको की दृष्टि में भी ये तथ्य अवश्य आयेगे। आर्टिमीसिया मैरिटाइमा पर जो अनुसधान कार्य हुआ है उससे पता चलता है कि भेपजो की कृत्रिम खेती कैसे की जा सकती है और उन्हें कैसे वातावरणक्षम बनाया जा सकता है तथा वैज्ञानिक ढग से इनकी खेती करने पर इनके सक्रिय तत्त्वो में सुधार कैसे लाया जा सकता है। सैण्टोनिनधारी आर्टिमीसिया के सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता था कि वह केवल रूसी तुर्किस्तान में ही पैदा हो सकता है, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जब इसका सम्भरण बिलकुल बन्द हो गया था, तो वान लारेन (Van Laren) ने इस पादप की प्रकृति और उसके आवास का वैज्ञानिक अध्ययन करके हॉलैण्ड में आर्टिमीसिया सिना को सफलता पूर्वक उगाया जिसमें काफी मात्रा में सक्रिय तत्त्व थे। रूसी तुर्किस्तान में वन्य दशा मे पैदा होने वाले आर्टिमीसिया में सैण्टोनिन की मात्रा १ ५ से २ ६ प्रतिशत तक होती थी, जब कि समुचित ढंग से खेती करने पर इसके सक्रिय तत्त्वो की मात्रा २ ६ से ३ ६ प्रतिशत तक बढायी जा सकी है।

सर्पगधा, बेलाडोना जैसे पादपो का इधर हाल के वर्षों में विवेक रहित शोषण करने का परिणाम यह हुआ है कि भेषजीय एव मसाले वाली वनस्पतियो के क्षेत्र में हमारे अनेक बहुमूल्य प्राकृतिक ससाधन सर्वथा निश्शेष हो गये हैं। भेषजीय पादपो में समृद्ध कई प्रदेशो के पाकिस्तान मे चले जाने से भी बडा प्रगतिरोध हुआ है। मुलेठी (ग्लीसिराइजा), एफेड्रा, आर्टिमीसिया और हीग (असाफोटिडा) प्रमुख रूप से पश्चिमी पाकिस्तान के सीमान्त क्षेत्रो एव बलूचिस्तान के उत्पाद थे और अब इनकी आपूर्ति बन्द हो गयी है। सग्रहकर्त्ताओ को समुचित ज्ञान न होने से इन भेपजो मे जानबूझ कर या अनजाने अपमिश्रण भी बहुत होता है। समय तथा अन्य बातो का विचार किये बिना ही, बहुधा भेपजो का सग्रह किया जाता है। इन सब बातो के कारण यह आवश्यक है कि भेपजीय वनस्पतियो की खेती

वैज्ञानिक ढग से की जाय जिसमे भेषजीय उद्योग को अपरिष्कृत भेषज मिलते रहे।

यह वडे सतोष की वात है कि भारत मे भेषजीय पादपो की खेती में अधिक अभिरुचि ली जा रही है। कई भेषज फार्म चालू किये गये है। कश्मीर के कई भागों मे वेलाडोना, हाइयोसियामस, पाइरेथ्रम, और सनाय की खेती वडी सफल सिद्ध हुई है। मैसूर राज्य में वैटल (Wattle), पाइरेथ्रम, डेरिस, सिनकोना, जिरैनियम, पिपरमिण्ट तथा टुग (Tung) जैसे पादपो की खेती सफल सिद्ध हो चुकी है और वहाँ वडे पैमाने पर इन पादपो की खेती करने का विचार किया जा रहा है।

भारतीय कृषि-अनुसधान-परिषद् भी अपनी मेडिसिनल प्लाण्ट्स कमेटी के माध्यम से उत्तर-पूर्वी, उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के कई प्रदेशो में इस दिशा में कार्य कर रही है। वहाँ न केवल देशीय पादपो की खेती पर, वल्कि अभ्यागत् पादपो का भी प्रवेश कराने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। उदाहरण के लिए मेक्सिको का दतूरा इनॉक्सिया और आस्ट्रेलिया के ड्यूवोइसीया जातियों को हाइओसियामिन के श्रेष्ठतर स्रोत के रूप मे, भूमध्य सागरीय तटवर्ती स्थानो की अजिनिआ मिला तथा रूस और जर्मनी की धनिया (कोरिऐन्ड्रम सैटाइवम) और सौंफ (फोनिकुलम वलगैरिस) को, एव मेक्सिको की हेलिऑप्सिस लॉगिपेस को पाइरेथ्रम के श्रेष्ठतर स्रोत के रूप मे यहाँ उगाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है। अनुसधानकर्त्ताओ के ये प्रयास, कृषि विशेषज्ञो एव उद्यान-कृषि विशेषज्ञो के प्रयास का सहयोग पाकर देश की सम्भावी सम्पदा को वढायेंगे और इनके लिए हमारा परावलम्वन जाता रहेगा।

कृषि द्वारा आर्थिक पादपो में सुधार लाने का अध्ययन एक वडा ही रोचक विषय है, जो भारत में श्रेष्ठतर गुण वाले भेपजीय वनस्पतियो के उत्पादन से सीधा सम्बन्ध रखता है। कलम-रोपण, चयन, सकरण, विकिरण और रासायनिक यौगिको द्वारा उत्परिवर्तन (Mutation), तथा कॉल्चिसिन द्वारा वहुगुणिता (Polyploidy) का पौधो में समावेशन ये ही कुछ उपाय है जो इस दिशा में अपनाये जाते हैं। इस दिशा मे अन्य देशो मे वहुत काम हुआ है, किन्तु भारतवर्ष में अभी केवल शस्य-पादपो में सुधार लाने का कार्य प्रारम्भ किया गया है। हाइओसियामस नाइजर, दतूरा मिटेल, ऑसिमम वैसिलिकम, आदि जैसे कुछ भेपजीय पादपो पर उपरोक्त प्रकार के कार्य किये गये है। अनुसधान के इस आशाजनक क्षेत्र मे जिसमे अभी तक कोई विशेष कार्य नही किया गया है, वडे लाभकारी परिणामो की प्राप्ति की सम्भावना है।

इन दिशाओ में यदि अनुसधान किये जायँ तो नि सन्देह रसायनज्ञो और भैषज्यविज्ञो के सामने अनुसन्धान का एक विशाल क्षेत्र उपस्थित हो जायगा जिसके आर्थिक एव वैज्ञानिक महत्व की कल्पना नही की जा सकती। यह वताने की

आवश्यता नही कि आज के जगत् में वैज्ञानिक अनुसन्धान आर्थिक समुन्नति का आधार होता है। बडे बडे सहकारी और व्यापारिक अभिकरण (एजेन्सी) बहुत धन खर्च करके अपने अनुसन्धान विभागो का विकास कर रहे हैं और इस प्रकार की पूजीनिवेश को वे लाभप्रद समझते हैं। अस्तु औषधीय पौधो की कृषि पर क्रमबद्ध अनुसन्धान देश के लिये अत्यधिक लाभदायक होगा।

---

(१४)

अतीत की उपलब्धियों का सिंहावलोकन

आधुनिक वैज्ञानिक रीति से भारतीय चिकित्सा-पद्धति मे व्यवहृत भेषजो पर क्रमबद्ध गवेषणा ३० वर्ष से पूर्व आरम्भ हुई थी और इस अल्पावधि में अपेक्षाकृत अधिक कार्य हुआ है। कविराजो एव हकीमो द्वारा प्रयुक्त अनेको महत्वपूर्ण औषधीय पौधो का बडी सतर्कता के साथ प्रत्येक दृष्टिकोण से अनुसन्धान किया गया है। उनका रासायनिक सघटन निश्चित कर दिया गया है, उनके सक्रिय तत्वो का प्रभाव पशुओ पर परीक्षणों द्वारा ज्ञात कर लिया गया है और अन्ततोगत्वा, उन भेषजो से निर्मित उपादेय औषधियो (Preparations) का प्रयोग अस्पतालो मे रोगियो पर किया जा चुका है। इस प्रकार के ही सम्यक् अनुसधानो द्वारा इन भेषजो का यथार्थ मूल्याकन किया जा सकता है और न केवल भारत मे ही अपितु विश्व के अन्य देशो में भी इनकी माग बढ सकती है। इस प्रकार के श्रमसाध्य कार्य ने कुछ भेषजो के गुणों और विशिष्टताओ को पर्याप्त प्रमुखता प्रदान की है और यह दिखलाया जा चुका है कि यदि वे सर्वसाधारण के उपयोग में लाये गये तो मानवता को व्याधिजन्य पीडाओ से मुक्ति दिलाने में अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध होगे और वे चिकित्सको द्वारा प्रयुक्त अन्य औषधियो की गणना मे आ जायेंगे। विश्वविद्यालयो मे भैषजिक सस्थानो एव रासायनिक प्रयोगशालाओ तथा भारतवर्ष की औषधि-निर्माण करनेवाले व्यापारिक प्रतिष्ठानो की वृद्धि के साथ-साथ इस कार्य मे पर्याप्त प्रगति हुई है। इस दिशा में जो कार्य किए गये हैं उनसे कई भेषजो के गुण प्रकाश में आये हैं उदाहरणार्थ-होलेंहिना ऐन्टिडिसेन्टेरिका (कुटज, कुर्ची), रॉवोल्फिया सर्पेन्टाइना (सर्पगन्धा), ब्यूटिआ फ्रॉण्डोसा (पलास), आल्स्टोनिया स्कोलैरिस (सप्तपर्ण), सिसलपिनिया वाण्डुसेला (कटकरज), अधाटोडा वैसिका (वासक, अरूसा), बैकोपा हर्वा (ब्राह्मी), डीमिया एक्सटेन्सा (उतरन), सिसम्पिलॉस परीरा (पाठा), टर्मिनैलिआ अर्जुना (अर्जुन), सोरैलिया कोरिलिफोलिया (वाकुची), सिडा कॉर्डिफोलिआ (बला), स्वर्शिया

चिराता (चिरायता), ऐन्ड्रोग्रैफिस पैनिकुलेटा (कालमेघ), प्लैन्टैगो ओवेटा (इसवगोल), थेवेशिया नेरिफोलिया (पीला कनेर), रौविया वयूनियेटा, आदि। कुटज (कुर्ची) अतिसार में अत्यन्त प्रामाणिक औषधि सिद्ध हुई है, विशेषकर अनुतीव्र तथा पुराने अमीवी अतिसार में जहाँ रोगी अतिसारोत्तर उदर-व्याधि से पीडित हो। कुर्ची से निर्मित एक मानकित द्रव सत्व तथा एक योग कुर्ची बिस्मथ आयोडाइड भारतीय भेषजकोशीय सूची (Indian Pharmacopoeial list) एव भारतीय भेषजिक कोडेक्स (Indian Pharmaceutical Codex) मे मान्य औषधि के रूप में स्वीकृत हो चुके हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनो मे कुर्ची बिस्मथ आयोडाइड का उपयोग पूर्वीय रणक्षेत्र में खूब होता था, जिसका परिणाम बडा ही सतोषजनक रहा। एक पुरातन भेषज सर्पगधा (Rauwolfia) है, इसका व्यवहार भारतीय चिकित्सको द्वारा शताब्दियों तक रेचक, आन्त्रकृमिघ्न (anthelmintic) तथा सर्पदशन में प्रतिकारक (antidote) के रूप में होता आया है और अभी हाल ही मे इस देश में क्लिनिकल चिकित्सा में रक्तदाब को कम करने में तथा अनिद्रा और कुछ प्रकार के उन्माद या पागलपन के इलाज मे नाडी स्थान पर नशामक के रूप में प्रारम्भ हुआ है। इसे अमेरिका में अतिरक्तदाब के रोग(hypertension) में उत्तम कोटि के औषधि की मान्यता दी गयी है। इसके गुण-कर्म से सम्बन्धित सर्व प्रथम शोधपत्र १९३३ ई० चोपडा और मुखर्जी द्वारा प्रकाशित किया गया था। तब से भारतवर्ष मे तथा विदेशों में इसके सक्रिय तत्त्वो के सम्बन्ध में एव उसमें निहित ऐल्केलॉयडों तथा अन्य तत्त्वों के गुण-कर्म सम्बन्धी अनेको शोध पत्र प्रकाशित हुए। पाटा (सिसम्पिलॉस परीरा) पर हाल में किए गये शोधों से यह प्रकट हुआ कि इस भारतीय भेषज से, जो हिमालय के तलहटी में प्रचुर मात्रा में पैदा होती है, एक ऐसा तत्त्व निकाला गया है जो पेशियों के लिए डेक्स्ट्रो ट्युवोक्यूरारिन क्लोराइड की भांति शिथिलकर है। पीतकनेर (थेवेशिया नेरीफोलिया) से एक शुद्ध ग्लाइकोसाइड प्राप्त किया गया है जिसके गुण तथा उपयोग बिल्कुल डीजिटैलिस के सदृश है। कालमेघ (ऐन्ड्रोग्रैफिस पैनिकुलेटा) तथा चिरायता (स्वर्शिया चिराता) तिक्त और पित्तसारक औषधियाँ हैं, जो विदेशी भेषजसहिताओ की इन्ही श्रेणियो की सर्वोत्तम औषधियो के तुल्य हो सकती हैं। प्लैन्टेगो ओवेटा को, जिसका परिचय यूनानी तथा तिब्बी पद्धतियों के माध्यम से भारत को हुआ था, आज पूरे संसार में आमाशयान्त्र के क्षोभन में एक उत्कृष्ट औषधि की मान्यता दी गयी है।

लगभग २००० औषधियो पर अनुसधान कार्य करने के लिए अब भी विस्तृत क्षेत्र है और सम्भावना है कि इनमें से कुछ रोगोपचार में पर्याप्त प्रभावशाली सिद्ध

होगी। इनमे से यदि थोडी सख्या मे भी उपयोगी औषधियाँ उपलब्ध हो गयी तो इस समृद्ध द्रव्यगुणशास्त्र में गहराई तक प्रवेश कर उनको ढूँढ निकालना उपादेय होगा।

अन्य बहुत से परीक्षित भेषजो में कुछ सक्रियता पायी गयी है, जो अपेक्षाकृत उन औषधियो से कम प्रभावशाली है जिनको भेषजकोशो मे पहले से ही गृहीत कर लिया गया है। इनमे से कई एक का उपयोग भेषजकोशीय औषधियो के सस्ते प्रतिस्थापक द्रव्य के रूप मे हो सकता है। इनका प्रयोग होता तो था, पर सक्रियता बहुत थोडी या नगण्य पायी गयी। भारतीय चिकित्सा-पद्धति के पतनकाल मे अनेको ऐसे भेषजो का समावेश हो गया जिनके गुण-कर्म विवादस्पद है तथा जिनकी उपयोगिता सदिग्ध है। हम उन सभी भेषजो की विवेचना करेंगे जिनके सम्बन्ध मे बाद में गवेषणा हुई है, फिर भी इस कार्य के सभी पहलुओ पर विवरणात्मक विश्लेषण करना सम्भव नही होगा। इसके लिए समय-समय पर प्रकाशित हुए मौलिक शोधपत्र, जिनकी एक सूची अन्यत्र दी गयी है, द्रष्टव्य है।

अनेक उपयोगी औषधियो के मूल्याकन के अतिरिक्त इस कार्य का एक और भी पहलू है, जिसकी उपेक्षा इस समीक्षा मे नही की जा सकती। वर्तमानकाल मे भारतीय चिकित्सा पद्धति में व्यवहृत होनेवाले अधिकाश भेषजोको खास-खास रोगो की विशिष्ट औषधि कहते हैं और सामान्य जनता उन औषधियो के तथाकथित आश्चर्य-जनक फायदे का खूब बढा चढाकर वर्णन करती है। अपर्याप्त प्रमाणो द्वारा समर्थित इस प्रकार के प्रशंसात्मक वर्णन कभी-कभी चिकित्सा सबधी पत्रिकाओ (मेडिकल-जर्नल्स) में भी देखे गये है। इससे उनकी प्रतिष्ठा को बडा धक्का लगा है और यूरोप तथा अमेरिका के लब्धप्रतिष्ठ भेषजगुणविज्ञानी निराश होकर सन्देह करने लग गये है कि क्या वास्तव में अत्यन्त विस्तृत भारतीय द्रव्यगुणशास्त्र मे कोई वस्तु अत्यधिक महत्त्व की है भी ? वे सोचने लग गये है कि इन भेषजो के गुणो की खोज सम्भवत हमे किसी ठोस परिणाम पर नही पहुचा पाएगी। इस प्रकार इन औषधियो की प्रतिष्ठा को पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में बडा धक्का लगा है जो अच्छी औषधियो को अनुपयोगी औषधियो की श्रेणी मे रख देने के कारण सम्भव हुआ है। एतद्विषयक उपादेय औषधियो का महत्त्व क्रमबद्ध शोध के द्वारा ही स्थापित किया जा सकता है। इसके द्वारा इन भेषजो के विषय में फैले हुए भ्रम का निवारण हो जायगा और आयुर्वेदिक तथा तिब्बी औषधियो की यथार्थ महत्ता विश्व को प्राप्त होगी।

---

(१५)

भारतीय भेषजकोश का निर्माण

अब हम अन्तिम प्रस्थापना अर्थात् भारतीय भेषजकोश के निर्माण की ओर उन्मुख होते हैं। अमेरिकी भेपजकोश (१८२० ई०) के सस्थापको के शब्दो मे भेपजकोश के निर्माण का उद्देश्य, "ऐसी औपधीय गुण वाले द्रव्यो का चयन करना हे, जिनकी उपयोगिता सिद्ध तथा पूर्णरूपेण अवबोधित हो चुकी है तथा उनसे ऐसे योगो (Preparations) तथा सघटनो (Composition) को तैयार करना है जिससे उनके गुणों से अधिक से अधिक लाभ हो सके।"

आधुनिक भेषजकोश सर्वोपरि एक मानक पुस्तक है। इसका मूलभूत उद्देश्य तथा क्षेत्र "चिकित्सीय उपयोगिता या भेषजीय आवश्यकता की उन औषधियो को, जिनका व्यवहार प्रचुर मात्रा मे चिकित्सा व्यवसाय मे होता है, मानक प्रदान करना है तथा उनके अभिज्ञान, गुण एवं विशुद्धता की परख हेतु परीक्षणो का निर्धारण करना और यथासभव उनके भौतिक गुणो तथा सक्रिय घटको मे एकरूपता लाना है"। दूसरे शब्दो मे व्यवहार, युक्तियुक्त व्यवहार तथा वैज्ञानिक व्यवहार ही इस दिशा में निर्णय के आधार हैं, तथापि चिकित्सीय वृत्ति के चिरमान्य सिद्धान्तो का यह प्रमुख आधार है कि रोगों के उपचार में प्रयुक्त औपधियो के सम्बन्ध में किसी प्रकार की गोपनीयता नही होनी चाहिये। चिकित्सको को उनके नुस्खे मे प्रयुक्त होने वाले सभी घटको एव भेपजो का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये, इस प्रश्न पर दो मत नही हो सकते। चिकित्सक को यह कभी नही भूलना चाहिये कि उसके रोगी के लिये जो कुछ उपयुक्त है इसका एक मात्र निर्णायक वही है।

भारतीय भेषजकोश के निर्माण के लिए न केवल चिकित्सको तथा भेपजज्ञो की ही व्यापक माँग है, अपितु इसके निर्माण के पक्ष मे प्रबल वैज्ञानिक कारण भी है। विभिन्न देशो मे चिकित्सा प्रणालियाँ भिन्न भिन्न है। ऐसे कच्चे माल जिनसे औपधियाँ निर्मित की जाती हैं समान गुण धर्मी नही होते, और न उतनी सुगमता से जिससे वे एक स्थान पर उपलब्ध होते है, अन्य स्थानो पर भी उपलब्ध हो सकते हैं। ऊँचाई, ऋतु, जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ और सग्रह-काल आदि कतिपय ऐसे महत्त्वपूर्ण कारक (factor) है जो औषधीय पौधों की सक्रियता निर्धारित करते है। कोई पौधा जो विश्व के किसी भाग मे अपने विशिष्ट गुणो से युक्त होता है, जब दूसरे भाग से प्राप्त किया जाता है तो प्रभावहीन हो सकता हे। छाल, मूल तथा पत्रो इत्यादि के सक्रिय घटक भिन्न होते है और जिस भेपज का प्रयोग एक देश मे होता

है सभव है वह दूसरे के लिए उपादेय न हो। इसके अतिरिक्त औषधि की मात्रा प्रजातीय (Racial) भिन्नता पर निर्भर करता है। एक यूरोपवासी के लिए जो मात्रा प्रभावकारी है, वही भारतीय के लिए नही भी हो सकती। भेषजी प्रक्रियाओ पर जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियो के कारण जो प्रभाव पडता है, उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके है। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि किसी एक देश का भेषजकोश अन्य देश के लिए उपयुक्त नही हो सकता। प्रत्येक देश को अपने यहाँ उपलब्ध कच्चे माल को ध्यान मे रखते हुए अपना भेषजकोश बनाना चाहिये जो वहा की जलवायु एवं प्रजातीय विलक्षणताओ को देखते हुए वहाँ के लिए उपयुक्त हो।

प्रतिपाद्य भेषजकोश में चिकित्सीय प्रभाव वाली औषधियो का समावेश होना चाहिये और जिस भेषज का उसमे सन्निवेश हो उसके रासायनिक सघटन एव भैषजीय क्रिया का सुनिश्चित ज्ञान होना चाहिये, उसे सर्व मान्य चिकित्सीय उपयोग का होना चाहिए, उसकी विषालुता का पूर्ण अनुसन्धान कर लेना चाहिये, उसकी सुरक्षित अधिकतम मात्रा के निर्णय के लिए आवश्यक मानक स्थिर कर लेना चाहिये, साथ ही उसका रासायनिक तथा जैविक मानक भी निर्धारित कर लेना चाहिये। अधिकाश औषधियो को जो इन प्रतिबन्धो की पूर्ति न कर सके, छोड देना चाहिये। चिकित्सक, भेषजज्ञ और रोगी की सुरक्षा के लिए आवश्यक परीक्षणो का विकास कर लेना चाहिये। भारतवर्ष में उन भेषजो तथा पदार्थों की जो यहाँ बाजारो मे विकें, शक्ति तथा शुद्धता के ज्ञान के लिए, एक मानक (standard) का होना आवश्यक है। सतोष की बात है कि इस विषय में अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति प्राय पूर्ण हो चुकी है।

१९४६ ई० मे भारत सरकार द्वारा भेषज औद्योगिकमन्त्रणा मण्डल (Drugs Technical Advisory Board) के तत्वावधान मे नियुक्त एक समिति द्वारा "इन्डियन फार्माकोपियल लिस्ट" नामक एक पुस्तिका तैयार कर ली गई थी। इसमें भारत मे प्रयुक्त होने वाली कुछ ऐसी औषधियो की सूची है, जो यद्यपि ब्रिटिश और अन्य भेषजकोशो में सन्निविष्ट नही है, तथापि वे पर्याप्त औषधीय महत्त्व की हैं जिससे उनका मान्य भेषजकोश (Official pharmacopoeia) मे शामिल किया जाना औचित्यपूर्ण है। इस समिति ने अध्ययन के पश्चात् इस बात की सिफारिश भी की कि एकरूपता बनाये रखने के लिए किस प्रकार के मानको का होना आवश्यक है तथा इनके अभिज्ञान और शुद्धता के लिए किन परीक्षणो का प्रयोग होना चाहिये। इस सूची में भारत मे उत्पन्न होने वाली ३०० से अधिक वनस्पतियो का नाम है। विभिन्न भारतीय प्रान्तो में व्यवहृत होने वाले उनके नाम भी दिये गये है। यह सूची भारतीय भेषजकोश के निर्माण मे आधार-शिला रही है जिसका प्रथम सस्करण

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है (भारतीय भेपजकोश का प्रथम सस्करण भारत सरकार द्वारा १९५५ में प्रकाशित हो गया—अनु०) जिससे किसी भी आधुनिक वैज्ञानिक भेपज-कोश की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति हो जायेगी।

---

(१६)

औषधीय पौधो के रासायनिक घटक

औपधीय और विषैली वनस्पतियो के सक्रिय तत्त्व बहुधा निश्चित रासायनिक पदार्थ होते है, किन्तु अन्य अवस्थाओ मे जटिल सम्मिश्रण के रूप में होते हैं। सक्षिप्त रूप से अधोलिखित विभिन्न वर्गो के यौगिक वनस्पतियो में पाये जाते हैं, जिन पर उनका औपधीय तथा विषैला गुण निर्भर करता है।

(१) इन पदार्थो में प्रथम समूह के तत्त्व, जिनमें औपधीय तथा विषैले गुण होते हैं, वानस्पतिक क्षारक है। इनके अन्तर्गत ऐमीन और ऐल्केलॉयड आते है। इस समूह के सभी यौगिको की यह विशेषता है कि वे शारीरिक क्रिया पर अत्यधिक प्रभाव डालते हैं और उनमें से अनेक अत्यन्त विषैले प्रभाव वाले भी है। कई ऐमीन ऐसे है जिनके कारण कुछ घासो मे दुर्गन्ध उत्पन्न होती है तथा कुछ छत्रको (कुकुरमुत्ता) को विषालुता प्राप्त होती है। साधारणत जिन पौधो मे ऐल्केलॉयड नैसर्गिक रूप मे पाये जाते हैं, वे कटु स्वाद वाले है। इसी कारण उन पौधो की पशुओं से, क्षुधा की असामान्य अवस्थाओ को छोडकर, पर्याप्त रक्षा होती है। अधिकाश औपधीय भेपजो का आरोग्यकारी गुण इन तत्त्वो के कारण ही होता है। नियमत तृणको (घासो) मे ये तत्त्व नही होते, किन्तु अन्य वानस्पतिक कुलो (Families) मे वे पाये जाते है।

ऐल्केलॉयड वर्ग के ये उदाहरण है,—कुचला (नक्स वामिका) से स्ट्रिक्नीन, ऐकोनाइट से ऐकोनिटीन, बेलाडोना से ऐट्रोपिन एव सम्बद्ध ऐल्केलॉयड, तम्बाकू से निकोटीन और पोस्ता से मॉरफीन आदि।

(२) इन पदार्थो के एक दूसरे समूह को ग्लाइकोसाइड कहते है, जिसका वृहत समूह है तथा जो वनस्पतियो मे ऐल्केलॉयड वर्ग की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप मे पाये जाते है। इनमें से कई तो विषैले प्रभाव से रहित होते है किन्तु अधिकाश अत्यधिक विषालु होते है। उनका स्वाद भी साधारणत तिक्त होता है और औपधीय प्रयोग में आने वाले पौधो के सत्त्व मे मिले रहते है। विषालु ग्लाइकोसाइड के सुज्ञात उदाहरण है जो करवीर कुल (ऐपोसिनेसी) और डिजिटैलिस (स्क्रॉफुलैरिएसी) म पाये जाते है।

वे ग्लाइकोसाइड जो पशुओं के लिए विषैलेपन के कारण महत्त्वपूर्ण है साइनोजेनेटिक ग्लाइकोसाइड कहलाते है जिनमें हाइड्रोसायनिक अम्ल बद्ध रूप

से रहता है, जो पौधो मे पाये जाने वाले एन्जाइम द्वारा विमुक्त किया जाता है। जैसा कि साइनोजेनेटिक अर्थात् साइनिक अम्ल उत्पन्न करने वाले नाम से व्यक्त होता है, वे पशुओ के शरीर में विमुक्त होकर पर्याप्त मात्रा मे हाइड्रोसायनिक अम्ल उत्पन्न करते है जिसका परिणाम घातक होता है। इस वर्ग का प्रसिद्ध प्रतिनिधि ग्लाइकोसाइड कडुवे बादाम में पाया जाता है जिसे एमिग्डालिन कहते है। ये ग्लाइकोसाइड अनेक घासो, मटर और गुलाब कुल की कतिपय वनस्पतियो मे भी पाये जाते है।

ग्लाइकोसाइड का एक अन्य समूह जल मे हिलाये जाने पर साबुन के सदृश फेन उत्पन्न करता है, इसलिए इसे सैपोनिन कहा जाता है। वे ५० विभिन्न कुलो के ४०० से अधिक विभिन्न वनस्पतियो मे पाये जाते है। इनके विष का प्रभाव, विशेष कर मछली, मेढक और कीट आदि पर पडता है। इनसे जल के प्रति २,००,००० भाग मे १ भाग या इससे अधिक की तनुता मे मछलियो की मृत्यु हो जाती है। उच्च प्राणियो मे आमयिक प्रयोग से ये आमाशयान्त्र में क्षोभ, वमन, एव प्रवाहिका (diarrhoea) उत्पन्न करते है। ये अनियततापी (Cold-blooded) प्राणियो जैसे मछली के श्वसनाङ्ग को निष्क्रिय बना देते है। जब उनका सम्पर्क रक्त से होता है तो उनसे रक्तसलयन (Haemolysis) होता है। उनका स्वाद तीक्ष्ण होता है। सैपोनिन के साधारण उदाहरण सोपनट (रीठा) सोप बार्क, और सोपरूट है।

(३) सक्रिय तत्त्वो के तृतीय समूह के अन्तर्गत सगन्ध या वाष्पशील तैल आते है जिनसे पौधो में एक विशिष्ट सुगन्ध आ जाती है। इन तैलो में कीटनाशक एव कीट-निवारक गुण होते हैं, किन्तु मनुष्यो तथा पशु समुदाय पर वे आमाशयान्त्र मे क्षोभ द्वारा विषालु प्रभाव उत्पन्न करते है। सामान्य उदाहरण के लिए ये है— यूकेलिप्टस, ऐबसिन्थ मे पाये जाने वाले तैल जो तन्त्रिका तन्त्र पर प्रभाव डालकर ऐंठन उत्पन्न करते है, चीड कुल में पाये जाने वाले तैल तथा सरसो में एन्जाइम की क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला तैल आदि। नियमत पशु विषैले सगन्ध तैलो वाले पौधों को नही खाते।

(४) विषालु तत्त्वो का चतुर्थ समूह टॉक्सअल्बुमिन (Toxalbumins) के नाम से प्रसिद्ध है जो एरण्ड, जमालगोटा (जयपाल) और घुमची के बीजो मे पाये जाते है। ये निश्चित रूप से रक्त को विषाक्त कर देते है और कभी-कभी पशुओ की मृत्यु के भी कारण हो जाते है। यदि जानवरो को यह पहले थोडी-थोडी मात्रा में दी जाय और क्रमश मात्रा को बढाया जाय तो वे इसके प्रभाव से प्रतिरक्षित (Immune) हो जाते है, किन्तु यह प्रतिरक्षा एक विशिष्ट प्रकृति की होती है, अर्थात् यह उसी विशिष्ट टॉक्सअल्बुमिन के प्रतिरोध में होती है, अन्य विषो के प्रति नही।

(५) पचम समूह के अन्तर्गत आने वाले पदार्थो को रेजिन कहते हैं। यह पोडोफिलम मे और तिक्त वर्ग के वनस्पतियो में जैसे कुकरविटेसी कुल के जगली पौधो में, उदाहरण के लिए इन्द्रायण (कोलोसिन्थ) मे और फेनॉलिक यौगिको मे पाये जाते हैं। फेनॉलिक यौगिक काजू कुल के कई पौधो में विद्यमान रहते हैं। इसी समूह के अन्तर्गत और भी अति विषैले तत्त्व हैं जैसे ऐण्ड्रोमेडोटॉक्सिन (Andromedotoxin) जो रोडोडेण्ड्रॉन कुल के कई पौधो में पाया जाता है, विपालु तैल जैसे जमालगोटा का तैल, पिक्रोटॉक्सिन जो आक्षेपकारी (Convulsant) विष है और जो भारतीय जगलो में पायी जाने वाली काकमारी (*Anamirta cocculus*) लता के विषैले फलो मे विद्यमान रहता है, उदासीन तत्त्व, कार्बनिक अम्ल और उनके लवण। ये सभी मनुष्यो तथा जानवरो पर व्यापक प्रभाव डालते हैं।

(६) वनस्पतियो में पाये जाने वाले सक्रिय तत्त्वो का छठा समूह ऐण्टिबायोटिक्स का है। यह सम्यक रूपेण ज्ञात है कि इस समय प्रयुक्त होने वाले कुछ अत्यधिक शक्तिशाली ऐण्टिबायोटिक जैसे पेनिसिलिन, स्ट्रैप्टोमाइसिन आदि निम्न कोटि के पौधो अर्थात् कवको (Fungi) से प्राप्त होते हैं। यद्यपि ऐण्टिबायोटिक तत्त्वों को, कुछ उच्चकोटि के पौधो फेनरोग्रैम से प्राप्त करने के लिए पहले से ही प्रयत्न किया जा चुका है तथा उनमे ये तत्त्व पाये भी गये हैं, किन्तु उनमें से कोई भी, कवको से प्राप्त होने वाले प्रतिजैविक पदार्थों के समकक्ष चिकित्सीय गुण और शक्ति मे उपयोगी सिद्ध नही हुआ। हम अभी इस विशाल क्षेत्र के द्वार तक ही पहुँच पाये हैं, यह सम्भव है कि अनेक शक्तिशाली ऐण्टिबायोटिक उच्चकोटि के पादपो मे पायें जा सकें।

शरीर-क्रिया एव विषालुता को प्रभावित करने वाले कारकः—

पौधो मे विद्यमान सक्रिय तत्त्वो की मात्रा कई बातो पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ भूमि का स्वरूप, जलवायु, ऋतु, पौधो की वृद्धि की अवस्था, प्रकाश का स्वरूप और उसकी तीव्रता, कृषि आदि। ताजी और हरी वनस्पतियाँ विषैली हो सकती हैं, शुष्क हो जाने पर उनकी विषालुता लुप्त हो सकती है, उदाहरणार्थ वटरकप और ऐसे पौधे जिनमे वाष्पशील सक्रिय तत्त्व पाये जाते हैं। कुष्माण्ड की विषालुता कृषि द्वारा दूर हो सकती है, किन्तु सिनकोना और करवीर के विषालु तत्त्वो में कृषि से न्यूनता नही आती। शरीरक्रिया सम्बन्धी सक्रियता एव विषालुता के निर्धारण में पौधो के वृद्धि की अवस्था सम्भवत सर्वाधिक महत्त्व रखती है।

जहाँ तक वनस्पतियो के प्रभाव की सुग्राह्यता (Susceptibility) का सम्बन्ध है जानवरो मे बडी विभिन्नता पायी जाती है। शशक ऐट्रोपीन वर्ग के द्रव्यो के प्रभाव से मुक्त रहते हैं तथा पक्षी स्ट्रिकनीन की अत्यधिक मात्रा को सहन करने की क्षमता

रखते है। स्तनपायी जीवो में वृद्धो की अपेक्षा तरुणो में सुग्राह्यता अधिक होती है। जानवर की अवस्था, उनका व्यक्तिगत प्रकृतिवैशिष्ट्य (Idiosyncrasy), उनकी सह्यता (Tolerance) और रोगक्षमता का प्रभाव भी विष सुग्राह्यता की मात्रा निश्चित करने मे योग देते हैं।

---

(१७)

पादपों के वानस्पतिक वर्गीकरण, उनके रासायनिक संघटन एवं शरीरक्रियात्मक गुणों मे सह-सम्बन्ध

सक्रिय तत्त्व एव नवीन वर्गीकरण—

पादपो के रसायन एव भेपजगुणविज्ञान की जानकारी बढ जाने से यह प्रतीत होता है कि पादपो के वानस्पतिक वर्गीकरण, उनके रासायनिक संघटन एव शरीरक्रियात्मक गुणों मे निश्चय ही कुछ न कुछ सह-सम्बन्ध है। निकटवर्गी पादपों मे इस बारे में जो आश्चर्यजनक सादृश्य पाया जाता है उससे विस्मय होता है। उदाहरण के लिए अगर किसी वश (जीनस) के पादप मे कोई एक विशेष रासायनिक सघटक पाया जाता है तो उस जीनस या कुल के अन्य पादपो मे भी ठीक वही या उसके सदृश भेषजीय गुण वाले सघटको की विद्यमानता की बडी सम्भावना रहती है। अवश्य ही इसका यह मतलब नही है कि ऐसा सादृश्य अन्य कुलो या वशो में नही मिलेगा, क्योंकि वे विशिष्ट वर्गीकीय गुण (Taxonomic character) परस्पर भिन्न वशो या कुलो में भी हो सकते है। पादपो का आदर्श वर्गीकरण तो ऐसा होना चाहिये जो वानस्पतिक कसौटियो को पूरा करने के अतिरिक्त, पादपों के रासायनिक सघटको एव शरीरक्रियात्मक गुणो के स्वरूप का भी ज्ञान कराता हो। हमारा जो वर्तमान ज्ञान है उससे यह सम्भव नही है। फिर भी यह तथ्य कि ये वश या कुल, जैसा कि आज वे ज्ञात हैं, इन सब बातो के बारे मे बिलकुल सजातीय (Homogenous) हैं, इस से यह आशा होती है कि यह समस्या इतनी कठिन नही है जितनी दिखाई देती हैं। फिर भी पादपो के रसायन पर और उनके सक्रिय तत्त्वो के शरीरक्रियात्मक गुणो के विनिश्चयन पर बहुत काम करना होगा और हजारो नये पादपो पर अनुसधान करना होगा, पूर्व इसके कि यह काम पूरा हो या इसे व्यर्थ समझकर प्रयास करना ही छोड दिया जाय। इससे

यह नही समझा जाना चाहिये कि रसायन एव भेपजगुणविज्ञान के क्षेत्र मे जो प्रगति हुई है उससे पादपो का वानस्पतिक वर्गीकरण निश्चित किया जा सकता है। ऐसा करना सम्भव नही है क्यो कि ऐसी विशिष्टताये सम्भवत वर्गीकीय लक्षण का काम नही दे सकते, किन्तु आशा की जाती है कि वनस्पतिज्ञ, रसायनज्ञ एव भेपजगुणविज्ञ अपने सयुक्त प्रयास के आधार पर वर्गीकरण की एक प्राकृत प्रणाली निकालने की दिशा मे सहयोग करेगे।

रासायनिक सघटक—

परस्पर विभिन्न कुलो और वशो के भारतीय पुष्पी पादपो के महत्त्वपूर्ण और सशक्त सघटको के वितरण की सक्षिप्त समीक्षा करने पर, कतिपय बडी मनोरजक बाते सामने आती है। ऐल्केलॉयडो का वितरण लगभग ४० कुलो में पाया जाता है और बहुधा एक ही ऐल्केलॉयट सहवर्गी वशो और कुलो मे विद्यमान पाया जाता है। छ भिन्न भिन्न कुलो और १२ भिन्न-भिन्न जीनसो में बर्बेरीन पायी गयी है। इसके विपरीत, एफेड्रीन ऐसा उदाहरण उपस्थित करता है जहाँ एक ही ऐल्केलॉयड सुदूर वर्गों के पादपो मे पाया जा सकता है। यह मालवेसी कुल के सिडा कार्डिफोलिया नामक पौधे में और नीटेसी (Gneataceac) कुल के एफेड्रा पौधे मे पाया जाता है। मालवेसी ऐंजियोस्पर्मी का एक कुल हे और नीटेसी जिम्नोस्पर्मी का। प्युरीन वर्ग तीन कुलो में पाये जाते है।

ग्लाइकोसाइड का बडा विस्तृत वर्ग है जिनका वितरण ऐल्केलॉयड वर्ग की अपेक्षा अधिक व्यापक ह और यह द्विबीजपत्री और एक बीजपत्री दोनो में पाया जाता है। इनमें कुछ तो बडे विपालु होते है और अत्यन्त भिन्न-भिन्न ८ कुलो में पाये जाते है। हाइड्रोसायनिक अम्ल देने वाले पादप १० कुलो मे पाये जाते है। ग्लाइकोसाइड का एक वर्ग जो सैपोनिन नाम से ज्ञात है, वनस्पतियो मे बहुत पाया जाता है। सैपोनिन लगभग ५० कुलो के ४०० विभिन्न पादपो मे जो विश्व भर मे फैले है, पाया जाता है। वनस्पति जगत में वाष्पशील तैल बहुत कुलो में पाये जाते है और लैबिएटी (Labiatae), रुटेसी (Rutaceac), अम्बेलिफेरी (Umbelliferae), मिर्टेसी (Myitaceae), लारेसी (Lauraceae), क्रुसिफेरी (Cruciferae) और कोनिफेरी (Coniferae) जैसे कतिपय कुलो मे ये तैल बहुत अधिक मात्रा मे पाये जाते है।

बहुत से पादपो के बीज मे ऐल्बुमिन होता है, किन्तु एक विचित्र बात यह है कि कुछ पादपो में, जैसे ऐब्रस प्रिकैटोरियस और रिसिनस काम्युनिस मे, जो भिन्न कुलो के (क्रमश लेग्युमिनोसी एव यूफॉरबिएसी कुलो के) है, इन ऐल्बुमिनो की विपालुता

एक ही प्रकार की होती है, और दोनो ही रक्त के लिए विषालु है, और इन दोनो की रोगक्षमता (Immunity) की प्रतिक्रिया एक सी है, यदि प्राणियो के शरीर मे अल्प-मात्रा में, एवं शनैः शनैः मात्रा वृद्धि करते हुए, इनका प्रवेश कराया जाय। अन्य रासायनिक सघटको के विस्तार में जाना यहाँ अभीष्ट नही है, और न रेजिन, फिनॉलिक यौगिको जैसे विषालु सम्मिश्रो की भी चर्चा यहाँ की जायगी। जो कतिपय उदाहरण ऊपर दिये गये है उनसे जैव विकास के सुस्थापित सिद्धान्त के समर्थन के लिए पर्याप्त साक्ष्य मिल जाते है। इनके वितरण में भी एक विधिबद्धता दिखायी देती है। कई पादपो के बारे में ऐसा इसलिए है कि वे एक ही पूर्वज से उत्पन्न हुए है, और कई के बारे मे समानान्तर विकास के फल स्वरूप ऐसा होता है। उपरोक्त तथ्यो का स्पष्टीकरण और किसी आधार पर नही किया जा सकता।

सहसम्बन्ध के उदाहरण—अब हम कतिपय कुलो और वशो का उदाहरण यहाँ उपस्थित करेंगे जिससे स्पष्ट हो जायगा कि इनमें वानस्पतिक, रासायनिक एव भेषजगुण सम्बन्धी पक्षो मे कितना अधिक सादृश्य है। जब तक निश्चित रूप से यह सिद्ध न हो जाय कि ये अहानिकर है, तब तक उचित यही होगा कि रैननकुलेसी कुल के सभी पादपो को मानव एव पशुधन के लिए बहुत विषालु ही समझना चाहिए, विशेष कर जब वे ताजा होते हैं। इस समूचे कुलमे, विषालु, तीक्ष्ण, स्फोटकर, रेचक एव स्वापक गुण भिन्न-भिन्न मात्राओ में पाये जाते है। ऐनिमोन, कैल्था, क्लीमेटिस एव रैननकुलस की जातियो मे एनिमोनिन नामक लेक्टोन पाया जाता है, जिसमें फफोला पैदा करने वाले गुण रहते है। अधिकाश वत्सनाभो (ऐकोनाइट) में अत्यन्त विषालु ऐल्केलॉयड होते हैं जो सवेदी तन्त्रिकाओ और मज्जा पर प्रमुख रूप से प्रभाव डालते हैं, इन पर वे अवसादक प्रभाव डालते है और अन्ततोगत्वा उनका अंगघात हो जाता है। डेल्फिनियम की जातियो का उपयोग पीडक जन्तुओ (vermin) के विनाश के लिए किया जाता है। इनमे विषालु ऐल्केलॉयड पाये जाते है जिनमें से कुछ ऐकोनिटोन जैसा प्रभाव डालते है, जबकि अन्य ऐल्केलॉयड प्रेरक तन्त्रिकाओ का अगघात कर देते है। कॉप्टिस, हेलीबोरस, निगेला, आइसोपाइरम और पिओनिया वश के पादपो में ऐल्केलॉयड पाये जाते है। ऐडोनिस और हेलीबोरस में ग्लाइकोसाइड पाये जाते हे जो डिजिटैलिस जैसा प्रभाव रखते है। क्लिमेटिस, रैननकुलस, निगेला और सिमिसी-फुगा वश के पादपो मे सैपोनिन पाये जाते हे। इन कुल के पादपो मे साइनोजेन वाले यौगिक पाये जाते है और भारत के जिन पादपो मे ये तत्व पाये जाते हे वे क्लीमेटिस, ऐक्विलीजिया, आइसोपाइरम और रैननकुलस वश के है। ऐनोनेसी कुल के ऐनोना के बीजो मे कीटनाशक गुण होते है जो नेत्रश्लेष्मला (Conjunctiva) के लिए बड़े

सोलैनसी की कई जातियो में पाये जाते है, और ग्लाइकोसाइडयुक्त ऐल्केलॉयड सोलैनीन, सोलैनम तथा कई अन्य जीनस के पादपो मे भी पाया जाता है। इस कुल के बहुसख्यक वन्य पादप विपालु होते है। लैबियेटी कुल के सभी पौधो में वाष्पशील तैल पाये जाते हैं जिनमे से कई का वातानुलोमक एव उद्दीपक के रूप में बडा चिकित्सीय महत्व है। थाईमिलिएसी की कई जातियो में विपालु रेज़िन पाये जाते है और पशु उनको खाने से कतराते हैं। यूफॉर्बिएसी की कई जातियो में बहुत ही क्षोभक टॉक्सऐल्बुमिन और उग्र रेचक द्रव्य पाये जाते हैं। अर्टिकेसी कुल के चार भारतीय वशो में पित्ती पैदा करने वाले तत्व पाये जाते है। एफेड्रीन और स्यूडोएफेड्रीन ऐल्केलॉयड एफेड्रा की कई जातियो मे पाये जाते हैं। कोनिफेरी की प्रमुख विशेपता यह है कि उसमे ऐसे वाष्पशील तैल होते है जो जठरात्र में क्षोभ और कभी-कभी व्रण पैदा करते हैं। डायोस्कोरिएसी की कई जातियो के कन्दो में एक तीक्ष्ण रस होता है और कुछ जातियाँ विपालु भी होती है। ऐरेसी की कई जातियो मे कैल्सियम ऑक्जलेट के रैफाइड क्रिस्टल तथा तीक्ष्ण रस होते है, इनमें से कई पादप यदि उन्हे खा लिया जाय, विशेषकर जब वे ताजे हो, तो वे क्षोभक विषालुता पैदा करते हैं। ग्रैमिनेसी की कई जातियो के पौधे विशेषकर जब वे तरुणावस्था में हो या कुम्हला गये हो, अथवा जलाभाव से सूख गये हो तो हाइड्रोसायनिक अम्ल पैदा करते है जो पशुधन के लिए घातक होता है। इस कुल के पौधो से कोई ऐल्केलॉयड अब तक अलग नही किये गये है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते है, किन्तु चिकित्सीय एव विपालु पादपो के वानस्पतिक वर्गीकरण एवं उनके रासायनिक तथा शरीर-क्रियात्मक विशेपताओ में जो सम्बन्ध है उसकी सक्षिप्त समीक्षा यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि बहुत से वशो और कुलो मे, इन लक्षणो में काफी हद तक सह-सम्बन्ध है। आगे अनुसधान करने से सम्भवत इन सह-सम्बन्ध के और अधिक साक्ष्य मिल सके। पादपो की वानस्पतिक विशेपताएँ, उनके रासायनिक सघटक एव उनके गुणधर्म, जैव विकास के परिणाम है, इसलिए इनका प्राकृत वर्गीकरण ऐसा होना चाहिये जिसमें इन तीनो पक्षो पर विचार किया गया हो। किन्तु पादपो के सम्बन्ध मे कई बाधामूलक तत्त्व भी हैं, जलवायु, मौसम, भूमि, कृषि इत्यादि ने इनकी रासायनिक सरचना पर गहरा प्रभाव डाला है जिससे उनकी शरीरक्रियात्मक विशेषताओ पर प्रभाव पडा है। यही कारण है कि सन्निकट सम्बन्ध रखने वाले पौधे भी अपने भेषजीय गुणों के बारे मे भिन्नता रखते हैं।

है। यदि उक्त कथन ठीक है तो आधुनिक ढग से किये गये रासायनिक और भेषज गुण-कर्म सम्बन्धी अनुसधानो की अधिकाश उपलब्धियो और रोगियो पर परीक्षणो द्वारा ज्ञात तथ्यों की पुन परीक्षा करनी पडेगी। हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार, ताजे भेषजो तथा अपरिष्कृत शुष्क भेषजो के कर्म में कोई विशेष अन्तर लक्षित करना कठिन है, सिवा इसके कि वनस्पतियो के हरे भागो में पाये जानेवाले विटामिनो की मात्रा मे जो कुछ परिवर्तन वनस्पतियो के सूखने के कारण होता हो। वैद्यो और हकीमो द्वारा विनिहित वनस्पतियो के हरे भागो और उनके रसो का प्रयोग सम्भवत ऐसा कोई बहुत बडा अन्तर नही ला सकता, जैसा कि कहा गया है। उपलब्ध भौतिक और रासायनिक रीतियो द्वारा इस तरह के परिवर्तनों का ज्ञान कठिन है, फिर भी उक्त विश्वास बहुत ही पुरातन और ध्यान देने योग्य है, जिसकी सम्यक् परीक्षा होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अपरिष्कृत द्रव्य अफीम की क्रिया (प्रभाव), इसमें सन्निहित मारफीन (morphine) की क्रिया से कुछ भिन्न होती है। अनेको अपरिष्कृत रेचक द्रव्यो का प्रभाव उनमे विलगित सक्रिय तत्त्वो से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ एलॉयन (aloin) और सेनोसाइड 'ए' और 'बी' का प्रभाव अपरिष्कृत मुसब्बर (Aloe) और सनाय (Senna) से भिन्न होता है। ये तथा इसी तरह के अन्य तथ्य अनुभवजन्य पुरातन रीतियो का नये ढग से अध्ययन करने के लिए प्रेरित करते हे, जो अभी तक नही हुआ है। "आधुनिक शरीरक्रियाविज्ञान तथा जीव-रसायन के नवीन मानको द्वारा आहार और भेषज दोनो का—क्योकि प्राच्य चिकित्सा मे आहार और भेषज मे कोई भेद नही किया गया है—इस प्रकार का मूल्याकन, केवल भेषज के सक्रिय रासायनिक तत्त्वो तथा उनके भैषज्य-चिकित्सीय व्यवहारिता (Pharmaco-therapeutic application) के अध्ययन द्वारा अब तक के प्राप्त हुए परिणामो की अपेक्षा, अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा। सामान्य शारीरिक प्रक्रियाओ के स्वस्थ सतुलन के सधारण में औषधि का उतना ही महत्त्व है (और प्राचीन चिकित्सा में यह पहलू अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था) जितना रोगनिवारण के लिए विजातीय द्रव्यो का शरीर मे प्रवेश कराके उनके द्वारा उग्र उपचार का।"[५] भविष्य में इन भेषजो पर शोधकार्य करनेवाले सम्भवत भेषजक्रिया की समस्या के इस पक्ष पर ध्यान देंगे।

भारतीय भेषजानुसधान का भविष्य :—

ऐसा सोचा जा सकता था कि सल्फोनामाइड, आर्सेनिकल और सश्लिष्ट मलेरिया-रोधी जैसी औषधियो के आविष्कार के बाद वानस्पतिक औषधियो में अनुसधान की अभिरुचि क्षीण हो जायगी, किन्तु, ठीक इसके विपरीत, जैसा स्पष्ट हे, इन आविष्कारो

५. इस अध्याय को लिखने मे हममें डा० बी० मुकर्जी द्वारा लिखित 'Indigenous Drugs Research Present and Future' से काफी सहायता ली है।

से इस क्षेत्र मे कार्य करने के लिए और अधिक उत्तेजना मिली है। सश्लिष्ट कार्बनिक औषधियो के क्षेत्र में विगत वर्षों में की गयी प्रगति से अभिरुचि धीरे धीरे उन प्राकृतिक पदार्थों की ओर बढी है जो औद्भिद और जन्तु द्रव्यो से प्राप्त होते है। ऐन्टीबॉयोटिक्स के आविष्कार के बाद से ही, जिनमें से कुछ को सश्लिष्ट किया जा चुका है, यह अभिरुचि इतनी बढी है। वस्तुत यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा है कि विगत कुछ वर्षों से देशीय भेषजो पर गवेषणा पाश्चात्य देशों में भी होने लगी है जहाँ अतिशय विकसित रसायन एव शरीरक्रिया सबन्धी ससाधन के साथ-साथ चिकित्सीय सक्रिय-तत्वो के सश्लेषण के लिए अत्यधिक साधन उपलब्ध है। यह अब अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि भले ही इस तरह के अनुसधानकार्य नये और शक्तिशाली औषधियो के आविष्कार में असफल हो जाय, किन्तु इनकी पृष्ठभूमि में रासायनिक विन्यास (Chemical Structure) और भेपजगुण-कर्म के सम्बन्ध मे जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे यौगिको के रचनात्मक सश्लेषण का मार्ग तो प्रशस्त हो ही सकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि वानस्पतिक औषधियो पर अनुसधान आज भी पर्याप्त सूचनाएँ दे रहा है और भविष्य में भी देता रहेगा, जो चिकित्सा-विज्ञान के लिये उपादेय है। हमें यह नही भूलना चाहिये कि चिकित्सा-विज्ञान में अनुभववाद (Empericism) से युक्तिवाद (Rationalism) की ओर जो क्रमिक परिवर्तन हुआ है वह नूतन, प्रभावशाली औषधियो के आविष्कार की रीतियो की अपेक्षा मुख्य रूप से औषधियो के गुणकर्म के मूल्याकन की रीतियों में द्रष्टव्य है। "आज भी प्रभावशाली औषधियो का आविष्कार अधिकाशत अनुभवजन्य है, जो आधारित है सदियो के परीक्षण और असफलता के सचित अनुभव पर, या कुशल अन्वेषको के आकस्मिक निरीक्षण पर, या सौभाग्य से अनेको सदृश यौगिको मे से किसी सक्रिय यौगिक के निकल आने पर।" वर्तमान भेषज-अनुसधान में इसके अनेको उदाहरण है। विश्लेपण और सश्लेषण की आधुनिक रीतियो द्वारा यौगिकों के क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार हुआ है, जिन पर परीक्षण किया जा सकता है, किन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रगति आधुनिक भेपजगुण-विज्ञान सम्बन्धी कार्य, जन्तुओ पर परीक्षण तथा रोगियों पर परीक्षण और साख्यिकीय (statistical) रीतियो से हुई है, जिससे उपयोगी और अनुपयोगी भेपजो को पृथक् करने की हमारी क्षमता बहुत अधिक बढ गयी है। प्रगतियाँ चिकित्सीय प्रभावो और भौतिक-रासायनिक रचना (Physico-chemical Structure) के पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने में की जा रही है, किन्तु वह समय अभी दूर प्रतीत होता है जब कि चिकित्सक की किसी विशिष्ट औषधि की माँग पर वैज्ञानिक एक व्यूहाणु की रचना कर सके जो उसकी आवश्यकता की पूर्ति करे अथवा एक ऐसी वनस्पति जाति को

लक्षित कर सके जिसमें ऐसा यौगिक सम्भवत. प्राप्त हो" उपलब्ध साधनो पर आधारित प्रभावशाली औषधियो को आविष्कृत करने की एकमात्र पद्धति अब भी हमारे पास केवल अन्वीक्षण तथा विभ्रम (trial and error) की ही है। "तथापि गवेषणात्मक कार्य का मुख्य उद्देश्य है प्रगति के पथ पर अग्रसर होते रहना, जिस पर सभी प्राकृतिक विज्ञानों को चलना है, यथा—अस्थायी उपकल्पना (हाइपोथेसिस) के सविन्यास (फार्म्यूलेशन) के लिए प्रत्यक्षत अनेक असम्बद्ध तथ्यो को सूत्रोबद्ध करना और अन्त मे प्राकृतिक नियमो के अन्वेषण के लिए व्यापक सिद्धान्त बनाना। सिञ[6] ने, हाल ही में, जीवो में प्राकृतिक अवस्था में स्थित कोशिका-सघटको (सेल्यूलर कान्स्टिट्युएन्ट्स) के कार्य पर अधिक मौलिक अनुसंधानो की आवश्यकता पर जोर देते हुए इस मार्ग के अनुसरण करने का महत्त्व बताया है। एक मात्र इसी साधन द्वारा हम वास्तविक रोगनिवारण के प्रत्युपाय पर पहुँचने की आशा कर सकते है।"

फेयरबेर्न[7] ने अपने हाल में प्रकाशित एक निबन्ध में लिखा है, "वनस्पति द्रव्यगुण-शास्त्र की उपेक्षा करना मूर्खता होगी क्योकि अनुसधान का सिद्धान्त आज भी अनुभव पर आधारित है।" भारतीय वनस्पति-द्रव्यगुणशास्त्र अध्ययन (अनुसधान) के लिए विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत करता है और इस क्षेत्र में अब तक जो कुछ किया गया है उसके बारे में यही कहा जा सकता है कि वह इस बृहद् और जटिल समस्या के द्वार पर ही पहुँच पाया है। "प्राचीन शास्त्र के सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए आधुनिक विज्ञान एव उसके रीति-सिद्धान्त का प्रयोग बडे धैर्य और उदार विचार से करना चाहिये और उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है प्राच्य औषधि के मधुर फलो से अनावश्यक पत्र-समूह को पृथक् करना।"

औषधीय और विषैले पौधो पर किये गये कार्य की उपरोक्त सक्षिप्त समीक्षा, इस दिशा मे समुपस्थित कठिनाइयाँ और उन पर अशत विजय, उनके उपादेय और वैज्ञानिक पक्षो के सम्बन्ध मे दिये गये विवरण, नि सदेह, इस विषय के प्रति अभिरुचि जगायेंगे, जो देश के लिए, विशेषकर वर्तमान समय में, पर्याप्त आर्थिक महत्त्व की होगी। उक्त प्रकार के कार्य में वनस्पति-शास्त्रियो, रसायनज्ञो, भेषजगुणविज्ञो और कृषको के बीच सहयोग स्थापित होने से अनेक लाभ संभाव्य है, जो भारत-जैसे विशाल देश के लिए, जहाँ सभी प्रकार की ऋतु एव जलवायु सम्बन्धी उपलब्धियो एव स्थलाकृतिक विशेषताओ के फलस्वरूप विविध वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होती है, न केवल वैज्ञानिक एव शैक्षणिक अभिरुचि की ही, अपितु आर्थिक दृष्टिकोण से भी, बहुत बडे व्यावहारिक महत्त्व की सिद्ध होगी।

---

(6) Synge, 1952 *'Frankland Memorial Lecture'*, Royal Inst, Chem;
(7) Fairbairn, J W, 1953, *Jour. Pharm Pharmacol*, 5,281

भाग २

भारत में भेषजों के संभाव्य संसाधन

भेषजकोशीय तथा सम्बद्ध भेषज

भारत में भेषज के अत्यन्त विशाल एव अक्षय ससाधन है और यह बिना अत्युक्ति के कहा जा सकता है कि भारतवर्ष समस्त सभ्य ससार को औषधीय वनस्पतियो की आपूर्ति कर सकता है। देशीय चिकित्सापद्धति में व्यवहृत होने वाले भेषजो को जिनमें से बहुतो के चिकित्सीय महत्त्व की वैज्ञानिक ढग से छानबीन कर ली गयी है, अगर यहाँ छोड भी दें तो विभिन्न देशो के भेषजकोशों में दिये गये भेषज भी, जिनका चिकित्सीय महत्त्व सुस्थापित हो चुका है, यहाँ देश के कई भागो में वन्य दशा मे प्रचुर मात्रा में पैदा होते हैं। जो भेषज देशीय नही है वे भी यहाँ कई प्रदेशो मे उगाये जा सकते हैं।

भारत मे पैदा होने वाले ब्रिटिश एव भारतीय औषधकोशीय भेषज

ऐब्रोमा ऑगस्टा (आई० पी०*)	ऐब्रोमा छाल
अकैशिया अरैबिका (आई० पी०)	भारतीय बबूल
अकैशिया कैटेचू (आई० पी०)	कृष्ण कत्था
ऐकेलाइफा इण्डिका (आई० पी०)	भारतीय ऐकेलाइफा
ऐकोनिटम चैस्मैन्थम (आई० पी०)	ऐकोनाइट
अधाटोडा वैसिका (आई० पी०)	वासक
एगूलि मारमेलॉस (आई० पी०)	बेल, बेलफल
ऐलियम सटाइम (आई० पी०)	लहसुन
ऐलो वार्बडेन्सिस (बी० पी०**तथा आई०पी०)	ऐलो
आल्पिनिया ऑफिसिनैरम (आई० पी०)	आल्पिनिया, गैलेंगल (कुलजन)
आल्स्टोनिया स्कोलैरिस (आई० पी०)	आल्स्टोनिया छाल, दीता छाल
ऐन्ड्रोग्रैफिस पैनिकुलेटा (आई० पी०)	कालमेघ

*आई० पी०—इन्डियन फार्माकोपिया (भारतीय औषधकोश या भेषजकोश)

**बी० पी०—ब्रिटिश फार्माकोपिया (ब्रिटिश औषधकोश या भेषजकोश)

ऐनियम ग्रैविओलेन्स (बी० पी० तथा आई० पी०)	डिल
ऐनिथम सोवा (बी० पी० तथा आई० पी०)	सोवा
ऐराकिस हाइपोजिया (बी० पी० तथा आई० पी०)	मूँगफली
ऐरिका कैंटेचु (आई० पी०)	सुपारी
ऐरिस्टोलोकिया इण्डिका (आई० पी०)	ऐरिस्टोलोकिया
आर्टिमिशिया मैरीटिमा (आई० पी०)	सैन्टोनिन, आर्टिमिशिया सैन्टोनिका
ऐस्ट्रैगेलस स्ट्रोबिलिफेरस (आई० पी०)	ट्रैगाकैन्थ
ऐट्रोपा ऐक्युमिनेटा (बी० पी० तथा आई० पी०)	भारतीय बेलाडोना
ऐट्रोपा बेलाडोना (बी० पी० तथा आई० पी०)	बेलाडोना
बैकोपा मोनिएरा (आई० पी०) (हर्पेस्टिस मोनिएरा)	हर्पेस्टिस
बर्बेरिस अरिस्टाटा (आई० पी०)	बर्बेरिस का मूल
बोर्हाविया रिपेन्स (आई० पी०)	पुनर्नवा
ब्रैसिका इण्टेग्रिफोलिया (आई० पी०)	सिनैपिस
ब्रैसिका जन्सिया (आई० पी०)	लाल सरसो
ब्यूटिया मोनोस्पर्मा (आई० पी०) (ब्यूटिया फ्रॉण्डोसा)	पलास के बीज
कैलॉट्रॉपिस प्रोसिरा (आई० पी०) (कैलॉट्रॉपिस जाइगैण्टिया)	मदार, अर्क
कमेलिया साइनेन्सिस (बी० पी० तथा आई० पी०)	चाय का पौधा
कैनेबिस सटाइवा (आई० पी०)	गाजा
कैप्सिकम फ्रुटेसेन्स (आई० पी०) (कैप्सिकम ऐनुअम)	लाल मिर्च
कैरिका पपाया (बी० पी० तथा आई० पी०)	पपीता
कैरम कार्वी (बी० पी० तथा आई० पी०)	स्याह जीरा
कैसिया अगुस्टिफोलिया (बी० पी० तथा आई० पी०)	सनाय
कैसिया फिस्चुला (बी० पी० तथा आई० पी०)	इमलतास
सिण्टेला एशियाटिका (आई० पी०) (हाइड्रोकोटिल एशियाटिका)	हाइड्रोकोटिल

सिफैलिस इपेकाकुआन्हा (बी० पी० तथा आई० पी०)	इपेकाक
कीनोपोडियम ऐल्ब्रम (आई० पी०)	नर्मगीड
कीनोपोडियम अम्ब्रोसिऑयोडिस उपजाति ऐन्थेलमेन्टिकम (बी० पी० तथा आई० पी०)	अमेरिकी वर्मसीड
क्राइसैन्थिमम सिनरैरिफोलियम (बी० पी० तथा आई० पी०)	पाइरिथ्रम
सिनकोना लेजिरियाना, सिनकोना सक्सिरुब्रा तथा अन्य जातियाँ और संकर (बी०पी० तथा आई० पी०) .	सिनकोना
सिनामोमम कैम्फोरा (बी० पी० तथा आई० पी०) .	कपूर
सिनामोमम जोलैनिकम (बी० पी० तथा आई० पी०	दालचीनी
सिसम्पिलास पैरीरा (आई० पी०)	सिसम्पिलास
सिट्रुलस कोलोसिन्थिस (बी० पी० तथा आई० पी०)	कोलोसिन्थ
सिट्रस आरैन्शियम (बी० पी० तथा आई० पी०) .	बिटर ऑरेन्ज पील (कड़वे सन्तरे का छिलका)
सिट्रस मेडिका उपजाति लिमन (आई० पी०)	कागजी नीबू का छिलका
क्लैविसेप्स पर्पुरिया (बी० पी० तथा आई० पी०)	एर्गट
कॉकॉस न्यूसिफिरा, कॉकास न्युटिरैसी	नारियल
काफिया अरैबिका (आई० पी०)	काफी का पौधा
कॉल्चिकम् ल्यूटियम (आई० पी०)	काल्चिकम घनकन्द तथा बीज
कौरिऐन्ड्रम सटाइवम (बी० पी० तथा आई० पी०)	धनिया
क्रॉकस सटाइवा (आई० पी०)	केशर
क्युमिनम साइमिनम (आई० पी०)	जीरा
कुर्कुमा लौन्गा (आई० पी०)	हल्दी
सिम्बोपोगॉन फ्लेक्सुओसस (आई० पी०) (सिम्बोपोगॉन साइट्रेटस)	लेमनघास
डाटूरा फैस्चुओसा (आई० पी०)	धतूरा
डाटूरा मेटेल (आई० पी०)	धतूरा
डाटूरा स्ट्रमोनियम (बी० पी० तथा आई० पी०)	धतूरा
डेरिस फेरुजिनिया (आई० पी०)	डेरिस, ट्यूबा का मूल

डिजिटैलिस लैनेटा (आई० पी०)	डिजॉक्सिन
डिजिटैलिस परप्यूरिया (बी० पी० तथा आई० पी०)	डिजिटैलिस पत्ती
ड्राइप्टेरिस फिलिक्समस (बी० पी० तथा आई० पी०)	मेल फर्न, ऐस्पिडियम
इलेट्टैरिया कार्डेमोमम (बी० पी० तथा आई० पी०)	कार्डमम फ्रूट (छोटी इलायची)
एफेड्रा जिराडिआना, एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस (आई० पी०)	एफेड्रा
एरिथ्रॉक्सिलम कोका (बी० पी० तथा आई० पी०	कोकेन
यूकेलिप्टस ग्लोबुलस (बी० पी० तथा आई० पी०)	यूकैलिप्टस
यूजीनिया कैरिओफिलस(बी० पी० तथा आई० पी०)	लौंग
यूपैटोरियम अयापाना (आई० पी०)	आयापान
फेरुला नार्थेक्स (आई० पी०) (फेरुला फोटिडा)	हींग
फोनीकुलम वल्गैरी (बी० पी० तथा आई० पी०)	सौंफ
गॉलथीरिआ फ्रैग्रैन्टिस्सिमा (आई० पी०) ...	विंटरग्रीन
ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा (बी० पी० तथा आई० पी०)	लिकोरिस (मुलेठी)
हेमिडेस्मस इन्डिकस (आई० पी०)	भारतीय सार्सापारिला
होलैंहिना ऐण्टिडिसेण्टेरिका (बी०पी० तथा आई०पी०)	कुर्ची का छाल
हिड्नोकार्पस कुर्ज़ाइ (आई० पी०)	चालमुग्रा
हिड्नोकार्पस वाइटियाना (आई० पी०)	"
हाइओसायमस म्यूटिक्स (बी० पी० तथा आई० पी०)	हाइओसायमस
हाइओसायमस नाइजर (बी० पी० तथा आई० पी०). .	हाइओसायमस पत्ती
आईपोमिया हेडेरेसिया (आई० पी०) .	कालादाना
आईपोमिया टर्पेथम (आई० पी०)	टर्पेथ (निशोथ)
जुनिपेरस मैक्रोपोडा (आई० पी०) .	जूनीपर
लाइनम यूसिटैटिस्सिमम (बी० पी० तथा आई० पी०) .	अलसी (तीसी)
लोबेलिया निकोटिआनिफोलिया (आई० पी०) ..	लोबेलिया
मीलिया अज़ाडिरैक्टा (आई० पी०) .	नीम
मेन्था आर्वेन्सिस (आई० पी०) . .	पिपरमेण्ट
मेन्था पिपेरिटा (आई० पी०) . .	"
मोरिन्गा ओलेइफेरा (मोरिन्गा टेरिगोस्पर्मा)	मोरिन्गा (सहजन)
मिरिस्टिका फ्रैग्रेन्स (बी० पी० तथा आई० पी०) ..	जायफल

पैपावर सॉम्निफेरम (बी० पी० तथा आई० पी०) ...	अफीम
पिक्रोइना क्वैसिअॅइडिस (आई० पी०) ...	क्वैशिया
पिक्रोराइजा कुर्रुआ (आई० पी०)	पिक्रोराइजा (कुटकी)
पिम्पिनेला ऐनिसम (बी० पी० तथा आई० पी०)	अनीसी
पाइनस एक्सेल्सा (आई० पी०) .	कोलोफोनी (राल)
पाइनस खास्या (आई० पी०) ..	कोलोफोनी (राल)
पाइनस लॉन्गिफोलिया (आई० पी०)	"
पाइपर बीटल (आई० पी०) .	पान
पाइपर क्युबेबा (आई० पी०) .	शीतल चीनी
प्लैण्टैगो ओवेटा (आई० पी०) .	इसफगोल
पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम (बी० पी० तथा आई० पी०) ... (पोडोफिलम इमोडी)	भारतीय पोडोफिलम
पॉलीगैला चाइनेन्सिस (आई० पी०) .	भारतीय सेनेगा
प्रूनस अमिग्डालस (बी० पी०) ...	बादाम का तैल
सोरैलिया कोरिलिफोलिया (आई० पी०) ..	बबची
टिरोकार्पस मार्सूपियम (आई० पी०)	किनो
राउल्फिया सर्पेन्टाइना (आई० पी०) ..	राउल्फिया (सर्पगन्धा)
रीअम इमोडी, रीअम वेबिऐनम (आई० पी०) ..	रूबर्ब (रेवन्दचीनी)
रिसिनस कॉम्यूनिस (बी० पी० तथा आई० पी०) .	रेंडी का तैल
रोजा डैमेस्सिना (बी० पी०) ...	गुलाब
रोजमैरिनस ऑफिसिनैलिस (बी० पी०) ..	रोजमेरी
सैण्टेलम ऐल्बम (बी० पी०) .	चन्दन काष्ठ
सराका इण्डिका (आई० पी०)	अशोक छाल
सॉसुरिया लैप्पा (आई० पी०) ...	सासुरिया (कड़ुआ कूट)
सिसैमम इण्डिकम (बी० पी० तथा आई० पी०) ..	तिल तैल
स्ट्रोफैन्थस कोम्बे (बी० पी०) ..	स्ट्रोफैन्थस
स्ट्रिक्नॉस नक्स-वोमिका (बी० पी० तथा आई० पी०) ...	कुचला
स्वर्शिया चिराता (आई० पी०) ..	चिरायता
टर्मिनैलिया चेबुला (आई० पी०) ...	हर्र (हरीतकी)
थाइमस वलगैरिस (बी० पी० तथा आई० पी०) .	थाइम
टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (आई० पी०) .	टिनोस्पोरा (गुडुच)

ट्रैकिस्पर्मम अम्मी (बी० पी० तथा आई० पी०) (कैरम कॉप्टिकम)	अजवायन
टाइलोफोरा आज्मैटिका (आई० पी०)	अन्तमूल
अर्जिनिया इण्डिका (आई० पी०)	भारतीय स्क्विल (जंगली प्याज़)
वलेरियाना वालिचाइ तथा अन्य जातियाँ (आई० पी०)	वलेरियन (तगर)
वर्नोनिया ऐन्थेल्मिण्टिका (आई० पी०)	वर्नोनिया (काली जीरी)
वाइटेक्स पेडन्कुलैरिस (आई० पी०)	वाइटेक्स पत्ती (काकजंघा)
वियानिया सॉम्निफेरा (आई० पी०)	अश्वगन्धा
जिन्जिबर ऑफिसिनेल (बी० पी० तथा आई० पी०)	अदरक (जिंजर)

अब हम इनमें से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेषजों के विषय में कुछ विस्तृत अध्ययन करेंगे।

ऐकोनिटम (रैननकुलेसी)

ACONITUM (Ranunculacae)

नाम—सं० – विष; हि० – वच्छनाग, बं० – विष, बम्ब० – वच्छनाव, त० – वशनावि ।

ऐकोनाइट वनस्पतियों के उस वर्ग के अन्तर्गत है जो रैननकुलेसी कुल का है। ऐकोनिटम यूनानी शब्द "एकोनिटॉन" (Aconiton) से व्युत्पन्न है जो सम्भवत "अकवान" शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है "भाला"; इसका प्रयोग भाला को विषाक्त करने के लिए किया जाता था*। इसकी जड़ का चूर्ण और पानी मिलाकर उसका लेप तैयार करके उसे तीरों की नोक पर पोत दिया जाता था।

ऐकोनाइट (वत्सनाभ आदि) एक अत्यन्त प्राचीन औषधि है जिसका प्रयोग भारत के हिन्दू और मुसलमान चिकित्सक बराबर करते आये हैं। यह एक साधारण भेषज है जो किसी भी भेषज-विक्रेता से प्राप्त हो सकता है। इसका एक किस्म फेरॉक्स (ferox) है जिसका बाह्य प्रयोग के लिए बहुत उपयोग किया जाता है। इसकी जड़ का लेप बनाकर लगाने से तन्त्रिकार्ति (neuralgia) एवं अन्य कष्टदायक पीड़ाओं का

* गैथरकोल और वर्थ के मतानुसार, ऐकोनिटम यूनानी से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ होता है, 'बिना मिट्टी के' (without soil) । यह नामकरण इस पादप के चट्टानी स्थानों में उगने के कारण दिया गया है (देखें 'Pharmacognosy' by E. N Galhercoal and E H Wirth, Lea and Febiger, Philadelphia, 1947) —अनु०

शमन होता है। ज्वर और आमवात (rheumatism) के उपचार में प्राय अन्य औपधियो के साथ इसका आन्तरिक प्रयोग किया जाता है। खाँसी, दमा और सर्पदंश में भी इसका उपयोग होता है। हिन्दू चिकित्सक अवशमन के बाद वत्सनाभ के कुछ किस्मो का प्रयोग, हृदयोद्दीपक एव ज्वरशामक के रूप मे करते है। अवशमन की प्रक्रिया मे मूल को गोमूत्र मे साधारण तापमान में ३ दिनो तक भिगोये रखा जाता है, अथवा ४८ घटे तक इसे गोमूत्र मे उबाला जाता है। ऐसा दावा किया जाता है कि ऐसा करने से मूल का विषैला प्रभाव जाता रहता है, पर इसके लाभकारी औषधीय गुण बने रह जाते है। बाजार में मिलने वाले वत्सनाभ का, जिसको वैद्य लोग व्यवहार मे लाते है, अवशमन भिन्न-भिन्न विधियों से किया जाता है जिनका विवरण देशीय चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थो में दिया गया है। अवशमित की गई वत्सनाभ के मूलो के जैव- अध्ययन से यह प्रकट हुआ है कि मूलो का विषैला प्रभाव नष्ट हो गया है किन्तु उस हद तक नही जहाँ तक वैद्य लोग दावा करते है। भारत की कई (उच्च) स्तर वाली फार्मेसियो द्वारा अवशमित की गई वत्सनाभ की जडो के नमूनो का अध्ययन किया गया और सभी बहुत विषैले पाये गये, जिससे यह प्रकट होता है कि शायद पूर्ण अवशमन नही हुआ। सर्वश्री म्हास्कर और कायस (Mhaskar & Caius) का यह कहना है कि अवशमन से मूलो का न केवल हृदयावसादक प्रभाव जाता रहता है, बल्कि हृदय पर उद्दीपक प्रभाव पडता है। गोमूत्र में भिगोने की अपेक्षा गोदुग्ध में भिगोने से यह और अच्छा परिणाम देता है।

हिन्दू चिकित्सा मे ऐकोनाइट का प्राचीनतम निर्देश अतिविषा (एकोनिटम हेटरोफिलम) के बारे में किया गया है जिसका उल्लेख चक्रदत्त (१०५० ई०) और सारङ्गधर (१३६३ ई०) जैसे लेखको द्वारा लिखे गये औषध-निघण्टुओ में किया गया है। इन लेखको ने ज्वर, अतिसार, अग्निमाद्य और खाँसी में औषधि के रूप में तथा वाजीकर (aphrodisiac) के रूप मे इसको प्रयोग मे लाने की सलाह दी है। अरबी एव फारसी ग्रन्थो में इसके उपयोग का बडा सक्षिप्त निर्देश मिलता है और वह भी सम्भवत इन्ही हिन्दू ग्रन्थो से लिया गया है। दूसरी किस्म है एकोनिटम पामेटम की (विरुम), जो कुनैन की तरह बडा तिक्त है। पीपर के साथ मिलाकर आन्त्र-शूल, अतिसार और वमन मे औषधि के रूप में इसका आन्तरिक उपयोग किया जाता था। आमवात में इसका बाह्य उपयोग लेप के रूप में किया जाता था।

भारतीय एव यूरोपीय ऐकोनाइट की किस्मो पर वानस्पतिक, रासायनिक और शरीरक्रियात्मक श्रमपूर्ण अनुसधान हो चुके हैं। ऐल्डर राइट, कैश, डनुस्टन और स्टाफ ने इस पर काफी अन्वेषण किया है। भिन्न-भिन्न अनुसंधानकर्ताओं ने पादपो के

वर्गीकरण के लिए, उनके विषालु या अविषालु, एकवर्षी, द्विवर्षी, बहुवर्षी होने के अनुसार, अथवा उनके मूलो के सेक्शन काट कर उनकी भीतरी बनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न तरीके अपनाये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक पुराने नाम बदलकर नये कर दिये गये है, जिससे बड़ा विभ्रम पैदा हो गया है। भारत में भेषजज्ञ को अपने प्रयोग के लिए जब किसी भेषज का नमूना चुनना होता है तो उसे उसकी पहचान और जानकारी पाने के लिए इस विषय का समस्त प्राचीन साहित्य पढना पडता है जिनमे से अधिकाश पुनर्प्रकाशन के अभाव में अप्राप्य है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐकोनाइट के ऐल्केलॉयडो की रासायनिक रचना में परिवर्तन शीघ्र आरम्भ हो जाता है। इस दिशा में आयु, तापमान, आर्द्रता और उसको सुरक्षित रखने के ढग आदि का वडा असर पडता है, यहाँ तक कि कभी-कभी तो पुराने नमूनों में सक्रिय तत्त्वो का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अतएव ऐसे मूलो का जिनकी आयु के बारे मे सन्देह हो, प्रयोग नही किया जाना चाहिये।

अभी हाल तक भारतीय ऐकोनाइट का उपयोग, अपने देश में केवल बाह्य लेप तैयार करने के लिए किया जाता था। ऐकोनिटम चैस्मैन्थम (*Aconitum chasmanthum* Stapf ex Holmes) को अब ऐकोनिटम नैपेलस लिन. का स्थानापन्न भारतीय भेषज मान लिया गया है। ऐकोनिटम नैपेलस (*A napellus* Linn.) जो ब्रिटिश औषधकोश का मान्य भेषज है, भारत में नही पाया जाता। आर्थिक एव भेषजगुण की दृष्टि से यह भारतीय स्थानापन्न भेषज अधिक सक्रिय और सशक्त है। इस भेषज का जैविक मानकीकरण गिनी पिग पर किया जाता है। इसकी शक्ति का आमापन इसके ० १ ग्राम का सत्व निकाल कर उसी प्रकार किया जाता है जैसे ब्रिटिश टिंक्चर ऐकोनाइट के लिए दिया गया है, अर्थात् ० १ ग्राम के सत्व की वही शक्ति होनी चाहिये जो ०·१५ मि० ग्रा० ऐकोनिटीन की होती है। इस ग्रन्थ के लेखक और उसके सहकारियो ने भारत में पैदा होने वाले ऐकोनाइट की विभिन्न किस्मो का खूब सावधानी से अध्ययन किया है और उनकी सक्रियता के सम्बन्ध में जो विभ्रम था उसे दूर कर दिया है। भारतीय बाजार में मिलने वाले ऐकोनाइट की वर्तमान स्थिति को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि समय-समय पर इसके जो वर्गीकरण किये गये हैं, उनका अध्ययन किया जाय।

भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइट प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार

ऐकोनाइट की कुल मिलाकर १८० जातियाँ उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध में उत्पन्न होती हैं, परन्तु इनमें से ५० यूरोपीय और २४ भारतीय जातियों को मान्यता

दा गयी है, इनमें से बहुतो में सक्रिय ऐल्केलॉयड होते है। इस वश के जो पादप भारत में उत्पन्न होते है वे हिमालय के सिर्फ पर्वतीय और उपपर्वतीय क्षेत्रो तक सीमित हैं जो नेपाल से कश्मीर तक फैले हुए है। श्री वाट के अनुसार, वनस्पतिज्ञो द्वारा मान्यता प्राप्त ऐकोनाइट की ६ जातियाँ भारत मे उत्पन्न होती है। इनमें से दो जातियो की दो या तीन किस्में है।

(१) ऐकोनिटम हेटरोफिलम

नाम—स०—अतिविषा, हि०—अतीस, ब०—अताइचा, त०—अतिवदयम और फा०—वज्जेतुरकी। पहाडियो को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि यह निष्क्रिय होता है और इसे वे शाक की तरह खाते हैं। इसकी उत्पत्ति हिमालय पर समुद्र के धरातल से ६,००० से १५,००० फुट तक की ऊँचाई पर होती है। इसके मूल का प्रयोग देशी चिकित्सा मे, मृदु एव तिक्त बल्य के रूप मे होता है और यह बाजार में 'अतिस' या 'अतीस' के नाम से बिकता है।

(२) ऐकोनिटम नैपेलस

नाम—स०—विष, हिं०—मीठा जहर, ब०—कटविश। इसकी अनेक किस्में हिमालय पर, समुद्र के धरातल से १०,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई पर शीतोष्ण प्रदेश में प्रचुरता से पैदा होती है। इसकी चार किस्में साधारणत जानी जाती है—नैपेलस शुद्ध, ऐकोनिटम रिजिडम, ऐकोनिटम मल्टीफिडम और ऐकोनिटम रोटन्डिफोलियम। इसकी कुछ किस्में विषैली और कुछ बिना विष की होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समूचा ऐकोनिटम नैपेलस, जो भारतीय बाजारों मे बिकता है, भारत की उपज नही है। यूरोप से भी ये मूल काफी मात्रा में व्यापार के लिए आयात किये जाते है।

(३) ऐकोनिटम फेरॉक्स

नाम—सं०—विष, हिं०—विष, ब०—कटबिश, त०—वशनावि, गु०—वच्छनाग, फा०—बिषनाग, अ०—विश। इस देश में इस भेषज का अधिकाश भाग जो उपयोग में आता है वह ऐकोनिटम फेरॉक्स से निकला हुआ कहा जाता है, फिर भी इसके बारे में ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नही है। सर्वसाधारण का यह विश्वास था कि इसकी उत्पत्ति भारत में प्रचुर मात्रा में होती है, मुख्यत हिमालय के अर्धपर्वतीय शीतोष्ण प्रदेश में जो कुमायूँ के पूर्व में समुद्रीय धरातल से १०,००० से १४,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। ऐकोनिटम नैपेलस से इसका भेद इस बात से किया गया कि इसके पत्ते जरा कम खडित होते है। असीमाक्ष (रैसीम) पुष्पविन्यास अधिक घने होते है और

पुष्प के शिरोभाग के टोप की चोच कुछ छोटी होती ह। ऐकोनिटम फेरॉक्स नि ससदेह विषैला समझा जाता था। साधारणत यह "भारतीय वत्सनाभ" के नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि अधिकाश मूल जो भारत के बाजार में बेचे जाते थे इसी जाति के माने जाते थे, यद्यपि दूसरी जातियों की जडे भी इनमें नि सदेह मिली रहती थी।

(४) उत्तरी भारत से जो श्वेत स्पजी मूल निर्यात किये जाते हैं वे "लाहौर वच्छनाभ" या "मीठा जहर" के नाम से प्रचलित हैं। इन मूलो मे वह विचित्र गन्ध नही रहती जो ऐकोनिटम फेरॉक्स में पायी जाती है और कदाचित् यह ऐकोनिटम लाइकोक्टॉनम से प्राप्त किया जाता है, जो कुमायूँ से कश्मीर तक (पश्चिमी हिमालय) के प्रदेश में समुद्रीय धरातल से ७,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई पर प्रचुर मात्रा में पैदा होता है।

(५) ऐकोनिटम ल्युरिडम —अधिकतर सिक्किम मे पाया जाता है और अन्य किस्मो के साथ मिलाकर बाजार में बेचा जाता है।

(६) ऐकोनिटम पामेटम :—हिमालय के पूर्वी शीतोष्ण प्रदेश में, गढवाल से मनीपुर तक पैदा होता है, पर ऐकोनाइट की यह जाति भी विषैली नही है और यह अन्य सक्रिय किस्मो के साथ मिलाकर बेचा जाता है।

यूरोपीय वाणिज्य में भारतीय ऐकोनाइट के सभी किस्मों का वर्गीकरण ऐकोनिटम फेरॉक्स के अन्तर्गत किया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि असली ऐकोनिटम फेरॉक्स वह ऐकोनाइट नही है जो बहुतायत के साथ इस देश में मिलता है और वह सहज प्राप्य नही है। तात्पर्य यह है कि यहाँ के भेषज विक्रेता जो तथाकथित ऐकोनिटम फेरॉक्स बेचते हैं वह सब ऐकोनिटम फेरॉक्स, ऐकोनिटम लाइकोक्टॉनम, ऐकोनिटम नैपेलस, और ऐकोनिटम पामेटम का मनमाना मिश्रण है जिसमें ऐकोनिकटम पामेटम की अधिकता है। इस तरह की मिलावट वर्षों से चली आ रही है जैसा कि डाक्टर ई० आर० स्क्विल ने 'ईयर बुक आफ फारमेसी' १८७३ में लिखा है। वे लिखते हैं कि यद्यपि ऐसे भेषज स्पष्टत बहुत कम है जो ऐकोनाइट की अपेक्षा सस्ते दर से और सुलभता के साथ प्राप्त किये जा सकते है तथापि अनिश्चितता की मात्रा ऐकोनाइट के सम्बन्ध मे जितनी अधिक रहती है, दूसरो के सम्बन्ध में उतना कदाचित ही रहती हो। चिकित्सा की दृष्टि से इस भेपज के अनेक पार्सल तुलनात्मक रूप से बेकार पाये गये, किन्तु स्थिति अब पहले से बहुत सुधर गयी है और अनेक महत्त्वपूर्ण सक्रिय ऐकोनाइट की किस्में बाजार मे अब प्राप्य है फिर भी बहुत कठिनाई के साथ, क्योंकि सस्ती और रद्दी किस्मो को असल के साथ मिलाकर बेचने की मनोवृत्ति अभी भी गयी नही है।

भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइट नवीन वर्गीकरण के अनुसार :—

भारतीय ऐकोनाइट, जहाँ तक उनके वर्गीकरण का सम्बन्ध है, बहुत दिनो तक विभ्रम की स्थिति मे बने रहे। गोरिस (१९०१ ई०) ने कतिपय द्विवर्षी ऐकोनाइट के मूलो पर अनुसधान-कार्य किया और अनुप्रस्थ काटो (Transverse Section) का अध्ययन करके उनके प्रभेदक लक्षणो का पता लगाया। इससे पहले के अनुसधान-कर्ताओ मे इरमिश (१८५४ ई०) तथा मेयर (१८८१ ई०) का नामोल्लेख किया जा सकता है, किन्तु यह स्थिति १९०५ मे बदली, जब स्टाफ ने मूलो के अनुप्रस्थ काट की वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर इस विभ्रम को दूर किया और भारतीय ऐकोनाइट का वर्गीकरण किया। उन्होने भारतीय ऐकोनाइट को तीन प्ररूपो (types) में बाँटा। उनका वर्गीकरण, जो मूलसंरचना के आधार पर किया गया था और जिसे वनस्पतिज्ञो ने स्वीकार किया है, नीचे दिया जाता है।

नैपेलस प्ररूप		ऐन्थोरा प्ररूप		डीनोराइजम प्ररूप	
ऐकोनिटम	सूर्न्गैरिकम	ऐकोनिटम	रोटन्डिफोलियम	ऐकोनिटम	डीनोराइजेम
ऐ०	चैस्मैन्थम	ऐ०	हेटरोफिलम	ऐ०	वालफुराई
ऐ०	वायोलेसियम	ऐ०	नैविकुलेरी		
ऐ०	फाल्कोनेरी	ऐ०	पामेटम		
ऐ०	स्पिकैटम	ऐ०	हुकराई		
ऐ०	लैसिनिएटम				
ऐ०	हेटरोफिलोयडिस				
ऐ०	ल्यूकैन्थम				
ऐ०	डिसेक्टम				
ऐ०	जैडुआर				

औषधियो मे सामान्यतया व्यवहृत होनेवाले भारतीय ऐकोनाइट उनका वितरण, उनके सक्रिय तत्त्व और उपयोग

ऐकोनिटम वालफुराई (*A. balfourii* Stapf.) नाम—दरमिया—गोब्रिया, ने०—गोवरी। यह हिमालय के पर्वतीय एव अर्धपर्वतीय क्षेत्रो मे गढवाल से नेपाल तक समुद्र के धरातल से १२,००० से लेकर १४,००० फुट तक की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जडे ऐकोनिटम डिनोराइजम की जडो से मिलती जुलती

है किन्तु उससे कुछ छोटी और मोटी होती है और उसके साथ छोटी छोटी जडे सलग्न रहती हैं। इनका स्वाद कडवा होता है और खाने पर मुँह मे झुनझुनी सी पैदा होती है। यह एक विषालु जाति का पादप है और वाणिज्य में काम आनेवाले ऐकोनिटम फेरॉक्स का सामान्य घटक है। डन्स्टेन तथा ऐण्ड्रूज (१९०६ ई०) ने यह दिखलाया कि इसके दुहित्र कन्दो मे १ २ प्रतिशत ऐल्केलॉयड स्यूडे-कोनिटीन रहता है जो मातृ कन्दो में पायी जानेवाली मात्रा से दुगुना है। अभी हाल में यह पता लगा है कि इसके मूल में कुल ऐल्केलॉयड १ २ प्रतिशत होते हैं, जिसमे सूडोऐकोनिटीन की मात्रा ० ४ प्रतिशत होती है (हेवी तथा शार्प)। सूडोऐकोनिटीन बडा ही विषालु होता है और जैविकी दृष्टि से ऐकोनिटीन की तुलना मे १'५ गुना अधिक सक्रिय होता है।

ऐकोनिटम चैस्मैन्थम (*A chasmanthum* Stapf.)—भारतीय नैपेलस-नाम—कश्मी०—वनबालनाग, मोहरी। यह पौधा पश्चिमी हिमालय में ७००० से १२००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। यह आमतौर पर सारे कश्मीर मे बहुत ऊँचे ऊँचे स्थानो मे पाया जाता है। ऐकोनिटम चैसमैन्थम के मूल देखने में ऐकोनिटम नैपेलस के मूलो के सदृश होते है और कभी भूल से इसके मूल को नैपेलस का मूल समझा जाता था। ऐकोनिटम चैस्मैन्थम के कन्द अपेक्षाकृत कुछ छोटे और मोटे होते हैं। मातृकद पर बहुत झुर्रियाँ होती हैं और उन पर नालियाँ सी खिची रहती है। इसका बाह्य भाग काला और भीतरी भूरा होता है। तोडने पर विभग उपास्थिसम (cartilaginous), कैम्बियम का भीतरी भाग सफेद और कडा होता है तथा बाह्य भाग भूरा रहता है। उनमे कुल ऐल्केलॉयड ४ ३ प्रतिशत होता है अर्थात ऐकोनिटम नैपेलस की अपेक्षा १० गुना अधिक। कन्द का प्रमुख ऐल्केलॉयड इण्डे-कोनिटीन होता है और इसकी शरीरक्रियात्मक सक्रियता ऐकोनिटीन की अपेक्षा १ ७ गुना अधिक होती है।

ऐकोनिटम डीनोराईज़म (*A deinorrhizum* Stapf) नाम—बशहर-मोहरा; कश्मी० एव पं०—दुधिया विष, सफेद विष।

यह पौधा मध्यवर्ती हिमालय मे सर्वत्र, कनावर से नेपाल तक पाया जाता है तथा ऊपरी बशहर में और हिमाचल प्रदेश में आमतौर से पाया जाता है। दुहित्र मूलो का बहिस्तल गहरा, भूरा और रूखा-झुर्रीदार होता है, मातृ कन्द भी ऐसे ही होते हैं किन्तु उसकी जडो के तंतु लम्बे होते हैं। यह भेषज बडा ही कठोर और शृंगवत् (horny) होता है और इसका स्टार्च सूखने के समय जिलेटिनी हो जाता

है। ऐकोनिटम बालफुराई वाणिज्यिक ऐकोनिटम फेरॉक्स का मुख्य घटक है (देखिये ऐकोनिटम बालफुराई)। यही प्रमुख भारतीय ऐकोनाइट है जिसका आजकल इग्लैण्ड को निर्यात होता है। इसकी जडो में कुल ऐल्केलॉयड ०.९ प्रतिशत होता है जिसमे से ०.४ प्रतिशत स्यूडैकोनिटीन होता है।

एकोनिटम फेरॉक्स (*A ferox* Wall.) यह एक दुर्लभ विषालु जाति का पादप है जो नेपाल और कश्मीर स्थित उत्तरी हिमालय में पाया जाता है। वस्तुत यह तथाकथित वाणिज्यिक ऐकोनिटम फेरॉक्स, जिसे भारतीय ऐकोनाइट या विष भी कहते हैं, मुख्यत ऐकोनिटम डिनोराइजम, ऐकोनिटम बालफुराई, ऐकोनिटम-स्पिकैटम और ऐकोनिटम लैसिनियेटम का मिश्रण होता है। ऐकोनिटम फेरॉक्स का उपयोग अधिकतर ऊपर से लगाने के लिए किया जाता है। मूल का लेप बना लिया जाता है, जिसे न्यूरैल्जिया और पेशीय आमवात के रोग मे त्वचा पर लगाया जाता है। शामक, ज्वरहर तथा स्वेदक के रूप मे भी यह बडा उपयोगी होता है। भारत के सभी पहाडी जिलो में इसके मूल की बनी एक औषधि तौर मे विष के रूप में लगाने के लिये बहुत प्रयोग मे लायी जाती है।

ऐकोनिटम हेटरोफिलम (*A heterophyllum* Wall)

नाम—स०—अतिविषा, हि०—अतीस, कश्मी०—पतिस।

यह पादप हिमालय के पर्वतीय और अर्धपर्वतीय क्षेत्रो में आमतौर से पाया जाता है। बहुत बडी मात्रा में उत्तर पश्चिमी हिमालय से मैदानो में भेजा जाता है। उसकी जडो में अक्रिस्टलीय एव अविषालु ऐल्लॉयडके ऐटिसीन (०.४ प्रतिशत) जिसे लॉसन और टॉप्स ने (१९३७) $C_{22} H_{33} O_2 N$ सूत्र दिया है, पाया जाता है। जैकब और क्रेग (१९४२ ई०) ने, दो अन्य क्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड पृथक किये है अर्थात् हेटरैटिसीन $C_{22} H_{33} O_5 N$, गलनाक २६२°-२६७° (अपघटन) तथा हेटिसीन, $C_{20} H_{27} O_3 N$, गलनाक २५३°-२५६° (अपघटन)। सेण्ट्रल इण्डिजैनस ड्रग कमेटी ने १९०१ ई० में एक अच्छे तिक्त बल्य के रूप में इसकी उपयोगिता सुस्थापित की थी किन्तु कालिक-ज्वररोधी (antiperiodic) के रूप में इसे व्यर्थ बताया था। चोपडा और सहयोगियो द्वारा भी इसकी पुष्टि की गयी थी, उनका यह कथन था कि इसके ऐल्कोलॉयडो में कालिकज्वररोधी प्रभाव नही है। देशीय औषधि में इसे बहुमूल्य ज्वरशामक और तिक्तबल्य माना जाता है, विशेषकर उस दौर्बल्य को दूर करने के लिए जो मलेरिया एव अन्य ज्वरो के अपशमन के पश्चात् रोगी को आ जाता है। यह भेषज मुख्यत शुद्ध श्वेत

तिक्त चूर्ण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। उसमें बहुधा ऐस्पैरागस सारमेण्टोसस (शतमूली) की स्वादहीन जडो का अपमिश्रण किया जाता है।

ऐकोनिटम लैसिनियेटम (*A. laciniatum* Stapf) नाम –सिक्किम-कालो विखोमा, अल्पाइन। यह सिक्किम और उससे मिले जुले तिब्बत में, हिमालय के पर्वतीय एव अर्धपर्वतीय क्षेत्रो में १०,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जडे ऐकोनिटम स्पिकैटम की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बी होती है और विषालु होती है, और ऐकोनिटम फेरॉक्स और नेपाली ऐकोनाइट के वाणिज्यिक ढेरो मे मिश्रित पायी जाती है।

ऐकोनिटम स्पिकैटम (*A spicatum* Stapf) यह ऐकोनाइट की जातियो में सबसे अधिक पैदा होने वाला, पुष्ट और विशिष्ट पादप है जो नेपाल, सिक्किम और चुम्बी में १०,००० फुट से १२००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। सिक्किम के लोग इसके मूल के विषालु स्वभाव से खूब परिचित है, और वे लोग अपनी भेडो को इसे चरने से रोकने के लिये उनके मुँह पर जाली लगा देते है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके मूल का उपयोग भेषज की अपेक्षा विष के रूप मे अधिक होता रहा है। इसकी जडो में एक नये अत्यत विषालु ऐल्केलॉयड की ० ४ प्रतिशत मात्रा रहती है। यह ऐल्केलॉयड बिखैकोनिटीन (C_{36} H_{51} O_{11} N, H_2O, गलनाक ११८-१२३°) के नाम से ज्ञात है। यह ऐल्केलॉयड ऐकोनिटीन से भिन्न है किन्तु रासायनिक एव शरीरक्रियात्मक गुणो मे स्यूडैकोनिटीन से सादृश्य रखता है। घुनो से इसकी रक्षा करने के लिए कभी कभी मूल को गोमूत्र में भिगोये रखा जाता है, किन्तु भडार में रखे रहने पर ये मूल ऊपर से और काले हो जाते है। इसकी काली किस्म का देश में उपयोग किया जाता है और सफेद वाली किस्म का निर्यात किया जाता है। कलकत्ता के बाजार के विख या विष नामक भेषज का यही मुख्य स्रोत है और कभी कभी ऐकोनिटम फेरॉक्स के घटको में एक यह भी होता है।

एकोनिटम वायोलेसियम (*A violaceum* Jacq) नाम–सतलज नदी क्षेत्र-तिलिआ काचाग। यह हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र मे गिलगिट से कुमायूँ तक १०,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसकी जड़े श्वेताम से भूरे रग की होती हैं। इसका विभग (फ्रैक्चर) शुद्ध श्वेत रग का होताहै। इसका स्वाद किंचित मीठा होता है और इसके खाने पर झुनझुनी सी नही मालूम होती। कहा जाता है कि इसकी जडो को औषधीय रूप से व्यवहृत किया गया है और कनवार के पहाडी लोग इसे सुखद पौष्टिक के रूप में खाते भी है।

सारणी ४—भारतीय बाजार के ऐकोनाइटो का रासायनिक आमापन

नाम-प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार	नाम-(नवीन) वर्गीकरण स्टाफ के अनुसार	पृथक किये गये ऐल्केलॉयडो के नाम	कुल ईथर विलेय ऐल्केलॉयडो की प्रतिशत मात्रा	ऐल्केलॉयडों का गलनांक	क्रिस्टलीय या अक्रिस्टलीय	टिप्पणी
ऐकोनिटम नैपेलस (मोहरी) नमूना १	ऐकोनिटम चैसमैन्थम-यूरोपियन एकोनिटम नैपेलस का सहवर्गी है	इन्डैकोनिटीन	४·५०	२०२–२०३°	क्रिस्टलीय	ऐकोनिटीन से बहुत मिलता जुलता है।
ऐकोनिटम नैपेलस नमूना २	—	—	४·२८	—	,,	—
ऐकोनिटम फेरॉक्स	यह नमूना ऐकोनिटम डिनोराइजम तथा ऐकोनिटम वाल्फुराइ का सम्मिश्रण था	स्यूडकोनिटीन	०·८६	२११–२१२°	,,	शरीर क्रियात्मक प्रभाव ऐकोनिटीन के सदृश, पर उससे अधिक शक्त है।
ऐकोनिटम हेटरोफिलम	स्टाफ के एन्थोरा ग्रुप के अन्तर्गत है।	ऐटिसीन	०·३८	८५°	अक्रिस्टलीय	—
ऐकोनिटम लाइकोक्टॉनम	स्टाफ के बहुवर्गी ग्रुप से सम्बन्ध रखता है और उसमें ऐकोनिटम ल्युरिडम सम्मिलित रहता है।	लाइकैकोनिटीन (ऐल्केलायड का बहुत सूक्ष्म अंश पाया गया)	—	—	—	—

भारत के वाणिज्यिक ऐकोनाइटों का मानकीकरण : रासायनिक आमापन

पहले ऐकोनाइट का आमापन उस रासायनिक प्रणाली से किया जाता था जो आठवें अमेरिकी भेषजकोश में निर्धारित किया गया था। इसकी नवी आवृत्ति में मान्य आमापन प्रक्रिया भी रासायनिक ही है किन्तु जैविकी आमापन की एक और वैकल्पिक विधि भी दी गयी है। फिर भी रासायनिक विधि को ही प्रमाणिक माना गया है और वही सधारणत प्रयुक्त भी होती थी। आगे चलकर विभिन्न अनुसधानकर्ताओ ने वताया कि ऐकोनाइट से निर्मित औषधियो का रासायनिक और जैविकी तरीको से आमापन करने पर उनकी शक्ति मे वडी भिन्नता और असमानता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि जडो मे विद्यमान भिन्न-भिन्न ऐल्केलॉयडो का व्यवहार विलेयकों और अवक्षेपको के प्रति एक समान होता है किन्तु उनके भैपजीय गुण-कर्म और विषालुता मे यथेष्ठ अन्तर रहता है। रासायनिक विधियो से केवल कुल ऐल्केलॉयडो का, चाहे वे सक्रिय हो या निष्क्रिय, पता चलता है, जब कि ऐकोनिटिन और उसके सहवर्गी इन्डैकोनिटीन और स्यूडैकोनिटीन जैसे ऐल्केलॉयड ही, भेषज की शरीरक्रियात्मक सक्रियता के कारण होते हैं। इसी कारण आमापन की अनेक जैविकी विधियो का विकास हुआ।

सारणी ४ मे यह वतलाया गया है कि वाजारो मे भारतीय ऐकोनाइट की जडो की जो आम किस्मे बिकती है उनमे ईथर विलेय ऐल्केलॉयड की कुल मात्र कितनी है। तथा —कथित ऐकोनिटम फेरॉक्स मे जिसे ऐ० डिनोराइजम और ऐ० वालफुराई (स्टाफ) का मिश्रण वतलाया गया है, कुल ऐल्केलॉयड ०.८६ प्रतिशत रहता है। (भारतीय) ऐ० नैपेलस (ऐ० चैस्मैन्थम) के जो दो नमूने भारत के दो भिन्न-भिन्न भागो से प्राप्त किये गये थे, उनमे से नं० १ मे कुल ऐल्केलॉयड ४ ५० प्रतिशत और न० २ मे ४.२८ प्रतिशत क्रमश रहा। यूरोपीय ऐकोनिटम नैपेलस मे कुल ऐल्केलॉयड ०.४ से ० ५ प्रतिशत मिला है। इस प्रकार तथा-कथित् फेरॉक्स की किस्म मे ऐल्केलॉयड लगभग दुगुना रहता है और चैस्मैन्थम मे लगभग दसगुना अधिक। दूसरी किस्मे जो बाजार मे मिलती है वे ऐ० हेटरोफिलम और ऐ० लाइकोक्टॉनम है। इनमे ऐल्केलॉयड की मात्रा बहुत कम रहती है, और शरीरक्रियात्मक दृष्टि से बहुत सक्रिय नही होती।

जैविकी आमापन:—ऐकोनाइट का आमापन रासायनिक विधियो से नही, वरन जैविकी विधियो से और अच्छी तरह से किया जाता है। ऐल्केलॉयड के मूल्याकन की गिनी पिग वाली प्रणाली यह है कि गिनी पिगो के शरीर के वजन के अनुसार किसी नमूने की कम से कम कितनी भाग उनके लिये घातक

होती है यह जान लिया जाय और फिर उसकी तुलना शुद्ध क्रिस्टलीकृत ऐकोनिटीन की उस मात्रा से की जाय जो कि इसी प्रयोजन के लिए आवश्यक होती है। इस प्रणाली से इस बात का साधारणत ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है कि किसी नमूने मे कितना सक्रिय तत्त्व विद्यमान है। हमने इस प्रणाली को भारतीय ऐकोनाइट के भिन्न-भिन्न किस्मो की जडो के आमापन के लिए अपनाया था। हमे यह ज्ञात हुआ कि यूरोपीय ऐकोनाइट की तुलना मे तथा-कथित फेरॉक्स के ऐल्केलॉयड करीब १ ५ गुना अधिक शक्तिमान है और भारतीय नैपेलस के ऐल्केलॉयड करीब ० ७ गुना दुर्बल है, किन्तु यूरोपीय नैपेलस की तुलना मे फेरॉक्स किस्म के ऐनाइट मे ऐल्केलॉयड की मात्रा दुगुनी होती है और भारतीय नैपेलस (ऐ० चैस्मैन्थम) मे १० गुनी होती है।

भारतीय बाजार के ऐकोनाइट ऐकोनिटम की जो २४ जातियाँ भारत मे पैदा होती है, उनमे से केवल ९ की जडे आमतौर से भारत के बाजारो मे पायी जाती है। व्यापारी लोगो ने सामान्यतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(दत्ता एव मुकर्जी)

(१) असली नैपेलस या यूरोपियन ऐकोनाइट . ये जडे यूरोप से आयात की जाती है और ऐकोनिटम नैपेलस की असली जडे होती है।

(२) भारतीय नैपेलस के मूल : आमतौर से ये ऐ० चैस्मैन्थम की जडे होती है। बहुधा इनमे ऐ० हेटरोफिलम या ऐ० पामेटम की या दोनो की जडे अपमिश्रित रहती है।

(३) ऐकोनाइट की फेरॉक्स वाली किस्मे : साधारणतया इसमे ऐ० डीनोराइजम और ऐ० वालफुराई का सम्मिश्रण रहता है जिसमे ऐ० स्पिकैटम और ऐ० लैसिनियेटम भी अपमिश्रित रहते है।

(४) श्वेत ऐकोनाइट · कभी-कभी यह ऐ० डीनोराइजम और ऐ० वालफुराई का सम्मिश्रण होता है और बाजार में श्वेत ऐकोनाइट के नाम से बिकता है।

(५) अविषालु ऐकोनाइट , ऐ० हेटरोफिलम बाजार मे उपलब्ध रहता है और इसे अविषालु माना जाता है।

इन किस्मो के रासायनिक आमापन से यह ज्ञात होता है कि तथाकथित फेरॉक्स किस्म (ऐ० डीनोराइजम और ऐ० बालफुराई दोनो को मिलाकर) मे ऐल्केलॉयड की जो मात्रा पायी जाती है वह भेषजकोश मे मान्यता प्राप्त योरोपीय किस्म के ऐ० नैपेलस मे विद्यमान ऐल्केलॉयड से दुगुनी होती है और भारतीय नैपेलस (ऐ० चैस्मैन्थम) मे यूरोपीय नैपेलस की अपेक्षा दस गुना अधिक होती है।

इन मूलो के जैविकी आमापन से यह प्रकट होता है कि तथा-कथित फेरॉक्स किस्म मे जो इथर विलेय ऐल्केलॉयड (स्यूडैकोनिटीन) है वह यूरोपीय ऐ० नैपेलस से प्राप्त होने वाले ऐकोनिटीन मे १ ५ गुना अधिक शक्ति-शाली होता है और भारतीय नैपेलस (ऐ० चैरमैन्थम) मे जो ऐल्केलॉयड पाये जाते है वे यूरोपीय ऐ० नैपेलस मे विद्यमान ऐल्केलॉयड की तुलना मे ० ७ गुने निर्बल होते है ।

ऐकोनाइट की भिन्न-भिन्न जातियो के मूलो, जिनकी परीक्षा की गयी थी, के रासायनिक और जैविकी आमापनो की तुलना करने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनो भारतीय किस्मे, अर्थात् ऐ० चैस्मैन्थम और तथा-कथित ऐ० फेरॉक्स का उन सब प्रयोजनो के लिए उपयोग किया जा सकता है जिनके लिए ब्रिटिश भेषजकोश के ऐकोनाइट के मूल उपयोग मे लाये जाते है । बाजार मे बिकने वाली अन्य किस्मो मे भिन्न प्रकार के शरीरक्रियात्मक गुण होते है, इसलिए उनका उपयोग नही किया जा सकता । व्यवहारिक प्रयोजनो के लिए उन्ही एकोनाइटो को उपयोग मे लाना ज्यादा अच्छा है जो 'फेरॉक्स' के नाम से साधारणत बिकते है, क्योकि (१) बाजार मे इनका चलन है और ये बच्छनाभ, बच्छनाग, मीठाविष, मीठा जहर, सिंगियाविष और डागरा के नाम से बडी सुलभतापूर्वक, यथेष्ठ परिमाण मे प्राप्त किये जा सकते है । (२) बडी सरलता के साथ उनमे भेद किया जा सकता है, और यदि इनका अन्य किस्मो के साथ अपमिश्रण किया गया हो तो बडी आसानी से अपमिश्रण का पता लगाया जा सकता है जो बात नैपेलस के साथ नही है । (३) अपनी वानस्पतिक और रासायनिक विशेषताओ के कारण ये सुगमतापूर्वक पहचाने जा सकते है । इनके कद (ट्यूबर) कभी-कभी एक और साधारणत २, ३ के गुच्छो मे मूलिकाकार, २-५" लबा, ३/४–१" व्यास मे (सबसे मोटे भाग पर) बाहर से गहरे भूरे अथवा प्राय काले रग के होते है । (४) बाह्य उपत्वचा (Cuticle) मोटी होती है और कुछ हद तक आर्द्रता को रोकती है । ये जल्द बिगडते नही और उनकी किस्मो मे समान सरचना पायी जाती है, क्योकि इन किस्मो मे एकरूपता रहती है । (५) ऐल्केलॉयड का सुगमतापूर्वक क्रिस्टलीकरण किया जा सकता है, उसका ८० प्रतिशत क्रिस्टलीकरण के योग्य होता है, और १० ग्राम मूल के नमूने से पहचान के लिए शुद्ध क्रिस्टल प्राप्त किये जा सकते है ।

ऐकोनिटीन एक हृदयोत्तेजक ऐल्केलॉयड है, जिसे अगर टिक्चर के रूप में कही लगाया जाय तो सवेदी तत्रिकाओ पर उत्तेजक प्रभाव डालता है, जिससे पहले झुनझुनी सी पैदा होती है और फिर अवसाद और सुन्नता (numbness) आ जाती है । अगर इसका आन्तरिक सेवन किया जाय तो वेगस केन्द्र को उत्तेजित करता है और हृद्गति

ऐलो वेरा (लिलिएसी)

Aloe vera Tourn ex Linn. (Liliaceae)

पर्याय ऐलो वार्बेडेन्सिस (*Aloe barbadensis*)

नाम स० और ब०—घृतकुमारी, अ०—सब्बार, फा०—दरख्तेसिब्र, हि०—घी-कुआर, मुसब्बर, म०—कोरफड, गु०—कुमारपाठु, त०—चिरुकत्ताली, ते०—चिन्नाकट बन्दा, कन्नड—लोलीसर, मल०—कुमारी।

भारतवर्ष में शरीर के शोथ, पीडा वाले अगो पर ऐलो, जिसे आमतौर से मुसब्बर कहते हैं, का वहिर्लेप करना और रेचन के लिये इसका प्रयोग करना बहुप्रचलित है, उस पर विशेष रूप से कुछ कहना अनावश्यक है। इसका औषधीय प्रयोग चौथी शताब्दी में शुरू हुआ था। ऐलो जीनस के अन्तर्गत १६० जातियाँ है जो मरुद्‌भिदी (xerophytic) पादप हैं, और पूर्व एव दक्षिण अफ्रीका के देशज है। इसकी कई जातियो का भारत, पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूह (ईस्ट और वेस्ट इन्डीज) तथा अन्य उष्ण जलवायु वाले देशो मे और यूरोप मे भी प्रवेश कराया गया है। ऐलो विभिन्न प्रकार के जलवायु में तथा अनुर्वर भूमि में भी खूब पनपता है। इस पौधे के पत्ते बडे और मासल होते हैं, जिनको काटने पर एक गाढा रस निकलता है। यह रस उपयुक्त पात्रो मे एकत्र कर लिया जाता है और फिर वाष्पीकरण द्वारा उसे स्वत सान्द्रित होने दिया जाता है, पर बहुधा उबाल कर सान्द्रित कर लिया जाता है। रस आरम्भ मे रगहीन होता है, पर बाद में वाष्पीकरण से या उबाले जाने के कारण काले रग का हो जाता है, यही कारण है कि बाजारू मुसब्बर (एलुआ) काले रग का जमा हुआ कठोर पिण्ड होता है।

ऐलो वेरा लिन• (ऐलो वलगैरिस लिन , ऐलो बारबेडेन्सिस मिल• तथा ऐलो अफिसिनैलिस फार्स्क) उत्तरी अफ्रीका का देशज है, किन्तु यह पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूह, भारत चीन तथा अन्य देशो में भी फैल गया है। इस जाति की कई किस्मे (फॉर्म) भारत के जलवायु की अभ्यस्त हो गयी हैं और भारत की सूखी पश्चिमी घाटियो से लेकर कुमारी अन्तरीप तक सभी भागो मे अर्ध वन्य दशा मे पायी जाती हैं। साधारणत इस पादप का प्रवर्धन अन्त भूस्तारी (sucker) द्वारा किया जाता है। भारत में इसकी आसानी से पहचान मे आनेवाली दो या तीन किस्में है, पर उनका ठीक ठीक परिज्ञान स्पष्ट नही है। ऐलो वेरा किस्म चाइनेन्सिस (*A vera* var *chinensis* Baker) समूचे दक्षिण और मध्य प्रदेश में पाया जाता है। ऐलो वेरा

किस्म लिटोरैलिस (*A vera* var *littoralis* Koenig ex Baker) मद्रास में रामेश्वरम तक समुद्रतटवर्ती ककडी स्थानो में पाया जाता है। एक दूसरी किस्म जो काठियावाड के तटवर्ती क्षेत्रो मे खूब पैदा होती है वही जफराबादी ऐलो का स्रोत है। कुछ ग्रन्थकारो ने इसको ऐलो ऐबिसिनीका (*A abyssinica*) का भी नाम दिया है। ऐलो वैरीगाटा (*A variegata* Linn) जो ऐलो वेरा का लगभग सहवर्गी पादप है, बम्बई के कुछ भागो में पाया जाता है। भारतीय पादप से उपलब्ध भेषज किसी तरह घटिया नही होता है, पर ऐलो सकोट्रिना (*A. succotrina*) को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है और व्यापार के विवरण पत्रो में उसी का ज्यादा उल्लेख होता है। यह जजीबार होते हुए सीधे लाल सागर के बन्दरगाहो से बम्बई आता है। इन स्थानो से यह चमडे के थैलो में भेजा जाता है और थैलो के आकार प्रकार में बडा अन्तर रहता है। बम्बई मे इसे थैलो से निकालकर बक्सो मे बन्द करके यूरोप और मलाया को भेजा जाता है, इसमें मद्रास और मैसूर के स्थानीय ऐलो भी शामिल रहते है, किन्तु अब इसका निर्यात व्यापार नही रह गया है। दक्षिण अफ्रीका और जर्मनी से जो ऐलो आयात किया जाता था उसकी मात्रा धीरे धीरे कम होती गयी है। १९२९-३४ ई० की पचाब्दी में औसत वार्षिक आयात १,०१६ हडरवेट का था और उसका मूल्य २५,९०२ रुपये था और बाद की पचाब्दी में औसत वार्षिक आयात ४५४ हडरवेट का था जिसका मूल्य ११,२४५ रुपये होता था। १९३९-४४ ई० की पचाब्दी में वार्षिक आयात केवल ५७ हडरवेट का रहा जिसका मूल्य २,७१७ रु० था।

यद्यपि घृत-कुमारी अधिकाश अपने आप प्रकृत रूप से नही पैदा होती, किन्तु इसकी कृषि बडी आसान है और यह सूखी से सूखी और खराब से खराब भूमि में खूब पनपती है, इसलिए इसे भारत में आसानी से पैदा किया जा सकता है।

रासायनिक सरचना मुसब्बर (एलुआ) का सक्रिय सघटक ग्लाइकोसाइडो का एक सम्मिश्रण है जिसे 'ऐलॉइन' कहते है। बाजार में मिलने वाले ऐलो के भिन्न नमूनो में 'ऐलॉइन' के अंश की मात्रा में अन्तर होता है। 'ऐलॉइन' का मुख्य घटक बार्बेलॉइन है जो पीले स्वर्णिम रग का क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड होता है जो जलविलेय है। अन्य सघटको में आइसोबार्बेलॉइन, बीटा-बार्बेलॉइन, ऐलो-इमोडिन (बार्बेलॉइन का एक जल-अपघटनीय उत्पाद) रेजिन और कुछ जल विलेय पदार्थ है। इसके गध का कारण यह है कि इसमें एक वाष्पशील तैल की किंचित मात्रा रहती है। ब्रिटिश भेषजकोश ने भस्म को ५ प्रतिशत तक सीमित रखा है और उसके अनुसार १०० डिग्री के तापमान

में सुखाने पर १० प्रतिशत से अधिक कमी (आर्द्रता आदि में) नही आनी चाहिये। मुसब्बर का भौतिक स्वभाव इस बात पर निर्भर करता है कि वह ऐलो के किस जाति के रस से तैयार किया गया है और उसको किस तरह सान्द्रित किया गया है। यदि उसे (रस को) धूप में रख कर सुखाया गया है या मन्द आँच पर रखकर सान्द्रित किया गया है तो उससे एक अक्रिस्टलीय, अपारदर्शी और मोमी सार उपलब्ध होता है जिसे यकृती मुसब्बर या एलुआ (hepatic or livery aloe) कहते है। किन्तु यदि रस को जल्दी से तेज आँच पर रखकर सान्द्रित किया जाय तो ठडा होने पर जो पदार्थ मिलता है वह अक्रिस्टलीय और अर्ध-पारदर्शी होता है जिसे काचाभ एलुआ (glassy or vitreous aloe) कहते है।

सर्वश्री चोपडा और घोष (१९३८ ई०) ने ऐलो वेरा किस्म ऑफिसिनैलिस के रस को परीक्षा की और यह पाया कि इसमे ऐलॉइन नही होता, वरन कुछ रेजिन और गोद होता है जिसमे इमोडिन और क्राइसोफेनिक अम्ल जैसे ऐथ्राक्विनोन व्युत्पन्नो की लघु मात्रा रहती है। जफराबाद मुसब्बर में बिना आइसोबार्बेलॉइन के १३ ६ प्रतिशत ऐलॉइन रहता है (Wehmer I, 150)। मुसब्बर का स्वाद कडुवा एव अरुचिकर होता है और अधिकतर विरेचक के रूप में इसका उपयोग किया जाता है और कोष्ठबद्धता के उपचार के लिए बडा ही उपयोगी होता है किन्तु गर्भावस्था में इसका प्रयोग उपयुक्त नही होता। यह अत्यधिक श्रोणि-रक्ताधिक्य (pelvic congestion) पैदा करता है और गर्भाशय विकार में आमतौर से लौह योगो और वातानुलोमको के साथ मिलाकर इसका प्रयोग किया जाता है। एलुआ कई अधिस्वामिक मृदुरेचक औषधियो मे एक घटक के रूप में रहता है।

देशीय चिकित्सा-पद्धति मे उपयोग देशीय चिकित्सा पद्धति में भी मुसब्बर का प्रयोग क्षुधावर्धक, रेचक और आर्तवजनक के रूप में किया जाता है। अर्श और गुदा विदर (rectal fissure) के उपचार के लिए इसे बडा ही उपयोगी समझा जाता है। म्युसिलेज बडा ठढ पहुँचाता है और शोथ वाले अगो पर पुल्टिस के तौर पर लगाया जाता है। जफराबादी मुसब्बर का वार्निश के काम में भी उपयोग किया जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) Humpreys, 1912, *Drugs in Commerce*, (2) *Wealth of India Raw Materials*, 1948, 1, 61; (3) Chopra and Ghosh, 1938, *Arch Pharm., Berl*, 276, 348, (4) Wehmer, 1931, *Die Pflanzenstoffe*, I, 150; (5) Trease, G E, 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 154

ऐराकिस हाइपोजिया (लेग्युमिनोसी)

Arachis hypogaea Linn (Leguminosae)

मूँगफली, चिनियाबादाम।

पर्याय — (ग्राउन्डनट, पीनट, मंकीनट)

नाम—सं०-भूचणक (सम्भवतः 'भूचणक' ?-अनु०), हि०-मूँगफली, बं०-चीना-बादाम, म०-भुई मूग, ते०-वेरुसेनगु काया, त०-वेर्कडलै, कन्न०-नेलगडले, मल०-नेलक्कडल।

ऐराकिस हाइपोजिया (मूँगफली) नामक पौधे का उद्गमस्थान ब्राजील है, पर अब इसकी खेती सभी उष्ण एवं उपोष्ण देशों में होती है। जिन देशों में मूँगफली प्रचुरता से पैदा होती है वे ये हैं — भारतवर्ष, चीन, संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका, बर्मा, ईस्ट इण्डीज, नाइजीरिया और दक्षिणी यूरोप। कहते हैं भारत में इसका प्रवेश सबसे पहले १६वीं सदी में हुआ। १९वीं शताब्दि में इसकी खेती आश्चर्यजनक रूप से बढ़ती गयी और आज भारतवर्ष मूँगफली का सबसे बड़ा उत्पादक देश है और विश्व का ३५ प्रतिशत यहाँ उत्पन्न होता है। भारतवर्ष के मद्रास, बम्बई तथा हैदराबाद राज्यों में प्रधानतः सर्वाधिक मूँगफली उत्पन्न होती है। अब इसकी खेती मध्य-प्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा उत्तरी भारत में भी होने लगी है। इसके बीजों का प्रयोग बड़े व्यापक पैमाने पर भोजन के रूप में तो होता ही है, इसके अतिरिक्त इससे ४० से ५० प्रतिशत शुद्ध तेल निकाला जाता है जो स्वाद में सुस्वादु होता है। यह वसा (चर्बी), प्रोटीन और विटामिन बी १, बी २, निकोटिनिक अम्ल तथा विटामिन ई का उत्तम स्रोत है। पिकेट (१९४२ ई०) और [illegible] (१९४८ ई०) ने इसमें विटामिन बी ६ (पिरिडॉक्सिन) के भी उपलब्ध होने की गणना की है। खासतौर से इसके ऊपर के लाल छिलके में, जो तेल निकालने की प्रक्रिया में प्रायः छुड़ा दिया जाता है, विटामिन बी १ अधिक मिलता है। इसमें विटामिन 'ए' और विटामिन 'सी' अपेक्षाकृत कम पाया जाता है। लेसिथिन (Lecithin) के ये अच्छे स्रोत हैं और छिलके-रहित गिरी में ०.५-०.७ प्रतिशत उपलब्ध होता है (हेज १९४५ ई०)। अमेरिका में मूँगफली को पीनट (Peanut) कहते हैं और इसे भून चाव से खाते हैं। इसको मिष्टान्न, पीनट मक्खन और पीनट आटा के रूप में भी उपयोग करते हैं। वसा और प्रोटीन से पर्याप्त मात्रा से युक्त होने के कारण यह मूल्यवान ऊर्जाप्रद खाद्य पदार्थ है। गत कुछ वर्षों से, भारतवर्ष में मूँगफली के तेल का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया है, इसका प्रयोग हाइड्रोजनीकरण द्वारा वनस्पति या वेजीटेबुल घी के निर्माण में होता है। इस

तेल की खपत १९३८ ई० मे लगभग ४४,००० टन थी जो १९४५ ई० मे बढकर १,६३,००० टन हो गयी। इन बीजो से शीत प्रपीडन (Cold expression) द्वारा भेषजीय गुणवाला तेल निकलता है। यह हल्के पीले रग का होता है और इसमे मूँगफली की भीनी-भीनी गध होती है तथा इसका स्वाद मृदु-स्निग्ध (bland) होता है। इस तेल के गुण जैतून के तेल के गुणो के समान ही होते है। यह स्वाद तथा भौतिक और रासायनिक गुणो में जैतून के तेल के सदृश होता है। दोनो की तुलना से यह सादृश्य ठीक-ठीक स्पष्ट हो जायगा।

मूँगफली का तेल	जैतून का तेल
आपेक्षिक घनत्व १५° से० पर‥ ० ९१६५ से ० ९१७५ तक	०-९१६ से ० ९१८ तक
ठोस बनने का तापमान' '० से २° से०	३ से ४° से०
अपवर्तनाक १५° से० पर‥‥१ ४७३१	१ ४६९८ से १ ४७०३ तक
साबुनीकरण मान‥‥१८५ ६से १९६ तक	१८५ से १९६ तक
आयोडीन मान ' ८३ ३ से १०५ तक	साधारणत ७९ से ८८ तक

मूँगफली के तेल में पामिटिक, स्टियरिक, ऐरेकिडिक, बेहेनिक, लिग्नोसेरिक, ओलेइक और लिनोलेइक अम्ल पाये जाते है और घरेलू व्यवहारो में इसे खूब पसन्द करते है, क्योकि अन्य तेलो की तरह यह उतना विकृत गन्धी (rancid) नही होता। भारतवर्ष में यह तेल मृदुविरेचक (aperient) और स्नेहन (emollient) माना जाता है।

जैतून के तेल का उपयोग औषधि में बहुत अधिक होता है—बाह्यरूप मे भी और आभ्यन्तरिक रूप मे भी। यह लिनिमेन्ट (liniments) और मरहम (ointments) के निर्माण का आधार है। यह भोज्य पदार्थ एव पौष्टिक भी है और क्षयकारी रोगों मे दिया जा सकता है। मूँगफली के तेल मे प्राय जैतून के तेल के सभी गुण पाये जाते है इसलिए इसका उपयोग जैतून के तेल के स्थान पर किया जा सकता है, विशेष रूप से भारत मे, जहाँ मूँगफली का तेल बहुत सस्ता और प्रभूत मात्रा मे मिलता है, जब कि जैतून का तेल अत्यधिक महँगा होता है। वस्तुत जैतून के तेल के स्थान पर मूँगफली के तेल का उपयोग व्यापार मे बहुत अधिक होता है। फ्रास और इटली से शुद्ध जैतून के तेल (Pure lucca olive oil) के प्रादर्श (specimens) रूप मे आनेवाले अधिकाश तेल सचमुच जैतून के तेल नही होते, अपितु शोधित मूँगफली के तेल होते है जिन्हें जैतून का तेल करार देकर भेज दिया जाता है। ब्रिटिश भेषजकोश मरहम,

लिनिमेन्ट, लेप (प्लॉस्टर) और साबुन बनाने में जैतून के तेल के स्थान पर मूँगफली के तेल का उपयोग करने की स्वीकृति प्रदान करती है और भेषजकोशीय योगो के निर्माण मे विटामिन 'ए' और 'डी' के विलयन के लिए अनुपान (vehicle) के रूप मे भी। मूँगफली का तेल समुचित निर्जीवाणुकरण (sterilization) के पश्चात् तैलीय योगो के लिए अनुपान के रूप में व्यवहृत हो सकता है, जिसका प्रयोग इजेक्टिबुल के निर्माण में होता है। यह बच्चो को खिलाने के लिए इमल्शन (emulsion) के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। इसका प्रयोग पशु-चिकित्सा में पोषक, मृदुविरेचक और स्नेहन के रूप में होता है। इसका उपयोग पौधो के कई कीट-रोगो पर नियत्रण करने के लिए भी कीट-नाशक इमल्शन के रूप में किया जाता है। कीटनाशी औषधियो को, यथा-डेरिस (Derris) या निकोटिन (Nicotine) की, विषालुता इस प्रकार बढाई जाती है। साधारणत निम्नश्रेणी का मूँगफली का तेल साबुन एव कान्तिद्रव्य (cosmetics) बनाने और चमडे के स्नेहन के काम में आता है तथा चरबी (tallow) और डिज़ल तेल के स्थान पर भी इसका उपयोग होता है।

मूँगफली की खली —तेल के प्रपीडन के उपरान्त जो अवशेष रहता है उसे मूँगफली की खली कहते हैं। यह सभी खलियो से सस्ती तथा बहुत पुष्टिकर होती है और ढोरो तथा कृषिगत पशुओं (farm animals) के पोषण के लिये एक उच्चकोटि का सान्द्रित आहार (concentrated feed) माना जाता है। अन्य खलियो की अपेक्षा इसमें प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है। मूँगफली की खली विशेषकर, धान, ईख, कॉफी एव चाय के लिए बहुत ही अच्छी कार्बनिक नाइट्रोजनी खाद है। सुपरफास्फेट और पोटास के साथ मिलाकर देखा गया है कि यह सुपारी की खेती के लिए बहुत ही लाभदायक है।

२०वी शताब्दी के प्रारम्भ से मूँगफली के बीज, तेल एव खली का निर्यात बहुत अधिक बढता जा रहा है। इनका अत्यधिक निर्यात ग्रेटब्रिटेन, लका, जर्मनी, नीदरलैण्ड, बेल्जियम तथा अन्य देशो को अधिकाशत मद्रास एव बम्बई के बन्दरगाहो से होता है। भारतीय बन्दरगाहो से इसके (नियत्रित) निर्यात का आँकडा १९४५-४६ ई० मे १,९७,००० टन तथा १९४६-४७ ई० में १,१७,००० टन था। भारत से अधिकतर इसके बीज का निर्यात होता है। मूँगफली का तेल भी पर्याप्त मात्रा मे विदेशो मे भेजा जाता है, परन्तु इसके उत्पादन की तुलना में इसका निर्यात नगण्य है (१९३७–३८ ई० से पूर्व पाँच वर्षों में उत्पादन का ७ ५ प्रतिशत)। भारत से मूँगफली के तेल का वार्षिक निर्यात निम्नलिखित आँकडो में दिखाया गया है —

वर्ष	मात्रा (टन)	मूल्य (लाख रुपये)
१९३२-३३।३६-३७	३,३७९	११.६७
३७-३८	१२,२०६	४३ ११
३८-३९	१८,१५१	५७.६४
३९-४०	१६,४०९	५२ ३७
४०-४१	३५,९३४	१२८.९५
४१-४२	२६,४४९	९३.६०
४२-४३	८,६६४	४२ ७६
४३-४४	६८५	५.०७
४४-४५	६६४	९ ००

सन्दर्भ :—

(1) Lewkowitsch, 1922, *Analysis of Oils and Fats*, (2) Louis, E. Andes, 1917, *Vegetable Oils and Fats*, (3) Pickett, 1942, *Chem. Abstr*, 36, 4213, (4) Sarma, 1944, *Ind Jour Med Res*, 32, 117 (5) Traill, 1945, *Chem Industry*, 58, Jacobs II, 574, (6) *Weaeth of India Raw Materials*, 1948, 1,90

आर्टिमिसिया मैरिटिमा (कम्पोजिटी)

Artemisia maritima Linn (Compositae)

वर्मसीड, सैन्टोनिका (Wormseed, Sartonica)

नाम—हि०—किरमाला, बम्ब०—किरमाणीओवा, फा०—शीह, दिर्मन, सरीबुन, अ०—अफसान्तिनउल-बहर, शिक।

आर्टिमिसिया नामक पौधा अत्यन्त प्राचीन भेषज है, जिसका प्रयोग यूनानी तथा रोमन लोग आन्त्रकृमिघ्न तथा क्षुधावर्धक के रूप मे करते थे। प्राचीन अरब एवं फारस के हकीमो द्वारा भी इसका उपयोग उक्त उपचार के लिए ही किया जाता था। सम्भवत भारत मे इसका प्रवेश उन्ही के माध्यम से हुआ, क्योकि यहाँ के आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे इस भेषज का कोई उल्लेख नही मिलता। भारत मे तिब्बी (हकीमी चिकित्सा) मे इसके पुष्पमुण्डको का व्यवहार आन्त्र-कृमिघ्न के रूप मे पर्याप्त मात्रा मे होता रहा है और अब भी हो रहा है। सामान्यतया इसका चूर्ण बनाकर २ से ४ ड्राँम की मात्रा मे दिया जाता है। इस भेषज का व्यवहार जलशोफ के उपचार मे भी होता है। उससे निर्मित क्वाथ का, जिसमे मुख्यत सुगन्ध तैल पाया जाता है, प्रयोग हृदयोद्दीपक

एव श्वसनोद्दीपक के रूप मे होता है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा (जिसे आर्टिमिसिया ब्रेविफोलिया *A. brevifolia* Wall. भी कहते हैं) हिमालय की ४,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर कुमायूँ मे लेकर कश्मीर तक प्रचुर मात्रा मे पैदा होता है। ऐसा कहा जाता है कि यह पौधा बिलोचिस्तान, चित्राल एव अफगानिस्तान में हिमालय की अपेक्षा कही अधिक और एक समान रूप से पैदा होता है। अफगानिस्तान में यह इतनी प्रभूत मात्रा मे होता है कि कन्धार से आयात होनेवाले फलो में इसका उपयोग सवेष्टन-सामग्री (packing material) के रूप मे होता है। भारतवर्ष मे, इसके प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होने पर भी, कुछ वर्ष पूर्व तक सैण्टोनिन का निर्माण न तो देश के उपभोग के लिए और न ही निर्यात के लिए होता था।

वस्तुत प्रथम महायुद्ध के पहले भारत मे मिलनेवाले सैण्टोनिन का स्रोत रूस था और उसका आयात यूरोप से होता था। यह आर्टिमिसिया सिना (*A cina* Berg) से एकत्रित किया जाता था, किन्तु आर्टिमिसिया की कई सम्बद्ध स्पीशीज है, यथा, आर्टिमिसिया मैरिटिमा वराइटी स्टेकमैनिआना (आर्टिमिसिया लर्कियाना) [*A maritima* var *stechmanniana* Besser (*A lercheana* Karel and Kiril)], आर्टिमिसिया पॉसिफ्लोरा (आर्टिमिसिया-मैरिटिमा) [*A pauciflora* Stechm (*A maritime*)] आदि, जो तुर्किस्तान मे किर्गिज के अकृष्ट विस्तृत मैदानो मे पायी जाती हैं। आर्टिमिसिया की अनेक स्पीशीज यूरोप, एशिया एव अमेरिका के भिन्न-भिन्न भागो मे पायी जाती हैं। पहले इसके पुष्पमुण्डको का, जो तीव्र गन्धयुक्त होते हैं, प्रचुर परिमाण मे सचय किया जाता था और यूरोप के बाजारो में विशेषकर, मास्को और पेट्रोग्रेड मे तथा उनमे से कुछ अफगानिस्तान और फारस होते हुए भारत मे भी भेजे जाते थे। बाद में, तुर्किस्तान के बडे-बडे शहरो मे सैण्टोनिन बनाने के कारखाने (फैक्टरियाँ) स्थापित किये गये और अब मुख्यत विशुद्ध सैण्टोनिन निर्यात किया जाता है। कुछ वर्ष पहले रूस की राजनीतिक एव आर्थिक उथल-पुथल और चयन तथा सग्रह करने के नाशक एव हानिकर विधियो के कारण सैण्टोनिन का अत्यधिक अभाव था। इसलिए इसके उत्पादन को बढाने की दृष्टि से अन्य स्रोतो को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। यह पौधा केवल रूसी-तुर्किस्तान के एक सीमित क्षेत्र में पाया जाता है और कृषि द्वारा उत्पादन-वृद्धि के प्रयत्न असफलसिद्ध हुए हैं। समय-समय पर उसी जीनस के अन्य पौधो पर विस्तृत अनुसधान कार्य भी किये गये है जिससे सैण्टोनिन की अभिवृद्धि हो सके या उसके प्राप्त करने के अन्य स्रोत मिल जायँ। हालैण्ड मे वान लॉरेन (Van Laren) ने बडी सफलता के साथ आर्टिमिसिया सिना (*A cina*) की खेती की है,

जिनसे १ ३ प्रतिशत सैण्टोनिन प्राप्त हुआ है। आर्टिमिसिया की कुछ अमेरिकी स्पीशीज़ से भी, जो मैक्सिको तथा उसके पडोसी प्रान्तो में पाये जाते हैं, सैण्टोनिन उपलब्ध हुआ है। हेकेल और श्लाग्डेनहाफेन (Heckel and Schlagdenhauffen) ने यह खोज निकाला था कि फ्रास मे पाये जाने वाले आर्टिमिसिया गैलिका (*A gallica*) मे सैण्टोनिन पाया जाता है, पर उन्होने यह नही बताया कि कितने प्रतिशत सैण्टोनिन मिलता है। १९२४ मे मेपुलथार्प (Maplethorpe), दक्षिणी इगलैण्ड में पाये जाने वाले आर्टिमिसिया गैलिका और आर्टिमिसिया मैरिटाइमा का परीक्षण कर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इगलैण्ड में पाये जानेवाले इन पौधो में सैण्टोनिन बहुत कम था नही के बराबर होता है। आर्टिमिसिया की विभिन्न स्पीशीज पर पर्याप्त कार्य होने के बावजूद अब भी ऐसा कोई पौधा नही मिला है, जिसमें यथेष्ट सैण्टोनिन उपलब्ध हो और जो रूसी पौधो के तुल्य हो सके।

आर्टिमिसिया की भारतीय स्पीशीज़ : (Indian Sepcies of Artemisia) आर्टिमिसिया की अनेक स्पीशीज हिमालय पर्वत पर पैदा होती हैं, किन्तु आर्टिमिसिया ब्रेविफोलिया (आर्टिमिसिया मैरिटिमा) में ही सैण्टोनिन पाया जाता है। यह एक क्षुपीय सुरभि-पादप है, जो २½ फुट ऊँचा होता है, जिसका प्रकन्द काष्ठीय और स्तम्भ सीधा या आरोही होता है, जिसके आधार से कई शाखाएँ निकलती हैं। यह एक अत्यधिक परिवर्तनशील (variable) पौधा है जिसके पुष्प-मुण्डक ऊर्ध्व अथवा झुके हुए होते हैं। यह हिमालय के पश्चिमी भाग में ७,००० से ९,००० फीट की ऊँचाई पर कश्मीर से लेकर कुमायूँ तक पाया जाता है। भारत में पाये जानेवाले सैण्टोनिनयुक्त पौधो की केवल यही एक स्पीशीज़ है। यह स्पीशीज उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक भागो में यथा कश्मीर, कुर्रम, कागन, बुशहर, वजीरिस्तान, चम्बा आदि मे साधारण रूप से पाया जाता है। केवल कश्मीर और कुर्रम के कुछ भागो में पाये जानेवाले पौधो में निकालने योग्य (अल्प मात्रा मे) सैण्टोनिन होता है। इन क्षेत्रो में सैण्टोनिन-रहित पौधे भी पैदा होते है। बधवार (१९३४ ई०) ने पता लगाया कि कुर्रम की घाटी में पैदा होनेवाले सैण्टोनिनयुक्त पौधो का तना वृद्धि की आरम्भिक अवस्था मे आरक्त होता है, जब कि सैण्टोनिन-रहित पौधो का तना हरा होता है और बढ जाने पर दोनो के तने भूरे हो जाते है। पहले का नाम उन्होने आर्टिमिसिया मैरिटिमा फॉर्मा रुब्रिकॉले (*A maritima* forma *rubricaule* Badh) रखा है। काज़िलबाश (Qzilbash) ने कुर्रम की घाटी मे पैदा होनेवाले सैन्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया का अध्ययन कुछ विस्तार से किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि उक्त घाटी मे पैदा होनेवाली आर्टिमिसिया कुर्रमेन्सिस

(*A kurramensis* Qazil) नामक एक अन्य स्पीशीज है जो पैदा भी अधिक होती है और जिसमे सैण्टोनिन की मात्रा भी अधिक होती है। भारत का विभाजन हो जाने मे कुर्रम घाटी का अत्यन्त उपादेय क्षेत्र, जिसमे सैण्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया खूब पैदा होता था, भारतीय सीमा के बाहर पड गया। कश्मीर राज्य के सीमान्त जिलो मे रत्तू तथा अस्तोर के क्षेत्र, जो बारामुल्ला (कश्मीर) सैण्टोनिन फैक्टरी (कारखाना) द्वारा अभीप्सित आर्टिमिसिया की अधिकाश पूर्ति करते थे, अब १९४७ के राजनीतिक उपद्रव के बाद से पाकिस्तान की सीमा में पड गये है। गुरेज का क्षेत्र, जो कश्मीर (भारत) में है, देश की उक्त भेपज सम्बन्धी माँग की यथेष्ट पूर्ति नही कर पाता। इस महत्त्वपूर्ण भेपज की आवश्यक पूर्ति के लिए अन्य स्रोतो को ढूँढ निकालने की दृष्टि से जम्मू-कश्मीर राज्य, हिमाञ्चल प्रदेश, कागडा-कुलू घाटी एव उत्तर प्रदेश के कुमायूँ की पहाडियो के उन क्षेत्रो का सर्वेक्षण किया गया जिनमे आर्टिमिसिया पैदा होता है। इस वृहद् सर्वेक्षण के परिणामस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि जम्मू-कश्मीर राज्य मे चेनाब घाटी के धूल धर स्थान मे १ २ प्रतिशत सैण्टोनिनयुक्त आर्टिमिसिया वन्य अवस्था मे पैदा होता है। १९४७ ने पूर्व चेनाब घाटी आर्टिमिसिया क्षेत्र के रूप मे ज्ञात नही थी। सम्प्रति इससे आवश्यकता की पूर्ति सीमित मात्रा मे हो रही है, पर इसके पौधे का कृत्रिम प्रजननद्वारा विस्तार किया जा रहा है। विभाजन के बाद से बारामुल्ला का कारखाना इसी आर्टिमिसिया का उपयोग कर रहा है। कुर्रम का वह क्षेत्र, जो सर्वप्रथम आर्टिमिसिया-क्षेत्र के रूप में अन्वेषित किया गया था, बोटैनिकल सर्वे विभाग द्वारा मोटे तौर पर २०० एकड आँका गया था, जहाँ यह वानस्पतिक भेपज बहुत घना उत्पन्न होता था, किन्तु उसके आसपास की पहाडियो में इसी तरह के अनेको क्षेत्र है एव २,००० एकड से बडा एक विस्तृत भूखण्ड है, जिसमे यह कही विरल और कही सघन रूप से उगता है। आर्टिमिसिया मे बहुत अधिक मिलती-जुलती अनेको स्पीशीज इस क्षेत्र से सगृहीत की गयी है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा इस घाटी के अधिकाश भागो मे पाया जाता है, इसे 'स्पीरा तर्खाह' (Spirah tarkhah) कहते हैं। इसी में सैण्टोनिन होता है। अन्य सगृहीत स्पीशीज, यथा आर्टिमिसिया साल्सोलॉयडेस (*A salsoloides*), आर्टिमिसिया एब्सिथियम (*A absinthium*), आर्टिमिसिया कम्पेस्ट्रिस (*A campestris*) और आर्टिमिसिया वल्गेरिस (*A vulgaris*), सैन्टोनिन-रहित सिद्ध हुई हैं।

१९४७ ई० में विभाजन के बाद मे भारत में सैण्टोनिन-उत्पादन की स्थिति बिल्कुल भिन्न हो गयी है। सैण्टोनिन उत्पादन करनेवाला कश्मीर-राज्य मे स्थित जो केवल एक ही कारखाना है वह भी अपनी पूर्ण क्षमता भर अपरिष्कृत पदार्थ (raw material)

नही प्राप्त कर पाता। हाण्डा, कपूर एव चोपडा (१९५३) ने सूचित किया है कि उन्हे हिमाचल प्रदेश, कागडा एव कुल्लू घाटियो में पैदा होनेवाले आर्टिमिसिया में थोडा भी सैण्टोनिन नही प्राप्त हो सका। मलारी नामक स्थान से, जो कुमायूँ की पहाडियो मे है, जुलाई में एकत्रित किये हुए आर्टिमिसिया मे ० ६५ और ० ६८ प्रतिशत सैण्टोनिन की उपस्थिति का पता लगा। इससे यह ज्ञात होता है कि यदि उत्तर प्रदेश के उन क्षेत्रो का, जहाँ आर्टिमिसिया का पौधा उगता है, वृहद् सर्वेक्षण किया जाय तो, सम्भव है, काम मे लाने योग्य सैण्टोनिनयुक्त भेषज उपलब्ध हो सके और यदि इस क्षेत्र में अच्छे प्रकार का आर्टिमिसिया मिल गया तो इसकी खेती भी सफलतापूर्वक की जा सकती है।

भारतीय आर्टिमिसिया मे सैण्टोनिन की मात्रा (Santonin Content of Indian Artemisia) —

आर्टिमिसिया में पाये जानेवाले सक्रियतत्त्व में निम्नलिखित सघटक हैं —(१) वाष्पशील तैल, जिसमे काजूपुट तैल तथा कपूर के सदृश सुगन्धि होती है, (२) सैण्टोनिन और उससे सम्बद्ध एक यौगिक आर्टिमिसिन।

रूसी आर्टिमिसिया में प्राप्त सैण्टोनिन की मात्रा सामान्यतया, १ २ से १ ४ प्रतिशत है और अधिक-से-अधिक २ ३ से ३ ६ प्रतिशत हो सकती है। डा० ग्रीनिश, डा० सिमोन्सेन तथा इम्पीरियल फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट के रसायनज्ञो द्वारा किये गये विश्लेषणो से प्रतीत होता है कि पुष्प की कलियो और पत्तियो से १ ९५ प्रतिशत सैण्टोनिन प्राप्त हो सकता है। बाद के शोधो से यह सिद्ध हो चुका है कि कश्मीर में पाये जानेवाले आर्टिमिसिया मे सैण्टोनिन की उपलब्धि इससे भी कम है और कभी ही ० ५ प्रतिशत से ऊपर जाती है। ऐसा कुछ हद तक इसलिए होता है कि इन क्षेत्रो में पैदा होनेवाले आर्टिमिसिया मैरिटिमा में सैण्टोनिन स्वभावत कुछ कम होता है और जब तक यह उचित समय पर एकत्रित नही किया जायगा सैण्टोनिन की मात्रा और भी कम हो जायगी। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि कश्मीर (गुरेज) से, जून के महीने में, एकत्रित किये गये पौधो (आर्टिमिसिया) में बिल्कुल ही सैण्टोनिन नही होता, ओर जो जुलाई तथा अगस्त के महीनो मे एकत्रित किये जाते हैं उनमें ० १ से ० ९ प्रतिशत होता है। ०·९ प्रतिशत ही सर्वाधिक उपलब्धि है। सितम्बर के पूर्वार्ध में सैण्टोनिन पुन कम होकर ० १ प्रतिशत हो जाता है और उसके बाद तो एकदम नही मिलता, या केवल नाममात्र के लिए ही मिलता है। भारतीय रसायनज्ञो की सैण्टोनिन निकालने (निष्कर्षण)

की विधि कुछ हद तक इस अल्प-उपलब्धि के लिए जिम्मेदार है। रूस के कारखानो में, चान्शिवग निवासी डा० फर्डिनेण्ड क्राउस द्वारा एक कल्पित (आविष्कृत) नव्य एव विकसित रीति से सैण्टोनिन निष्कर्षित किया जाता है। उस रीति से उक्त पौधे की अर्ध-विकसित-कलिकाओं से निष्कर्षित सैण्टोनिन की मात्रा ९८ प्रतिशत होती है, जब कि भारत मे केवल ७० से ८० प्रतिशत ही सैण्टोनिन उपलब्ध होता है। यदि रूस की विधि अपना ली जाय तो जो अपव्यय सैण्टोनिन निकालने की प्रक्रिया में होता है उसमे भारी कमी हो सकती है और इस प्रकार सैण्टोनिन-उत्पादन बढ सकता है।

पौधों के सग्रह करने की रीति भी दोषयुक्त रही है। पहले, समूचा पौधा जड से काट लिया जाता था और उसके पुष्पगुण्डक, पत्तियाँ तथा वृन्त (stalk) सभी एक में मिला दिये जाते थे। चूँकि काष्ठीय वृन्त मे सैन्टोनिन अत्यल्प या बिल्कुल ही नही होता, इसलिए इस प्रक्रिया ने सैण्टोनिन की उपलब्धि और भी कम कर दी। आज की रीति यह है कि पौधो से पत्तियो एव कलियो को हाथ से चुनकर धूप में सुखा लेते हैं। यह रीति कम क्षयकारी है, क्योकि उन पौधो की जिनसे पत्तियाँ एव कलियाँ चुन ली जाती है, उपयोगिता बनी रहती है। इसमे उनकी भावी वृद्धि और विकास मे कोई बाधा नही पड़ती, अपितु उनमे नई पत्तियाँ निकलती हैं। समूचे पौवे को काटना न केवल भावी अभिवृद्धि के दृष्टिकोण से हानिकर है, अपितु श्रम एव परिवहन दोनो दृष्टियो से व्ययसाध्य है। भारतीय सैण्टोनिन के भौतिक एव रासायनिक गुणो का तुलनात्मक परीक्षण यह प्रदर्शित करता है कि यह रूसी सैण्टोनिन के समान होता है। यह बात निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जायगी —

आयातित रूसी सैण्टोनिन मानक (स्टैण्डर्ड)	भारतीय सेण्टोनिन (स्मिथ स्टेनिस्ट्रीट ब्राण्ड)
१—शीतल जल मे अत्यल्प विलेय, ठढे परिशोधित स्पिरिट के प्रति ४० भाग में, और क्वथनाक पर इसके ३ भाग में विलेय तथा क्लोरोफार्म के ४ भाग में विलेय	बिल्कुल मानक के समान
२—इसका क्रिस्टलन चपटे स्तम्भ रूप मे, या (पख सदृश) विकीर्ण समूह मे, या परती पट्ट (flaky plates) रूप में होता है। यह गधरहित तथा पहले स्वाद-	मानक के समान

हीन, पर पीछे कडवा स्वादवाला हो जाता है। शीतल ऐल्कोहॉल के विलयन मे अत्यधिक कडवा स्वादवाला होता है।	मानक के समान
३—गरम किये जाने पर यह आरक्त भूरे रग का हो जाता है और श्वेत धूम-विसर्जन करता है,और ठढा होने पर निर्मल भूरे रग के काचाभ पिण्ड मे जम जाता है और फिर इस पर थोडा शुष्क क्षार या बुझे चूने को डालने से इसका रग लाल हो जाता है।	
४—प्रकाश में, विशेषकर सूर्य के प्रकाश मे, खुला रखने से सैण्टोनिन का रग पीला हो जाता है और इस प्रकार परिवर्तित सैण्टोनिन का उष्ण ऐल्कोहॉल में विलेय पीले रग का होता है। पर ठढा होने पर रग-हीन क्रिस्टल्स नीचे जम जाते है।	मानक के समान
५—क्लोरोफार्म में वामावर्त—१७१ ४°	क्लोरोफार्म में वामावर्त —१६१ २°
६—विशिष्ट गुरुत्व १ १८६६	बिल्कुल स्टैण्डर्ड के समान
७—यह १७१°-१७२° से० पर पिघल जाता है।	१६९° पर नर्म हो जाता है और १७१° से० पर पूर्ण रूप से पिघल जाता है।
८—राख नगण्य मात्रा मे प्राप्त होती है।	नगण्य राख

जो थोडा-सा अन्तर दिखायी पडता है वह सम्भवत अपद्रव्य (impurity) के अवशेष के कारण है। भारतीय सैण्टोनिन का भेपजीय गुण-कर्म एव उसकी विपालुता भी यूरोप से आयातित सैण्टोनिन के अनुरूप ही होती है। अनेको बिल्लियो को, जिनके मल की जाँच करने पर बेलैस्कैरिस (Belascaris) तथा अकुशकृमि (हुकवर्म) के अण्डाणु पाये गये थे, यह भेषज ४५ से ८० मिलिग्राम की मात्रा मे दिया गया था। फलस्वरूप मल के साथ बेलैस्कैरिस बाहर निकल आये तथा उसके अण्डाणु मल में नही दिखाई पडे और बिल्लियो पर उसके विपालु प्रभाव का कोई भी लक्षण नही दिखाई पडा।

इस भेपज के चिकित्सीय प्रभाव की जाँच अनेक रोगियो पर परीक्षणो द्वारा अलीपुर सेन्ट्रल जेल मे तथा कारमाइकेल अस्पताल (Carmichael Hospital for Tropical Diseases) में की गयी थी। भारतीय सैण्टोनिन, कैलोमेल (Calomel) और सोडियमबाइकार्बोनेट के साथ मिलाकर दिया गया था। भारतीय सैण्टोनिन का परिणाम यूरोप मे आनेवाले सैण्टोनिन के परिणाम के प्राय समान ही रहा। ऐस्केरिस पर इसका प्रभाव कीनोपोडियम (Chenopodium) की अपेक्षा अधिक पडा। डा० मेपलेस्टोन के हाल के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि ऐस्केरिस मे दोनो औपधियो (सैण्टोनिन और कीनोपोडियम) को मिलाकर देने मे जितना अधिक लाभ होता है उतना अलग-अलग देने से नही। व्यावसायिक उद्देश्य से जिन पौधो को व्यवहार में लाया जाय उनमें कम-से-कम १ २ प्रतिशत सैण्टोनिन होना चाहिये। साधारणत भारतीय आर्टिमिसिया में तुर्किस्तान से आनेवाले रूसी आर्टिमिसिया सिना की अपेक्षा बहुत कम सैण्टोनिन होता है। कश्मीर मे होनेवाले आर्टिमिसिया में १—२ प्रतिशत सैण्टोनिन की उपस्थिति अनेको अनुसधायको (कृष्णा और वर्मा) द्वारा बतायी गयी है और कुर्रम-घाटी मे होनेवाले आर्टिमिसिया मे १-१ ६ प्रतिशत (बखार)। बाल्डविन ने भारतीय आर्टिमिसिया से सैण्टोनिन के अतिरिक्त दो और क्रिस्टलीय तत्त्वो को एकलित किया है, एक आन्त्रकृमिघ्न कार्य के लिए कम प्रभावशाली सैण्टोनिन और दूसरा स्यूडोसैण्टोनिन, जो आन्त्रकृमिघ्न गुणो से रहित होता है। आर्टिमिसिया मैरिटिइमा में पाया जानेवाला एक अन्य तिक्त तत्त्व आर्टिमिसिन है। आर्टिमिसिया मैरिटिइमा की सभी जातियो मे सगन्ध-तैल होते है जिनकी मात्रा (२-३ प्रतिशत) और सघटन मे भिन्नता होती है। व्यापार मे मिलने वाला गाढा पीला तेल सैण्टोनिन-फैक्टरियो का उपोत्पाद (बाइप्राडक्ट) होता है। पाकिस्तान से आनेवाले सगध-तैल मे २७ ८ प्रतिशत सिनियोल (Cineole) और ७-८ प्रतिशत थूजोन (Thujone) पाया गया है। आर्टिमिसिया मैरिटिमा वराइटी काजाकेविज (*A maritima var Kazakewicz*) मे एक तेल मिलता है (० ६ प्रतिशत) जिसमे ३६ प्रतिशत कपूर पाया जाता है। १९४७ के उपद्रव के पूर्व कश्मीर मे उपलब्ध आर्टिमिसिया का परिमाण प्रतिवर्ष १८० टन से अधिक आँका गया था, किन्तु तब से उत्पादन बहुत कम हो गया है।

कृषि —ऊपरी कुर्रम में सैण्टोनिन-सम्पन्न आर्टिमिसिया उपजाने के प्रयास किये जा चुके है। बीज से या मूल-कर्तन से अकुरित होकर पौधो की अभिवृद्धि खूब अधिक हुई। कुर्रम-घाटी का वह क्षेत्र, जिसमे आर्टिमिसिया की खेती होती है, काफी बढा दिया गया है। कश्मीर, हिमाञ्चल, चक्राता (उत्तर प्रदेश) आदि स्थानो मे सैण्टोनिन-

युक्त आर्टिमिसिया के प्रजनन के प्रयत्न किये जा रहे हैं। ऐसा देखा गया है कि इस पौधे का प्रजनन बीजो द्वारा या मूल-कर्तन से बडी आसानी से किया जा सकता है। बोये जाने के दूसरे वर्ष इसकी वृद्धि पर्याप्त रूप मे होती है पर पहले कुछ वर्षों मे सैण्टोनिन अपेक्षाकृत कम रहता है।

जापान से आर्टिमिसिया मॅरिटिमा के और रूसी-तुर्किस्तान मे आर्टिमिसिया सिना के बीज इस पुस्तक के लेखको को उपलब्ध हो चुके है और वे कश्मीर में बोये गये है। आर्टिमिसिया सिना के बीज अकुरित ही नही हुए। कृषि द्वारा नमूनो का विश्लेषणात्मक परिणाम निम्नलिखित है—

रोपणी (Nursery)	पौधों की आयु	सैण्टोनिन-उपस्थिति
१—बारामुल्ला ५,५०० फीट समुद्र की सतह से ऊँचाई पर	१ वर्ष	० ३५ प्रतिशत
२—श्रीनगर ५,००० फीट	१ वर्ष	० ३१ प्रतिशत
३—श्रीनगर ५,००० फीट	२ वर्ष	०.४७ प्रतिशत
४—शिमला ७,००० फीट	२ वर्ष	० ६१ प्रतिशत
५—यारिखा ७,००० फीट (चेनाब-घाटी के बीज)	१ वर्ष	० ४५ प्रतिशत
६—यारिखा ७,००० फीट (जापान के बीज)	१ वर्ष	० २९ प्रतिशत

परीक्षण करने पर जो परिणाम उपलब्ध हुए वे स्टैण्डर्ड तक नही पहुँचते, किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि सुधारी हुई रीति से खेती करने पर पौधो के बडे हो जाने पर सैण्टोनिन की मात्रा बढ सकती है।

आर्टिमिसिया के पौधे मरुद्भिदी (xerophytic) होते है। मध्येशिया के अर्धमरुस्थली क्षेत्रो में, जहाँ उच्च और निम्न ताप-विषमता अधिक रहती है, वे पैदा होते है। रेतीली लवण-भूमि मे इसकी वृद्धि अधिक होती है। कुर्रम की मिट्टी के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि उसमे पोटाश, लवण और महीन रेत अत्यधिक मात्रा में है। शुष्क जलवायु एव रेतीली लवण-भूमि इसकी खेती के लिए सर्वोत्तम प्रतीत होती है। कुर्रम के आर्टिमिसिया मे पाये जानेवाले सैण्टोनिन मे ऋतु-विभिन्नता (seasonal variation) के अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि लगभग जून के दूसरे सप्ताह तक सैण्टोनिन केवल पत्तियो में ही सन्निहित रहता है और मई-अन्त तथा जून-अन्त के बीच, जबकि कलियाँ

निकलने लगती है, सबमे अधिक परिमाण में उपलब्ध होता है। तदनन्तर सैण्टोनिन कलियो मे आता है और १० अगस्त तथा १० सितम्बर के बीच, जब कलियाँ खिलने को होती हैं, सबसे अधिक परिमाण मे उनमें उपलब्ध होता है। कलियो के विकसित हो जाने के बाद सैण्टोनिन की मात्रा मे बड़ी तीव्र गति मे ह्रास होता है। हाण्डा, कपूर और चोपडा (१९५३ ई०) ने देखा है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रो में आर्टिमिसिया के फूलने का समय भिन्न-भिन्न है। सिन्ध की घाटी मे इसके फूलने का समय जुलाई है, जबकि चेनाब-घाटी के भीतरी शुष्क क्षेत्रो मे यह नवम्बर के अन्त मे फूलता है। गढवाल मे यह सितम्बर मे फूलता है।

आर्थिक सम्भावनाएँ

सैण्टोनिन (ब्रिटिश) भेषजकोश के सर्वाधिक मूल्यवान भेषजो में से एक है। इसका वर्तमान मूल्य २००-३०० रु० प्रति पौण्ड है। गत महायुद्धो के समय तथा उसके कुछ बाद तक भी यह ७०० रु० प्रति पौण्ड बिकता था। ३ ग्राम की एक खुराक का दाम लगभग एक रुपया था। भारत-जैसे गरीब देश में सर्वसाधारण के इलाज के लिए ऐसे स्रोतो को ढूढ निकालना अत्यन्त आवश्यक है जिससे सैण्टोनिन सस्ते मूल्य मे उपलब्ध हो सके। अब इसके उत्पादन एव व्यापार पर रूस का एकाधिकार है। भारत मे इसकी एक सीमित मात्रा का उत्पादन 'कश्मीर फार्मास्युटिकल वर्क्स' द्वारा बारामुल्ला, कश्मीर मे किया जा रहा है। इसमें प्रतिवर्ष २,२०० पौण्ड सैण्टोनिन उत्पन्न किया जाता था, पर आर्टिमिसिया कम मिलने के कारण उत्पादन घट गया है। भारत में इसकी वार्षिक खपत कुल १०००-१२०० पौण्ड है और १९४५ ई० में इसके प्रति पौण्ड का मूल्य १४ से १६ रु० था। इसके मूल्य का स्तर एक अन्तर्राष्ट्रीय पूल-सिस्टम (pool system) द्वारा निर्धारित किया जाता है। चिकित्सीय दृष्टिकोण से भारतीय सैण्टोनिन उतना ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ है जितना रूसी सैण्टोनिन।

इस देश के निवासियो में गोलकृमि (एेस्केरिस) और सूत्रकृमि (आक्सीयुरिस) का सक्रमण वस्तुत बहुत अधिक होता है। कलकत्ता के स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन और हाइजीन के कृमिविज्ञान (हेल्मिन्थॉलॉजिकल) विभाग के प्राक्कलन से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। बर्मा, आसाम, उडीसा और मद्रास के कुछ भागो में, जहाँ बहुत अधिक वर्षा होती है और वर्षाऋतु में धरातल पर चारो ओर पानी का ही आधिक्य रहता है, ६५ प्रतिशत से अधिक लोग इससे आक्रान्त मालूम पडते हैं। बगाल तथा बम्बई के कुछ भागो मे ३५ से ५० प्रतिशत तक और उत्तर प्रदेश में १५ से २० प्रतिशत लोग इससे पीडित रहते है। भारत के पजाब एव राजपूताना-जैद्र शुष्क प्रदेशो

में, उपर्युक्त प्रदेशो की अपेक्षा यह रोग कम होता है, फिर भी पीडित लोगो की सख्या काफी होती है। इसलिए सैण्टोनिन की कितनी बडी मॉंग हो सकती है, इसका अनुभव किया जा सकता है। इस परिस्थिति में सैण्टोनिन-उद्योग का विकास सभी सम्बद्ध लोगो के लिए लाभप्रद होगा।

आर्टिमिसिया ऐब्सिन्थियम (*A. absinthium* Linn) वर्मउड (Wormwood)

नाम—अ० और फा०—अफसान्थिन।

यह एक सगध-तिक्त बूटी है, जो कश्मीर मे ५,००० से ७,००० फुट की ऊँचाई पर पायी जाती है। आर्टिमिसिया ऐब्सिन्थियम का गन्ध-तैल (लगभग ० ३ प्रतिशत) 'ऐब्सिन्थ' के सघटको में पाया जाता था। चूँकि यह (ऐब्सिन्थ) व्यसन (addiction) उत्पन्न करता है, इसलिए इसका उपयोग निषिद्ध कर दिया गया है। वाणिज्य-तैल का उत्पादन अमेरिका मे किया जाता है और उसके मुख्य सघटक है थूजोन (Thujone) और थुजिल ऐल्कोहॉल (Thujyl alcohol) (फिन्नेमोर ८४४)। वर्मउड-तैल पचनागो (digestive organs) पर उद्दीपक तथा वल्य प्रभाव डालता है और यदा-कदा उसका वाह्य प्रयोग भी होता है। इस पौधे में तिक्त ग्लाइकोसाइड, ऐब्सिन्थिन एव एक क्रिस्टलीय यौगिक भी पाया जाता है। इसकी सूखी पत्तियो एव पुष्पमुण्डको में औषधीय गुण रहते है। इसके टिंक्चर (बी पी सी) का उपयोग वल्य एव पाचक के रूप मे होता है। इसके अतिरिक्त, भारत में वन्य अवस्था में पैदा होनेवाली अन्य आर्टिमिसिया की स्पीशीज है, जिनमे से कुछ का सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

आर्टिमिसिया ड्रैकुन्कुलस (*A. dracunculus* Linn)

यह एक बहुवर्षी (perennial) बूटी है जो पश्चिमी तिब्बत (१४,०००-१६,००० फुट) और लाहौल में पायी जाती है। इस बूटी में लगभग ० ३ प्रतिशत सगध तैल होता है जो एनिस तैल Anise के समान महकता है। इसकी पत्तियाँ और इसका सगध तैल सिरका (vinegar) के सुस्वादन के लिए और मसाले के रूप मे व्यवहृत होता है। इसकी खेती, इसके सगध तैल के लिए जिसे तरागॉन का तेल (oil of taragon) कहते है, फ्रास मे होती है।

आर्टिमिसिया पैलेन्स (*A. pallens* Wall ex DC)

नाम—म०, त० एव कन्न०—दवना

यह एकवर्षी सगध पोधा है, जो दक्षिण भारत के कुछ भागो मे और खासकर मैसूर-राज्य मे पायी जाती है। पूना के आस-पास भी इसकी खेती होती है। इसकी सुगन्धित पत्तियाँ पुष्प-अलकरण मे काम आती है। इसमे ० २२–० ५८ प्रतिशत तेल पाया गया है। यह तेल अमेरिका मे परिमल-व्यापार मे (perfumery trade) बहुत लोकप्रिय है। वहाँ १९४०–४१ ई० मे यह ३५०–४०० रु० प्रति पौण्ड बिका करता था। इस पौधे की थोडी खेती मैसूर शहर के पास होती है।

आर्टिमिसिया सैक्रोरम (*A sacrorum* Ledeb)

यह स्पीशीज पश्चिमी तिब्बत, कुनावार और कुमायूँ के तिब्बती क्षेत्रो मे (१०,०००–१२,००० फुट) पायी जाती है। कहा जाता है कि इसका प्रयोग घोडो के मस्तिष्क-विकार मे किया जाता है। इसमे १ प्रतिशत सगघ तैल पाया जाता है जिसमे १९ २६ प्रतिशत सिनिओल (Cineole) और ६ प्रतिशत कपूर होता है।

आर्टिमिसिया सिवर्सिआना (*A. siversiana* Ehrh ex Willd)

आर्टिमिसिया ऐब्सिन्थियम के समान ही यह एकवर्षी बूटी है जो पश्चिमी हिमालय मे कश्मीर से लाहौल (८,०००–१०,००० फुट) तक और पश्चिमी तिब्बत मे पायी जाती है। यह औषधीय महत्व की कही जाती है और पशुओ के चारे के काम में भी आती है। यदि पशुओ के चारे में यह ४० प्रतिशत भी रहे तब भी दूध के सघटन पर इसका कोई असर नही पडता। इसमें १५ ५ प्रतिशत प्रोटीन और ५ १२ प्रतिशत वसा होता है जिनका क्रमश ६२ २ एव ७१ ४ प्रतिशत पाचक गुणाक (digestive coefficient) है।

आर्टिमिसिया वल्गेरिस (*A vulgaris* Linn)

भारतीय वर्मवुड (*Indian wormwood*)

नाम—हि० और ब०—नागदौना, म०—ढोरदवणा, त०—माचिपत्री, कश्मी०—तिथवान।

यह एक ऊँचा सुरभि क्षुप है, जो समूचे भारत के पर्वतीय क्षेत्रो (पहाडी इलाको) मे पाया जाता है और पश्चिमी हिमालय में १२,००० फुट की ऊँचाई तक तथा सिक्किम, खासिया, अवा और मर्तवान के पहाडो पर ५,००० से ८,००० फुट की ऊँचाई तक उगता है। यह पश्चिमी घाटो पर और मारवाड मे आबू पहाड पर पैदा होता है। इसकी पत्तियाँ तथा पुष्पमुण्डक भारतीय चिकित्सा मे तन्त्रिका सम्बन्धी और उद्वेष्टकर (spasmodic) विकारो में व्यवहृत होते है। यह पूतिरोधी (antiseptic)

कफनिस्सारक तथा आन्त्रकृमिघ्न भी हैं। इसमें लगभग ० २ प्रतिशत वाष्पशील तैल पाया जाता है। यह तेल, मिट्टी के तेल की तरह, मच्छरों के लिए अच्छा डिम्भनाशक (larvicide) भी कहा जाता है, यद्यपि इसका कीट-नाशक प्रभाव अत्यल्प होता है।

सन्दर्भ

(1) Chopra and Chandler, 1924, *Ind Med Gaz*, 59, 537, (2) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (3) Allen, 1928, *Commercial Organic Analysis*, Vol. VI, (4) Maplestone, P A and Mukrjee, A K, 1931, *Ind. Med Gaz*, 66, 627, (5) Chopra R N, and Mukerjee B, 1931, *Ind Med, Gaz*, 66, 622, (6) *Wealth of India* · Raw Materials 1948, 1, 120, (7) Handa, Kapoor, Chopra and Parbhakar, 1953, *Ind Jour Pharm*, 15, 43, (8) Qazilbash, N A, 1942, *J Pharm and Pharmacol*, 343, 323, 1948, 21, 320, (9) Qazilbash N A, 1943, *Curr Sci*, 12, 233, (10) Chistova, 1936, *Chem Abstr*, 30, 3940, (11) *Kopurrin*, 1933, *Chem Abstr*, 27, 3759; (12) Chopra, Roy, and Ghosh, 1940, *Jour Malaria Inst India*, 3, 495

ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा (सोलेनेसी)

Atropa acuminata Royle (Solanaceae)

डेडली नाइट शेड, बेलाडोना, भारतीय बेलाडोना

(Deadly Night Shade, Belladonna, Indian Belladonna)

नाम—व०—येब्रुज, बम्ब०—गिरबूटी, हि०—सागअंगूर, अंगूरशेफा, लुकमुना, कश्मी०—मैतब्राण्द, जलकाफल, प०—सूची, अंगूरशेफा।

ऐट्रोपा जीनस में वानस्पतिक औषधियों की चार स्पीशीज होती हैं, जो भूमध्य-सागरीय प्रदेशों, दक्षिणी यूरोप तथा एशिया में पायी जाती हैं। इनमें ऐट्रोपा बेलाडोना (*A belladonna* Linn.) बहुत दिनों से यूरोप में एक प्रसिद्ध औषधि रही है, किन्तु भारतीय स्पीशीज, जो यहाँ वन्य अवस्था में पायी जाती है, ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा (*A acuminata*) (भारतीय बेलाडोना) है। अनेक वर्षों तक इस पौधे के ठीक वानस्पतिक नाम के बारे में भ्रम फैला रहा। फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश-इण्डिया (Flora of British India) में इसे ऐट्रोपा बेलाडोना (*A belladonna*) की

संज्ञा दी गयी थी किन्तु इसके वर्गीकरण के ठीक-ठीक इतिहास की खोज करने से ज्ञात हुआ कि अठारहवी सदी के मध्य में इसका वर्गीकरण किया गया था, जिसके आधार पर अब इसे ऐट्रोपा एक्यूमिनेटा नाम दिया गया है। यह भी सुझाव दिया गया है कि इसे ऐट्रोपा बेलाडोना वराइटी ऐक्यूमिनेटा (*A. belladonna* Linn var *acuminata*) भी कहा जा सकता है क्योकि ऐट्रोपा बेलाडोना के साथ इसके आकृतिक, शारीरीय (anatomical) एव रासायनिक वैशिष्ट्य का अतिशय साम्य है। यह पौधा एक सीधा, लम्बा, बहुवर्षी, क्षुपीय बूटी, २-५ फुट ऊँचा होता है, एव शाखाएँ द्विशाखी (dichotomous) होती हैं। इसकी पत्तियाँ दीर्घायत उपाण्ड (oblong elliptical) एव दोनो सिरे (अग्रक और आधार) शुण्डाकार (tapering) होती हैं। पुष्पी शाखाओ मे युग्म पत्तियाँ निकलती है। पत्तियाँ हरे रग की 'या जैतून हरित (olive green) होती हैं और इनकी लम्बाई ३ से ८ इच तथा चौडाई १ ५ से २ ५ इच होती है। इसके फूल कक्षस्थ, धुँधले पीले, अधोमुख और घण्टाकार होते हैं जो अकेले, या दो अथवा चार के गुच्छो में लगते है। जून से अगस्त तक इसके फूलने का समय है। इसका फल सरस और गोल होते हैं और अक्टूबर मे पक जाने पर चेरी (cherry) के सदृश दिखाई पडते हैं। मूल स्तम्भ १ से २ इच लम्बा, कठोर और काष्ठीय होता है। जडें सूखने पर लम्बाई में वलित (wrinkled) हो जाती हैं। यह भजन (fracture) में चीमड (tough) होता है।

बेलाडोना और इसका ऐल्केलॉयड ऐट्रोपीन पाश्चात्य चिकित्सा में अधिकतर शामक (sedative), उद्वेष्टरोधी (antispasmodic) और आँख की बीमारी में तारा विस्फारक (mydriatic) के रूप में व्यवहृत होते हैं। अफीम, मस्कैरिन (muscarine) आदि विष के लिए यह बडा मूल्यवान प्रतिविष है। बेलाडोना एक अत्यधिक विषालु भेषज है। टिंक्चर बेलाडोना के मानकीकरण मे यह ध्यान रखना चाहिये कि उसमें ० ०३ प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहे। इसकी एक खुराक ५-३० बूँद होती है। इससे अधिक मात्रा की खुराक विषालु होती है। बेलाडोना के तात्कालिक विष-प्रभाव का परिणाम होता है, मुख, कण्ठ तथा चर्म का सूखना, पुतलियो का विस्फारित हो जाना एव चक्कर आना। तदनन्तर श्वसनतन्त्र निष्क्रिय हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है। वमनकारक द्रव्यों द्वारा पेट को खाली कराके या धोकर परिमित मात्रा मे मार्फीन प्रतिविष के रूप में दिया जा सकता है। कृत्रिम श्वसन तथा कार्बन डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन का निश्वसन बेलाडोना के विष की प्रारम्भिक अवस्था में लाभदायक होता है।

यद्यपि यह एक अत्यधिक शक्तिशाली भेषज है, फिर भी भारत के प्राचीन चिकित्सकों का ध्यान इसके औषधीय गुणों की ओर नहीं गया था क्योंकि भारतीय द्रव्यगुणशास्त्र में इस भेषज का कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिन (पर्वतीय) क्षेत्रों से बिल्कुल निरर्थक भेषज बड़ी सतर्कता के साथ एकत्रित करके भारत के मैदानी इलाकों में भेजे जाते थे वहीं बेलाडोना भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है, फिर भी कुछ वर्ष पहले तक इस महत्त्वपूर्ण भारतीय भेषज (बेलाडोना) की एक भी पत्ती या जड़ बड़े केन्द्रों में स्थित भारतीय भेषज की दूकानों से नहीं खरीदी जा सकती थी। यह भेषज इतना अज्ञात था कि डीमॉक के फार्माकोग्राफिआ इण्डिका (Dymock's Pharmacographia Indica) तथा मोहीदीन शरीफ (Mohideen Sheriff) के ग्रन्थ में भी जिन्हें भारतीय भेषज पर सर्वाधिक पूर्ण एवं विश्वसनीय ग्रन्थ माना जाता है इसका कोई उल्लेख नहीं है। औषधि में बेलाडोना का व्यवहार दो रूपों में होता है—बेलाडोना फोलियम और बेलाडोना रैडिक्स। बेलाडोना फोलियम के अन्तर्गत पत्तियां और मुण्डक दोनों आते हैं, ये पत्तियां और मुण्डक जिस समय पौधा फूलता है उसी समय संगृहीत कर लिये जाते हैं। इसमें ०.१५–०.७ प्रतिशत—औसतन ०.४ प्रतिशत ऐल्केलॉयड जिसकी गणना हाइओसियामीन (Hyoscyamine) के रूप में की जाती है, रहता है। ब्रिटिश भेषजकोश के अनुसार कम-से-कम ०.३ प्रतिशत ऐल्केलॉयड होना चाहिये। बेलाडोना रैडिक्स के अन्तर्गत सूखी जड़ें आती हैं जिनमें ०.६०—०.९६ प्रतिशत ब्रिटिश भेषजकोश में न्यूनतम ०.४ प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहता है। ये जड़ें साधारणतः शरद् ऋतु में संगृहीत की जाती हैं। एक वर्ष की पुरानी जड़ों में सर्वाधिक ऐल्केलॉयड होता है, पर (आर्थिक) लाभ की दृष्टि से इस समय का संग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि एक वर्ष की जड़ें छोटी होती हैं। इसलिए प्रायः दो तीन वर्ष की पुरानी जड़ें संग्रह की जाती हैं। जड़ें खोदकर निकालने के बाद धो दी जाती हैं और टुकड़े-टुकड़े काटकर सुखा दी जाती हैं। हिमालय पहाड़ पर शिमला से लेकर कश्मीर तक समुद्र की सतह से ६,००० फुट से १२,००० फुट की ऊँचाई पर यह पौधा प्रचुर मात्रा में पैदा होता है और कुनावर में भी ८,५०० फुट की ऊँचाई पर वन्य अवस्था में पाया जाता है। उत्तरी हिमालय के उन क्षेत्रों से, जो परिवहन-सुविधा के स्थानों से बहुत दूर नहीं हैं, कुछ परिमाण में जड़ें उपलब्ध हो सकती हैं।

यह पौधा जम्मू-कश्मीर राज्य में सिन्धु, झेलम, लिद्दर और चेनाब की घाटियों के जंगलों में सामान्यतया पाया जाता है। यह हिमाञ्चल प्रदेश, कुलू और पार्वती की घाटियों तथा शिमला की पहाड़ियों के जंगलों में भी पाया जाता है। प्रकृत रूप से

(वन्य अवस्था में) उगने वाले भारतीय बेलाडोना के गुण का अध्ययन करने के लिए, इसकी पत्तियाँ तथा जड़ें कश्मीर, हिमाञ्चल प्रदेश, कांगड़ा और कुलू की घाटियों के वन्य-स्थलों से एकत्रित की गयी थी जिनसे उपलब्ध ऐल्केलॉयड का प्रतिशत निम्न-लिखित है —

प्राप्तिस्थान	व्यवहृतभाग	ऐल्केलॉयड की मात्रा (प्रतिशत)
कश्मीर	पत्तियाँ	०.२५—०.४०
	जड़ें	०.३०—०.५०
हिमाञ्चल प्रदेश	पत्तियाँ	०.३५
	जड़ें	०.६८
कांगड़ा और कुलू घाटियाँ	पत्तियाँ	०.८८

विगत दोनों महायुद्धों के दिनों में पत्तियों तथा जड़ों का निर्यात बहुत अधिक परिमाण में किया गया था, पर कम ऐल्केलॉयड होने के कारण वे पसन्द नहीं की गयी। सम्भवतः इसके ये कारण थे (१) निर्यातित पत्तियों का संग्रह सभी अवस्थाओं के पौधों से किया गया था और जड़ों का संग्रह भी परिपक्व तथा अपरिपक्व पौधों से किया गया था, (२) जिन भेषजों का निर्यात किया गया था उनमें फाइटोलैक्का एसिनोसा (*Phytolacca acinosa*) की जड़ें तथा पत्तियाँ मिश्रित रहीं, जिनके कारण ऐल्केलॉयड में कमी पायी गयी। पत्तियों तथा जड़ों दोनों में ऐल्केलॉयड की अल्पता के कारणों का निर्णय करने के लिए व्यवस्थित अध्ययन किया गया। ऐसा विचार किया गया कि संग्रहकाल के विनियमन द्वारा, जब कि पत्तियों में सर्वाधिक ऐल्केलॉयड वर्तमान रहता है, इस भेषज के गुण को समुन्नत किया जा सकता है। अतः, जून के प्रारम्भ से, वन्य पौधों से पत्तियों का पाक्षिक संग्रहण कश्मीर के विभिन्न वन्य क्षेत्रों से किया गया। यह ज्ञात किया गया कि जुलाई-अगस्त के महीनों में जब कि पौधे फूलना प्रारम्भ करते हैं, पत्तियों में सर्वाधिक ऐल्केलॉयड रहता है। ज्यों-ज्यों मौसम बीतता जाता है पत्तियों में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम होती जाती है और नवम्बर के महीने में, जब फल लगता है, न्यूनतम हो जाती है। भारत के पर्वतीय प्रदेशों, जो बेलाडोना के प्राकृतिक स्रोत हैं, के अतिरिक्त अनेकों अनुकूल स्थानों में इस भेषज को पर्याप्त परिमाण में उपजाया जा सकता है। बेलाडोना की कृषि में जो महत्त्वपूर्ण कारक हैं वे ये हैं—नियमित जलोत्सारण (drainage), सरन्ध्रता (porosity) एवं खनिजतत्त्वों, यथा—पोटाश, सोडा, चूना आदि से युक्त मिट्टी (भूमि), ऐसा पर्वतीय स्थान जहाँ पर्णपाती (deciduous) वृक्षों द्वारा सूर्य के प्रकाश से सुरक्षा होती हो और जहाँ जनक पौधे

(parent plant) से दूर तक फैलनेवाली जडो के लिए पर्याप्त स्थान प्राप्त हो सके। इन आवश्यकताओ की पूर्ति कठिन नही है और चूँकि बेलाडोना की खेती के लिए अधिक खाद अपेक्षित नही है, अत व्यय की एक बडी राशि बच जाती है। भारत में बेलाडोना की खेती सफल होगी इसकी पूर्ण सम्भावना है, क्योकि बेलाडोना की जडो मे होनेवाले कवक (fungus) रोग की जिसके कारण विदेशो मे बेलाडोना की खेती मे भारी क्षति हुई है, कोई सूचना अभी तक यहा नही मिली है।

कृषि · गत दो-तीन दशाब्दियो से जम्मू-कश्मीर राज्य के वनो से अत्यधिक बेलाडोना के उखाड लिये जाने से इस भेपज का उत्पादन बहुत अधिक घट गया है और जिस परिमाण में यह इस समय मिलता है वह भारतीय भैषज्य-उद्योगो की माँग की केवल थोडी सी पूर्ति कर सकता है। इसके गुण मे भी अब ह्रास हो गया है। वन्य स्रोतो से इसे सग्रह करना साधारणत बडा कठिन और महँगा पड जाता है। पजाब की पार्वती घाटी तथा कश्मीर घाटी की उष्ण जलवायु मे इसकी परीक्षणात्मक कृषि की गयी थी। जम्मू प्रदेश में समुद्र की सतह से १,००० फुट की ऊँचाई पर ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा की जाडे के दिनो मे खेती के सफल प्रयास हो चुके है। दार्जिलिंग एव नीलगिरि की पहाडियो पर भी इसकी परीक्षणात्मक कृषि के प्रयास किये जा रहे है। तीन रीतियो से इसका प्रजनन किया जा चुका है (१) बीजो द्वारा, (२) जडो को टुकडे-टुकडे करके और (३) प्ररोह-कर्तन (shoot cutting) द्वारा। प्रजनन की विभिन्न रीतियो का अध्ययन करने के लिए दो रोपणियाँ (nurseries)—एक श्रीनगर में (५,००० फुट) और दूसरी यारिकाह मे (७,०००) फुट पर स्थापित की गयी थी।

बीज-अकुरण . बीजो के अकुरण में कितने दिन लगते है, इसका अध्ययन करने के लिए ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा के बीजो को लघु परिमाण मे सल्फ्यूरिक अम्ल के भिन्न-भिन्न सान्द्रण मे भिन्न-भिन्न काल तक डुबाकर रखा गया और तब उन्हे बोया गया। पहले देखा गया कि मार्च के आरम्भ में श्रीनगर मे बोये गये बीजो के जमने में ४-५ सप्ताह लगे, पर जब ८० प्रतिशत सल्फ्यूरिक अम्ल में दो मिनट तक भिगोकर बीज बोये गये तो अकुरण के उक्त समय में बहुत कमी हो गयी। यह भी देखा गया कि जब ये बीज जून-जुलाई के गर्म महीनो मे बिना किसी अम्ल मे डुबोये बोये गये तो इनके अकुरण मे १०-१५ दिन लगे। इन महीनो में दिन मे तापमान ८०° फा० या अधिक पहुँच गया था, यद्यपि रात का तापमान कम था। ऐसा प्रतीत होता है कि बीजो के अकुरण पर बोने के समय का यथेष्ट प्रभाव पडता है और दिन का तापमान इसमें बडा महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। मुकर्जी और दत्त ने बताया है कि जहाँ दिन में तापमान ७०° फा०

रहता है, रात मे चाहे भले ही कम हो, वहाँ बेलाडोना के बीज १८-२१ दिन में अंकुरित होते हैं।

इन नवपादपों का जड़ें निकल आने के बाद, शरदऋतु के आरम्भ मे भलीभाँति तैयार की गयी क्यारियों में प्रतिरोपण किया जा सकता था। शरदऋतु में प्रतिरोपित पौधे की कायिक वृद्धि (Vegetative growth) अवरुद्ध हो गयी और अनेकों पौधों की तरुण जड़ों पर शरत्-तुषार ने विपरीत प्रभाव डाला। शरद के अनन्तर आनेवाले वसन्त में प्रतिरोपण अच्छा समझा गया है। वसन्त मे यह पौधा शरद की अपेक्षा अधिक बढ़ता है, इसके अतिरिक्त एक और भी लाभ है कि वसन्त में काटनेवाले कीड़े कटुवा सूँडी (Cutworm) ऐग्रॉटिस फ्लैमिट्रा (*Agrotis flammetra*) इन नये पौधों को क्षति नहीं पहुँचाते। इस समय उनका अभाव होता है जब कि वे जून-जुलाई के महीनों में सक्रिय होते हैं। नवपादप का प्रतिरोपण करते समय भूमि में लगभग २-३ इंच गहरा वेज-नाली (wedge) बना दिया जाता है और उसमें उसकी जड़ें डालकर उसे सीधा रखते हुए उसके चारों ओर मिट्टी थोड़ी सी दबा दी जाती है। प्रतिरोपण के तुरन्त बाद उसके चारों ओर फौव्वारे से पानी सींच देते हैं। यदि प्रतिरोपण जून-जुलाई के अन्त में हो रहा तो यह वाञ्छनीय है कि जब तक पौधा की जड़ें अच्छी तरह जमीन में जम न जायें तब तक के लिए चीड़ की पत्तियों से छाया कर देनी चाहिये। जब तक उनमें नई पत्तियाँ न आ जायें तब तक हमेशा उनकी सिंचाई होती रहनी चाहिये। ये नवपादप बड़े कोमल होते हैं, अतः बड़ी सावधानी से उनकी देखरेख करनी चाहिये।

मूलकर्तन (root division) तीन-चार वर्ष की या उससे पुरानी जड़ों को एक-एक इंच के छोटे-छोटे टुकड़ों मे, जिनमें एक-एक कली भी रहती है, काट दिया जाता है और अच्छी तरह भूमि मे रोप दिया जाता है। यह देखा गया है कि बेलाडोना के पौधे बड़ी तेजी से बढ़ते हैं और थोड़े ही समय में उनकी वृद्धि, ऊँचाई तथा पत्तियों का प्रसार उतना ही हो जाता है जितना कि जनक-पौधों की।

प्ररोह-कर्तन (shoot cuttings) इस रीति के अनुसार वर्धी प्ररोह (growing shoot) का कर्तन अच्छी तरह तैयार की गयी क्यारियों में प्रतिरोपित कर दिया जाता है और उन्हें बार-बार जल से सींचते रहते हैं। यदि वसन्त के प्रारम्भ में, जब जनक पौधों में अनेक प्ररोह नहीं होते, प्रतिरोपण-कार्य सम्पन्न हो जाय तो प्रजनन अपेक्षाकृत अधिक सफल होता है। प्ररोह, जो १०—१५ फुट लम्बे हो सकते हैं, अपने स्तम्भ के नीचे से (आधार से) काट लिये जाते हैं। उनके आधार पर जो बड़ी-

बडी पत्तियाँ होती है उन्हे पृथक कर दिया जाता है। यदि वसन्त के प्रारम्भ मे इसे रोप दिया जाय तो बार-बार सिचाई करने से लगभग एक महीने मे उन प्ररोहो मे नई-नई पत्तियाँ एव कलियाँ निकल आती हैं।

सिचाई . ऐसा देखा गया है कि पत्ती एव मूल के समुचित विकास के लिए पौधे तथा मूल को बार-बार सीचना अनिवार्य हैं और खेत की मिट्टी ऐसी होनी चाहिये कि जलोत्सारण भलीभाँति हो सके क्योकि पानी का एकत्रित हो जाना जडो के लिए हानिकर होता है। जब जडे मिट्टी मे दृढ और स्थिर हो जाती है तब क्यारियो को पानी से भर देना या हाथ से छिडकाव द्वारा सिंचाई करना नवपादप के लिए लाभप्रद होता है। जून और जुलाई के शुष्क महीनो मे पाक्षिक सिंचाई लाभदायक होती है। अक्टूबर-नवम्बर के महीनो मे बीज पुष्ट हो जाता है, इस समय पौधे को पानी की आवश्यकता सबसे कम होती है। इस विषय मे अभी और व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता है।

घास-निराई (weeding) यारिकाह जैसे स्थान पर जहाँ ७,००० फुट की ऊँचाई पर फार्म (खेत) स्थित है, बेलाडोना के खेत में अनेक तरह की घासे उगती है। अप्रैल और मई के महीनो मे **ब्रैसिका** (Brassica) की अनेक स्पीशीज उगती है। बीज-निर्माण से पहले इन छोटी घासो को निकाल देना आवश्यक है। **स्टैचिस सिबिर्का** (*Stachys sibirca*) एक अन्य कष्टदायक घास है जिसके बीज बहुत छोटे होते है, जो पककर झड जाते है जिससे आगामी फसल मे बडी कठिनाई होती है। इन बीजो से घास की अत्यधिक वृद्धि होती है जिसके कारण बेलाडोना का पौधा दबकर कमजोर पड जाता है। बेलाडोना के खेतो में अनेको अन्य प्रकार की घासें उगती हुई पायी गयी है, यथा—ऐजिरेटम स्पीशीज (*Ageratum* Sp), वर्बैस्कम थैप्सस (*Verbascum thapsus*), सेनेगियो स्पीशीज (*Senecio* Sp) आदि। इन घासो पर नियत्रण पाने का एकमात्र सबसे सस्ता और सफल उपाय यह है कि फूल लगने से पहले ही इन्हें उखाडकर फेक दिया जाय। यह देखा गया है कि मिट्टी की अच्छी गुडाई होने के कारण घास पहले कुछ वर्षो मे खूब जमती है।

सग्रह और सुखाना (collection and drying) इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि लगभग अगस्त के पहले सप्ताह मे, जब पौधा फूलने लगता है, पत्तियो में ऐल्केलॉयड की मात्रा अधिकतम होती है। माली के कैंचे (garden scissors) से पौधे को जमीन के दो इच ऊपर से काट लिया जाता है और कटाई के तुरत बाद खेत को सीच दिया जाता है। पौधे मे से पुन और अधिक सख्या मे प्ररोह

शीघ्र निकलते है जिन्हे सितम्बर मे काटा जा सकता है । काटे हुए पौधे को, विशेषकर नव-शाकी प्ररोह (young herbaceous shoot) को टुकडे-टुकडे काट दिया जाता है और उन्हे धूप मे पतले स्तर (thin layer) में फैलाकर सुखा लिया जाता है । समय-समय पर उन्हे रेक (rake) की सहायता से उलट-पलट दिया जाता है, अन्यथा ढेर मे नीचे पडी पत्तियाँ अवाछनीय रूप से गर्म हो जाती है ।

उपज (Yield) भारतीय वेलाडोना (ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा) की खेती करने पर प्रति एकड कितनी उपज होती है इसका आँकडा अभी मकलित नही किया जा सका है । नये कटे हुए प्ररोह के स्तम्भ, वृन्त और पत्तियो को मिलाकर औसतन प्रति एकड ४,००० पौण्ड उपज होती है जबकि खेत पूर्णत सस्ययुक्त हो और पौधो का दूसरा वर्ष चल रहा हो । पत्ती एव तना का औसत अनुपात भार में ५०-५० (बराबर-बराबर) होता है । वर्ष भर की प्रति एकड औसत उपज ५०० पौण्ड (शुष्कभार) है जिसमें ४४ प्रतिशत तना तथा ५६ प्रतिशत पत्तियाँ होती है । आर्द्रता की मात्रा पत्तियो की अपेक्षा तने मे अधिक पायी गयी है । तने मे औसतन ८८ प्रतिशत आर्द्रता होती है । मई से नवम्बर तक पत्तियो की आर्द्रता मे भिन्नता पायी जाती है । अप्रैल और मई के महीनो में पत्तियो और तनो में आर्द्रता अधिकतम होती है । इससे बाद के महीनो मे साधारणत यह घटने लगती है और अक्टूबर-नवम्बर में न्यूनतम हो जाती है ।

हानिकारक कीट (Pests) पौधो के प्रतिरोपण के समय **एग्रोटिस फ्लैमेट्रा** (*Agrotis flammetra*) कटुवा सूडी (Cutworm) या उसका लार्वा (grub) वेलाडोना की खेती के लिए बहुत घातक होता है । यह सरस (succulent) तने को जमीन के ऊपर काट देता है । जून और जुलाई के शुष्क महीनो मे यह बहुत अधिक प्रचण्ड हो जाता है, पर वर्षा के मौसम मे तथा सितम्बर-अक्टूबर के महीनो मे यह कम पाया जाता है । इसलिए अप्रैल-मई के महीनो में ही वेलाडोना-नवपादप का प्रतिरोपण सम्पन्न कर लेना चाहिये, ताकि उक्त कीडे के आक्रमण के पूर्व जडे विकसित होकर मजबूत हो चुकी रहे । कश्मीर में यह कीडा सामान्य रूप मे पाया जाता है और अन्य धान्य-सस्यो (cereal crops) को बहुत अधिक हानि पहुँचाता है । **टेनेब्रियोनिडी** (Tenebrionidae) कुल (कोलिओप्टेरा आर्डर) की **गोनोसेफैलम** (Gonocephalum) स्पीशीज का डिंभक (लार्वा) भी उक्त पौधे की जड पर आक्रमण करते देखा गया है । इसकी पत्तियो, पुष्पो और फलो पर भी आक्रमण करने वाले अनेको इल्ली (caterpillars) एव भृग (beetles) देखे गये है । हाल ही में, वेलाडोना की पत्ती पर रोमिल फफूद (downy mildew) देखी गयी है । इन कीडो के नियन्त्रण के कुछ उपाय ढूँढे जा रहे है, पर सम्प्रति इसका सर्वोत्तम उपाय यही है कि जिस समय कीडो

का आक्रमण प्रारम्भ होता है उससे पहले ही पौधो का प्रतिरोपण कर दिया जाय। वेलाडोना के कीट-नियन्त्रण एव कवक-क्षति की समस्या पर विस्तृत एव व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता है।

विभिन्न ऊँचाइयो पर स्थित रोपणी (nurseries) मे प्रजनन की विभिन्न रीतियो से ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा पर किया गया प्रारम्भिक कृषि-कार्य, पत्तियो में ऐल्केलॉयड की उपलब्धि की दृष्टि से, पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहा। इसे नीचे दर्शाया गया है—

* पत्तियो का स्रोत	† ऐल्केलॉयड की मात्रा, प्रतिशत	
	१९५०	१९५१
उन पौधो से, जो श्रीनगर की रोपणी (नर्सरी) मे ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह में प्रतिरोपित किये गये थे।	० ३१	० ५९
उन पौधो से जो जगलो मे (९,००० फुट) वन्य अवस्था में नवपादप (seedlings) रूप में प्राप्त किये गये थे और यारिकाह मे (७,००० फुट) प्रतिरोपित किये गये थे।	० ४३	० ७६
उन पौधो से जिन्हें जगलो मे वन्य अवस्था मे प्राप्त पौधो के मूल-कर्तन द्वारा यारिकाह मे प्रजनित किया गया था।	० ३२	०.७६

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बीजो से या मूलकर्तन से प्रजनित वेलाडोना की पत्तियो मे, प्रथम वर्ष में बहुत कम ऐल्केलॉयड होता है किन्तु द्वितीय वर्ष में इसकी मात्रा मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

स्थानीय वेलाडोना से सक्रियतत्त्व जिस परिमाण में उपलब्ध होता है उससे तुलना करने के लिए ऐट्रोपा वेलाडोना के बीज रॉयल बोटानिकल गार्डेन, क्यू, इगलैण्ड से

---

* पत्तियाँ उस समय एकत्रित की गयी थी जब पौधे फूल रहे थे।

† १० विश्लेषणो का औसत।

मँगाये गये और उनको यारिकाह् तथा श्रीनगर की रोपणी मे उगाया गया। देशीय और इगलिश बेलाडोना मे पुष्प के रग मे, पत्तियो की आकृति मे तथा पौधो के आकार और स्वरूप मे भिन्नता पायी गयी। इगलिश बेलाडोना की औसत ऊँचाई १२-२७ इच है और उसकी पत्तियाँ ३ २ से ९ २ इच लम्बी तथा १ ५ से ४ ५ इच चौडी होती है। इसकी शाखाएँ दूर-दूर तथा पत्तियाँ अण्डाकार होती है।

इस पौधे का प्रजनन मूल-कर्तन द्वारा भी श्रीनगर तथा यारिकाह् की रोपणियो में किया गया। उक्त पौधे की पत्तियो मे ऐल्केलॉयड निम्नलिखित परिमाण मे पाया गया—

पत्तियो का स्रोत *	ऐल्केलॉयड की मात्रा ** प्रतिशत	
	१९५०	१९५१
उन पौधो से, जो श्रीनगर की रोपणी (नर्सरी) मे ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह् में प्रतिरोपित किये गये थे।	० ४२	० ५१
उन पौधो से जो श्रीनगर की रोपणी (नर्सरी) में ५,००० फुट की ऊँचाई पर बीज से उगाये गये थे और यारिकाह् की रोपणी में (७,००० फुट) प्रतिरोपित किये गये थे।	० ४०	० ६१
उन पौधो से जिन्हे जगलो मे वन्य अवस्था मे प्राप्त पौधो के मूलकर्तन द्वारा यारिकाह् मे प्रजनित किया गया था।	० ४१	० ६४

सकर स्पीशीज (Hybrid Species) रोपणस्थली मे ऐट्रोपा बेलाडोना और ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा का सकर भी देखा गया है। यह सकर कुछ आकारिकीय विशिष्टताओ मे दोनो जनक-पौधो मे भिन्न होता है। सकर स्पीशीज मे दलपुज (corolla) का रग आधार पर पीला होता है किन्तु अग्रक पर बैगनी (नीलारुण), और पत्तियों

* पत्तियाँ उस समय एकत्रित की गयी थी जब पौधे फूल रहे थे।

** १० विश्लेषणो का औसत।

एव जडो मे ऐल्केलॉयड की मात्रा, जनक पौधो के मध्य (intermediate) की पायी जाती है। ऐट्रोपा स्पीशीज की पत्तियो मे शरीरक्रियात्मक दृष्टि से निष्क्रिय, वाष्पशील (volatile) ऐल्केलॉयड लेशमात्र मिलता है, पर मूल मे इसकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। ऐट्रोपा ऐक्यूमिनेटा में वाष्पशील ऐल्केलॉयड अधिकतम तथा ऐट्रोपा बेलाडोना मे न्यूनतम पाया जाता है, जबकि सकर स्पीशीज मे दोनो के बीच की मात्रा पायी जाती है।

निर्यात व्यापार (Export Trade) बेलाडोना के औषधीय योगो तथा इसके ऐल्केलॉयड ऐट्रोपिन का आयात भारत मे बहुत अधिक मात्रा में होता था। अभिलेखो (रेकार्डो) के परिशीलन से मालूम होता है कि भारत और यूरोप के बीच एक लम्बी अवधि तक इन अपरिष्कृत (औद्भिद) भेषजो (कच्चे मालो) का निर्यात-व्यापार पर्याप्त मात्रा मे हो चुका है। महायुद्धो के दिनो मे यह व्यापार असाधारण रूप से बढा और इसके उत्पादक (कृषक) इसका अत्यधिक मूल्य माँगते थे, ऐसा अशत इसलिए कि विश्व-बाजार मे इस भेषज का अत्यन्त अभाव था और यूरोपियन बेलाडोना की अपेक्षा भारतीय बेलडोना की जडो में अधिक ऐल्केलॉयड पाया जाता है। वस्तुत भारतीय बेलाडोना मे ऐल्केलॉयड पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है, जैसा कि विश्लेषणो से ज्ञात हुआ है। ब्रिटिश भेषजकोश मे उल्लिखित ० ४५ प्रतिशत के साथ तुलना करने पर भारतीय भेपज के कई मूल-प्रादर्शों (root specimens) में ऐल्केलॉयड की मात्रा ० ८१ प्रतिशत मिली और पत्तियो में (ब्रिटिश भेषजकोश मे उल्लिखित) ० ३ प्रतिशत के साथ तुलना करने पर ०.५० प्रतिशत। गत कुछ वर्षों से इस भेषज की पत्तियो एव जडो का मूल्य विदेशी-बाजारो मे बहुत नीचे गिर गया है, जिससे भारत के निर्यात-व्यापार को धक्का लगा है। अन्य भारतीय कच्चे माल की तरह ही भारतीय बेलाडोना पहले से ही विदेशी बाजारो में हेय दृष्टि से देखा जाता है। इस परिस्थिति के लिए भारतीय व्यापारियो का भी कुछ कम दोष नही। अपमिश्रण बहुत अधिक मात्रा मे किया गया है। न केवल अनभिज्ञ नौकरो (मजदूरो) द्वारा सभी अवस्था की जडे ही एकत्रित की गयी है, अपितु फाइटोलैक्का एसीनोसा (*Phytolacca acinosa*) नामक पौधे की जडें भी, जो देखने में बेलाडोना की जडो के ही समान लगती है, बेलाडोना की जडो मे बहुधा अपमिश्रित कर दी गयी है। हाल ही मे, वन्य अवस्था में पैदा होनेवाला भारतीय बेलाडोना बहुत अधिक मात्रा मे इगलैण्ड भेजा गया था, जिसमें उक्त अपमिश्रण हुआ था। यह भी स्मरणीय है कि भारत मे कही भी बेलाडोना की खेती वैज्ञानिक ढग से नही की जाती थी। अत नियमित रूप से तथा एक समान गुणयुक्त भेपज की उपलब्धि बराबर नही हो सकती थी। यद्यपि बेलाडोना

का निर्यात-व्यापार बहुत कम हो गया है, पर, हाल में एक बड़े हर्ष की बात ज्ञात हुई है कि भारत के भैषज्य-निर्माण करने वाले फर्म (manufacturing firms) अब भारतीय बेलाडोना की जड़ों से यहाँ की जनता के उपयोग के लिए औद्भिदीय (द्रव्य) योग (preparation of galenicals) तैयार करने लगे हैं। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भी कुछ भारतीय भैषज्य निर्माणकारी फर्म योग ऐल्केलायड निकालते थे।

सन्दर्भ :—

(1) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind Jour. Med Res*, 13, 533, (2) Dutt 1928, *Commercial Drugs of India*, (3) Youngken and Hassan, 1948, *J Amer Pharm Assoc*, 150, (4) Chopra, I C, Handa, K.L. and Kapoor, L D, 1946, *Ind J Agri Sci*, 16 434, (5) Dutt, S C and Mukerjee, B, 1950, *Bull Pharm Res Lab* (1), 104, (6) Kapoor L D Chopra I C and Som Nath, 1952, *Ind For*, 78, (1), 34, (7) Kapoor L D Handa K L and Karam Singh, 1951, *Ind Jour Pharm*, 13, 239, (8) *Wealth of India* Raw Materials, 1948, 1, 139, (9) Kapoor, L D, Handa K.L and Chopra I.C 1952, *Jour Sci Industr. Res*, 11 A, 534

कैमेलिया साइनेन्सिस (थीसी)

Camellia sinensis (Linn.) O. Kuntze (Theaceae)

पर्याय . कैमेलिया थी, कैमेलिया थीफिरा (Syn *Camellia thea* Link, *C theifera* Griff) चाय का पौधा (Tea Plant)

नाम—हि०, बं० - चाय, चा, म०—चहा, त०—तेयाइ, ते०—थेयाकु।

कॉफिया अरेबिका (रूबिएसी)

Coffea arabica Linn (Rhubiaceae)

कॉफी का पौधा (Coffee Plant)

नाम—अ० और भारतीय बाजार—कहवा

कैफीन एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ऐल्केलॉयड है जो औषधि में व्यवहृत होता है। केन्द्रीय तन्त्रिकातन्त्र और (रक्त) परिसंचरणतन्त्र पर उद्दीपक तथा मूत्रल गुणों के कारण यह अत्यधिक मूल्यवान चिकित्सीय द्रव्य माना गया है। इसके ऐल्केलॉयड तथा लवण—यथा, कैफीन सिट्रेट, कैफीन और सोडियम बेन्जोएट आदि—का औषधि में बहुत अधिक उपयोग होता है।

केफीन चाय और कहवा के पौधो मे और उसी प्रकार के उद्दीपक द्रव्यों—जैसे, कोलानट (Kola nut), मातें (Mate) अथवा पैरागुवे चाय (Paraguay Tea) और गुअराना लेप (Guarana paste)—मे पाया जानेवाला प्रमुख ऐल्केलॉयड है। यह थियोब्रोमा कोका (*Theobroma coca*) की पत्तियो मे भी पाया जाता है, पर वहुत अल्पमात्रा मे । ससार के वहुत से लोग विभिन्न कैफीनयुक्त पेय पसन्द करते है, परन्तु वास्तव में तो प्रतिस्पर्धा है कहवा (कॉफी) और चाय के वीच । कुछ राष्ट्र कहवा को सर्वदा पसन्द करते है तो कुछ चाय को । विश्व के विभिन्न भागो में शुद्ध चाय के स्थान पर व्यवहृत होनेवाले पौधो की सख्या वहुत अधिक है, जिनमें लगभग २०० तो ज्ञात हें । इन पौधों में साधारणत' कैफीन नही होता, इनमें कुछ ऐसे है जिनमें सगन्ध तैल पाया जाता है, पर कैफीन (Caffeine) और थियोब्रोमिन (Theobromine) आदि प्यूरिन यौगिको (Purine Compounds) के गुण नही पाये जाते ।

यह अच्छी तरह ज्ञात है कि चाय—इसका नाम और पेय दोनो-मूलत चीन से आये । वहाँ चाय पीने की प्रथा वहुत प्राचीनकाल से प्रचलित थी और यदि वहुत पहले नही, तो, सम्भवत पाँचवी शताब्दी में इसका पेय के रूप मे व्यवहार होने लगा था । भारत (आसाम) मे भी यह बहुत पहले से ज्ञात थी, पर वस्तुत इसका उपयोग कब से आरम्भ हुआ इसका ठीक पता नही है । नवी शताब्दी के प्रारम्भ में यह जापान पहुँची, पर शेप ससार को १६वी सदी से अन्त तक इसके (चाय के) गुणो का पता नही था । इग्लैण्डवालो को इसका पता १७ वी शताब्दी के प्रारम्भ में लगा, पर 'पुन राज्य-स्थापन'* (Restoration) के वाद के वर्प मे भी यह एक जिज्ञासा की वस्तु थी । रानी ऐनी (Queen Anne) के शासन-काल मे चाय का व्यवहार वढने लगा, यद्यपि तव भी इसका व्यवहार समय-समय पर होनेवाली सभ्य-समाज की गोष्ठियो या प्रीतिभोजो में ही होता था, किन्तु शताब्दी के बीतते-बीतते चाय पीने का चलन बडी तेजी से हो-गया और अव यह जिज्ञासा की वस्तु नही रह गयी अपितु लोगो के दैनन्दिन आहार का एक अग और नियमित आदत हो गयी । १६३६ ई० में यह पेरिस में पी जाती थी और उसके कुछ ही बाद यह यूरोप के विभिन्न देशों में फैल गयी थी । चोपडा और उनके सहयोगियो (Chopra *et al*, १९४२) ने बताया कि चाय के व्यवहार का सवसे प्राचीनतम उल्लेख ५१९ ई० में मिलता है । कहते है, इसी वर्ष दार्मा (Darma) ने, जो बौद्धधर्म का प्रचार करने चीन गये, इस पौधे के आश्चर्य-

* 'पुन राज्य-स्थापन' (रेस्टोरेशन) १६६० ई० में हुआ जव चार्ल्स द्वितीय को गद्दी पर वैठाया गया—अनु० ।

जनक (विलच्चण) गुणों का पता लगाया था। यह कहना कठिन है कि चाय का ज्ञान पहले चीनवालों को हुआ या यह (ज्ञान) आसाम से भारत में आया। उद्दीपक पेय के रूप में इसका प्रसार तिब्बत और मंगोलिया में हुआ और वहाँ से पश्चिम की ओर यूरोप तक। १६६६ ई० में ईस्टइण्डिया कम्पनी ने इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स द्वितीय को २ पौण्ड चाय भेजी थी और उसके थोड़े समय बाद एक किलोग्राम चाय ३ पौण्ड में वहाँ बेची गयी थी। १६३६ ई० में पहली बार 'मरक्यूरियम पोलिटिकस' (Mercurius Politicus) में निम्नलिखित ढंग से इसका विज्ञापन प्रकाशित हुआ था "एक उत्कृष्ट चीनी पेय, सभी चिकित्सकों (डाक्टरों) द्वारा प्रशंसित, जिसे चीनी लोग 'टेह' (Tcha) तथा दूसरे राष्ट्र 'ट्रे' ((Tray) अथवा 'थे' (The) कहते हैं, 'रायल एक्स्चेञ्ज' के पास सुल्ताना-कॉफीघर में बिक रही है।" उसके कुछ ही समय बाद लैटिन में चाय पर एक प्रशंसात्मक कविता लिखी गयी और बर्लिन के एक लेखक ने तो एक पुस्तक में इसकी अतिशय प्रशंसा की "एक प्याला चाय प्रदान करती है सुन्दर स्वास्थ्य और दीर्घजीवन*।" बोण्टेको (Bontekoe) नामक एक डच डाक्टर ने, जो बाद में ब्रैंडेनबर्ग के प्रिंस एलेक्टर का चिकित्सक हो गया, दिन में १०० से २०० प्याले तक चाय पान की संस्तुति की। वह स्वयं दिन-रात चाय पीता था। गत कुछ वर्षों में सारे विश्व में चाय पीने का प्रचार हो गया है। ५० वर्ष पहले भारत में बहुत कम चाय पी जाती थी और उत्तर भारत में, विशेषकर देहाती क्षेत्रों एवं गरीबों के बीच, तो यह वस्तुतः अज्ञात ही थी। आजकल तो यह दुर्गम-से-दुर्गम स्थानों में भी उपलब्ध हो गयी है और गरीब-से-गरीब भी उसे पीते हैं। विगत ३० वर्षों में हमारे देश में चाय की खपत बहुत बढ़ गयी है। इस समय देश में औसतन १ से २ करोड़ आदमी नियमित चाय पीने के आदी हैं।

कॉफी (कॉफिया अरेबिका–*Coffea arabica*) को अरबों तथा फारसियों ने बहुत दिनों से एक उत्तम गुणसम्पन्न पदार्थ समझ रखा था और ऐसा विश्वास किया जाता है कि यूरोप तथा अन्य देशों में काफी पीने का चलन उन्हीं के द्वारा फैलाया गया। कहते हैं, एक बार जब हजरत मुहम्मद बीमार थे तो उनको आर्केंजिल गैब्रिएल (Archangel Gabriel) ने चाय दी थी। ऐसा कहा जाता है कि मुसलमानों के एक धार्मिक समुदाय (Convent) के प्रधान (Prior) को उसके गडेरियों ने बताया कि जब बकरियाँ कॉफी का फल (Beans) खा जाती हैं तो वे रात में जागती रहती हैं और इधर-उधर उछलती-कूदती रहती हैं। इस घटना ने

*A cup of tea is a medium for ensuring health and long life.

उन्हें अपने लिए तथा अपने दरवेशो के लिए कॉफी का पेय तैयार करने की प्रेरणा दी, जिसे पीकर वे मस्जिद मे रात्रिकालीन प्रार्थना मे जागते रह सके। उस पेय को कहवा कहा जाता था, कहवा, जो कि उद्दीपन करता है या भूख को मारता है। १६वी शताब्दी मे प्राय समूचे एशिया माइनर, सीरिया और फारस द्वारा कॉफी का व्यवहार होता था। कोलानट, स्टर्कुलिया ऐक्यूमिनेटा (*Sterculia acuminata*), का व्यवहार अटलाण्टिक महासागर और नील के स्रोत के बीच, विस्तृत क्षेत्रवाले सूडान (मध्य अफ्रीका) के निवासियो द्वारा होता है। यर्बा माटे (Yerba Mate) या पैरागुवे चाय (इलेक्स पैरागुएन्सिस—*Ilex paraguensis*) और गुअराना लेप (पॉलिनिया सॉर्बिलिस या पॉलिनिया कुपाना—*Paullinia sorbilis* or *Paullinia cupana* के काले-भूरे परिपक्व बीजो से निर्मित) का व्यवहार ब्रैजिल, पैरागुवे, वर्जीनिया, कैरोलिना आदि दक्षिणी अमेरिका के देशो मे व्यापक रूप मे होता है। कुछ मुस्लिम देशो को छोड, चाय की जितनी खपत होती है उतनी कॉफी की नही, सम्भवत इसका कारण है कॉफी का अधिक मूल्य। भारत में बहुत कम कॉफी पी जाती है और दक्षिण-भारत को छोड वस्तुत भारत के ग्रामवासियो को अभी इसका पता भी नही है।

कैफीन का आभ्यासिक उपयोग

वस्तुत यह जानना बडे मनोरजन की बात है कि मनुष्य किस विलक्षण ढग से या किस नैसर्गिक प्रवृत्ति की सहायता से इतने बडे वनस्पति-जगत से अपने काम का अत्यन्त उपयोगी एव मनपसन्द पौधा चुन सका है। विश्व के तीन भिन्न महाद्वीपो—अमेरिका, अफ्रीका और एशिया— मे बिल्कुल भिन्न पौधे ढूंढ निकाले गये है, जिनका व्यवहार पेय रूप मे होता है और जिनकी विशेषता यह है कि इनमे कैफीन (Caffeine) पाया जाता है। लेविन (Lewin— १९३१) अपने फैण्टास्टिका (Phantastica) नामक ग्रन्थ मे लिखते है "वस्तुत हम जानते है कि आदमी ने अपने को कैफीन के पौधो एव उनसे व्युत्पन्न पदार्थों (पेय) से दृढतापूर्वक सम्बद्ध कर लिया है और उन्होने जो इच्छा उसमें (मनुष्य मे) जगायी उसे वह रोज सन्तुष्ट करता है। इस सतुष्टि के यथेष्ट कारण भी है। इन पौधो के गुण एव कर्म तथा इस पुस्तक में वर्णित अन्य पदार्थों के गुण एव कर्म के बीच एक गहरी खाई (अन्तर) है। सज्ञा (consciousness) मन्दता (dimness) या धुँधलेपन से आवृत नही होती, व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का नाश नही होता और न उसे अपनी मूल प्रवृत्तियो (पशु-प्रवृत्ति) के नियन्त्रण मे ही चलना पडता है और उसका मन तथा बुद्धि इन

प्रकार नही उत्तेजित होती कि वह मतिभ्रम और मनोकल्पना के वशीभूत हो जाय। बिना किसी प्रकार का मानसिक एव शारीरिक दु खात्मक प्रभाव डाले, कैफीन के पौधे मस्तिष्क पर उद्दीपक का कार्य करते है। ये सब तथ्य इन पदार्थों को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते है।" यह सुविज्ञात है कि चाय और कॉफी की परिमित मात्रा मे किसी प्रकार की हानि नही होती अपितु लाभ ही होता है। बहुत अधिक सेवन करने से इनका बुरा प्रभाव पडता है।

चाय और कहवा के भारतीय ससाधन

औसतन चाय की पत्तियो मे २ ५ से ३ प्रतिशत कैफीन रहता है, यद्यपि कुछ किस्मो मे ४ प्रतिशत तक भी कैफीन उपलब्ध हो जाता है। कॉफी की फलियो में, जिनमे कैफीन अशत असयुक्त रूप में और अशत सयुक्त रूप में होता है, १ ५ प्रतिशत से अधिक कैफीन कदाचित् ही मिलता है। माते (Mate) में १ से २ प्रतिशत, गुअराना लेप (Guarana paste) मे ३ से ४ प्रतिशत और कोला (Kola) में लगभग ३ प्रतिशत कैफीन होता है। हम यहाँ मुख्यत चाय की ही समीक्षा करेंगे क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से कैफीन प्राय पूर्णरूपेण चाय मे ही उपलब्ध होता है। यद्यपि कैफीन रहित (Caffeine free) कॉफी के निर्माण मे भी कैफीन प्राप्त होता है और यूरिया (Urea) तथा उसी के समान पदार्थों से यह सश्लिष्ट भी किया जा चुका है, पर आर्थिक लाभ की दृष्टि मे यह (इन स्रोतो से) उतना नही उपलब्ध किया जा सकता है।

भारत में चाय तथा कॉफी दोनो के पौधे प्रभूत मात्रा में पैदा होते है। कॉफी की पैदावार मुख्यत मद्रास, कुर्ग, मैसूर, त्रिवाकुर और कोचीन में होती है। १९२९ ई० मे कॉफी की खेती १,६०,८०० एकड में की गयी थी जिससे २७,७६,७०० पौण्ड अभिसाधित (cured) कॉफी का उत्पादन प्राक्कलित किया गया था और १९४७-४८ ई० में उक्त खेती १,९७,८२६ एकड में की गयी थी जिससे ३,०२,९१७ हण्डरवेट (cwt) कॉफी का उत्पादन प्राक्कलित किया गया था। कॉफी की इतनी पैदावार पर्याप्त सतोषजनक है, फिर भी चाय की विशाल पैदावार मे इसकी तुलना नही की जा सकती। विदेशों में जितनी चाय की खपत होती है, प्राय भारत, पाकिस्तान, लका, पूर्वी द्वीप समूह (ईस्ट इण्टीज) और सुदूर पूर्व मे मँगायी जाती है। इग्लैण्ड तथा यूरोप महाद्वीप में चाय की बढती खपत (१८४० ई० मे इग्लैण्ड मे चाय की वार्षिक खपत प्रति व्यक्ति १ २ पौण्ड थी जो शताब्दी के बीतते-बीतते बढकर ६ ०७ पौण्ड प्रतिव्यक्ति हो गयी) से एक ऐसा बाजार मिल गया जिसकी बराबर वृद्धि होती गयी और जिसकी सर्वदा बढती हुई माँग की पूर्ति के लिए भारत तथा लका

जैसे चाय-उत्पादक देशो ने अपने चाय के साधनो का विस्तार किया। बहुत दिनो तक तो चीन सर्व प्रमुख चाय-उत्पादक देश था किन्तु धीरे-धीरे भारत भी इस (चाय-उत्पादन) क्षेत्र मे आ गया और ब्रिटिश चाय-बागानो के स्वामियो (Planters) के प्रयत्न से भारत के चाय उद्योग ने द्रुतगति से उन्नति की। चाय-व्यापार ने कितनी उन्नति कर ली है इसका निर्णय इसी तथ्य से हो सकता है कि १७०३ ई० मे इग्लैण्ड में लगभग १,००,००० पौण्ड चाय का आयात हुआ था और ट्रैफलगर के युद्ध के वर्ष यह सख्या ७५ लाख पौण्ड हो गयी। इस समय यह भारत के कई प्रदेशो, यथा—असम, बगाल, बिहार, उडीसा, उत्तरप्रदेश, पजाब, मद्रास, कुर्ग, तिपेरा (बगाल) के राज्य, त्रिवाकुर, कोचीन और मैसूर मे पैदा होती है। इसकी उपज के लिए अधिक वर्षा की आवश्यकता होती है। नवम्बर और मार्च के बीच इसके बीज बो दिये जाते है और जब नवपादप (बेहन) कम से कम ६ माह का हो जाता है तब रोपा जाता है। उत्तरी भारत में इसकी फसल मई से दिसम्बर तक चयन की जाती है और दक्षिण भारत में जनवरी से दिसम्बर तक।

आर्थिक पक्ष

सम्भवत चीन को छोडकर, जिसके चाय-उत्पादन एव क्षेत्रफल का सही पता नही है, भारतवर्ष विश्व का सबसे बडा चाय-उत्पादक और निर्यातक देश है। १९४८ ई० में विश्व का चाय-उत्पादन ९३ ८ करोड पौण्ड हुआ था, जिसमे भारत ने ५६ ७७५ करोड पौण्ड, लका ने २९ ९ करोड पौण्ड, पाकिस्तान ने ४ ४ करोड पौण्ड और जावा तथा सुमात्रा ने २ ८ करोड पौण्ड पैदा किया था। निम्नलिखित विवरण से विश्व के प्रमुख चाय-उत्पादक देशो का चाय का क्षेत्रफल, उत्पादन तथा निर्यात स्पष्ट हो जायगा —

देश	क्षेत्रफल (सहस्र एकड)		वार्षिक उत्पादन (दस लाख पौण्ड)		वार्षिक निर्यात (दस लाख पौण्ड)	
	१९३७-४१ई	१९४२-४६ई	१९३७-४१ई	१९४२-४६ई	१९३७-४१ई	१९४२-४६ई
भारतवर्ष	८३३ ८	८४० ४	४६० ०	५४९ ०	३५१ ४	३६१ ०
लका	५५४ ४	५५० ६	२४४ ६	२८० ८	२३२ ४	२६६ ०
न्यासालैण्ड	१८ ४	१९ ८	११ ४	१२ ८	११ ०	१२ ६
केनिया	१४ ०	१५ ८	११ ८	१३ ६	९ ६	१० ०
नेदरलैण्ड्स ईस्टइण्डीज	५१८ ३	३६७ ०	१७७ ०	—	१५९ ४	३ ०
फारमोसा	११० ६	९३ ५	२६ ८	१२ ८	२१ ६	१८ ७

जापान	९८ ०	७५ ६	१२६ २	९४ २	३९.८	८ ०
रूस	१२३ ८	—	२१ ८	—	—	—
चीन	—	—	—	—	७७ ०	१५ ०

भारत का उत्तरी-पूर्वी भाग, जिसमे ब्रह्मपुत्र और आसाम तथा दार्जिलिंग की सुर्मा घाटी एव बगाल का जलपाईगुडी जिला समाविष्ट है, चाय-उत्पादन का प्रमुख क्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुल उत्पादन का ८३ प्रतिशत पैदा होता है। दक्षिण भारत में केवल नीलगिरि के ऊँचे स्थानो, मलाबार, मैसूर तथा त्रिवाकुर मे चाय पैदा होती है और वह भी कुल उत्पादन का २० प्रतिशत ही। प्रथम महायुद्ध के बाद चाय का उत्पादन-क्षेत्र बहुत अधिक बढ गया और १९३३ ई० में ७,५०,००० एकड हो गया, इसी समय 'अन्तर्राष्ट्रीय चाय विनियम' (International Tea Regulation) द्वारा चाय-क्षेत्र (भूमि) के प्रसार पर नियन्त्रण लगा दिया गया। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे, जबकि चाय-क्षेत्र लगभग ६० प्रतिशत बढ गया है, उसका उत्पादन दुगुना हो गया है। ऐसा रोपस्थली-व्यवस्था में सतत सुधार के कारण प्रति एकड-उपज बढ जाने से हुआ है, १९०० ई० मे जहाँ प्रतिएकड ३८४ पौण्ड उपज होती थी वहाँ १९४९ ई० में बढकर ६८५ पौण्ड हो गयी। 'केन्द्रीय चाय-मण्डल' (सेन्ट्रल टी बोर्ड) की अन्तिम सूचना (रिपोर्ट) के अनुसार भारत में ६,२४० चाय के बगीचे है, जिनका क्षेत्रफल ७,८५,५८४ एकड है।

भारत मे कैफीन-निर्माण की सम्भावनाएँ भारत मे चाय और कॉफी के ससाधनो का इतना सुन्दर विकास होने पर भी यह दु ख की बात है कि यहा ऐल्केलायड कैफीन का निर्माण नही होता जिससे देश को इसके लिए विदेशी-निर्माताओ पर ही निर्भर रहना पडता है। आर्थिक दृष्टि से कैफीन का निर्माण कॉफी मे नही, चाय मे किया जा सकता है और कैफीन-निर्माण मे मानव-उपभोग की अच्छी चाय की भी आवश्यकता नही। बाजार के लिए परिरूपित (finished) चाय के निर्माण मे बहुत बडे परिमाण मे हल्के छोटे-छोटे टुकडे (fluff) और झाडन (sweepings) फेंक दिये जाते है, उन्हे 'क्षेप्य चाय' (tea waste) कहते है, वे मनुष्य के काम के नही होते। क्षेप्य चाय अत्यधिक सस्ते मूल्य में मिल सकती है और कैफीन प्राय उसी से बनाया जाता है। यह प्राक्कलित किया जा चुका है कि परिरूपित (finished) चाय के निर्माण मे क्षेप्य चाय और झाडन औसतन १ ५ प्रतिशत उपलब्ध होता है। इस प्राक्कलन मे विभिन्न स्थानो (जिलो) मे कुछ अन्तर हो सकता है। 'भारतीय चाय सेस कमेटी' (Indian Tea Cess Committee) की रिपोर्ट के अनुसार भारत ने १९२९-३० मे लगभग ३८,२५,९४,८३५

पौण्ड चाय का निर्यात जल तथा स्थल द्वारा किया था। इसलिए परिरूपित (finished) चाय के इस परिमाण (राशि) के निर्माण मे ३८,२५,९४८ पौण्ड क्षेप्य चाय उपलब्ध होगी। यदि इस क्षेप्य चाय से कैफीन निर्मित की जाय तो लगभग ५७,३८८ पौण्ड कैफीन उपलब्ध हो सकती है, जब कि उस ऐल्केलॉयड का विचार न भी किया जाय जो भारत में व्यवहृत ५-६ करोड पौण्ड चाय से प्राप्त हो सकता है। कैफीन के बडे पैमाने पर निष्कर्षण (large scale extaction) मे लगभग १ ५ प्रतिशत कैफीन क्षेप्य चाय से निकाली जा सकती है।

फिर भी वास्तविक व्यवहार मे अनेको कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यद्यपि भारत मे इस तरह का कोई कानून नही है जो क्षेप्यचाय के व्यापार मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करे, फिर भी भारतीय चाय-सघ (Indian Tea Association) द्वारा यह जनता को नही बेची जाती, केवल विश्वस्त व्यापारियो को ही बेची जाती है, क्योकि बाजार मे अच्छी चाय के साथ इस क्षेप्य चाय को अपमिश्रित करके बेच दिया जाता है, जिससे चाय-उद्योग को बडी क्षति पहुँचती है। अच्छी चाय के साथ इस क्षेप्य चाय का अपमिश्रण न हो सके इसके लिए भारतीय चाय-सघ क्षेप्य चाय को कैफीन-निर्माण के लिए साधारणत विदेशो मे भेजता है। १९२७-२८ ई० में ४,४१,६७१ रु० की ४१,१४,६३८ पौण्ड क्षेप्य चाय निर्यात की गयी थी और १९४८-४९ ई० मे १४,३०,००० रु० की ६७,०२,३०० पौण्ड। यदि भारतीय निर्माताओं को क्षेप्य चाय उसी मूल्य पर, जिस पर विदेशो को निर्यात किया जाता है, बेची जाय तो आर्थिक दृष्टि मे कैफीन-निर्माण सम्भव हो सकेगा, जो वस्तुत आज किया जा रहा है।

कैफीन (थीन—Theine $C_8 H_{10} O_2 N_4$), चाय, कॉफी तथा अन्य पेय का प्रमुख ऐल्केलॉयड घटक है, जिनमें यह या तो असयुक्त या सयुक्त, कैफीन क्लोरोजिनेट (Caffeine chlorogenate) के रूप में पाया जाता है। विभिन्न द्रव्यो मे कैफीन निम्नलिखित प्रतिशत मे पाया जाता है —चाय १ ०-४ ८, कोला नट २ ७-३ ६, कॉफी १ ०-१ ५, माते (*Ilex paraguensis*) १ २५-२ ०, और गुअराना (*Paullinia cupana*) ३ १-५ ०। क्षेप्य कोको (Cocoa waste) में थियोब्रोमीन (Theobromine) पाया जाता है जिससे मेथिलेशन द्वारा कैफीन प्राप्त किया जा सकता है। उत्तरी अमेरिका मे उत्पन्न होनेवाले हॉली (Holly) नामक पौधे की एक स्पीशीज, इलेक्स कैसिनी (*Ilex cassine*), की पत्तियो मे, जिससे कैसिना (Cassina) पेय बनाया जाता है, १·०—१ ६ प्रतिशत कैफीन पाया जाता है।

वाणिज्योपयोगी कैफीन, विलायक निष्कर्षण (solvent extraction) द्वारा क्षेप्य चाय

या चाय की धूल से उपलब्ध हो सकता है। जब गरम पानी विलायक के रूप में व्यवहृत होता है तो इस क्वाथ में लिथार्ज (litharge) डाला जाता है जिससे गोंद और रेजिनयुक्त पदार्थों का अवक्षेपण हो जाता है। तत्पश्चात् छनित (filtrate) को सान्द्रित किया जाता है। इस सान्द्रण क्रिया में कैफीन के क्रिस्टल पृथक हो जाते हैं जिन्हें खौलते पानी में पुन क्रिस्टलीकरणद्वारा शोधित कर लिया जाता है। भारत में कैफीन-निर्माण, क्षेप्य चाय (कैफीन की मात्रा ३ ०-४ ५ प्रतिशत) से किया जाता है, जो आसाम, जालपाइगुडी और दार्जिलिंग के चाय के बगीचो मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है। इसे बेजाल (Benzol) निष्कर्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है। कच्चे माल मे सोडा और पानी मिलाकर पीतल के निष्कर्षकों में डाला जाता है। इन निष्कर्षकों मे सघनित्र (condensers) लगे होते हैं और ये सॉक्सलेट (Soxhlet) सिद्धान्त पर कार्य करते हैं। निष्कर्षण के पूरा होने पर विलायक को आसवन (distillation) द्वारा अलग किया जाता है और अवशेष ((residue) को पानी में मिला दिया जाता है। इस जलीय निष्कर्ष मे बेसिक लेड एसीटेट डालते हैं, जिससे पर्णहरिम (क्लोरोफिल), रेजिन, मोम और गोंदयुक्त पदार्थों का अवक्षेपण हो जाता है। फिर इन तवको बडे-बडे थैलो द्वारा छान लिया जाता है। छनित में सल्फ्यूरिक अम्ल डालकर अवशिष्ट लेड को निकाल दिया जाता है। लेडरहित छनित को सक्रियित लकडी के कोयले (activated charcoal) की सहायता से अरजित करके सान्द्रित किया जाता है। इस प्रकार कैफीन के क्रिस्टल बन जाते हैं और फिर उन्हें अपकेन्द्रित्र (centrifuge) की सहायता से पृथक् कर लिया जाता है और प्रकोष्ठ-ताप (room temperature) पर सुखा लिया जाता है।

कुल वार्षिक उत्पादन लगभग २०,००० पौण्ड है और उत्पादन लक्ष्य ३०,००० पौण्ड है (पैनल आन फाइन केमिकल्स की रिपोर्ट ड्रग्स एण्ड फार्मास्युटिकल्स, १९४७,२०)। इस देश मे कैफीन-उत्पादन के लिए प्रभूत कच्चामाल उपलब्ध है। अब भी कैफीन-निष्कर्षण के लिए क्षेप्य चाय बहुत बडी मात्रा मे अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया भेजी जाती है। १९४८-४९ ई० तथा १९४९-५० ई० मे ६७ और ८० लाख पौण्ड की मात्रा मे निर्यात की गयी थी जिसका मूल्य क्रमश १४ लाख और १६ ७ लाख रु० था। भारत-सरकार कैफीन-निर्माण के लिए पर्याप्त मात्रा में क्षेप्य चाय को देश में रोक रखने के लिए अधिनियम द्वारा आवश्यक कार्रवाई कर रही है।

सन्दर्भ :—

(1) Wehmer, 1931, *Die Pflanzenstoffe*, (2) Leach, 1926, *Food and Drug Analysis* , 4th Ed , (3) Department of Commercial Intelligence

and Statistics, 1929, *Estimates of Area and Yield of Principal Crops in India*, (4) United Planters' Association of Southern India, 1929, *Report*, (5) Indian Tea Association, 1929, *Report*, (6) Indian Tea Cess Committee, 1929, *Report*, (7) Imperial Economic Committee on Empire Products, 1928, *Report*, (8) Lewin, L , 1931, *Phantastica*, (9) Watson, Sheth and Sudborough, 1922, *J Ind, Inst Sci.* 5, 177, (10) *Wealth of India Raw Materials*, 1950, 11, 27, (11) Chopra, R N , Chopra, G S and Chopra, I C , 1942, *Ind Med Gaz* , 77, 107

कैनाबिस सटाइवा (कैनैबिनेसी)
(Cannabis sativa Linn.) (Cannabinaceae)
कैनाबिस इण्डिका (*Cannabis indica*)
ट्रू हेम्प, सॉफ्ट हेम्प (True Hemp, Soft Hemp)

नाम—सं०—गञ्जिका, भङ्गा, हर्षिणी, हिं० और बं०—गाँजा, भाँग, चरस, फा०—दरख्ने-बग, अ०—किन्नव, ते०—गजाई, कल्पम-चेट्टु, त०—गाँजा, भाँगी; कन्न०—भाँगी।

पहले हेम्प (भाँग) का पौधा पश्चिमी तथा मध्य एशिया में पैदा होता था, पर अब तो सभी शीतोष्ण तथा उष्ण देशो मे होता है और इसकी खेती भी की जाती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि यूरोप तथा अन्य स्थानो मे होनेवाले हेम्प के पौधे से भारत मे होनेवाला हेम्प का पौधा भिन्न* होता है और इसीलिए इसका '**कैनाबिस इण्डिका**' एक पृथक् नामकरण किया गया, जिसे अब परित्यक्त कर दिया गया है। यह समूचे हिमालय क्षेत्र मे वन्य अवस्थामे पैदा होता है। भारतीय (हेम्प के) पौधे मे ऐसी कोई वानस्पतिक विशेषता नही है जिसके आधार पर उसे **कैनाबिस सटाइवा**

---

*कैनाबिस सटाइवा से ही हेम्प (तन्तु या रेशे) तथा गाँजा, भाँग और चरस उपलब्ध होते हैं। जब इसकी खेती शीतोष्ण कटिबन्ध मे की जाती है तो उसमें रेशे अत्यधिक उत्पन्न होते हैं, स्वापक (नार्कोटिक) पदार्थ बिल्कुल नगण्य। इन (सस्कारित) रेशो को हेम्प कहा जाता है। पर उष्ण कटिबन्ध में जब इसकी खेती की जाती है तो रेशो की उत्पत्ति न्यून, पर प्रमीलक तत्त्व ग्रन्थिल रोमो मे प्रचुर परिमाण में उत्पन्न हो जाता है। तब इसकी सुखायी पत्तियो को भाँग, स्त्री केसरी पौधो के शुष्क पुष्प-मुण्डको को गाँजा और रेजिन को चरस कहते हैं।—अनु०

(*C sativa*) से अलग किया जाय। इसलिए तन्तु-प्रदायक (fibre-yielding) हेम्प का पौधा, स्वापक-प्रदायक (narcotic-producing) हेम्प के पौधे से किसी भी तरह भिन्न नही है। फिर भी कुछ विद्वानो ने कैनाबिस इण्डिका और सामान्य हेम्प के बीजो की विभिन्नता का उल्लेख किया है और उससे यह निष्कर्ष निकाला है कि ये दोनो पौधे भिन्न उपजाति के हो सकते है। इसमे सदेह नही कि तन्तु-प्राप्ति के लिए कुमायूँ मे तथा अन्य स्थानो पर बोये गये पौधो से पर्याप्त मात्रा मे चरस उपलब्ध होता है, जिसका गाँजे की तरह धूम्रपान भी किया जाता है। कैनाबिस सटाइवा के स्त्री केसरी पौधो के शुष्क पुष्पमुण्डक तथा फलमुण्डक औषधि के काम में आते है।

कैनाबिस इण्डिका से निर्मित द्रव्यो का व्यवहार मादक द्रव्य के रूप मे एशियाई देशो तथा अफ्रीका मे स्मरणातीत काल से होता चला आ रहा है। भाँग, गाँजा, चरस आदि व्यसन के रूप मे लाखो-करोडो आदमियो द्वारा व्यवहृत होता है। इसके स्वापक तथा वेदनाहर (anodyne) गुणो की प्रशसा गत शताब्दी के प्रारम्भ मे अनेको पाश्चात्य चिकित्सको ने की और इसे ब्रिटिश तथा अमेरिकी भेषजकोशो में समाविष्ट कर लिया गया। यह पौधा ससार भर के विभिन्न भागो में पाया जाता है, पर भारतीय पौधे मे जितनी भैषजिकीय सक्रियता (pharmacological activity) पायी जाती है उतनी कुछ ही स्थानो में पाये जानेवाले पौधो मे उपलब्ध होती है। स्त्री केसरी पौधा, पुकेसरी पौधे से लम्बा होता है और इसके पर्ण अपेक्षाकृत अधिक हरे और घने होते है और परिपक्वता प्राप्त करने मे इसे ५ से ६ सप्ताह अधिक लग जाते है। ऋतु, भूमि तथा खाद के अनुसार इस पौधे की ऊँचाई मे पर्याप्त अन्तर पड जाता है। कुछ जिलो मे यह ३ से ८ फुट लम्बा होता है और दूसरे स्थानो मे ८ से १६ फुट ऊँचा भी देखा गया है।

प्रेन महोदय (Prain) के अनुसार हेम्प का पौधा भारत मे कही बाहर से आया है, किन्तु तन्तु-प्रदायक स्पीशीज के रूप मे भारत पहुँचकर इस पौधे मे स्वापक गुणो का विकास हो गया, जिसके लिए इसकी अब खेती की जाती है। इस सम्बन्ध मे वाट महोदय (Watt) का इतना निश्चित मत नही है। यह पौधा साइबेरिया में कैस्पियन सागर के दक्षिण मे तथा किरगिज के रेगिस्तान में वन्य अवस्था मे पाया गया है। यह मध्य तथा दक्षिणी रूस और काकेशस के दक्षिण मे भी स्वयजात अवस्था में पैदा होता है। चीन को इसका पता छठी शताब्दी ई० पू० में ही था और सम्भवत निचली पहाडियो मे यह देशीय (indigenous) है। फारस में यह वन्य अवस्था में पैदा होता भारतवर्ष मे यह पश्चिमी हिमालय तथा कश्मीर मे वन्य अवस्था मे पैदा होता है और ऐसा समझा जाता है कि भारतीय मैदानो मे इसका जलवायु अनुकुलन हो गया है।

सस्कृत 'भज' गब्द से मिलते-जुलते अनेक एशियाई नामो को देखने से निश्चित प्रतीत होता है कि इसके पूर्वजो का स्थान मध्य एशिया में ही कही था। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि इसके अतिरिक्त हेम्प नाम से पैदा होनेवाले अन्य तन्तु-प्रदायक पौधे—यथा, सनई (क्रोटैलेरिया जसिया (*Crotolaria juncea*) और (हाईबिस्कस कैनाबिनस—(*Hibiscus cannabinus*) भी हैं, लेकिन इन्हें असली हेम्प (true hemp) नही कहा जा सकता।

हेम्प के पौधे की स्वतः एवं वन्य उत्पत्ति

केनाबिस सटाइवा समूचे हिमालय पर कश्मीर से लेकर पूर्वी आसाम तक वन्य अवस्था मे पैदा होता है। १०,००० फुट से अधिक ऊँचाई पर यह नही पाया जाता। यह (हिमालय) पर्वत के दक्षिणी ढालो पर और पजाब में तथा कुछ दूर तक गगा के मैदानो में फैलता हुआ आसाम और पूर्वी बगाल के पर्वतीय प्रदेशो मे पाया जाता है। इस क्षेत्र की दक्षिणी सीमा लगभग पेशावर से मध्य पजाब तथा उत्तर प्रदेश होती हुई गगा नदी के साथ-साथ चलती है। वस्तुत इसकी प्रकृति भारत में उप-हिमालय-प्रदेश (Sub-Himalayan tract) के अनुकूल है और बजरभूमि में पजाब से पूरब की ओर बिहार तथा बगाल तक और दक्षिण (Deccan) मे खूब पाया जाता है। इस क्षेत्र मे यह स्वत जमता है, पर हिमालय के निचले ढालो पर एव तराई में सम्भवत यह पर्वत पर से बीजो के बहकर आने के कारण अधिकाशत जम गया हो। उप-हिमालय-प्रदेशो के घने बसे हुए भागो मे वहाँ के लोगो द्वारा जो गाजा और भाग व्यवहृत होते है उन्ही के नये बीजो द्वारा इस पौधे की उपज वन्य अवस्था में अधिकागत होती रहती है। यदि एक बार यह पौधा लग जाय तो फिर अत्यन्त दृढ (hardy) हो जाता है। पर भारत मे जिन स्थानो में यह वन्य अवस्था मे उपजता है उसको देखते हुए यह स्पस्ट है कि जिस तरह की भूमि और जलवायु मे यह पूर्ण अभिवृद्ध होता है, वह सीमित है। इसके लिए बहुत उपजाऊ (उर्वर) जमीन की आवश्यकता नही, किन्तु ऐसी अवश्य होनी चाहिये जिसमें जलोत्सारण (drainage) भलीभाँति होता हो और जो पारगम्य (permeable) हो।

हेम्प के पौधे की खेती हेम्प की खेती विस्तृत रूप से भारत मे कभी भी नही की गयी है। हेम्प ड्रग्स कमीशन ने (१८९३-९४ ई०) इसके कृषि-क्षेत्र का आँकडा निकाला और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि तन्तु-उत्पादक कृषि क्षेत्र, जिसमें स्वापक द्रव्य अत्यल्प उपलब्ध होता है, को निकाल दिया जाय तो कुल क्षेत्र मुश्किल से

६,००० एकड से अधिक होगा। तब से लीग आफ नेशन्स द्वारा स्वापक-भेपज का उत्पादन सीमित कर दिये जाने के कारण उस (कृषि-क्षेत्र) में वडा ह्रास हुआ है। १९३५-३६ ई० के आँकडे से पता चलता है कि मुश्किल से १,६०० एकड भूमि पर इसकी खेती होती है।

रासायनिक सघटन चरस का रसायन सवधी सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य वुड, स्पीवी और ईस्टरफील्ड ((Wood, Spivey and Easterfield) (१८९६ ई०) द्वारा किया गया। उत्तर प्रदेश में उपलब्ध चरस में उनको निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सघटक प्राप्त हुए (१) एक टर्पीन, $C_{10} H_{16}$, क्वथनाक १६५-१७५°, उपलब्धि लगभग १ ५ प्रतिशत, (२) एक सेस्क्वीटर्पीन, $C_{15} H_{24}$, क्वथनाक २५८-५९°, उपलब्धि लगभग १ ७५ प्रतिशत, (३) अत्यल्प मात्रा मे पैराफिन हाइड्रोकार्वन $C_{29} H_{60}$, गलनाक ६४°, और (४) एक विपालु लाल तेल या रेजिन $C_{18} H_{24} O_2$, जिसे कैनाविनॉल (Cannabinol) कहा जाता है, क्वथनाक २६५°, उपलब्धि लगभग ३ ३ प्रतिशत। यह लाल तेल अर्द्ध ठोस पिण्ड में जम जाता है जो जल में अविलेय किन्तु ऐल्कोहाल, ईथर, बेन्जीन, ग्लेसियल ऐसीटिक अम्ल और साधारणतया कार्वनिक विलायको में सरलता से विलेय है। इससे मॉनोएसीटिल (monoacetyl) और मॉनोबेन्जोइल (monobenzoyl) व्युत्पन्न उपलब्ध हुए, जिससे यह प्रमाणित हुआ कि इसमें हाइड्रॉक्सिल गण (hydroxyl group) उपस्थित था और इसीलिए इसे कैनाविनॉल की सज्ञा दी गयी। उक्त अन्वेषको ने इसे इस भेपज का सक्रियतत्त्व समझा था और मार्शल (१८९७ ई०) ने स्वय अपने तथा दूसरो के ऊपर शरीरक्रियात्मक परीक्षणो द्वारा यह दिखा दिया कि यही भेपज का सक्रिय तत्त्व है। तत्पश्चात् (१८९९ ई०) उन्होने (उक्त वैज्ञानिको ने) दिखाया कि उनके द्वारा एकलित कैनाविनॉल कम से कम दो समान भौतिक गुणो वाले सघटको का योग था। उन्होने शुद्ध सघटक (C_{21}, $H_{26} O_2$) का नाम तो कैनाविनॉल रहने दिया (जो क्रिस्टलीय एसीटिल व्युत्पन्न गलनाक ७५°, से जल-अपघटन द्वारा प्राप्त किया गया) जब कि मौलिक अपरिष्कृत कैनाविनॉल, इसका तथा एक या अधिक निम्नतर अणु-भार (lower moleculai weight) के यौगिको का मिश्रण है। उक्त अन्वेपको ने शुद्ध कैनाविनॉल के अनेक व्युत्पन्नो और अपघटन द्वारा उपलब्ध पदार्थो पर विवेचन भी किया जिससे कैनाविनॉल की सभावित सरचना पर कुछ प्रकाश पडता है। वायेर (Bauer, १९२७ ई०) ने यह निष्कर्ष निकाला कि कैनाविनॉल एस्टर (ester), अम्ल, ऐल्डिहाइड (aldehyde), कीटोन (ketone) या फीनॉल (phenol) नही है अपितु सम्भवत, पॉलीटर्पीन (polyterpin) की प्रकृति का है। कान (Cahn, १९३०) महोदय ने कैनाविनॉलैक्टोन (cannabinolactone) के लिए ठीक

सूत्र प्रस्तावित किया, जो वुड, स्पीवी और ईस्टरफील्ड द्वारा एकलित कैनबिनॉल के अपघटन से प्राप्त हुआ।

अन्य अन्वेषको को स्पष्टत स्थिर क्वाथी रेजिन (constant boiling resins) उपलब्ध हुए हैं और इनसे यद्यपि केवल तैलीय व्युत्पन्न प्राप्त हुए, फिर भी उन्होने प्रत्येक यौगिक को समाग (homogenous) बताया है और उन्हे कैनाबिनॉल की सज्ञा दी है और उनको भिन्न सूत्रों—$C_{20}H_{30}O_2$ [कैस्पेरिस (Casparis) १९२६, बर्गेल (Bergel) १९३०] और $C_{21}H_{30}O_2$ [फ्रान्केल (Frankel) १९०३, जर्किस (Czerkis) १९०७]—से निर्दिष्ट किया है। कान (Cahn-१९३१ ई०) ने अभी हाल मे जो शोधकार्य किया है वह हशीश (गाँजा-भाँग) के ऐसे भिन्न-भिन्न नमूनो पर किया है, जिनके ठीक स्रोत का पता नही था, पर सब नमूनो से जो फल प्राप्त हुआ वह समान ही रहा और इनकी पुष्टि कैनाबिस सटाइवा के रेजिन से हुई जिसका भारतीय स्रोत निश्चित था। इनके (कान के) तथा वुड, स्पीवी और ईस्टरफील्ड के शोधकार्यो से पता चलता है कि क्वथनाक की स्थिरता इन रेजिनो की समागता का प्रमाण नही मानी जा सकती और फ्रैन्केल, जर्किस, कैस्पेरिस और बर्गेल द्वारा प्राप्त रेजिन सभी अपमिश्रण थे। कैनाबिनॉल $C_{21}H_{26}O_2$ नाम का प्रयोग केवल उस पदार्थ के लिए करना चाहिये जो ७५° गलनाक वाले एसीटिल व्युत्पन्न से उपलब्ध होता है और स्पष्टत स्थिर क्वाथी रेजिन को अपरिष्कृत कैनाबिनॉल (Crude cannabinol) की सज्ञा देनी चाहिए। टॉड (Todd, 1939) के अनुसार हेम्प के रेजिन मे अनेक सक्रिय सघटक मिलते है। निम्नलिखित यौगिक क्रिस्टलीय रूप मे एकलित किये गये है। कैनाबिनॉल, कैनाबिडिऑल, कैनिन और कैनाबॉल। कैनाबिनॉल की सरचना की सपुष्टि सश्लेषण द्वारा कर दी गयी है। उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त इस भेपज मे न्यून मात्रा में एक वामावर्त वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है, जिसमें टर्पीन और सेस्क्वीटर्पीन (कैनीवीन) रहते है। इनके अतिरिक्त कोलीन, ट्रिगोनेलीन और कैल्सियम कार्बोनेट भी इसमे मिलते है। इससे लगभग १५ प्रतिशत राख तथा १० मे १८ प्रतिशत ऐल्कोहॉलीय निस्सार प्राप्त होता है। कहा जाता है कि भारतीय हेम्प सरक्षण की साधारण अवस्था मे रखे जाने पर दो वर्ष के बाद प्राय निष्क्रिय हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक आक्सिडेज एन्जाइम की क्रिया के फलस्वरूप इसमे निष्क्रियता उत्पन्न होती है।

सुखाभास के उद्देश्य से हेम्प भेषज का उपयोग

कैनाबिस सटाइवा तथा इसके उत्पादो का प्रयोग स्वापक (नार्कोटिक) के रूप में भारत मे दो प्रकार से होता है (१) धूम्रपान द्वारा (२) मुखद्वारा।

धूम्रपान के लिए व्यवहृत पदार्थ (Preparations used for smoking)-गाँजा का नाम हिन्दुस्तानी, बगाली, मराठी और पजाबी में गाँजा ही है, तमिल मे इसे गांजायाला और तेलगू मे वगी-अकू कहते हैं। स्त्रीकेसरी पौधो के उन शुष्क पुष्प-एव फलमुण्डको से, जिसमे से रेजिन नही निकाला गया रहता, गांजा निर्मित होता है। ब्रिटेन को निर्यात किया जानेवाला चपटा या बम्बई गांजा अभिश्लिष्ट (agglutinated) चपटी राशियो मे पाया जाता है जो हल्के हरे या हरिताभ भूरे रग का होता है। रेजिन बिल्कुल ही चिपचिपा (sticky) नही होता पर सख्त और भगुर होता है, और इसकी गध, जो ताजे भेपज मे अत्यधिक रहती है, हल्की होती है। इस भेपज का स्वाद कुछ तिक्त होता है। यत्र-तत्र अण्डाकार हेम्प के बीज भी इसमें मिल सकते है। गाजा केवल कृषि द्वारा उत्पन्न पौधो से ही सग्रह किया जाता है। भारत सरकार की नीति अन्ततोगत्वा सभी स्वापक भेपजो को निषिद्ध कर देने की है, अत गांजा के लिए कृषि-क्षेत्र धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। सरकार की देखरेख में जो हेम्प बम्बई के अहमदनगर मे सटे तीन छोटे-छोटे गाँवो में उत्पन्न होता है उससे सर्वोत्तम भेपज निर्मित होती है। गाँजा के उत्पादन के लिए पौधो को ऐसी भूमि में बोया जाता है जो उर्वर और तृण रहित हो तथा जिसे अच्छी तरह से तैयार किया गया हो और जिसमे प्रचुर परिमाण मे खाद डाली गयी हो। उष्णदेशीय आर्द्र जलवायु मे हल्की दोमट (loamy) अथवा बलुअर भूमि मे इसकी खूब अभिवृद्धि होती है और खरीफ फसल की तरह जून अथवा जुलाई में बोया जाता है और दिसम्बर या जनवरी मे काट लिया जाता है। उच्च अकुरणवाले बीज अल्मोडा तथा अन्य उपहिमालयीय प्रदेशो से उपलब्ध किये जाते है और ४ फुट की दूरी पर पक्तियो मे बोये जाते है, प्रति एकड बीज ५ से ८ पौण्ड के भाव मे बोये जाते है। जब पौधे २० सेण्टीमीटर ऊँचे हो जाते हैं तो उनमे से कुछ पौधो को निकाल दिया जाता है ताकि शेष पौधे विरल हो जायें। खेत को हमेशा घास से साफ रखना चाहिये और थोडे-थोडे समय पर सिंचाई करनी चाहिये। जब पौधा बढने लगता है तो नीचे की शाखाओ एव टहनियो को तोड देना चाहिये ताकि पुष्पी शाखाओ की वृद्धि अधिक हो सके। नवम्बर में यह पौधा फूलने लगता है और पुकेसरी पौधो को काट या उखाड दिया जाता है क्योकि इनमे रेजिन नही उत्पन्न होता। गाँजे के पौधे की कटाई तब शुरू होती है जब नीचे की पत्तियाँ झड जाती हैं और पुष्पवृन्त का अग्रभाग पीला होने लगता है। पुष्पो के मुण्डको को काटकर निर्माणशाला मे लाते है और छाये हुए प्रागण मे मेंड और उथली नालियो के रूप में (in ridges and furrows) फैला देते है। उन मेडो को समतल करके पैरो से रौदा जाता है जिससे पुष्पप्ररोह दबकर ठोस बडल के रूप में हो जाते हैं। थोडे-थोडे समय के अनन्तर उसे

उलट-पुलट दिया जाता है, कुछ समय तक सूखने दिया जाता है और पुन पैरो से रौंदा जाता है। तब उन्हे बटोरकर चपटी वृत्ताकार राशि में एकत्रित कर देते हैं—इसे 'चक्की' कहते हैं—और इस पर स्तर पर स्तर तब तक रखते जाते है जब तक ऊँचाई २–३ फुट नही हो जाती। इस चौकोर ठोस राशि को कुछ समय तक दबाकर रखा जाता है ताकि रासायनिक परिवर्तन की अभिवृद्धि हो। इन राशियो को पुन उलट कर तोड दिया जाता है और मोटे स्तर मे फैला दिया जाता है और पैरो से रौंदना आरम्भ कर दिया जाता है। चौथे दिन गाँजा इस रूप में तैयार हो जाता है कि उसका भण्डारण विशेष ढग से बनायी गयी शालिकाओ (shades) में किया जा सके। वहाँ उसे चाल दिया जाता है ताकि उसमें धूल, पत्थर के टुकडे, बीज और पत्तियाँ आदि कुछ भी न रहने पाये और फिर उसे गाँजा-विभाग, अहमदनगर को भेज दिया जाता है। पैरो से रौंदने में कुछ कमी रह जाने से उनकी राशियाँ अधमूखी और ढीली रह जाती है और उक्त प्रक्रिया में थोडी सी भी असावधानी हो जाने मे अच्छी कोटि का गाँजा नही तैयार हो पाता और उसका मूल्य घट जाता है। गाँजा दो प्रकार का होता है–(१) चपटा या बम्बई-गाँजा और गोल या बगाल-गाँजा। बगाल गाँजा के निर्माण मे काटे हुए पुष्पो की शूकियो (स्पाइक) को पैर से रौंदकर एक चपटा पिण्ड बनाने के बजाय सूखे पुष्पमुण्डको को हथेलियो के बीच या पैर के नीचे घुमाकर उन्हे छोटे-छोटे गोल रम्भाकार पिण्ड मे बना लिया जाता है। चपटे या गोल गाँजे के टूटे टुकडे एव चूर्ण को 'चूर-गाँजा' या 'रोडा' कहते हैं। गाँजे की औसत उपज प्रति एकड लगभग २५० पौण्ड है किन्तु यदि फसल खूब अच्छी हुई हो तो ३५० पौण्ड और यदाकदा अपवादस्वरूप ४२५ पौण्ड भी पैदा हो जाता है। अच्छे किस्म (क्वालिटी) के गाँजे मे कारबन टेट्राक्लोराइड द्वारा निस्सारण करने पर १५-२५ प्रतिशत रेज़िन उपलब्ध होता है और राख १५ प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिये। केनाबिस बी पी सी में फल, बडी पत्तियाँ और ३ मि० मि० से अधिक व्यासवाले तने–ये सब १० प्रतिशत से अधिक नही होने चाहिये। अन्य बाह्य कार्बनिक पदार्थ (foreign organic matters) २ प्रतिशत से अधिक नही होने चाहिये, अम्ल-अविलेय राख अधिक से अधिक ५ प्रतिशत तथा ऐल्कोहॉल मे विलेय पदार्थ १००° पर सुखाने के बाद १० प्रतिशत से अधिक नही होने चाहिये।

गाँजे का धूमपान

जितना गाँजे का उत्पादन होता है उसका अधिकाश भाग धूमपान के रूप में व्यवहृत होता है यद्यपि भारत के कुछ भागो मे यथा पुरी, मद्रास में यह थोडे परिमाण मे

आमयिक प्रयोग मे भी आता है। धूम्रपान के लिए इसके निर्माण की प्रक्रिया वडी सरल है। थोडा सा, प्राय १ से २ ग्राम के लगभग, गाँजा लेकर वायें हाथ की हथेली पर रख लिया जाता है और उसको थोडे से पानी से नम करके दाहिने हाथ के अँगूठे से उतनी देर तक मला जाता है जव तक वह चिपचिपा (लसदार) नही हो जाता। फिर इसमे जरा सा साधारण तम्बाकू (सुर्ती) मिलाकर चिलम पर पीते है। कहा जाता है कि इसको जितनी अधिक देर तक मला जाय, इसकी मादकता उतनी ही वढती है, पर इस कथन मे सन्देह है। हिन्दू साधु, यथा—जोगी, वैरागी और मुसलमान फकीर तथा भीखमगे गाँजे का अधिक उपयोग करते है। गरीव लोग और सभी प्रकार के भृत्य (नौकर-चाकर), यथा—सईस, घसिहारे, जुलाहे, मजदूर आदि, इसे पीते है। वह अपराधियो और ठगो द्वारा भी यात्रियो को पिलाया जाता है ताकि वे वेहोश हो जायँ और तव उनकी सम्पत्ति लूट ली जाय। इस उद्देश्य से गाँजे को काले धतूरे के वीज तथा चीनी मे मिलाकर इसकी मिठाई वना लेते है।

चरस

इसके रेजिन को चरस कहते है, जिसमे सक्रियतत्त्व रहता है और इस (रेजिन) को अलग से सग्रह किया जाता है। वस्तुत यह सान्द्रित रेजिन-निस्राव है, जिसे कैनाविस सटाइवा की पत्तियो और पुष्पमुण्डको या पुञ्जीभूत शूकियो (agglutinated spikes) से सगृहीत किया जाता है। इस वात का कोई प्रमाण नही है कि चरस को मैदानो मे तैयार किया जाता है। इस देश मे चरस तैयार करने की कई रीतियो का वर्णन किया जा चुका है। कभी-कभी चमडे के वस्त्र या जैकेट पहन कर पुरुष, सूर्योदय होते ही प्रात काल, जवकि ओस की वूदे झड चुकी रहती हैं, कैनाविस सटाइवा के खेत मे, वस्त्रो को पौधो से रगडते, घर्षण करते हुए गुजरते है। इस क्रिया से पौधो से रेजिन उनके (चमडेवाले) वस्त्रो मे चिपक जाता है जिसे खुरच लिया जाता है। इसी को व्यापार मे गाँजा का रेजिन (चरस) कहते है। कुल्लू तथा पर्वतीय क्षेत्रो मे, ऐसा कहा जाता है कि, पुष्पमुण्डको को हथेलियो के वीच मला जाता है और जो रेजिन इस प्रकार हथेलियो मे चिपक जाता है उसे खुरच लिया जाता है। ऐसा भी कहा जाता है कि पौधो से पैरो को रौदकर रेजिन एकत्रित किया जाता है। कभी-कभी पुष्पी शाखाओ का कपडे के एक टुकडे पर पीटा जाता है और जो धूसर श्वेत चूर्ण इस प्रकार गिरता है उसे एकत्रित कर लिया जाता है।

यारकन्द में कैनाविस सटाइवा खूव उत्पन्न होता है और तुर्किस्तान के वोखारा तथा अन्य स्थानो मे इसकी खेती भी वडे पैमाने पर की जाती है। रूसियो ने कुछ वर्ष

पहले अपने देश मे इसकी खेती वर्जित कर दी और अब जो कुछ उस देश मे आयातित होता है वह यारकन्द से। वस्तुत भारत में जो भी चरस आता है वह कश्मीरराज्य के लेह से होकर तथा थोडा कुल्लू मे होकर आता है। इसके (चरस के) सग्रहण के लिए लेह मे एक कोष्ठागार (depot) की स्थापना की गयी थी। आबकारी प्राधिकारी (excise authorities) के प्राक्कलन (estimate) के अनुसार १८९२-९३ ई० में कुल आयात ५,००० मन हुआ था, किन्तु यह वर्ष अपवादस्वरूप था। सामान्यतया ३,००० से ४,००० मन आयात होता था।

भाँग —भाँग, सिद्धि, सब्जी या पत्ती कैनाबिस सटाइवा की सूखी पत्तियो को कहते है, जिन्हे पुकेसरी या स्त्रीकेसरी पौधो से एकत्रित किया जाता है, चाहे ये पौधे खेती द्वारा उत्पन्न किये गये हो या स्वयजात हो। "भाँग" शब्द कभी-कभी स्त्रीकेसरी पुष्पमुण्डको तथा पौधे की पत्तियो के लिए भी व्यवहृत हुआ है तथा हरी और सूखी पत्तियो के लिए भी। यह भी सम्भव है कि पुकेसरी पुष्पमुण्डक भी भाँग में मिले हुए हो, क्योकि भाँग तैयार करने की रीति बडी अपरिष्कृत है—पौधे को सुखाकर डडे से पीटकर या कडी जमीन पर पटककर उसकी पत्तियाँ अलग कर लेते है इसे अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि पुकेसरी पुष्प गुण मे पत्तियो की अपेक्षा अधिक स्वापक नही होते जब कि स्त्रीकेसरी पुष्पमुण्डक अधिक स्वापक होते है।

सामान्यतया भाँग का नाम सब्जी से बने पेय को दिया गया है। गाँजे को पीसकर पेय बना लिया जाता है, जैसा पुरी मे गढजात गाँजे का बनाया जाता है—और उसे भी भाँग कहा जाता है। इसी कारण से भारत के अनेको भागो, विशेषकर दक्षिण तथा पश्चिम मे गाँजा और भाँग मे कोई अन्तर नही रह गया है। यहाँ भाँग की सज्ञा इसके उपभोग की एक सबसे सरल प्रक्रिया को, अर्थात् पीसने और पीने को दी गयी है जो कि निश्चय ही इसके स्वापक व्यवहार के विकास में धूम्रपान के पूर्व आरम्भ हुई होगी। यद्यपि "भाँग" अधिक व्यापक शब्द है और उत्तरी भारत में प्राय गाँजे को भी इसी मे सम्मिलित कर लिया जाता है, पर दक्षिण भारत में 'गाँजा' शब्द अधिक प्रचलित है और कुछ स्थानो मे तो 'भाँग' का भी इसी मे समावेश हो जाता है। दक्षिण भारत मे 'भाँग' नाम कोई जानता भी नही। भाँग का व्यवहार या तो वैसे ही (पत्ती के रूप में) या द्रव फाट के रूप में किया जाता है। भाँग के उपयोग का सबसे सरल तरीका यह है कि उसे मसाले (काली मिर्च—अनु०) के साथ पीस लिया जाता है और गोली बनाकर निगल जाते है मिठाई के रूप में भी इसका उपभोग किया जाता है। बनी हुई मिठाई को 'माजूम' कहते है। इसके बनाने का ढग यह है कि भाँग की पत्तियो को पीसकर चीनी मे मिला दिया जाता है फिर उसे बर्फीनुमा चौकोर काट दिया जाता है।

भाँग दोनो प्रकार के पौधो से तैयार की जाती है—अधिकतर स्वयजात पौधो से तथा थोड़े परिमाण मे कृषि द्वारा उत्पादित पौधो से । पौधे को काटकर धूप तथा ओस में बारी-बारी से रखा जाता है । जब पत्तियाँ सूख जाती हैं तो उन्हे (पीटकर) अलग कर लिया जाता है और मिट्टी के बर्तन मे दबाकर सुरक्षित रख देते है । गाँजा बनाने में पैरो से रौदते समय जो चूरा, कचरा गिरा बचा रहता है उसे भी भाँग कहते है । भाँग बनाने के लिए पत्तियो को सगृहीत करने का समय भिन्न-भिन्न स्थानो में भिन्न-भिन्न है, पर सामान्यतया इसके सग्रहण का समय कम ऊँचाई वाले प्रदेशो में मई और जून है तथा ऊँचे प्रदेशो मे जून और जुलाई है । कुछ स्थानो से उपलब्ध होनेवाली भॉग (अन्य स्थानो की अपेक्षा) उत्तमकोटि की मानी जाती है । इस बात का कोई प्रमाण नही है कि खेती करके उपजाये हुए भाँग के पौधे से अधिक उत्तम गुण (Superior quality) का भेषज तैयार होता है ।

सुखाभास (Euphoria) के उद्देश्य से हेम्प-भेषजो का व्यवहार एशिया तथा अफ्रीका में अतिप्रचलित है । यह निर्विवाद रूप से तय हो चुका है कि मादकता लाने के लिये कैनाबिस का उपयोग सर्वप्रथम एशिया मे आरम्भ हुआ । इससे यूरोप तथा सुदूर पूर्व के देश अब तक कुछ कम प्रभावित रहे हैं । भूमध्यसागरीय समस्त पूर्वी छोर तथा अफ्रीका के उत्तरी भाग मे, जो अटलाण्टिक महासागर तक चला गया है, भॉग पीने की प्रथा (चलन) धीरे-धीरे फैल गयी है । अफ्रीका का पूर्वी तट भी इससे नही बचा है और महाद्वीप के मध्य भाग मे तो इसका इतना प्रभाव हो गया है कि इससे एक प्रकार का खतरा उत्पन्न हो गया है जिसे रोकना कठिन जान पडता है । यह अमेरिका (जमेका, ब्रैजील, मैक्सिको, सयुक्तराज्य अमेरिका और कनाडा) तक पहुँच गया है जहाँ इसका सिगरेट के रूप मे मैरिहुआना (Marihuana) नाम से धूम्रपान किया जाता है । वस्तुत , सयुक्तराज्य अमेरिका के अल्पवयस्क नवयुवको के बीच मैरिहुआना का धूम्रपान एक बहुत वडी समस्या होती जा रही है । मिस्र-निवासी कैनाबिस सटाइवा से निर्मित हशिश (चरस) का धूम्रपान करते हैं । इस भेषज का व्यवहार उत्तरी अफ्रीका मे ट्रिपोली स मोरक्को तक बहुत अधिक होता है और इन भागो मे यह अफीम की अपेक्षा अधिक पसन्द किया जाता है । सम्पूर्ण अल्जीरिया मे हशिश का धूम्रपान अत्यधिक प्रचलित है । इसकी आदत प्राय गरीबो, यथा—ऊँटहारो तथा खच्चरवालो मे पायी जाती है । अफ्रीका के पश्चिमी तटवासियो में छिटपुट स्थानो मे इसके प्रति आसक्ति ह, पर कागो निग्रो जाति में, चाहे वह जहाँ कही भी रहती हो, यथा-लाइबेरिया—यह आसक्ति और अधिक दिखायी पडती है । वे इसकी खेती करते है और इसकी हरी या सूखी पत्ती को पाइप (चिलम) पर कोयले का अगारा रखकर पीते है । लोआगो तट पर

हेम्प की पत्तियो एव बीजो को पानी की नलियो के छोटे टुकडो मे (water-pipes) रखकर पीते है। उससे और दक्षिण हॉटेनटाट्स (Hottentots), बुशमेन (Bushmen) और काफिरो (Kaffrs) के बीच हेम्प का धूम्रपान एक सर्वप्रिय प्रथा हो गयी है। उसे या तो अकेले ही वे पीते है या तम्बाकू के साथ। पूर्वी अफ्रीका में भी, झीलो के बीच के क्षेत्र को छोडकर, हेम्प का धूम्रपान बहु प्रचलित है। वे स्वय कृषि द्वारा जो हेम्प उत्पन्न करते है उसी का धूम्रपान करते है। हेम्प की खेती पहले टर्की में खूब हुई, किन्तु गत शताब्दी के अन्त में इसका निषेध कर दिया गया पर उससे इसका प्रच्छन्न उपयोग नही बन्द हो सका। हेम्प से बनाये हुए एसरार (Esrar) नाम के पदार्थ का तम्बाकू के साथ धूमपान किया जाता है। हेम्प को दूसरे रूप में चबाकर भी खाया जाता है। सीरिया मे हेम्प की खेती होती है और उससे रेजिन सावधानी पूर्वक सगृहीत कर लिया जाता है। दमास्कस मे कई ऐसे स्थान है जहाँ अफीम तथा हशिश का धूमपान किया जाता है और फारस मे भी यही बात पायी जाती है। उजबेक तथा तातार हेम्प के बडे ही आदी होते है।

भारत मे हेम्प का व्यवहार बहुव्यापक है। बगाल और बिहार में गाँजा का धूमपान बहुतायत से होता है और भाँग का उपयोग कम होता है, उत्तरप्रदेश मे गाँजा, भाँग, चरस तीनो का व्यवहार बहुत अधिक होता है। पजाब मे चरस और भाँग का अत्यधिक उपयोग होता है, सिन्ध मे भाँग का अत्यधिक उपयोग होता है और गाँजा तथा चरस का कम। बम्बई और मद्रास तथा मध्यभारत मे गाँजे की खपत बहुत अधिक होती है और भाँग की कम तथा चरस की बहुत कम। कुछ भागो मे भाँग का व्यवहार सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से होता है। भारतीय हेम्प ड्रग्स कमीशन (१८९३-९४ ई०) ने निष्कर्ष निकाले थे कि हेम्प का परिमित उपयोग किसी प्रकार की शारीरिक क्षति नही पहुँचाता। उन्होने यह भी निष्कर्ष निकाला था कि इसका परिमित उपयोग मस्तिष्क पर किसी भी प्रकार का हानिकर प्रभाव नही डालता। लोगो का यह विश्वास कि हेम्प से आदमी पागल हो जाता है कमीशन के सामने उपलब्ध आँकडो (data) मे प्रमाणित नही हो सका। कमीशन का यह भी कहना था कि इसका परिमित उपयोग किसी प्रकार की नैतिक हानि नही पहुँचाता और इस कथन पर विश्वास करने के लिए कोई प्रबल प्रमाण नही है कि हेम्प उपभोक्ता के चरित्र पर गलत प्रभाव डालता है। हाँ, इसका अत्यधिक परिमाण मे सेवन करने से शारीरिक एव बौद्धिक ह्रास होता है तथा मनुष्य मे चारित्रिक दुर्बलता एव भ्रष्टता उत्पन्न हो जाती है जो धीरे-धीरे बढती जाती है। इसके अतिरेक से आत्मसम्मान की भावना क्षीण हो जाती है, फलतः नैतिक पतन हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव : चोपड़ा और चोपड़ा (१९३९ ई०), भारत में भेषज-व्यसन का एक विस्तृत एवं व्यापक सर्वेक्षण करके निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचे—"स्वापक एवं शामक उद्देश्य से हेम्प-रेजिन का उपयोग प्राचीन एवं व्यापक है। हेम्प-भेषज का उपयोग मुख्यतः सुखाभास (Euphoria) के उद्देश्य से समूचे विश्व में होता है। उसके सेवन से थकान दूर होती है, नींद खूब आती है और बेचैनी से राहत मिलती है। अल्पमात्रा में सेवन करने से भूख बढ़ती है, जो कभी-कभी तो इतनी बढ़ जाती है कि केवल भोजन से उसकी तृप्ति नहीं होती। उसके सेवन से पाचन बढ़ता है, पर कब्जियत भी हो जाती है। यदि बहुत दिनों तक लगातार सेवन किया जाय तो भूख मारी जाती है और आमयिक विकार पैदा हो जाता है। हेम्प भेषज मुख्यतः प्रमस्तिष्क (Cerebrum) पर प्रभाव डालता है और इस क्रिया में उसका अफीम एवं ऐल्कोहॉल के सदृश प्रभाव होता है। व्यक्ति-वैलक्षण्य एवं निर्मित पदार्थों (औषधियों) के शक्ति-वैभिन्य के कारण उसकी क्रिया (प्रभाव) अनिश्चित होती है। अफीम, मारफीन या हेरोइन के खानेवाले (व्यसनी) को भेषज की आवश्यकता इसलिए होती है कि वह अपने को सामान्य स्थिति में रख सके, इसके अतिरिक्त, हेम्प-भेषज-सेवी उसी आनन्दात्मक स्थिति में बना रहना चाहता है जिसमें भेषज उसे पहुँचाता है। उसकी यह आवश्यकता अधिकांशतः मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि यदि उसे हेम्प न सेवन करने दिया जाय तो उसमें कोई विशेष शरीरक्रियासम्बन्धी व्यवधान नहीं परिलक्षित होता। साधुओं एवं भिखारियों के कुछ वर्गों में गाँजे का धूम्रपान सार्वभौम हो गया है। यदि बार-बार पिया जाय तो नशा चढ़ जाता है और आत्मसंयम जाता रहता है। नशे में मग्न आदमी वाचाल एवं हँसोड़ हो जाता है, आत्मसंयम खो बैठता है और अन्त में जाग्रत अवस्था में ही चित्तविभ्रम (delirium) जैसा प्रलाप करता है। इसीलिए हेम्पभेषज को सुखाभासक (euphorics), उल्लासप्रद (exhilarant), चित्त-विभ्रामक (delirant) और निद्राजनक (hypnotics) कहा जाता है। अधिक मात्रा में वे स्तब्धि (निश्चेष्टता) उत्पन्न करते हैं तदुपरान्त मूर्च्छा और हृदयातिपात (cardiac failure) से मृत्यु हो जाती है। गाँजे का अत्यधिक धूम्रपान, खासतौर से उन लोगों द्वारा जिन्होंने अभी पीना शुरू ही किया है, मनुष्य के मानसिक विकार पैदा करता है और उसको विक्षिप्त और पागल तक बना देता है। हेम्प भेषज में वेदनाहर गुण भी होता है यद्यपि अफीम तथा बेलाडोना से कम। रक्त परिसंचरण एवं श्वसन-क्रिया में कोई विशेष परिवर्तन नहीं लक्षित होता, यद्यपि पिसी हुई भाँग को घोलकर पीने से प्रचुर मूत्रलता का होना बताया जाता है। डा० जे० बूके (Dr J Bouquet-१९५१ ई०) का ऐसा कथन है कि कैनाबिस एक ऐसा भेषज है जो मस्तिष्क पर

अत्यधिक प्रभाव डालता है। यह कल्पनाशक्ति को अत्यधिक उत्तेजित करता है और स्मरणशक्ति को असाधारण रूप से उद्दीप्त करता है, इनके अतिरिक्त यह उल्लास, वैभव एव आनन्द की स्थिति उत्पन्न करता है जो सेवन करनेवालो के लिए अत्यधिक आकर्षक होती है।

गुण तथा उपयोग.—कैनाबिस का उपयोग वेदनाहर, निद्राजनक एव व्याकुलता-निवारक औषधि के रूप मे होता है। इसके चिकित्सीय प्रभाव की बहुत कम निश्चित जानकारी है पर ऐसा कहा जाता है कि कुछ लोगो मे यह सुखाभास (यूफॉरिया) पैदा करता है और प्राय अर्धशिर पीडा (अवकपारी) से मुक्ति दिलाता है। इस भेषज के व्यापक उपयोग मे सबसे बडी बाधा इसके विभिन्न नमूनो का शक्ति-वैभिन्य है। समय-समय पर इस भेषज से निर्मित असाधारण शक्तिवाले द्रव्यो (औषधियो) के अनिष्टकर प्रभाव के कारण चिकित्सक इसकी विनिहित मात्रा के प्रति भी अत्यधिक सावधान रहते है। इसके मात्रा-निर्धारण का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि पहले इस भेषज से निर्मित द्रव्य को आरोही (क्रम से बढते) परिमाण मे दिया जाय जब तक कि इसका प्रभाव परिलक्षित न हो जाय।

उत्पादन और व्यापार· भाँग वन्य अवस्था मे उगे हुए पौधो से उपलब्ध होती है, अत इसकी खेती के क्षेत्रफल का ठीक-ठीक आँकडा नही दिया जा सकता। चरस भारत मे नही पैदा होता। पहले इसका आयात मध्यएशिया (यारकन्द) से होता था, पर अब बन्द हो गया है। गाँजा ही ऐसा उत्पाद है जिसके लिए कैनाबिस की खेती अनुज्ञप्ति (लाइसेन्स) प्राप्त करके की जाती है। बगाल, बिहार, मध्यभारत और बम्बई मे गाँजे के खेत का कुल क्षेत्रफल ५३८ हेक्टेयर्स प्राक्कलित किया गया था। मद्रास मे गाँजा तथा भाँग दोनो का सयुक्त क्षेत्रफल (जिसका अलग-अलग आँकडा नही उपलब्ध है) ११२५ हेक्टेयर्स था। हेम्प की अवैध खेती शायद ही कही पायी जाती हो।

भारत मे हेम्प भेषज का उत्पादन एव उपभोग

	क्षेत्रफल, जिस पर हेम्प की खेती की गयी (हेक्टेयर्स)		हेम्पभेषज जो उपलब्ध हुआ (किलोग्राम)		हेम्पभेषज जो प्रयुक्त हुआ (किलोग्राम)		
	तन्तु (रेशे) के लिए	भेषजकेलिए	गाँजा	भाँग	गाँजा	भाँग	चरस
१९४४ ई०	११०५	६५०५	४१०,५०९	६४६,७००	२०३,६८४	४३९,२१६	५६५
१९४५ ई०	,,	६१३	४१६,८०७	६३८,०७२	२२८,८४७	५२४,३७७	४९
१९४६ ई०	,,	४३८	३२३,५३७	२१४,६१८	२१४,६६०	४३८,६३०	—
१९४७ ई०	,,	२०७	१४९,०३७	२१०,६३९	१५३,५६०	२०५,६६८	—

बगाल, विहार, वम्बई, मद्रास और मध्यभारत मे इस भेषज का उपयोग गाँजे के रूप मे सर्वाधिक होता है और भाँग का उपयोग केवल अल्पमात्रा मे होता है । पजाब मे चरस और भाँग दोनो का उपयोग होता है, जब कि उत्तर प्रदेश मे तीनो का ही व्यवहार होता है ।

सन्दर्भ :—

(1) Report, Hemp Drugs Commission, 1893-94, (2) Lewin, L , 1931 Phantastica, (3) Wealth of India Raw Materials, 1950, 11, 58, (4) Yegna Narayan Iyer, A K , 1944, *Field Crops of India,* 479, (5) Trease, G E , 1952, Text Book of Pharmacognosy, 212, (6) Todd, A R , 1943, The Hemp Drugs, *Endeavour*, 68, (7) Mukerji, B , 1953, Indian Pharmaceutical Codex, 1, 50, (8) Bouquet, J , 1951, Cannabis, *Bulletin on Narcotics* 111, 1, 22, (9) Chopra, R N and Chopra, G S , 1939, The Present Position of Hemp Drugs Addiction in India, *Ind Jour Med Res* (Memorandum No 31), Calcutta, (10) *Report,* Traffic in Opium and other Dangerous Drugs, 1944, (Government of India)

कैरम कार्वी (अम्बेलिफ़ेरी)

Carum carvi Linn (Umbelliferae)

कैरावे सीड (The Caraway Seed)

नाम—स०—सुषवी (इसे 'कृष्ण जीरक' और मगरैला को 'सुषवी' कहते हैं—अनु०), फा०—करोया, अ०—करोया, कराव्या, हि०—शियाजीरा, (स्याह जीरा), जीरा, व० जीरा, प० जीरा—स्याह, त०—शिमाइ-शेम्बू, ते०—शिमाइसापू, सिं०—काल्दुरु, कश्मी—गुन्युन, बम्ब०—विलायती—जीरा ।

स्याह जीरा दोनो गोलार्द्धों के गर्म प्रदेशो मे बहुतायत से पाया जाता है । यह उत्तरी और मध्य यूरोप से लेकर काकेशस, फारस, तिब्बत और साइबेरिया तक पैदा होता है । यह हिमालय के उत्तरी प्रदेशो मे वन्य अवस्था मे पैदा होता है । इसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए भोजन के मिरचादि व्यजन के रूप मे तथा अपूपशाला (बेकरी) मे बनाये गये पदार्थों और कुछ प्रकार के पनीरो मे मसाले के रूप मे होता है । इस महत्त्व के कारण इसकी खेती विश्व के अनेक भागो-यथा, मोरक्को, जर्मनी, नार्वे, उत्तरी अमेरिका, हालैण्ड, रूमानिया आदि मे की जाती है । भारतवर्ष मे इसकी

खेती जाडे की फसल के रूप मे मैदानो मे तथा गर्मी की फसल के रूप में पहाडियो पर यथा,—वाल्तिस्तान, कश्मीर, कुमायूँ, गढवाल, चम्बा आदि में ९,००० से १२,००० फुट की ऊँचाई पर की जाती है।

इन बीजो से एक मूल्यवान वाष्पशील तेल, जिसमे कार्वोन (Carvone) पर्याप्त मात्रा मे होता है, प्राप्त होता है। यह तेल रगविहीन या हल्के पीले रग का होता है जिसमे तेज गन्ध एव जीरा के फल का सुवास होता है। इसमें तेल की उपलब्धि ३ ५ प्रतिशत से ५ २ प्रतिशत तक होती है जो पूरे खडे वीज से किये हुए आसवन अथवा मोटे पिसे हुए चूर्ण से किये हुए आसवन पर निर्भर करती है। इसमें ८ से १२ प्रतिशत स्थिर तेल, प्रोटीन, कैल्सियम ऑक्जलेट, रजक द्रव्य (colouring matter) और रेज़िन भी उपलब्ध होता है। वाष्पशील तेल मे कार्वोन, जो एक कीटोन है और लिमोनिन, जो एक टर्पीन है, पाया जाता है एव अल्पमात्रा मे डाइहाइड्रोकार्वोन, कार्विऑल, डीहाइड्रोकार्विऑल होता है। यदि ऐसा तेल प्राप्त करना हो जो ऐल्कोहॉल में अत्यन्त विलेय हो तथा जिसमे कार्वोन अधिक परिमाण में हो तो पूरे वीज का उपयोग करना चाहिये। वन्य अवस्था मे उत्पन्न स्याह जीरा के बीजो से आसवित तेल का आपेक्षिक गुरुत्व अधिक होता है और इसलिए अधिक पसन्द नही किया जाता। औपधि में इसका प्रयोग कम ही होता है, पर शराब को सुस्वादु बनाने के लिए, सावुन को सुगन्धित करने के लिए और इत्र-तेल व्यवसाय में इसका उपयोग अधिकतर होता है। कश्मीर के भिन्न-भिन्न स्थानो से उत्पादित स्याह जीरा में उपलब्ध तेल की मात्रा निम्नलिखित पायी गयी (चोपडा १९४७ ई०)।

		तेल की उपलब्धि	आपेक्षिक घनत्व	वर्तनाक २० सें० पर
वागवानपुरा	(५,५०० फुट)	४.३ प्रतिशत	० ९०९५ १५ सें० पर	१ ४९१
गुरेज	(७,९०० फुट)	६.८ प्रतिशत	०.८९०२ १५ सें० पर	१.४८६
स्कार्दू	(७,७०० फुट)	८.५ प्रतिशत	० ८९०७ १५ सें० पर	१.४८५

स्याह जीरा तेल का उपयोग मुख्यत सुवासन के उद्देश्य से होता है और औपधि में वातानुलोमक के रूप मे। इसका उपयोग कुछ औपधियो के उत्क्लेशकारक और पेट मे मरोड लानेवाले प्रभाव को दूर करने के लिए होता है। खाज (Scabies) के इलाज के लिए चिकित्सको ने स्याहजीरा के तेल ऐल्कोहॉल और रेडी के तेल का घोल विनिहित किया है। कार्बोनरहित तेल, जिसमें नाम मात्र के लिए कार्वोन रहता है, बाजार मे स्याह जीरा के हल्के तेल के नाम से बेचा जाता है जो सस्ते सावुनो को

सुगन्धित करने के काम आता है। मान्य तेल में कम से कम ५३ से ६३ प्रतिशत कार्बोन होना चाहिये।

कृषि इस पौधे के लिए शुष्क जलवायु अपेक्षित है। इसकी अभिवृद्धि अच्छी जोती हुई भूमि मे, जिसमे ह्यूमुस (पत्ती आदि की खाद) पर्याप्त मात्रा मे हो, अच्छी होती है। इसकी बुवाई छीटकर या पक्तियो मे जो १२ इच की दूरी पर हो, की जा सकती है। यह एक द्विवर्षी पौधा है, फिर भी इसकी खेती वार्षिक पौधो के साथ जैसे, वामन मटर (dwatf peas), सरसो या साग पत्ती वाली फसल (ficld leaves) के साथ की जा सकती है। पकने से पहले ही फलो को एकत्रित कर लिया जाता है। भलीभाँति पके हुए फल की भी लवाई की जा सकती है। पौधो को सुखाकर फल को पीट लिया जाता है। फलों की उपलब्धि ६ से १६ हण्डरवेट तक होती है जो भूमि की प्रकृति पर निर्भर करती है।

स्याहजीरा की खेती हालैण्ड मे खूब होने लगी है। स्याहजीरा की खेती का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन क्रमश बढता जा रहा है और १९२६ ई० मे ४,५००० टन बीज की उपज हुई थी। १९२७ ई० मे स्याहजीरा की कुल निर्यात ६०,००,००० किलोग्राम हुआ था जिसे मुख्य उपभोक्तादेशो–जर्मनी, सयुक्त राज्य अमेरिका, जेकोस्लोवाकिया, ग्रेटब्रिटेन आदि मे भेजा गया था। स्याहजीरा एव उससे निकाले हुए तेल का उपयोग इन देशो मे उपर्युक्त विभिन्न औद्योगिक कार्यों मे होता है। भारतवर्ष मे वन्य अवस्था मे उत्पन्न स्याहजीरा बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध हो सकता है यदि इसकी फसल को दूरस्थ स्थानो से सगृहीत करने की उचित व्यवस्था की जाय। इसमे परिवहन-व्यय अत्यधिक होता है जो व्यापारिक दृष्टि से लाभप्रद नही है। भारत मे व्यापक पैमाने पर इसकी खेती की जाय तो अर्थ-लाभ हो सकता है क्योकि इसकी खपत बढते हुए साबुन, सौदर्य प्रसाधन और परिमल उद्योग मे तुरन्त होगी।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co, 1928, *Report*, (3) Wealth of India, Raw Materials, 1950, 11, 88, (4) Chopra *et al*, 1947, *Jour, Sci Industr Res*, 6, 12, (5) Schmidt, E, 1950, *Ber*, 83 (2) 193, (6) Trease, G E, 1952, A Text Book of Pharmacognosy, 444

कैरम कॉप्टिकम (अम्बेलिफेरी)

Carum copticum Benth & Hook f (Umbelliferae)

पर्याय '—ट्रैकिस्पर्मम अम्मी (*Trachyspermum ammi* Linn) Sprague बिशॉप्स वीड, लॅवेज, आजवा सीड्स (The Bishop's Weed, Lovage, Ajava Seeds)

नाम.—स०-यवानी, हि०—अजवायन, ब०-जोवान, बम्ब०-अजवान, ओवा, त०-ओमन, ते०-ओममु, अ०—कोमूए मुलूकी, फा०-ज़िनियान, नानख्वाह

क्यूमिनम साइमिनम (अम्बेलिफेरी)

Cuminum cyminum Linn. (Umbelliferae)

क्यूमिन (Cumin)

नाम—स०-जीरक, जीरा, अ०-कमूना, फा०-जीरा, हि०-जीरा, जीरा, ब०-जीरा म०-जिरेगिरे, त०-सीरागम्, ते०-जिलकारा, जीरका, कन्न०-जीरिगे, मल०-जोरेकम, प०-जीरा सुफेद, सि०-जीरो।

भारत मे अजवाइन के वीज और जीरा के सूखे फल थाइमॉल के समृद्ध स्रोत है, यद्यपि ओरिगॅनम (*Origanum*) एव ओसिमम (*Ocimum*) के स्पीशीज, तथा मेन्था विरिडिस (*Mentha viridis*) और थाइमस सर्पाइलम (*Thymus serpyllum*) से उपलब्ध वाष्पशील तेल मे भी थाइमॉल पायी जाती है। थाइमॉल अथवा थाइम कपूर अनेको पौधो से मिलने वाले वाष्पशील तैलो मे पाया जाता है। उन पौधो मे सर्व प्रमुख है थाइम अथवा थाइमस वल्गॅरिस (*Thymus vulgaris* Linn.) इसकी पत्तियो एव पुष्प-मुण्डको से सामान्यत' थाइमॉल आसवित किया जाता है। यह थाइमस ज़िगिस (*T zygis* Linn.) से भी निकाला जाता है। थाइमस वल्गॅरिस सदा हरा रहने वाला एक छोटा पादप है। जो लॅबिएटी (Labiatae) कुल के अन्तर्गत है। यह स्पेन, पुर्तगाल, फ्रास और इटली का पौधा है, पर यूरोप और अमेरिका के अन्य भागो मे भी और खासकर न्यूयार्क-राज्य और जर्मनी मे इसकी व्यापक पैमाने पर खेती की जाती है। अधिकाश वाणिज्योपयोगी वस्तु जर्मनी निर्यात करता है। **मोनार्डा पंक्टैटा** (*Monarda punctata* Linn), (लॅबिएटी कुल) के तेल मे भी ६० प्रतिशत थाइमॉल उपलब्ध होता है और मोनार्डा डाइडिमा (*Monarda didyma* Linn) मे भी। उक्त दोनो ही पौधे उत्तरी अमेरिका के है। इनके अतिरिक्त थाइमॉल, पिपेरिटोन (Piperitone) से भी निर्मित किया जाता है जो आस्ट्रेलिया के मिर्टेसी (Myrtacae) कुल की चौडी पत्तियो वाले पेपरमिन्ट यूकैलिप्टस ऑलिव्ज (*Eucalyptus olives*) के वाष्पशील तैल मे पर्याप्त मात्रा मे उप-

लब्ध होता है, और सिट्रोनेलॉल से भी निर्मित किया जाता है जो दक्षिण एशिया के ग्रैमिनी (Graminae) कुल के सिट्रोनेला घास, सिम्बोपोगॉन नार्डस (*Cymbopogon nardus* Linn,) के वाष्पशील तैल से पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता है ।

इस सम्बन्ध मे कैरम कॉप्टिकम (पर्याय-ट्रैकिस्पर्मम अमी) के बीज विशेष रूप से उल्लेखनीय है । अजोवान, (अजवायन) जैसा इसका नाम है, भारतीय चिकित्सा मे अतिसार, अतानी-अग्निमान्द्य (atonic dyspepsia) हैजा, उदर शूल, आध्मान (flatulence), अजीर्ण (अपाचन) आदि मे बहुत दिनो से प्रयुक्त होती आयी है । इसमे वातानुलोमक, उद्दीपक, टॉनिक और उद्वेष्टरोधी गुण होते है । इसके फल की महक सुगन्धित होती है और यह स्वाद मे तीक्ष्ण (pungent) होता है । पान-सुपारी के साथ अथवा अकेले ही चबाने के काम मे लाया जाता है । इसके फल मे २ से ४ प्रतिशत सफेद से लेकर भूरे रग का वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है जिसमे ३५ से ६० प्रतिशत थाइमॉल रहता है । इसके तेल से थाइमॉल के क्रिस्टल सरलता से प्राप्त होते है जो भारत मे 'अजवायन के फूल' के नाम से बिकता है । तेल के अवशेष भाग मे पैरा-साइमीन, अल्फा-पाइनीन, डाइपेण्टीन, अल्फा-टर्पिनीन और कार्वेक्रॉल रहता है । यह मिश्रण थाइम के तेल के सदृश होने के कारण व्यापार मे थाइमीन नाम से जाना जाता है । अजवायन का शुद्ध या थाइमॉल-रहित तेल भारत मे पूतिरोधी और सुगन्धित वातानुलोमक के रूप में व्यवहृत होता है इसका प्रभाव तथा उपयोग थाइमॉल के सदृश होता है जो एक शक्तिशाली पूतिरोधी है और जिसका चिकित्सा मे विविध प्रयोग होता है, यथा-जुकाम और चर्म रोग के इलाज मे तथा मुख प्रक्षालक और आन्त्र कृमिघ्न के रूप मे । कभी-कभी इसका उपयोग साबुन मे तथा परिमल मे भी किया जाता है ।

जीरे का जल वह जल है जिसमे से वाष्पशील तैल तथा थाइमॉल भाप के आसवन से निकाल लिया जाता है । इसका उपयोग भारत मे सामान्यतः वातानुलोमक के रूप मे होता है और विश्वास किया जाता है कि आध्मान और मरोड मे, खासकर बच्चो के लिए यह बडा उपयोगी होता है ।

जिस फल से वाष्पशील तैल निकाल लिया जाता है उसमे २० प्रतिशत वसीय तेल और १५ से १७ प्रतिशत प्रोटीन रहता है । इसलिए रेचित (exhausted) फल का व्यवहार पशुओ के चारे के लिए किया जा सकता है, जैसा जर्मनी मे किया गया है । जर्मनी से आयातित ताजी बूटी मे ० १२ प्रतिशत पीत-भूरा सगध तैल उपलब्ध होता है, जिसमे कुछ फिलैण्ड्रीन (Phellandiene) और लगभग १ प्रतिशत थाइमॉल प्राप्त

होता है। भारतीय बूटी मे, ऐसा बताया गया है, अल्प मात्रा मे अल्फा और बीटा फिलैण्ड्रीन और एक पैराफिन जिस पर अन्वेषण नही हो पाया है, उपलब्ध होता है।

यह पौधा (कैरम कॉप्टिकम) सारे भारत मे पैदा होता है और इसकी खेती भी की जाती है, यह मुख्य रूप से इन्दौर में तथा उसके चारो ओर हैदराबाद (डेक्कन) मे प्रचुर मात्रा मे होता है। हैदराबाद मे लगभग ७,००० से ८,००० एकड भूमि मे इसकी खेती होने की सूचना मिली थी और १ से १ ५ लाख रुपये की कीमत की अजवायन का प्रत्येक वर्ष निर्यात किया जाना बताया गया था। बडे बीज वाली किस्म मुख्यत घरेलू उपयोग मे लायी जाती है। यह कुर्नूल, गुण्टकुल जिले मे पैदा होती है। इसकी खेती बगाल, मध्य-प्रदेश और मध्य भारत मे भी की जाती है। यह भारत मे अक्टूबर से नवम्बर तक मेडो पर बोयी जाती है, हर ६ इञ्च के फासले पर बीज बोये जाते है। अधिक खाद इसके लिए हानिकर बतायी जाती है, पर सिंचाई बार-बार अपेक्षित होती है। फरवरी से मई तक इसके फूलने का और मई से जून तक फल लगने का समय है। अजवायन का तेल थाइमॉल का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था और इसका फल प्रथम महायुद्ध के पहले, इसके आसवन एव थाइमॉल निकालने के लिए प्रचुर मात्रा मे यूरोप, खासकर जर्मनी और सयुक्त राज्य-अमेरिका को, निर्यात किया जाता था। द्वितीय महायुद्ध के दिनो मे तथा उसके बाद भारत मे भी इसके फल का आसवन तथा थाइमॉल का औद्योगिक निर्माण व्यापक पैमाने पर सगठित किया गया था। फिर भी अजवायन के तेल से थाइमॉल का निष्कर्षण बाद मे अलाभकारी पाया गया और थाइमॉल के सश्लेषणात्मक स्रोत या अन्य वानस्पतिक स्रोतो की प्रतिद्वन्दिता मे यह नही टिक सका। यदि तेल की उपलब्धि अधिक हो जाय और प्रति एकड फल की उपज बढ जाय तो इस उद्योग के पुनर्जीवित होने की पूरी सम्भावना है। यह बिल्कुल सम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा बताया गया है कि सिचलिस मे उगाये गये फलो मे ९ प्रतिशत तेल पाया जाता है जिसमे ३८ प्रतिशत थाइमॉल विद्यमान रहता है, जबकि भारतीय फलो मे ४ प्रतिशत वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है। दूसरे शब्दो मे भारतीय अजवायन मे जितना तेल उपलब्ध होता है सिचलिस के फलो से उसका दुगुना तेल निकलता है, यद्यपि वह तेल थाइमॉल की प्राप्ति की दृष्टि से कुछ निम्न कोटि का होता है। भारत मे इसकी सावधानी से खेती करने के लिए उचित अनुसधान की आवश्यकता है, विशेपकर इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कि गत कुछ वर्षों से इस स्रोत से थाइमॉल तैयार करने का उद्योग देश में पुनरुज्जीवित किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त क्यूमिनम साइमिनम नामक एक अन्य पौधा है जिसकी खेती समूचे भारत मे प्रचुर मात्रा में खेतों और बगीचो मे की जाती है। इससे जीरा का तेल प्रभूत

मात्रा मे मिलता है जिसका मुख्य सघटक क्यूमिनिक ऐल्डिहाइड है जिसे पुन आसानी से कृत्रिम ढग से थाइमॉल के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। भारतवर्ष मे जीरा का अधिक व्यवहार रसवाले व्यञ्जनो मे मसाले के रूप मे होता है। यह देशीय औषधि में उद्दीपक और वातानुलोमक के रूप में भी व्यवहृत होता है।

कृषि :—क्यूमिनम साइमिनम एक वर्षी पतला पौधा है जो मिश्र और सीरिया के लिए देशीय है किन्तु भारत के सभी राज्यो मे, केवल आसाम और बगाल को छोडकर, इसकी खेती होती है। इसके पैदा होने के मुख्य क्षेत्र पजाव और उत्तर प्रदेश है। जयपुर मे खालसा क्षेत्र मे इसकी खेती लगभग १३,९३० एकड मे की जा रही है तथा लगभग २,००० एकड मे वम्वई मे, जिसका अधिकाश भाग उत्तरी गुजरात मे है। मद्रास के कोयम्वटूर, कुप्पा और कुर्नूल जिलो मे इसकी खेती सीमित क्षेत्रो मे की जाती है। भारत मे जीरे की फसल दो ऋतुओ मे होती है, या तो दक्षिणी-पश्चिमी मानसून प्रारम्भ होने के पूर्व या उत्तरी-पश्चिमी मानसून के समाप्त हो जाने के वाद। इसके अभिवृद्धि काल मे गर्मी या आर्द्रता या अधिक वर्षा हानिकर होती है। पहली फसल के लिए इसके बीज अप्रैल के अन्त मे या मई के प्रारम्भ मे वो दिये जाते है, और दूसरी फसल के लिए लगभग अक्टूवर के अन्त मे। इसकी वुआई छीटकर होती है और प्रति एकड ३० से ३५ पौड। जव तक फल पक नही जाता तव तक हल्की पर वार-वार सिंचाई आवश्यक होती है। घास की निराई भी आवश्यक होती है। वुआई के २ से ३ महीने के वाद फल पकता है और परिपक्व हो जाने पर पौधे को जड से उखाड लेते हैं फिर सुखाकर पीट लिया जाता है। एक एकड मे २५० से ३०० पौड उपज होती है पर कभी-कभी ४०० पौंड पैदावार की भी सूचना मिली है। सीवर्स (१९४८ ई०) के अनुसार यह पौधा जलोत्सारण वाली उर्वर रेतीली दोमट भूमि मे जहाँ जमने के समय ३-४ महीने तक ताप मन्द और सम रहता है खूव पनपता है। घासो की निराई आवश्यक होती है क्योकि पौधा छोटा और कोमल होता है। इसलिए उन स्थानो मे जहाँ मजदूरी महँगी पडती है, फलो को हाथ से छीटकर वोने के बजाय इतनी दूर-दूर पक्तियो मे बोया जाना चाहिये कि कल्टिवेटर मशीन का अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। जव पौधा सूखने लगता है और फलो का श्याम-हरित रग बदल जाता है तब फसल काटने लायक हो जाती है। बताया जाता है कि भूमध्य सागरीय प्रदेशो मे १०० से १००० पौड प्रति एकड पैदावार होती है, औसतन अच्छी स्थितियो मे उपज ५०० पौंड प्रति एकड होती है। स्याह जीरा (कैरावे), डिल (सोवा), ऐनीसी आदि की तरह यह सुगन्धित फल सुस्पष्ट उद्दीपक और वातानुलोमक गुणो से युक्त होता है। रसा, शोरवा (सूप) आदि को सुवासित करने के लिए इसका खूब व्यवहार होता है और

रसा का मसाला (करी पाउडर) अचार और चटनी आदि का घटक है। भारतीय औषधि मे भी स्याह् जीरा के स्थान पर जो अधिक रुचिकर स्वाद युक्त होता है, कुछ हद तक इसका व्यवहार होता हैं।

आर्थिक पक्ष —जीरा का सुगन्धित फल, जिसे वाणिज्य मे बीज कहा जाता है, खडा एव चूर्ण दोनो रूपो मे विकता है। जब व्यापार के उद्देश्य से इसका चूर्ण बनाया जाता है तो उसे इतना महीन होना चाहिये कि ४ नम्बर की चलनी से आसानी से चाला जा सके। पैगे (१९४५) के अनुसार फलो मे ९ ५ प्रतिशत से अधिक कुल राख नही होना चाहिये न हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मे अविलेय राख १ ५ प्रतिशत से अधिक और न ५ प्रतिशत स अधिक वाह्य पदार्थ होना चाहिये। फलो से, आसवन द्वारा २.५ से ४ ५ प्रतिशत गाढा पीत वाष्पशील तैल उपलब्ध होता है जो फलो के समान महकता है, पुराने फलो में तेल कम निकलता है। बगलोर के स्थानीय बाजार से उपलब्ध फलो से २ ३५ प्रतिशत वाष्पशील तैल निकलता है। अनेक तरह के सुस्वाद द्रव्यो मे और खासकर पूर्वीय ढग की रसदार रसोई के व्यञ्जनो मे जीरे के तेल का उपयोग, इसके फलो के स्थान पर लाभ के साथ किया जाता है। वस्तुत मध्ययुग में जीरा सर्वाधिक उपयुक्त होने वाले मसालो मे से एक था। साबुन को सुवासित करने तथा पेय द्रव्यो को सुस्वाद बनाने के लिए भी इसका व्यवहार होता है। औषधि मे, कभी-कभी इसका उपयोग वातानुलोमक के रूप मे किया जाता है। क्यूमिनऐल्डिहाइड मे बडी तीव्र गध होती है, यह 'कैसी' (Cassie) जैसे सश्लिष्ट पुष्प परिमल तैयार करने में अति सूक्ष्म मात्रा मे प्रयुक्त होता है। मुख्यत पशु चिकित्सा मे इस तेल का उपयोग होता है। प्राय जीरा के तेल मे सश्लेपित क्यूमिन ऐल्डिहाइड अपमिश्रित कर दिया जाता है, इसकी उपस्थिति विश्लेषणो द्वारा नही जानी जा सकती। यदि क्यूमिन ऐल्डिहाइड बहुत अधिक अपमिश्रित हो तो ध्रुवण-घूर्णन द्वारा ज्ञात हो जाता है। रेचित (exhausted) फलो मे १७ २ प्रतिशत प्रोटीन और ३० प्रतिशत बसा रहता है। ये पशुओ को खिलाने के लिए बहुत उपयोगी है। भारतवर्ष विदेशो को विशेषत स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स, मलाया और पूर्वी अफ्रीका को पर्याप्त मात्रा में जीरा निर्यात करता है। भारत में उसका औसत वार्षिक निर्यात १९४५-४६ ई० से १९४९-५० ई० तक के ५ वर्षो मे १६०० टन था जिसका मूल्य २३,०८,००० रु० था। १९४४-४५ ई० से १९४६-४७ ई० तक के तीन वर्षो मे भारत में अफगानिस्तान से लगभग १६० टन जीरा वार्षिक आयात भी किया गया, जिसका मूल्य २,४०,३९७ रु० था। भारतवर्ष में इसके व्यापार के प्रमुख केन्द्र जबलपुर, रतलाम, जयपुर और गगापुर है।

हाल के वर्षों मे थाइमॉल का अकुश कृमि (हुकवर्म) के सक्रमण में आन्त्रकृमिघ्न के रूप मे तथा पूतिरोधी रूप मे भी उपयोग होने से और अनेक आधिस्वामिक औषधियो के घटक रूप में व्यवहृत होने से इसका वाणिज्यिक मूल्य बहुत अधिक बढ गया है। भारतवर्ष अपने कच्चे माल के समृद्ध भण्डार से न केवल थाइमॉल की माँग-पूर्ति कर सकता है अपितु पर्याप्त मात्रा में निर्यात भी कर सकता है। जर्मनी ने अपने यहाँ कृषि द्वारा उत्पन्न थाइमस वल्गैरिस से आसवन द्वारा थाइमॉल निकाल कर और अपरिष्कृत फिनाल से सश्लेषण द्वारा थाइमॉल उपलब्ध कर विश्वबाजार पर नियत्रण प्राप्त कर लिया है। सश्लेषित थाइमॉल का बाजार अब अधिकाधिक मात्रा मे बढता जा रहा है। सन् १९१४ ई० से पूर्व थाइमॉल मुख्यत प्राकृतिक साधनो से ही प्राप्त किया जाता था। अब यह न केवल अपेक्षाकृत सस्ते मेटा-क्रिसॉल से ही तैयार किया जाता है बल्कि इसके लिए पिपेरिटोन नामक कीटोन के रूप में एक अन्य स्रोत भी उपलब्ध हो गया है। आस्ट्रेलिया के यूकेलिप्टस से, जो उस देश में बहुत आसानी से और कम खर्च में कही भी उगाया जा सकता है, यह पर्याप्त मात्रा मे पैदा किया जा सकता है। यद्यपि अजवायन के तेल से बहुत बडे परिमाण मे थाइमॉल उपलब्ध होता है, फिर भी प्रथम महायुद्ध के पहले भारत मे फलो से आसवन द्वारा तेल निकालने का कोई प्रयास नही किया गया था।

यद्यपि भारत के अनेक भागो में पर्याप्त मात्रा में थाइमॉल का उत्पादन किया जा चुका है, फिर भी यहाँ इस औषधि के औद्योगिक निर्माण करने मे अनेक कठिनाइयाँ है। बाजार मे मिलनेवाले प्राय सभी बीजो का प्रत्यक्षत आशिक रूप में आसवन हुआ रहता है क्योकि उनमें तेल की मात्रा बहुत कम रहती है। उपलब्ध अजवायन के तेल में केवल ४ से ६ प्रतिशत थाइमॉल प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि इस तैल से थाइमॉल निकाल लिया गया रहता है। १९२४ ई० मे 'उद्योग और वाणिज्य विभाग' हैदराबाद के तत्वावधान मे वहाँ (हैदराबाद मे) उत्पन्न होनेवाले अजवायन के बीज से थाइमॉल के औद्यौगिक निर्माण के वस्तुत परीक्षण किये गये। ऐसा पाया गया कि बीज के भार के हिसाब से तेल की उपलब्धि केवल २ प्रतिशत हुई और तेल के भार का ३६ ९७ प्रतिशत थाइमॉल उपलब्ध हुआ। इससे यह प्रकट हुआ कि विदेशी बीजो की तुलना मे ये बीज निम्न कोटि के थे। उत्पादन का मूल्याकन करने पर यह पाया गया कि आयातित भेषज की तुलना मे इसका बाजार भाव कभी नही टिक सकता, जब तक कि औद्योगिक निर्माण के उपोत्पाद यथा तेल निस्सरित बीज (ढोरो के चारे

तथा खाद के रूप मे), ओमम जल (Omum water) और थाइमील तेल का भी उपयोग न किया जाय। बाजार मे मिलनेवाले बीज और तेल से थाइमॉल का औद्योगिक निर्माण खतरे से खाली नही है और सम्भवत' लाभकारी नही हो सकता। प्रथम महायुद्ध के दिनो मे विश्व के अन्य भागो मे इस पौधे के खेती के प्रयास किये गये। सिचलिस (Seychelles) तथा माण्टसिरा (Montserrat) से आये हुए नमूनो के बीजो से विश्लेषण करने पर क्रमश ९ प्रतिशत और ३·१ प्रतिशत तेल उपलब्ध हुआ, जिसमे क्रमश ३९ एव ५४ प्रतिशत थाइमॉल विद्यमान पाया गया। उक्त आँकडे भारतीय बीजो से प्राप्त तेल (लगभग २·८५ से २.९१ प्रतिशत) की तुलना मे बहुत अधिक है। इसलिए भारत के उपयुक्त स्थानो मे वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अजवायन की समुचित खेती करने पर और अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। यदि ऐसा नही किया जाता, तो इस भेषज के व्यापार पर बहुत बुरा असर पडेगा। जब तक बीजो की कोटि (क्वालिटी) समुन्नत नही की जायगी तब तक भारत उच्चकोटि के बीज उत्पन्न करने वाले अन्य देशो का मुकाबला नही कर सकेगा। सश्लिष्ट थाइमॉल के बढते हुए इस उद्योग को प्रोत्साहन देना आवश्यक है।

सन्दर्भ

(1) Chopra and Chandler, 1928 *Anthelmintics and their uses in Medical and Veterinary Practice*, (2) Finnemore, 1926, *The Essential Oils* ; (3) Lakhani Sudborough and Waston, 1921, *J Ind Inst Sci*, 4, 59 , (4) Inuganti, Bhate and Habib Hasan, 1924 *Bull Dept. Industr. and Comm*, Nizam Govt Pub , (5) Chopra and Mukerjee, 1932, *Ind Med. Gaz.*, 67, 361 , (6) Krishna, S. and Badhwar, R L., 1953, *Jour. Sci Industr Res* (Supp) 12A, 288, 267 , (7) Sobti and Puran Singh, 1923 *Perfume Essen Oil Rec.*, 14, 399 (8) *Bull. Imp Inst*, Lond. 1918, 16, 30; (9) Sobti and Puran Singh, 1903, *Perfume Essen. Oi. Rec* , 78, Oct, , (10) Myrayama, 1921 , *J, Pharm Soc Japan*, No. 475 , (11) Small, J , 1944. *Chem Abstr.* 1609 , (12) *Wealth of India* , *Raw Materials*, 1950, II, 369 , (13) *B P. C* , 1949 , (14) Wehmer, 1935. *Die Pflanzenstoffe, Supp.*, 204 , (15) Trease G. E·, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 449.

कैसिया अंगुस्टिफोलिया (लेग्यूमिनोसी)

Cassia angustifolia Vahl (Leguminosae)

भारतीय अथवा तिन्नेवेल्ली सेन्ना (Indian or Tennevelly Senna)

नाम—स०–भूमिअरि, भूपद्मा ('भूलिवल्ली' या 'स्वर्णपत्री'-अनु०), हिं०–सनाय, गु०–नात–की–साना, व०–सोना-मुखी, सोन-पात, म०-सोनामुखी त०–नीलाविरै, ते०–नेला–तागेडु, कन्न०–नेलावारिके, मल०–नीला वाका।

पाश्चात्य औषधि मे सनाय की पत्तियाँ अपने मृदुविरेचक (laxative) एव रेचक (purgative) गुणो के लिए प्रसिद्ध है। कन्फेक्शिओ सेनी (Confectio sennae) और पुलविस ग्लिसराइजी कम्पोजिट्स (Pulv glycyrrhizae Co) ये दोनो भेषजकोश की लोकप्रिय औषधियाँ है। इस भेषज की सक्रियता कैथार्टिक अम्ल के कारण है, इसके अन्य सघटक है इमोडिन (ट्राइऑक्सी-मेथिल-ऐन्थ्राक्विनोन), क्राइसोफैनिक अम्ल आदि। ये पत्तियो मे विद्यमान रहते है, और फलियो मे भी। फलियाँ जब हरी होती है तो अधिक सक्रिय होती है। अरबो को इस भेषज का पता सदियो से रहा है, और ऐसा माना जाता है कि भारतीय एव पाश्चात्य चिकित्सा मे इसका प्रवेश उन्ही के माध्यम से हुआ। अरबी हकीम आज भी सनाय के गुणो की विरेचक के रूप मे प्रशसा करते है और बनफशा जैसे उपयुक्त भेषज के साथ मिला कर इसका व्यवहार हृद्यपेय (cordial) के रूप मे किया करते है। ब्रिटिश भेषज कोश मे कैसिया की दो किस्मो को मान्यता दी गयी है—(१) अलेक्जेण्ड्रियन सेन्ना और (२) तिन्नेवेली सेन्ना। अलेक्जेन्ड्रियन सेन्ना कैसिया ऐक्यूटिफोलिया (*C acutifolia* Delile) के अपने आप उगने वाले पौधो से उपलब्ध होता है, जो अफ्रीका और सूडान मे पैदा होता है। इस जाति की पत्तियाँ कैसिया अगुस्टिफोलिया की पत्तियो की अपेक्षा छोटी और पतली होती है। कैसिया अगुस्टिफोलिया की खेती तिन्नेवेली, मदुरा और त्रिचनापल्ली में व्यापक पैमाने पर की जाती है। हाल ही में इसकी खेती मैसूर और जम्मू में शुरू की गयी है जो बहुत ही सन्तोषजनक रही है। कैसिया ऐक्यूटिफोलिया की खेती भारत मे होती है (cultivated Alexandrian) तिन्नेवेली सनाय (कैसिया अगुस्टिफोलिया) की पत्तियाँ समपिच्छकी (paripinnate) होती है और पत्रक (leaflet) जिनका, उपयोग भेपज के लिए किया जाता है, १-२ इच लम्बे, ० २–० ६ इच चौडे, चिकने और पीत-हरित वर्ण के होते है। एक तीसरी किस्म कैसिया अबोवेटा (*C obovata*) है जो दक्षिण में उत्पन्न होती है, और देशी सनाय के नाम से बिकती है। इसका उपयोग साधारण सनाय मे

अपमिश्रण करने के लिए किया जाता था, भेषजकोश मे इसे मान्यता नही दी गई है। कैसिया अगुस्टिफोलिया की फलियाँ १ ४–२.८ इच लम्बी, लगभग ०.८ इच चौडी हरिताभधूसर से श्यामधूमर रग की होती है, जिनमे श्यामधूसर रग के चिकने, अधोमुखी अडकार, ५-७ बीज होते है। अलेक्जेण्ड्रियन सनाय की अपेक्षा इसकी फलियाँ अधिक लम्बी और पतली होती है और फलावरण का वह भूरा भाग जो बीज के ऊपर घेरे रहता है अधिक बडा होता है। वर्त्तिका (Style) का अवशिष्ट भाग टिन्नेवेली सनाय में स्पष्ट लक्षित होता है जब कि अलेक्जेण्ड्रियन सनाय मे नही होता। इसकी फलियाँ औपधीय और आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान होती है और ब्रिटिश एव अमेरिकी भेषजकोशो मे उन्हे मान्यता प्राप्त है।

कृषि : कैसिया अगुस्टिफोलिया की खेती प्राय दक्षिण भारत की शुष्क भूमि मे की जाती है। कभी-कभी धान की फसल काट लेने के बाद उसी खेत मे इसे बो दिया जाता है। इसकी हल्की सिंचाई की जा सकती है, अर्ध सिंचित फसल की तरह इसकी खेती की जा सकती है। अधिक पानी इसके लिए हानिकर होता है। इसकी बोवाई या तो छीटकर की जाती है या खूँटी से गड्ढा बनाकर उसमें बीज डालकर। प्रतिएकड १५ पौण्ड बीज बोया जाता है। बीज का आवरण कडा होता है, इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसके ऊपरी सतह को कुछ घिस दिया जाय ताकि बीजाकुरण समभाव और शीघ्रता से हो सके। घिसने का काम बालू के साथ बीज को खरल मे डालकर हल्का-हल्का कूटकर किया जाता है इसके पौधे के लिए कडी धूप और कभी-कभी हल्की वर्षा (फुहार) आवश्यक होती है। उगने के समय लगातार वर्षा से पत्तियो का गुण विनष्ट हो जाता है। पौधो को प्राय ३-५ महीने तक बढने के लिए छोड दिया जाता है और जब पहले पहल फूल लगने लगता है, तो डठल सहित फूल को तोड दिया जाता है, ताकि अगल-बगल से शाखाएँ फूटे। जब पत्तियाँ प्रौढ होकर मोटी एव नीली हो जाती है, तो हाथ से उन्हे सूत लिया जाता है। दूसरी बार पत्तियो को लगभग १ महीने बाद सूता जाता है और पौधो को फूलने फलने के लिए छोड दिया जाता है। पत्तियो को सूखने के लिए कडी भूमि पर छायादार स्थान मे पतली सतह में फैला दिया जाता है। पत्तियाँ भलीभाँति सूख जायँ, इसलिए उन्हे हमेशा उलटते पलटते रहते है। जब पत्तियाँ अच्छी तरह सूख कर पीताभ-हरित रग की हो जाती हैं तो उनकी श्रेणी निर्धारण करके उनको जलीय दबाव (hydraulic compression) से पैक करके गाँठ बना दिया जाता है। इसकी फलियाँ सुखा कर पीट दी जाती हैं जिससे बीज अलग निकल आता है और फिर बीजो को गत्ते के बक्सो में पैक कर दिया जाता है।

शुष्क भूमि मे की गयी सनाय की खेती से ३०० पौड सूखी स्वच्छ पत्तियाँ और ७५-१५० पौड फलियाँ पैदा होती है, और आर्द्र भूमि मे ७५० से १२५० पौण्ड तक पत्तियाँ और १५० पौण्ड फलियाँ प्राप्त होती हैं। आर्द्र भूमि से एकत्रित किया गया भेषज अधिक मूल्यवान होता है। मद्रास मे कितनी एकड भूमि में इसकी खेती होती है और कितना उत्पादन होता है, इसका व्यौरा नीचे दिया गया है।

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड)	पैदावार	
		पत्तियाँ (टन)	फलियाँ (टन)
१९३८-३९	४,९९९	१,१९७	२०७
१९३९-४०	५,२१२	१,४३९	२४७
१९४०-४१	६,७२७	१,९९५	३४३
१९४१-४२	५,८१७	१,६३७	२९३
१९४२-४३	३,४१७	१,२३९	२०१
१९४३-४४	९९२	३५०	५५
१९४४-४५	६०७	२१४	३४
१९४५-४६	१,१७८	४२९	६६
१९४६-४७	१,६३५	५४०	८८
१९४७-४८	२,००२	४८६	८०

औषधि मे सनाय का महत्त्व इसके विरेचक गुणो के कारण है। कोष्ठ-बद्धता के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी है। यह वृहदान्त्र (Colon) के क्रमाकुञ्चक सचालन (peristaltic movement) को बढाती है। सनाय में मरोड पैदा करने की जो प्रवृत्ति होती है वह लवणीय मृदु विरेचक या ऐरोमेटिक के साथ मिला कर सेवन करने से जाती रहती है। फलियो का बिल्कुल वही चिकित्सीय प्रभाव होता है जो पत्तियो का, किन्तु पत्तियो की अपेक्षा मरोड कम होती है। सस्तम्भी कोष्ठबद्धता (spastic constipation) और वृहदान्त्र शोथ मे सनाय दी जाती है।

सघटक मारिन (Maurin १९२२ ई०) के अनुसार सनाय की पत्तियो मे लगभग १ ३— १ ५ प्रतिशत ऐन्थ्राक्विनोन व्युत्पन्न पाये जाते है, जो मुक्त और सलग्न रूप मे विद्यमान रहते है। स्टॉल तथा अन्य लोगो ने (१९४१ ई०) दो क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड निकाले थे जिनको वे सेनोसाइड "ए" और "बी" कहते है। फेयरबेर्न (१९५१ ई०), इस भेषज की ३० प्रतिशत सक्रियता का कारण एक तीसरे प्रकार

के ग्लाइकोसाइड को बताते है, जो अभी तक अलग नही किया जा सकता है। सनाय में पीत फ्लैवोनॉल रजक पदार्थ, कैम्पफिरोल तथा इसके ग्लाइकोसाइड एव आइसोरैम्नेटिन भी पाये जाते है और एक स्टेरॉल तथा उसके ग्लाइकोसाइड, म्युसीलेज, कैलसियम ऑक्जलेट और रेजिन भी होते है। फलियो के भी वही सघटक होते है जो पत्तियो के। मॉरिन को तिन्नेवेली फलियो में १ ३ प्रतिशत ऐन्थ्राक्विनोन व्युत्पन्न उपलब्ध हुआ और ऐलेक्जेण्ड्रियन में १ ४ प्रतिशत। पत्तियो की अपेक्षा फलियाँ कम मरोड पैदा करती है, क्योकि उनमे रेजिन कम होता है।

सन्दर्भ

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) *Seaborne Trade Statistics of British India* Year ending 31 March 1930, (3) Tutin, F , 1913 *J C S Trans* , 2006, (4) *Wealth of India , Raw Materials*, 1950, II, 94, (5) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 414, (6) Fairbairn and Saleh, 1951, *J Pharm Pharmacol*, 3, 918, (7) Forsdike, J L , 1949, *J Pharm. Pharmacol* 34, (8) Stoll, A , *et al*, 1949, *Helv Chim. Acta*, 32 (6), 1892, (9) Stoll, A, *et al* , 1950, *Helv Chim Acta*, 33 (2) 313, (10) Abrol, B K., Kapoor L D , Jamwal, K. S , 1955, *Jour Sci Industr. Res* (in press).

कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस (कीनोपोडिएसी)

Chenopodium ambrosioides Linn. (Chenopodiaceae)

मेक्सिकन चाय, जेरुसेलम ओक (Mexicen Tea, Jerusalem Oak)

कीनोपोडियम २५० से अधिक जातियो वाला शाकीय पौधो का एक बडा जीनस है जिसका वितरण विश्वभर मे प्राय सर्वत्र है। इसकी लगभग ८ जातियाँ भारत मे पैदा होती है। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम (*Chenopodium ambrosioides var anthelminticum Gray*)—पर्याय कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम लिन०) या अमेरिकी वर्मसीड (कृमिबीज) इस समय सर्वाधिक विस्तृत रूप से व्यवहृत होने वाले कृमिनाशको मे से एक है। कोलम्बस के काल मे यह अमेरिकी इण्डियनो द्वारा उपयोग मे लाया जाता था और इसकी पत्तियो और बीजो से तैयार किया गया फाण्ट दक्षिणी अमेरिका मे आन्त्रकृमियो को मारने के लिए दीर्घकाल तक एक घरेलू औषधि के रूप मे प्रयुक्त होता रहा है। बामलर तथा फ्रिबोर्ग (Baumler and Fribourg) ने

हो जाती हैं। यदि पौधो के पूर्णत प्रौढ होने तक लवाई न की जाय तो वीजो के झड जाने से बहुत नुकसान होगा और फलत तेल की उपलब्धि कम हो जायगी। पौधो को काटकर खेत मे तव तक छोड दिया जाता है जव तक कि वे अशत सूख न जायँ, किन्तु उनको इतना नही सूखने दिया जाना चाहिये कि वीज झड जायँ। इस अवस्था मे उनका आसवन किया जाता है। आसवन वडी सावधानी के साथ किया जाना चाहिये क्योकि आसवन की गति और सघनित्र के जल के तापमान का प्राप्य तेल के औपधीय गुण पर वडा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। अगर केवल वीज के लिए फसल उगायी जाय तो प्रति एकड १००० पौड वीज पैदा हो सकता है। अनुकूल वर्षो मे तेल का उत्पादन ४० पौंड प्रति एकड तक हो सकता है, किन्तु कई क्षेत्रो में सामान्यत उत्पादन कम रहता है। १९३९ ई० मे अमेरिका मे २४० किसानो मे से हर एक ने औसत ४ एकड भूमि पर इसकी खेती की थी और कुल मिलकर ३८,००० पौंड तेल प्राप्त किया था। एक समय इसका फल अमेरिका के भेषजकोश मे मान्य था, किन्तु अव इसका परित्याग कर दिया गया है। फल जिससे तेल निकाला जाता है कुछ गोलाकार होते है और वहुधा धूसर-बभ्रु (greyish brown) वर्ण की पतली फल-भित्तियो से ढँके रहते हैं। बीज आरक्त, बभ्रु या कृष्ण वर्ण की, वृक्काकार और चमकदार होते है और उनमे यूकेलिप्टस की तरह की एक तीव्र गध होती है तथा स्वाद कडुवा और तीक्ष्ण होता है। अमेरिका मे वहुत दिनो तक कीनोपोडियम के बीजो का वडा व्यापार था किन्तु आजकल कीनोपोडियम के बीजका वहाँ कभी-कभी ही निर्यात होता है क्योकि वडे पैमाने पर बाल्टिमोर मे (बाल्टिमोर ऑयल) तथा इलिनॉय मे (वेस्टर्न आयल) तेल का आसवन किया जाता है।

रासायनिक सरचना एव गुण —कीनोपोडियम का सक्रिय तत्त्व एक वाष्पशील तैल है (०.४–१.० प्रतिशत) जो इस श्रेणी के अधिकाश पदार्थो की तरह विभिन्न घटको का सम्मिश्रण होता है। इस तैल का कोई निश्चित क्वथनाक नही है और जव इसे १००° से० पर हवा मे गर्म किया जाता है तो प्रचण्ड रूप से विस्फोट करता है। इसके भिन्न-भिन्न नमूनो के भौतिक गुणो मे वडी भिन्नता पायी जाती है। इसका रग पाण्डु-पीत से चमकदार स्वर्णीय-पीतवर्ण तक हो सकता है। विभिन्न नमूनो के तैल की विषालुता मे बडा अन्तर होता है। तेल की रासायनिक सरचना का विस्तृत रूप से अध्ययन किया गया है। यद्यपि छोटी-छोटी विस्तार की बातो के सम्बन्ध मे मत-विभिन्नता है किन्तु निम्नलिखित सरचना को प्रामाणिक माना जा सकता है।

(१) भिन्न-भिन्न नमूनो मे कुल तेल का ६०-७७ प्रतिशत भाग ऐस्कैरिडोल रहता है। ब्रिटिश औपधकोश (बी पी) ६५ प्रतिशत भार (w/w) से कम को मान्यता

नही देता। इसकी एक सुनिश्चित रासायनिक संरचना है जो $C_{10}H_{16}O_2$ है।

(२) एस्कैरिडोल के एक समावयवी का कुछ अंश, ग्लाइकोल ऐनहाइड्राइड या उसके अनुरूप का हाइड्रेट, कुल तेल का ५ प्रतिशत या उससे अधिक।

(३) विभिन्न तरल हाइड्रोकार्बन का एक मिश्रण जिसमें साइमीन (Cymene), [illegible]टर्पिनीन, [illegible] आदि भी कुल मिलाकर ३० प्रतिशत होता है।

(४) स्वतन्त्र तथा [illegible] में निम्नवर्ग के वसा-अम्ल, मुख्यतः ब्युटिरिक अम्ल और मेथिलसैलिसिलेट का ०.५ प्रतिशत।

कीनोपोडियम के अन्य स्रोत.—यद्यपि कीनोपोडियम मूलतः अमेरिका का देशीय पादप है, यह पृथ्वी के सब भागों में जंगली दशा में पैदा होता है। हिन्दुस्तान में इसकी ५० जातियाँ पैदा होती हैं, किन्तु अब तक केवल २ में ही औषधीय महत्त्व का तेल पाया गया है। सुमात्रा में तथा पूर्वी द्वीप समूह के अन्य कई स्थानों में कीनोपोडियम पाया गया है। भारत में इसकी ६-८ जातियाँ पैदा होती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि कीनोपोडियम की खेती ऐसे क्षेत्र में भी की जा सकती है जहाँ के लिए यह देशीय नहीं है और अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। खेती बड़े पैमाने पर अमेरिका में वेस्टन (Weston) के समीप किया गया है जहाँ १५ मील लम्बे और ४ मील चौड़े क्षेत्रफल में इसकी खेती की गयी और प्रति २० एकड़ १०,००० – ४०,००० पौंड का औसत वार्षिक उत्पादन हुआ। सुमात्रा में [illegible] नामक स्थान पर तथा जावा में यह पौधा बड़ी सफलता के साथ उगाया गया है और तेल भी निकाला गया है किन्तु यह तेल संरचना में साधारण अमेरिकी तेल से कुछ भिन्न होता है।

भारतीय कीनोपोडियम

कीनोपोडियम एम्ब्रोसिऑयोडिस लिन०

नाम - [illegible]—[illegible]। यह एक सीधा, बहुशाखी, २-४ फुट ऊँचा, गंधयुक्त, ग्रन्थिल रोमों (glandular hairs) वाला शाकीय पौधा है जो बंगाल, सिलहट और दक्षिण भारत में पाया जाता है। इसके फूल अत्यन्त छोटे होते हैं और पत्तीदार स्पाइकों में गुच्छित रहते हैं। सम्पूर्ण पौधे में एक कर्पूरीय गंध पाया जाता है। इसके फल कुछ गोलाकार और चपटे होते हैं और एक पतली फलभित्ति बीजों को ढँके रहती है। बीज छोटे (लगभग [illegible] इंच) वर्तुल (orbicular) व भ्रूवर्ण के चिकने और चमकदार होते हैं और स्वाद में कड़वा और तीक्ष्ण होते हैं। इसके ग्रन्थिलरोमों में एक औषधीय महत्त्व का वाष्पशील तेल मिलता है, विशेषकर फलभित्ति के रोमों में।

यह पौधा अमेरिकी कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम का घनिष्ठ सम्बन्धी है और उसी के स्थान पर इसका उपयोग होता आया है। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस के प्ररूपी रूपो (typical forms) का वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम से विभेद कर पाना सदा सम्भव नही है क्योकि इनके बीच वाले पादपो मे कोई विशेष अन्तर नही होता, किन्तु विभेदमूलक एक लक्षण यह है कि कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस के स्पाइक पत्तीदार होते है जबकि वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम मे यह बात नही पायी जाती। भारतीय कीनोपोडियम तैल मुख्यत कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस से निकाला जाता है और इसमे ऐस्कैरिडोल की मात्रा ४०-५० प्रतिशत रहती है। इसमे विद्यमान हाइड्रोकार्बन के स्वरूप मे भिन्नता होने के कारण यह अमेरिकी तेल से भिन्न होता है। अमेरिकी भेषजकोश की अपेक्षाओ को यह पूरा नही कर पाता है किन्तु कृमिनाशक के रूप मे इसका महत्त्व सुस्थापित हो चुका है और इसकी खुराक अधिक मात्रा मे ५-२० बूँद तक भारतीय भेषजकोशीय सूची (इण्डियन फार्माकोपियल लिस्ट) मे निश्चित की गयी है।

कीनोपोडियम बोट्रिस (*C botrys* Linn) यह बहुत ही तीव्र सुवास वाला एक ग्रन्थिल शाकीय पौधा है जो १-३ फुट ऊँचा होता है और हिमालय प्रदेश मे कश्मीर से सिक्किम तक पाया जाता है। भापीय आसवन करने पर इसके ताजे पौधो से ० ०३-० ०८ प्रतिशत मात्रा मे एक पीत वाष्पशील तेल निकलता है जिसकी गध बडी ही अरुचिकर होती है और जिसमे ५ प्रतिशत ऐल्डिहाइड एव कीटोन होते है और १ प्रतिशत फिनॉल वर्ग। इसमे ऐस्कैरिडोल नही होता। कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस के स्थानापन्न के रूप मे इसे काम मे लाया गया है। फ्रास एव दक्षिण यूरोप मे, यह जुकाम और ह्यूमरल (humoral) दमा की बीमारी मे इसका उपयोग किया जाता है।

कीनोपोडियम ऐल्बम —(*C album* Linn) नाम—हिं० बेथू (बथुआ) साग, ब—चन्दन बेतु, बेथु साग, त०—परुपुक्किराइ, ते०—पप्पुकुरा। यह एक छोटा गधहीन पौधा है जो कृषि द्वारा तथा वन्य दशा मे समूचे भारत मे १४००० फुट की ऊँचाई तक कई रूपो मे पैदा होता है। पश्चिमी हिमालय मे यह खाद्यशाक एव धान्य शस्य के रूप में पैदा किया जाता है। इस पौधे में एक वाष्पशील तेल, कोलेस्टेरॉल के सदृश एक यौगिक, अमोनिया तथा ऐमीन मुक्त तथा सलग्न दोनों ही रूपो में पाया जाता है। बीजो का विश्लेपण करने पर (शुष्क भार के आधार पर) प्रोटीन १५ ४–१६ ८, वसा ५ ८–८ १, नाइट्रोजन रहित सार ४७ ७–५० ०, अपरिष्कृत तन्तु (crude fibre) १८ ४–२१.५ एव राख ४ ८–७ ० प्रतिशत मात्रा में मिले। फलो मे प्राप्त स्थिर तेल मे २ २९ प्रतिगत अमावुनीकरणीय पदार्थ, २ ० प्रतिशत

लिनोलेनिक अम्ल, और सूक्ष्म मात्रा में ऐस्कैरिडोल मिलते हैं। १०० ग्राम कीनोपोडियम ऐल्बम में कैरोटीन ७ १-९ ३ मि० ग्राम और विटामिन सी ६६-९६ मि० ग्राम विद्यमान रहता है। इस पादप की वृद्धि में मैंगनीशियम बड़ा सहायक होता है। इसलिए इस पौधे के द्वारा भूमि में कितना मैंगनीशियम है, पता लगाया जा सकता है। कीनोपोडियम ब्लाइटम (C. *blitum* Hook. f.) (पं०—कुपाल्द) कश्मीर में पाया जाता है तथा कीनोपोडियम म्यूरेल (C. *murale* Linn.) (प०—बाहु, कुरण्ड, बत्तुआ) भारत के बहुत से भागों में पाया जाता है जो खाद्य-शाक के रूप में उपयोग में लाया जाता है।

इस भेषज के महत्त्व को देखते हुए इसकी खेती दार्जिलिंग जिले में मंगपू नामक स्थान पर तथा मैसूर राज्य के बंगलौर स्थित बागानों में भी शुरू की गई थी। बोटैनिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के निदेशक के प्रतिवेदन में कुछ वर्ष पूर्व यह सुझाव दिया गया था कि मार्च के महीने में बीजों को क्यारियों में विरल रूप से बोना चाहिये और नव पादपों को १८-१८ इंच की दूरी पर सभी दिशाओं में प्रतिरोपित करना चाहिये। मंगपू में जो कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयडिस उगाया गया था, वह वृहदाकार हो गया था और उसमें बीज भी बहुत मिले, किन्तु बीजों से केवल ० ४८ प्रतिशत तेल निकला, जब कि ३ प्रतिशत की आशा की गयी थी। कई कारणों से बंगाल में इसकी खेती वाणिज्यिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं सिद्ध हुई, और वहाँ इसकी खेती बन्द कर दी गयी। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखकों ने कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिआयोडिस वैराइटी ऐन्थेल्मिण्टिकम के कुछ बीज तुर्किस्तान से प्राप्त किये थे और जम्मू और काश्मीर में कई स्थानों पर इनको अंकुरित करने का परीक्षण प्रयोग किया। सभी स्थानों में १०-१५ दिन के अन्दर बीज अंकुरित हो गये और स्वाभाविक रीति से फूल और फल दिये। ८००० तथा ५,००० फुट की ऊँचाई पर उगाये गये पौधों से उनकी फलन काल में लवाई करके वाष्पीय आसवन द्वारा क्रमशः ? १६ प्रतिशत और ० ८२ प्रतिशत पाण्डु-पीत वर्ण का तेल और क्रमशः ८५ तथा ७ २ प्रतिशत ऐस्कैरिडोल प्राप्त हुआ। १०० तथा ३००० फुट की ऊँचाई पर उगाये गये पौधों की भी लवाई की गयी और आसवन किया गया। इन स्थानों के पादपों से क्रमशः ० ७५ तथा १ १५ प्रतिशत तेल तथा ६९ ५ एवं ६६ ४ प्रतिशत ऐस्कैरिडोल की उपलब्धि हुई जो बृटिश भेषजकोश के मानक (६५ प्रतिशत) की तुलना में अच्छी ही रही। जम्मू (१००० फुट) के पादपों की विभिन्न प्रौढ़ावस्थाओं में संग्रहीत किये गये भेषजों के नमूनों से निकाले गये ऐस्कैरिडोल की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाई दी। पहली लवाई में फली निकलने के समय संग्रहीत किये नमूने से २७ १ प्रतिशत तथा फल के पकने के समय संग्रहीत नमूने से

६९ ९ प्रतिशत ऐस्कैरिडोल उपलब्ध हुआ, दूसरी लवाई मे पके फलो से और अधिक ऐस्कैरिडोल उपलब्ध हुआ अर्थात ७५ ५ प्रतिशत। लेखको ने यह देखा कि बीजो के पूर्णत परिपक्व हो जाने पर लवाई करने से उनमे ऐस्कैरिडोल अधिकतम मात्रा में मिलता है।

भारतीय तथा अमेरिकी तेल कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस तथा कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम, दोनो से निकाले गये भारतीय कीनोपोडियम तेल का परीक्षण सर्वश्री हेनरी और पैगेट ने 'वेलकम ब्यूरो आफ साइण्टिफिक रिसर्च' नामक सस्था में किया था। उनके अनुमान के अनुसार तेल की उपलब्धि कम थी, कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस से ० १७ प्रतिशत मिला और कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम मे ० २४ प्रतिशत। भारतीय बीजो से निकाले गये तेल का रग अपेक्षाकृत कुछ हल्का था तथा उसकी गध भी अमेरिकी कृमिबीजो, कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस वैराइटी ऐन्थेलमिण्टिकम से निकाले गये तैल के गध से कुछ भिन्न थी।

अमेरिकी कृमिबीज तेल की तुलना में भारतीय तेल के स्थिराक नीचे दिये गये हैं—

तेल का स्वरूप	विशिष्ट घनत्त्व १५° से० पर	ध्रुवणघूर्णाक
कीनोपोडियम ऐम्ब्रोसिऑयोडिस (भारतीय)	०.९३९९	+०.०७°
कीनोपोडियम ऐन्थेलमिण्टिकम (भारतीय)	० ९०८०	—९ ६°
अमेरिकी कृमिबीज तेल	० ९६६९	—५ ६°

प्रभाजी आसवन के परिणामो के अनुसार अमेरिकी कृमिबीज तेल की तुलना में सम्मिश्र भारतीय तेल की सरचना लगभग इस प्रकार है —

	सम्मिश्र भारतीय तेल (प्रतिशत)	अमेरिकी कृमि-बीज तेल (प्रतिशत)
हाइड्रोकार्बन	४५-५०	३०-४०
अल्फा-टर्पिनीन	०	५
पैरा-साइमीन	२५	१५
कीनोपोडियमटर्पीन	—	१०
ऐस्कैरिडोल	४६	६५
अवशेष	४	५

उपरोक्त विवरण से प्रकट होगा कि भारतीय कीनोपोडियम तेल, अच्छे अमेरिकी कीनोपोडियम तेल से इस अर्थ मे भिन्न होता है कि उसमे सक्रिय तत्त्व ऐस्कैरिडोल कम

मात्रा मे होता है, अर्थात केवल ४६ प्रतिशत, जब कि अमेरिकी तेल मे वह ६५ प्रतिशत या उससे अधिक होता है। दूसरा अन्तर तेल मे विद्यमान हाइड्रोकार्बन के स्वरूप के सम्बन्ध मे है। अमेरिकी तेल मे ३० प्रतिशत हाइड्रोकार्बन होता है जिसका आधा भाग साइमीन होता है और शेष आधा भाग टर्पिनीन और वामावर्त्त टर्पीन का सम्मिश्र। इसके विपरीत भारतीय तेल मे विद्यमान हाइड्रोकार्बन मे पेरा-साइमिन तथा अल्प मात्रा मे दक्षिण ध्रुवणघूर्णक टर्पीन रहता है। अमेरीकी भेषजकोश मे इस तेल की निम्नलिखित मान्यताएँ दी है —

२०° सें० पर तेल का विशिष्ट घनत्व ० ९५५ से ० ९८०, ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ८ गुना भाग में विलेय, २५° सें० पर १०० मि मी ट्यूब मे ध्रुवण-घूर्णांक-४०° और —१०° के बीच। इसलिए सम्मिश्र भारतीय तेल, स्पष्टत इन अपेक्षाओ की पूर्ति नही करता।

आर्थिक पक्ष—दोनो तेलो मे ऊपर जो अन्तर दर्शाया गया है उसको देखते हुए भारतीय तेल बहुत निम्नकोटि का समझा जा सकता है, किन्तु भारतीय तेल का रोगियो पर परीक्षण करने पर जो परिणाम उपलब्ध हुए है वे सन्तोषप्रद रहे है। चाण्डलर ने उसका परीक्षण अकुशकृमि की तथा गोलकृमि की बीमारी मे किया था और परिणाम उत्साहवर्धक रहे। इसलिए इसके आगे की सम्भावनाओ के सम्बन्ध मे अनुसधान करना वाछनीय है। अमेरिका में किये गये अनुसधानो मे यह स्पष्ट हो गया है कि सघन खेती से इसके तेल का स्वरूप एव गुण और समुन्नत किया जा सकता है। बोवाई की ओर समुचित ध्यान दिये बिना और पर्याप्त मात्रा मे उर्वरक दिये बिना, मामूली ढग मे खेती करने पर इसकी उपज बहुत कम होती है। भारतवर्ष मे इन सभी बातो की ओर सम्यक ध्यान दिया जा सकता है और आसानी से इन अपेक्षाओ की पूर्ति की जा सकती है। फिर, अमेरिका मे इलिनॉय राज्य के सिवमी नामक स्थान मे स्थित रिसर्च डिपार्टमेण्ट के प्रधान डब्लू ए कोनान्ट्ज (W A Konantz) द्वारा किये गये अनुसधान को देखते हुए यह लगता है कि कम तेल की उपलब्धि का बहुत कुछ कारण सम्भवत हमारी आसवन की दोषपूर्ण प्रणाली है। नेल्सन ने आसवन की प्रणाली पर बहुत जोर दिया है और यह कहा है कि मुख्य सक्रिय घटक अस्थायी होता है और पानी के साथ उबालने पर यह शनै शनै अपघटित हो जाता है। इसलिए उन्होने यह सुझाव दिया था कि भापीय आसवन उच्चतर दबाव पर द्रुतगति से किया जाना चाहिये, सघनित्र को गरम रखना चाहिये और आसुत गरम जल को तेल से शीघ्र अलग करके फेंक देना चाहिये। रसेल का कहना था कि "आसवन की प्रणाली एक

ऐसा कारक (factor) है जो तेल मे बहुत परिवर्तन पैदा कर देता है" उन्होने यह भी कहा "द्रुत आसवन से अर्थात् भाप का अच्छा प्रवाह रखने से, ऐसा तेल प्राप्त हुआ था जो अमेरिकी भेषजकोश की सभी अपेक्षाओ को पूरा करता था और जिसमे ऐस्कैरिडोल उच्च प्रतिशत मात्रा मे था।" उनका यह कहना था कि भपके (distilling retort) मे जब भाप का दबाव ८० से १०० पौंड का था तो तेल को मात्रा मे तथा विशिष्ट घनत्व मे कोई अन्तर नही आया, पर जब भाप का दबाव ४०-६० पौंड पर कर दिया गया तो विशिष्ट घनत्व घट गया। आसवन मे समय (मघनित्र के विसर्जन छोर के आसुत तैल को देखने से) ८ से १० मिनट लगा था और मन्द गति से आसवन करने पर विशिष्ट घनत्व कम हो गया। इसलिए और अधिक सावधानी के साथ आसवन करने से और उक्त सभी बातो का समुचित ध्यान रखने से तेल के स्वरूप और गुण के और समुन्नत होने की बहुत सम्भावना है। यद्यपि एम हॉल द्वारा १९२१ ई० मे कार्बन टेट्राक्लोराइड के कृमिनाशक गुणो का पता लगाने के बाद से कीनोपोडियम तेल का महत्व कुछ कम हो गया है किन्तु अभी भी इसकी बहुत अधिक माँग है। इसका उपयोग न केवल कार्बनटेट्राक्लोराइड के विकल्प या स्थानापन्न के रूप मे किया जाता है, बल्कि इसके साथ मिलाकर भी अब इसका प्राय उपयोग किया जाता है। सोपर (१९२४ ई०) ने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि इन दोनो भेषजो का अनुपात विद्यमान कृमियो के स्वरूप पर निर्भर होना चाहिये। अमेरिकी अकुशकृमि (Necator) के सक्रमण मे केवल कार्बन टेट्राक्लोराइड देना और गोल-कृमि (Ascaris) के सक्रमण मे केवल कीनोपोडियम देना ही अधिक प्रभावी होता है, किन्तु अकुशकृमि (Ankylostoma) के सक्रमण मे इन दोनो को मिलाकर देने से (कीनोपोडियम का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक रखकर) रोग दूर हो जाता है, क्योकि भारत मे इन परजीवियो का सम्मिश्र सक्रमण अपवाद की अपेक्षा नियम सा बन गया है, इसलिए कीनोपोडियम की माँग यहाँ बराबर बनी रहेगी। कार्बन टेट्राक्लोराइड की सेवनविधि की सरलता को देखते हुए और कीनोपोडियम तेल की तुलना मे इसके अत्यधिक सस्ते मूल्य को देखते हुए (कीनोपोडियम तेल ३२ रु० प्रति पौंड, कार्बन टेट्राक्लोराइड केवल २ रु० ८ आना प्रति पौंड) जनसमूह के उपचार के लिए विस्तृत पैमाने पर कीनोपोडियम का उपयोग करना, हो सकता है, सम्भव न हो। किन्तु याद रखना चाहिये कि कार्बन टेट्राक्लोराइड के साथ मिलाकर देने से कीनोपोडियम तेल की मात्रा अत्यल्प (१ ० घन से० मी०) रखी

जाती है, पर अकेले कीनोपोडियम तेल देने पर इसकी मात्रा ३० घन से०मी० रहती है। मैपुल्स्टोन (Maplestone, १९३१ ई०) ने गोलकृमि के सक्रमण के उपचार के लिए ५ ग्रेन सैण्टोनिन और १·० घन से. मी कीनोपोडियम तेल मिलाकर और कैपसूल के माध्यम से सेवन कराकर अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त किये थे। इन सब तथ्यो को देखते हुए इसकी काफी माँग होगी। इसलिए कीनोपोडियम की कृषि और उसके तेल का उत्पादन करना हमारे लिए उचित ही है। औषधीय उपयोग के अतिरिक्त पशुचिकित्सा में भी इसका बहुत अधिक उपयोग किया जाता है। घरेलू जानवरो और कृषि-पशुओ के आन्त्रकृमि के उपचार के लिए इसको व्यवहार मे लाया जाता है। एक बूटी होने के नाते, यह भारत के मैदानी इलाको मे खूब पनपेगा और बगाल और उसके पडोस के कुछ प्रान्तो में इसकी परीक्षणात्मक कृषि करना समुचित होगा। कपूर तथा उनके सहकर्मियो ने यह बताया है कि ९०० से ३००० फुट को ऊँचाई पर यह पादप सुस्थापित हो चुका है और अमेरिका की तुलना मे यहाँ इसकी फसल और इसके तेल का उत्पादन अनुकूल है। कीनोपोडियम तेल के वाणिज्यिक आसवन के लिए कश्मीर के निचले प्रदेशो के उपयुक्त क्षेत्रो मे इसकी खेती का प्रसार किया जा रहा है।

सन्दर्भ:—

(1) Henry, T A and Paget, H, 1921, *J C S Trans*, 1714; (2) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (3) Konantz, W A 1924, *J Amer Pharm Assoc*, 12, 201, (4) Nelson, 1920, *J Amer Chem Soc*, 42, 1286, (5) Russell, 1922 *J Amer Pharm Assoc*, 255; (6) Soper, 1924, *Amer Jour Hyg*, 4, 699, (7) Chopra, R N, and Chandler, A C, 1928, Anthelmintics and Their Uses in Medical and Veterinery Practice, (8) Chopra, R N, and Mukherjee, B, 1931 *Ind Med Gaz*, 4, 699, (9) Maplestone and Mukherjee, 1931, *Ind. Med Gaz*, 66, 622, (10) Wealth of India Raw Materials, 1950, II, 127, (11) Kapoor, L D, Handa, K L and Chopra, I C, 1953, *Jour. Sci Indust Res* 12A, 7, 311, (12) Kapoor, L D, Handa, K L, Chopra, I C, Abrol, B K, Ishwar Chander, 1955 *Jour. Sci Indust. Res*, (in press).

क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम (कम्पोज़िटी)
Chrysanthemum cinerariaefolium (Trev.) Bocc.
(Compositae)

पर्याय—पाइरेथ्रम सिनेरैरिफोलियम

पाइरेथ्रम (Pyrethrum)

यह एक नीलाभ, बहुवर्षी पौधा है जो १८-२४ इञ्च ऊँचा होता है, जिसकी पत्तियाँ बारीकी से कटी रहती हैं और जिसके बहुत से पुष्पमुण्डक होते हैं, जो डेज़ी (daisy) से मिलता-जुलता होता है। क्राइसैन्थिमम कॉक्सिनियम (*Chrysanthemum coccineum*) की अपेक्षा क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम में अधिक पुष्प-मुण्डक और बीज होते हैं, किन्तु उसमें रोग और क्षति प्रतिरोध की क्षमता कम होती है। क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम डाल्मेशिया, हर्ज़ेगोविना तथा माण्टिनीग्रो का देशीय है तथा इसकी खेती अल्जीरिया, डाल्मेशिया, ऑस्ट्रेलिया, ब्राज़ील, बुल्गेरिया, चीन, जापान, फ्रांस, इटली, ईरान, स्पेन और स्विट्ज़रलैण्ड में वाणिज्यिक पैमाने पर की जाती है। इंगलैण्ड और अमेरिका में भी इसकी खेती आरम्भ कर दी गयी है। ऐड्रियाटिक समुद्र के पूर्वी तट पर पैदा किये जाने वाले क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम को ही डाल्मेशियाई पाइरेथ्रम कहा जाता है। जापानी पाइरेथ्रम जो क्राइसैन्थिमम सिनेरैरिफोलियम से ही लिया गया है, देखने में डाल्मेशियाई पाइरेथ्रम जैसा लगता है। डाल्मेशियाई एवं जापानी फूलों में सक्रिय तत्त्व (पाइरेथ्रिन) की मात्रा क्रमश ० ३८ से ० ५८ और ० ५८ से १ २१ प्रतिशत होती है। केनिया के पाइरेथ्रम में पाइरेथ्रिन की मात्रा अधिक बतायी जाती है, अर्थात् १ ४३ से १.८९ प्रतिशत। द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भिक वर्षों में पाइरेथ्रम की परीक्षणात्मक खेती कश्मीर तथा नीलगिरि की पहाड़ियों में शुरू की गयी थी। परिणाम भी आशाप्रद निकले थे और उसकी खेती की आवश्यकता उस समय विशेष रूप से अनुभव की गयी थी जब युद्ध के दौरान विदेशी स्रोतों से इसकी आपूर्ति बन्द हो गयी थी। इसकी खेती का क्षेत्र द्रुतगति से विस्तृत कर दिया गया था ताकि कम से कम भारत सरकार के प्रतिरक्षा विभाग की आंशिक आवश्यकता पूरी की जा सके। इसके विस्तार का ब्यौरा नीचे दिया गया है—

नीलगिरि में इसकी कृषिभूमि का क्षेत्रफल १९४४-४७ की अवधि में १८६८ एकड़ था, तथा १९४४-४५ १९४५-४६, १९४६-४७ के वर्षों में इसके फूलों का उत्पादन क्रमश १,०७,९१२, ९६,५६१ तथा ८९,१२९ पौंड रहा। तब से इसकी कृषिभूमि का क्षेत्रफल उत्तरोत्तर कम होता गया, और १९४९-५० में यह क्षेत्रफल ६०० एकड़ रह गया और उत्पादन केवल २२६० पौंड। भारत के अन्य भागों में भी

कश्मीर मे पाइरेथ्रम का उत्पादन

१ मन = ८२ पौड)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड मे)	फूलो का उत्पादन (मन)	परिमाण वेचा गया (मन)	विक्रय मूल्य (मन/रु०)
१९४०	—	५५	६	१००
१९४१	३२२	३३	२७	१००
१९४२	८९६	३७३	३७६	१००
१९४३	१,३५०	१,४६९	१,४८२	९०
१९४४	१,६००	१,४३६	१,४००	९०
१९४५	१,७४४	२,१५४	२७	६०
१९४६	१,७४४	१,५८५	१०	५०
१९४७	१,७४४	७८८	२	४०
१९४८	—	—	३	४०

इसकी खेती के प्रयास किये गये है तथा कुलू, पालमपुर, मयूरभज, कुमायूँ, आसाम, मैसूर, ट्रावकोर और कोडाइकैनाल मे उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं। १९४७ मे कश्मीर के वाहर पाइरेथ्रम के कृषि की कुल भूमि अनुमानत २००० एकड थी। इस पौधे को देहरादून, सहारनपुर, धारवाड, पूना, सक्रन्द और रांची मे उगाने के प्रयत्न असफल रहे। जम्मू की रोपणी (९०० फुट) मे परीक्षणात्मक पैमाने पर उगाये गये पाइरेथ्रम के पौधो से ० ९३ प्रतिशत पाइरेथ्रिन आर्द्रतारहित आधार (moisture free basis) पर मिला था।

कृषि अच्छी तरह जलोत्सरित रेतीली भूमि मे, शुष्क जलवायु में पाइरेथ्रम खूब पनपता है। लाल लैटराइट दोमट भूमि भी इसके लिए उपयुक्त होती है। यह पहाडी ढलानो पर तथा वजर भूमि मे पैदा हो सकता है, किन्तु बहुत अच्छी भूमि, जल का लगा रहना तथा कठोर पाला इसके स्वस्थ विकास के लिए अनुकूल नही होते हैं बोवाई सामान्यत वसन्त या शरद् ऋतु में की जाती है। कश्मीर में शरद् ऋतु में बोये गये वीज बहुत अच्छे जमते है, जब कि आसाम में, सर्वाधिक नवोद्भिद (Seedling) मार्च में बोये गये वीजो से प्राप्त होते है। बोने के लिए बीज चुने हुए पादपो से तब इकट्ठा करना चाहिये, जब फूल पूर्णत प्रौढ हो गये हो और वीज झडने की स्थिति मे आ गये हो। भण्डारण की अवधि मे उनकी जीवन-क्षमता (viability) का ह्रास

होने लगता है। बोने के पहले बीजो को भिगोकर थैले मे बद करके आर्द्र बालू मे गाड देना चाहिये। तैयार की गयी क्यारियो मे जहाँ जलोत्सारण की अच्छी व्यवस्था हो, उन्हे बराबर-बराबर बोना चाहिये। एक पौण्ड बीज से लगभग १५,००० नवोद्भिद मिल जाते है। क्यारियाँ अच्छी तरह जोती हुई मुलायम रेतीली भूमि मे तैयार की जाती हैं। कम उपजाऊ भूमि मे गाय का खूब सडा हुआ गोबर खाद के रूप में डाल देना चाहिये। बीज बो देने के बाद उन पर मिट्टी छिडक दी जाती है और क्यारियो को तिनके की चटाइयो से छा दिया जाता है। मौसम जब सूखा हो, तब सूर्यास्त के बाद नियमित रूप से क्यारियो मे पानी देते रहना चाहिये।

बीज १०-१५ दिनो में अकुरित हो जाते हैं और प्ररोह के निकलने के बाद छायादार आवरण को हटा दिया जाता है। जब नवोद्भिद २-६ इच लम्बे हो जाते हैं तब भूमि को खाद की दूसरी खुराक दी जाती है। मल की खाद (night soil) देना ज्यादा अच्छा होता है। क्यारियो को बराबर निराते रहना चाहिये। नवोद्भिदो को (४-५ इच ऊँचे) मेडो पर ७-१२ इच की दूरी पर प्रतिरोपित करना चाहिए और (मेडो की) कतारो मे १-२ फुट की दूरी रखनी चाहिये। कतारो में १८ इच का फासला रखने से एक एकड मे लगभग २०,००० वेहन लगाये जा सकते है। बसन्त ऋतु मे बोये गये बीजो के बेहन अप्रैल-जुलाई में प्रतिरोपित किये जा सकते हैं और शरद ऋतु मे बोये गये बीजो के वेहन अक्टूबर-नवम्बर मे। अगर ऐसा न हो सके तो वेहनो को रोपणी (नर्सरी) की क्यारियो मे ही पडे रहने देना चाहिए और उन्हे दूसरे वर्ष बसन्त के आरम्भ मे प्रतिरोपित करना चाहिये। कलम (cuttings) या विपाटो (splits) से भी पादप उगाये जा सकते हैं जैसा कि केनिया मे किया जाता है। विपाट वेहन से बडे होते हैं, इसलिए आसानी से उनको लगाया जा सकता है, और इससे नर्सरी की क्यारियो मे बीज उगाने की आवश्यकता भी दूर हो जाती है। इस तरह लगाये गये पौधे फूलते भी जल्दी हैं, किन्तु वर्धी प्रजनन (vegetative propagation) की प्रथा चलन में नही है, क्योकि उससे पादपो का जीवन घट जाता है। आवश्यकता होने पर ही भूमि को पानी दिया जाता है। भूमि अच्छी तरह से जलोत्सारित होनी चाहिये और इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिये कि पानी इकट्ठा न होने पाये। पहले वर्ष दो निराई और बाद के वर्षों मे एक निराई होनी चाहिये।

अधिक मात्रा मे नाइट्रोजनी खाद देने से प्ररोह की वृद्धि अधिक होती है किन्तु इससे पुष्पन क्रिया दब जाती है। होक्काइडो के बागानो में मुख्य खाद जो उपयोग में लायी जाती है वह गोशाला का कूडा-करकट होता है और साथ ही मल, पादप-राख, मछलियो की खली, चूने का सुपर फासफेट सहायक खाद के रूप मे दिया जाता है।

गोशाला की खाद साधारणतः प्रतिरोपण के समय दी जाती है और सहायक खाद फूलों को चुन लेने के बाद दी जाती है। प्रतिरोपण के एक वर्ष के अन्दर पौधे फूलने लगते हैं, किन्तु उपज बहुत कम होती है। पंजाब में मार्च के अन्त में पुष्पण प्रारम्भ हो जाता है और मई के अन्त तक चलता रहता है। कश्मीर में पुष्पण का मौसम जून-जुलाई तक रहता है, और मद्रास में बराबर वर्ष भर फूलते रहते हैं। बीज बोने के बाद तीसरे वर्ष बाजार में भेजने लायक पहली फसल प्राप्त होती है और कटाई का काम हर साल ३-४ वर्षों तक चालू रहता है। जब पुष्प-मुण्डक तीन चौथाई खुल जाते हैं तो उन्हें इकट्ठा कर लिया जाता है। ऐसा देखा गया है कि पुष्प-मुण्डकों के विकास के साथ-साथ सक्रिय तत्त्वों की मात्रा भी बढ़ती जाती है और जब सभी बिम्बपुष्पक (disc florets) खिल जाते हैं तब सक्रिय तत्त्व की मात्रा अधिकतम हो जाती है। सिद्धान्ततः फूलों को ठीक उस समय चुनना चाहिये जब अन्तिम पुष्पक खिलने पर आ गये हों, किन्तु वाणिज्यिक खेती में ऐसा करना व्यवहार्य नहीं हो पाता। फिर परिरक्षी गुण (Keeping quality) पर प्रौढ़ता का प्रभाव पड़ता है, अधिक प्रौढ़ पुष्पों में विद्यमान सक्रिय तत्त्व अप्रौढ़ या प्रायः प्रौढ़ पुष्पों के सक्रिय तत्त्व की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से अपघटित होते हैं। पुष्पों को साधारणतः हाथ से चुना जाता है। यूरोप के कुछ भागों में तथा अमेरिका में एक कलछुलनुमा उपकरण काम में लाते हैं जो पुष्प-मुण्डकों को तोड़कर एक पात्र में गिरा देता है जो इस प्रयोजन के लिए उपकरण के पिछले भाग में बना रहता है।

ऊँचाई के अनुसार उपज की मात्रा में अन्तर रहता है। केनिया में ५०००-६००० फुट की ऊँचाई पर औसत उपज ८५० पौंड प्रति एकड़ होती है और अनुकूल स्थितियों में ७८० पौंड तक पैदावार हुई है। ८५००-९५०० फुट की ऊँचाई पर प्रति एकड़ उपज ११२०-१६८० पौंड होती है। कश्मीर में जहाँ ५०००-८००० फुट की ऊँचाइयों तक लाभप्रद कृषि सम्भव है, अधिकतम उपज ६००० फुट की ऊँचाई पर मिलती है। ९० पौंड प्रति एकड़ की औसत उपज केनिया की उपज की तुलना में कम है। आसाम में ४०००-६००० फुट की ऊँचाइयों पर ४०० पौंड प्रति एकड़ की उपज बतायी जाती है, कुमायूँ (यू० पी०) का परीक्षणात्मक खेती में २ वर्ष की आयु वाले पादपों से ५४ पौंड शुष्क पुष्प-मुण्डक की उपज हुई, मैसूर में ७५ पौंड प्रति एकड़ की उपज बतायी गयी है। उड़ीसा में की गयी परीक्षणात्मक खेती से औसत ४० पौंड प्रति एकड़ उपज मिली है। ठण्डक और नमी से उपज घट जाती है। गर्मी के मौसम के आरम्भ में फूलों की चुनाई के बाद, पादपों की हल्की छटाई आवश्यक होती है ताकि पौधे हृष्ट पुष्ट बने रहें। अच्छी तरह सम्भाल कर रखे गये बागानों से ८-१० वर्षों

तक उपज मिल सकती है। पादपो के लगाये जाने के तीसरे वर्ष के बाद एकत्रित किये गये फूलो मे पाइरेथ्रिन की मात्रा धीरे-धीरे घट जाती है। ३-४ लवाई के बाद उपज अलाभकर होने लगती है और पौधो का पुन प्रतिरोपण शुरू किया जाता है।

कश्मीर मे पुष्प-मुण्डको को साधारणत धूप मे सुखाते है। उनको तिनके की चटाइयो पर हल्की सतह मे फैला दिया जाता है और बीच-बीच मे फूलो को उलटा-पलटा जाता है, ताकि वे समान रूप से सूखे। रात को उनको सायेदार जगह में रखा जाता है। ५-७ दिनो मे निर्जलीकरण (dehydration) की क्रिया पूरी हो जाती है और फूलो को अच्छी तरह सूखा तब समझ लिया जाता है जब अगुलियो से हल्का दबाने पर उनका चूरा बन जाता है। कश्मीर मे ऐसा देखा गया है कि सायेदार स्थानो मे सुखाये गये पुष्पो की अपेक्षा धूप मे सुखाये गये पुष्पो मे पाइरेथ्रिन की मात्रा अधिक होती है। शुरू में तीन दिनो तक धूप में सुखाकर फिर सायेदार स्थान मे सुखाने से सर्वाधिक सन्तोषप्रद पदार्थ मिलता है। **पाइरेथ्रम** के फूलो को सुखाने की मशीने भी बनायी गयी है। केनिया में जो मशीन पसन्द की जाती है उसमे गर्म हवा का प्रवाह एक के ऊपर एक करके रखी हुई छिछली थालियो से होकर गुजरता है जिनमे फूल रखे रहते है। सूखने की सही अवस्था तब आती है जब फूल को अगूठे और अगुलियो के बीच दबाने पर वह चूरा नही हो जाता, बल्कि चूरा तब बनता है जब उसे चुटकियो मे रखकर पूरते हुए मसला जाये। उस अवस्था में फूलो मे लगभग १० प्रतिशत आर्द्रता रहती है, फूलो का प्राकृतिक रग बना रहता है और उनको बहुत कम क्षति पहुँचाये ही पैक किया जा सकता है और गाँठ में बन्द किया जा सकता है। आवश्यकता से अधिक सुखाये गये पुष्प भगुर होते है और पैक करने मे टूट जाते है। चूर्णीकृत भेषज ताजी दशा मे पीत रग का होता है, पर कुछ महीनो तक सग्रहागार में रखे जाने पर, अथवा जब फूल पुराने हो और उनको ठीक ढग से नही तैयार किया गया हो, तो उसका रग मद भूरा हो जाता है। सुखाये गये एव चूर्णीकृत पुष्पमुण्डको मे एक विशिष्ट सुखद गध होती है। उनका स्वाद तीक्ष्ण और कटु होता है और उनसे ओष्ठ और जिह्वा मे अवसन्नता की सवेदना पैदा होती है। वायुरोधी रगीन शीशा के भाण्डो मे या आशिकरूप से रिक्तीकृत टीन के डब्बो मे रखने से ये ठीक बने रहते है।

रासायनिक सरचना इन पुष्पमुण्डको के मुख्य सक्रिय तत्त्व पाइरेथ्रिन १ और पाइरेथ्रिन २ है। पुष्पो के विभिन्न भागो में इनकी विद्यमानता तथा भारत के विभिन्न भागो से एव अन्य स्रोतो से सग्रहीत किये गये पुष्पो मे इनका सकेन्द्रण किस परिमाण मे है यह नीचे दिखाया गया है —

अंग	पाइरेथ्रिनों की प्रतिशतता	
	पुष्प-मुण्डक	खिले पुष्प
ऐकीन (फल)	२ २७	४ ५४
पात्र (रिसेप्टिकिल)	० २६	० २७*
सहपत्र चक्र के शल्क (Involucral scales)	० १५	—
बिम्ब-पुष्पक (डिस्क फ्लोरेट)	सूक्ष्म	० ४८
अर-पुष्पक (रे फ्लोरेट)	सूक्ष्म	० १८
तना	० १५	—

स्रोत	पाइरेथ्रिन १ प्रतिशत	पाइरेथ्रिन २ प्रतिशत	कुल पाइरेथ्रिन प्रतिशत
कश्मीर (तन्मर्ग)	० ३५	० ५७	० ९२
कश्मीर (बारामुला)	० ३२	० ६२	० ९४
पंजाब (पालमपुर)	० २२	० ६८	०.९०
पंजाब (कुलू)	० ३५	० ४०	० ७५
उ० प्र० (देहरादून)	० ६३	० १५	० ७८
उ० प्र० (गढ़वाल)	० २०	० २८	० ५७
मद्रास (कोडइकैनाल)	० ७६	० ६२	१ ३८
मद्रास (कुनूर)	० ४८	० ८५	० ८९
आसाम	—	—	१ ४१
उड़ीसा (मयूर भंज)	—	—	१ १५
मैसूर (बंगलोर)	—	—	० ८०
श्री लंका (हगाला)	० ४७	० ५७	१ ०४
केनिया	० ७७	० ५६	१ ३३
डाल्मेशिया	० ३५	० ६३	० ९८
जापान	० ३८	० ६३	१ ०१

पुष्पों के ओलियोरेज़िन सार से स्टाउंगिर और रुजिस्का (Staudinger and Ruzicka) द्वारा अलग किये पाइरेथ्रिन १ और पाइरेथ्रिन २, श्यान (viscous) तैलीय द्रव होते हैं जो हाइड्रोकार्बन विलायकों में विलेय होते हैं। जल-अपघटन करने पर पाइरेथ्रिन १ से एक असंतृप्त कीटोनी ऐल्कोहॉल, पाइरेथ्रोलोन (Pyrethrolone) तथा

* पात्र तथा शल्क पत्र में

क्राइसैन्थिमम मोनो-कार्वोक्सिलिक अम्ल मिलते हैं और पाइरेथ्रम २ से पाइरेथ्रोलोन और क्राइसैन्थिमम डाई-कार्वोक्सिलिक अम्ल मिलते हैं। अभी हाल के अनुसधानो से पता चला है कि पाइरेथ्रिन १ और पाइरेथ्रिन २ ऐसे पदार्थों के मिश्रण हैं जिनमें क्राइसैन्थिमम मोनो-कार्वोक्सिलिक अम्ल, तथा क्राइसैन्थिमम डाई-कार्वोक्सिलिक अम्ल एक या शायद अनेक कीटानो से एस्टरीकृत होते है। एक नया कोटोन सिनेरोलोन अलग किया गया है, और इसके तथा क्राइसैन्थिमम मोनो-कार्वोक्सिलिक अम्ल और क्राइसैन्थिमम डाइ-कारवोक्सिलिक अम्ल के सहयोग से उपलब्ध एस्टर क्रमश सिनेरिन १ और सिनेरिन २ कहलाते हैं (नाडिंगर-Gnadinger, 423)। ये पाइरेथ्रिन बहुत असतृप्त यौगिक होते है, जिनकी सक्रियता हाइड्रोजनीकरण करने पर जाती रहती है। हवा और धूप में २०-२५° तापमान पर रखने से तीन दिनो के अन्दर ही पृथक्कृत पाइरेथ्रिनो का ९७ प्रतिशत भाग अपघटित हो जाता है। वाणिज्यिक योगो में पाइरेथ्रिन एव सिनेरिन के अनुपात मे अन्तर रहता हैं और तदनुसार उनकी कीटनाशी शक्तियो मे भी अन्तर रहता है। पाइरेथ्रिन, सिनेरिन की अपेक्षा, १ ३ गुना अधिक विषालु होते है, तथा घरेलू मक्खियो के उन्मूलन मे पाइरेथ्रिन १ और सिनेरिन १, पाइरेथ्रिन २ और सिनेरिन २ की अपेक्षा क्रमश चार गुना अधिक प्रभावी होते हैं। पुष्पो से ओलियोरेज़िन निकालने के लिए बहुत से विलायक और विलायको के मिश्रण काम मे लाये गये हैं। ऐल्कोहॉल, ऐसिटोन तथा मिट्टी के तेल के सम्मिश्र द्वारा पुष्पको का सार निकालकर, तत्पश्चात समानीत दाब (reduced pressure) मे ६०° से० नीचे आसवस द्वारा ऐल्कोहॉल और ऐसिटोन से विलग करके १०-१२ ५ प्रतिशत पाइरेथ्रिन उपलब्ध किया गया है। पाइरेथ्रम मे पाइरेथ्रिन, सिनेरिन, फिनॉली पदार्थ (Phenolic bodies), तथा मोनो-एव डाई-क्राइसैन्थिमम अम्लो के अतिरिक्त प्रोटो-कैटेचुइक, आइसोवैलेरिक, कैप्रोइक, लॉरिक, पामिटिक, ओलेइक और लिनोलेइक अम्ल मुक्त तथा सलग्न दोनो रूपो मे पाये जाते है। कोलीन तथा स्टैचिड्रीन भी इसमें विद्यमान होते हैं। पुष्पो से एक वाष्पशील तैल (० ०७ प्रतिशत) उपलब्ध होता है, जिसमें एक पैराफिन ($C_{14}H_{30}$, गलनाक ५४-५६°) एक पदार्थ गलनाक ६२°, एक फिनॉल और सम्भवत पामिटिक तथा ब्युटिरिक अम्ल विद्यमान रहते हैं। नीलगिरि से प्राप्त पुष्पो का विश्लेषण करने पर प्रतिग्राम पुष्पो मे बीटा-कैरोटीन ० ६९ माइक्रोग्राम, और कुल कैरोटिनॉयड ४ ७ माइक्रोग्राम प्रतिग्राम पाया गया।

नियततापी (warm-blooded) प्राणियो के लिए पाइरेथ्रिन प्राय अविषालु होते हैं जव उनका मौखिक सेवन कराया जाय, किन्तु यदि रक्त मे इनका प्रवेश करा दिया जाय तो उनका सुस्पष्ट विषालु प्रभाव पडता है और क्रिया का मुख्य स्थान मेरु-रज्जु

(Spinal cord) होता है। कुछ ऐसे व्यक्तियो को जिनको पाइरेथ्रिन से ऐलर्जी है त्वक्‌शोथ (dermatitis) या त्वचा के अन्य रोग हो जाते है। पुष्पो या निष्कर्षों का विषालु प्रभाव सम्भवत पाइरेथ्रिन के कारण नही पडता, क्योकि वे (पाइरेथ्रिन) ९३ प्रतिशत का सकेन्द्रण होने पर भी अक्षोभक (non-irritant) होते हैं, बल्कि उनमें (पुष्पो या निष्कर्षों मे) विद्यमान फेनॉली घटको के कारण पडता है। पाइरेथ्रिन एक सस्पर्श-विष (contact poison) है जो कीटो के लिए वडा विषालु होता है। इसका उपयोग चूर्ण के रूप मे या छिडकाव द्वारा किया जा सकता है। छिडकाव के लिए उपयुक्त तरलमार, इमल्शन और निलम्बन तैयार किये गये है। ततु और पत्तियो मे भी पर्याप्त कीट-नाशक सक्रियता रहती है और पाइरेथ्रम के चूर्णों में जो इन विशिष्ट प्रयोजनो के लिए प्रयुक्त किये जाते है कभी-कभी वृत और पत्तियाँ विद्यमान रहती है। मलेरिया रोधी ओषधियो में पाइरेथ्रम के योगो का महत्वपूर्ण स्थान है और इनसे खेती और उद्यान-कृषि को बहुत से कीडो से सुरक्षा मिलती है। परजीवी कीडो से पशुधन की रक्षा करने के लिए पाइरेथ्रम का छिडकाव किया जाता है। इस हेतु भारी तेल में तैयार किये गये इमल्शन विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं। साधारणतः ऐसा किया जाता है कि मानक सान्द्र (standerd concentrate) तैयार कर लिये जाते है और प्रयोग करने से पहले उसे भारी तेल में आवश्यकतानुसार मिलाकर तनु (dilute) कर लिया जाता है। इसमें ५ प्रतिशत पाइन तैल मिला देने से परजीवियो के विरुद्ध इसका प्रत्यपसारी (repellent) प्रभाव वढ जाता है और तेल की गध दव जाती है। यूका रोग (Pediculosis) और स्केवीज में पाइरेथ्रम का वाह्यलेप वडा प्रभावी होता है। कुल पाइरेथ्रिन की ० ७५ प्रतिशत मात्रा उर्णवसा (woolfat), पेट्रोलेटम तथा पैराफीन में मरहम वनाकर लेप करने से स्केवीज मे वडा लाभ होता है। पशुचिकित्सा में ऐस्केरिस लिनियाटा (*Ascaris lineata*)) तथा अन्य आन्त्रपरजीवियो के विरुद्ध कीटनाशक के रूप में यह उपयोगी होता है। पाइरेथ्रम सान्द्रो को भण्डारण करने के पूर्व (प्रति उपचायकों) (ऐण्टी-ऑक्सीडेन्ट) के साथ वन्द पात्रो में रखना चाहिये। प्रतिस्थापित (substituted) डाइहाइड्रॉक्सीबेन्ज़ीन, ऐमिनो ऐन्थ्राक्विनोल उच्च फिनॉल वर्ग, भल्लातक (भिलावा) के कडे छिलके से प्राप्त द्रव के सल्फोनेशन उत्पाद या अन्य एकस्वकृत यौगिको को मिलाकर रखने से पाइरेथ्रम के सक्रिय तत्वो की जैविकीय स्थिरता वनी रहती है। भारत मे ऐसे जलीय इमल्शन शीकर (sprays) विकसित किये जा चुके हैं जो जैविकी दृष्टि स्थायी होते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरन सैनिक उपयोग के लिए वडी मात्रा मे ऐसे पाइरेथ्रम क्रीम तैयार किये गये थे जो चिकनाई रहित थे और मच्छरो को भगा देते थे।

कई अन्य क्लोरीनित (chlorinated) मश्लिष्ट उत्पाद मुख्यतया डाइक्लोरो-डाइफेनिल ट्राइक्लोरोइथेन (डी. डी टी) और हेक्साक्लोरो-बेन्जीन जिनका कीटनाशी प्रभाव बहुत ही अधिक है, वाणिज्यिक पैमाने पर तैयार किये गये हैं, और इन्हें पाइरेथ्रम के स्थान पर उपयोग मे लाया जा रहा है, किन्तु कृषि और गोशालाओ मे इनका उपयोग खतरे से खाली नही है । चूहो को ऐसा आहार देने पर जिसमें डी डी. टी की मात्रा १,०००,००० भाग में ५ भाग था, उनका यकृत क्षतिग्रस्त पाया गया। दुधारू पशुओ को ऐसा चारा खिलाने पर जिसमें डी डी टी के अवशेष मिले हो उनके दूध मे डी डी टी का अश पाया जाता है। पाइरेथ्रम के यौगिक कोई विषालु अवशेष नही छोडते और कृषि कार्यों में उनका उपयोग खतरा नही पैदा करता।

भारत मे उपजे पाइरेथ्रम का कुछ अश कीटनाशी औषधियो के उत्पादन मे व्यवहृत होता है और कुछ निर्यात होता है। इस समय भारतीय उद्योग मे खपने वाली मात्रा लगभग ५० टन वार्षिक है। १९५० ई० के फरवरी-मई की अवधि में भारत से ९३८ हन्डरवेट पाइरेथ्रम निर्यात किया गया था, जिसका मूल्य ९३,५७२ रुपया था। इसी अवधि मे २०० टन पाइरेथ्रम का पुर्ननिर्यात किया गया जिसका मूल्य ३,१९,००० रूपया रहा। अक्टूबर १९४९ ई० से जनवरी १९५० की अवधि मे इसका कोई निर्यात नही हुआ। देश मे पाइरेथ्रम के फूलो की वार्षिक आवश्यकता अनुमानत ४०००-६००० टन की है किन्तु वास्तविक उत्पादन इससे बहुत कम है, यद्यपि पाइरेथ्रम की खेती बढाने की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। हाल के वर्षों में देशीय पाइरेथ्रम की माग बहुत घट गयी है। नीलगिरि में जितनी भूमि इसकी खेती के अन्तर्गत है उसके एक भाग में अब वाटल (Wattle) की कृषि की जा रही है। क्लोरीनित कीटनाशी यौगिको का परिसीमन (लिमिटेशन) अब अधिकाधिक प्रत्यक्ष होता जा रहा है और इस कारण सम्भव है कि पाइरेथ्रम की माग बढे। भारत में इस बात की पर्याप्त चेतना आ गयी है कि देश में पाइरेथ्रम कीटनाशियो के विकास के लिए एव इसके व्यापक उपयोग को बढावा देने के लिए सगठित प्रयास आवश्यक है।

सन्दर्भ :—

(1) *Wealth of India , Raw Materials*, 1950, II 143, (2) Gnadinger, C B , 1945, *Pyrethrum Flower*, (3) Chopra, R N , Kapoor, L D , Handa, K L , and Chopra, I C , 1947 *Indian Farming* 8, 78, (4) Chopra, R N , Kapoor, L D , Handa, K L , Chopra I C , and Nayer, S L , 1948, *Jour. Sci Industr. Res* , 7, 532, (5) *Bull Imp Inst* , Lond., 1930, 28, 300

सिनकोना कॉर्टेक्स (रचूबिएसी)
Cinchona Cortex (Rubiaceae)
सिनकोना छाल, पेरूवियन छाल, जेसुइट्स छाल
Cinchona bark, Peruvian bark, Jesuits bark

सिनकोना की छाल और उसके ऐल्केलॉयडो की, मलेरिया के उपचार मे मूल्यवान औषधि होने के नाते, सम्पूर्ण विश्व में व्यापक माँग है। समूचा भारतवर्ष सम्भवत ससार मे सबसे अधिक मलेरियाग्रस्त देश है, इसलिए इस भेषज की यहाँ अत्यधिक आवश्यकता है। सिनकोना जाति के अन्तर्गत ६५ स्पीशीज के सदाहरित क्षुप और वृक्ष आते हैं जो दक्षिणी अमेरिका के एण्डीज माउन्टेन्स (Andes Mountains) के मध्य और पश्चमी शृखलाओ के पूर्वी ढाल पर उगते हैं। ये कोस्टारिका से बोलिविया की दक्षिणी सीमातक समुद्र की सतह से २,५०० फुट से ९,००० फुट की ऊँचाई तक पाये जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सिनकोना की छाल का यूरोप में प्रवेश १६२९ ई० में चिनकोन की काउण्टेस (Countess of Chinchon) द्वारा हुआ। ऐसी किंवदन्ती है कि जब वह अपने पति के साथ पेरू में थी जो उस समय वहाँ के राज्यपाल थे, उसे शीत ज्वर हो आया और लोक्सा के कोरिजिडोर (Corrigidor) द्वारा भेजी गयी छाल के सेवन से स्वस्थ हुई। लोक्सा का कोरिजिडोर स्वय उसके आ० साल पूर्व इसी ज्वर से पीडित हुआ था, तब वह सिनकोना की छाल से ही स्वस्थ हुआ था। काउण्टेस को इस छाल के निरोगकारी गुणो पर इतना विश्वास हो गया कि उसने उसे अपने पति के सम्बन्धियो के पास स्पेन भेजा। स्पेन से इसकी ख्याति इटली में फैली और १७वी शताब्दी के मध्य तक जेसुइट्स (पादरियो) के द्वारा इसका फ्रास तथा इग्लैण्ड में प्रवेश हुआ। भारत में अगरेजो के आगमन के साथ साथ इस भेषज का भी यहाँ प्रसार हुआ और उसने उन सभी अनिश्चित प्रभाव वाली औषधियो का, जिनका प्रयोग भारतवर्ष में मलेरिया के उपचार मे होता था, स्थान ग्रहण कर लिया। १८२० ई० में फ्रान्सीसी रसायनज्ञ पेलेटिएर (Pelletier) ने क्विनीन (कुनैन) को पृथक किया जो उस समय छालो का प्राय सम्पूर्ण ऐल्केलॉयड था।

इसकी छाल का प्रयोग इतनी अधिक मात्रा में बढ गया कि ऐसा भय होने लगा कि विश्व-माँग की पूर्ति में दक्षिणी अमेरिका से प्राप्य इसकी छाल समाप्त हो जायगी। अत इसकी कुछ स्पीशीज को अन्यदेशो में उगाने का प्रयत्न किया गया, और १८५२ ई० में डच लोग जावा में सिनकोना वृक्षउ गाने मे सफल हुए। भारत सरकार ने शीघ्र ही यहाँ सिनकोना के उत्पादन की सम्भावना और उससे प्राप्त होने वाले प्रभावकारी

परिणामो पर ध्यान दिया । १८६० ई० में सर क्लीमेण्ट आर० मार्खम (Sir Clement R Markham) के प्रयत्न से दक्षिणी भारत मे नीलगिरि की पहाड़ियो मे सिनकोना वृक्षो को सफलता पूर्वक उगाया गया, और जब यहाँ सुचारु रूप से उनकी वृद्धि होने लगी तो १८६४ ई० मे रगीघाटी के मगपू (Mungpoo) स्थान पर और बर्मा के कारेन पहाड़ियो मे भी इनकी खेती आरम्भ की गयी ।

सिनकोना की मुख्य स्पीशीज जिनकी कृषि भारत वर्ष में की गयी थी वे सिनकोना ऑफिसिनैलिस (*Cinchona officinalis*), सिनकोना कैलिसाया (*C calisaya*), सिनकोना सक्सिरूब्रा (*C succirubra*), प्रसकर (Hybrid) स्पीशीज सिनकोना रोबस्टा (*C robusta*) और सिनकोना लेजेरिआना (*C ledgeriana*) हैं, किन्तु सिनकोना मिक्रान्था (*C micrantha*), सिनकोना लैन्सिफोलिया (*C lancifolia*), सिनकोना कॉर्डिफोलिया (*C cordifolia*), सिनकोना ट्रिआनी (*C trianae*), सिनकोना पाल्यू-डिआना (*C paludiana*), सिनकोना जोजेफिआना (*C josephiana*), सिनकोना काल्सोपेरा (*C calsopera*) इत्यादि को भी यहाँ उगाया गया है ।

इनमे से सिनकोना सक्सिरूब्रा (लाल छाल) सबसे अधिक दृढ (रोधी) तथा सर्वाधिक सरलता से कृषि योग्य सिद्ध हुयी है । इसमे कुल ऐल्केलॉयड १० प्रतिशत तक पाये जाते हैं। किन्तु उसमें क्विनिडोन और सिनकोनीन का परिमाण क्विनीन से अधिक रहता है । दक्षिणी भारत में इसका उत्पादन अधिक होता है और समुद्र की सतह से ४,५०० से ६,००० फुट की ऊँचाई तक यह प्राप्त होता हैं ।

यह बर्मा की टोमेन्यू पहाड़ियो मे, मध्यभारत के सत्पुडा पहाडियो में तथा पश्चिमी बगाल के मगपू स्थित सरकारी रोपण स्थली में भलीभाँति उत्पन्न होता है । जावा में इसके मूल स्तम्भ पर सिनकोना लेजेरिआना का कलम लगाने (grafting) के लिए इसको उगाया जाता है ।

सिनकोना ऑफिसिनैलिस (सिनकोना कोण्डामिनिया)

C officinalis Linn (*C condaminea* Humb & Bonpl)

भूरी छाल या पीली छाल

इसका उत्पादन नीलगिरि मे उटकमण्ड के निकट २,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई पर और श्रीलका मे किया जाता था किन्तु सिक्किम की जलवायु मे इसका उत्पादन नहीं किया जा सका । इस स्पीशीज में कुल ऐल्केलॉयड का परिमाण अधिक होता है और विगत कुछ वर्षों में क्विनीन का परिमाण भी बढ गया है । इससे जो छाल उपलब्ध होती है उसे वाणिज्य मे क्राउन या लोक्सा छाल कहते हैं ।

सिनकोना कैलिसाया (*C calisaya* Wedd) से पीले छाल की उत्पत्ति होती है, और यह समुद्र की सतह से १५०० से ३००० फुट की ऊँचाई पर अधिक उत्पन्न होती है। यह नीलगिरि की मेयर घाटी तथा सिक्किम मे पायी जाती है। १००० ग्राम अच्छी कैलिसाया छाल में, ३० ग्राम क्विनीन सल्फेट सहित ६० ग्राम ऐल्केलॉयड की प्राप्ति होती है। इस स्पीशीज को भी भारतीय जलवायु मे भलीभांति उगाया जा रहा है।

सिनकोना हाईब्रिडा या लेजरसकर (*C ledgeriana* X *C succirubra*) यह सिनकोना लेजेरिआना से अधिक दृढ (रोघी) होता है, और इसकी खेती बगाल के कुछ ही क्षेत्रो मे की जाती है। सिनकोना रोवस्टा (*C officinalis* X *C succirubra*) मद्रास में ३५०० से ६००० फुट की ऊँचाई पर नदुवत्तम स्थान मे उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण भारत में उगनेवाले सिनकोना वृक्ष का २२ प्रतिशत इसी स्पीशीज से प्राप्त होता है। एक अन्य सकर (*C officinalis* X *C ledgeriana*) मगपू मे उत्पन्न होता है।

सिनकोना लेजेरिआना (*C. ledgeriana* Moens) जो लेजर छाल का स्रोत है, एक कमजोर, अनियमित रूप से किन्तु शीघ्रता से बढनेवाला पादप है जिसकी अधिकतम ऊँचाई २० फुट होती है। कुछ वनस्पतिज्ञ इसे सिनकोना कैलिसाया की वैराइटी समझते है। इसके पर्ण चिकने, मोटे और उपाण्ड, पुष्प पीले, और फल अण्डाभ—भालाकार (ovoid-lanceolate), ८-१३ मि० मि० लम्बे होते हैं। इसकी उत्पत्ति ३००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर होती है। मुख्यतया इन्ही का उत्पादन बगाल मे किया जाता है—(१९४८-४९ ई० मे ४३८२ एकड में से ३६३४ एकड में सिनकोना लेजेरिआना की खेती हुई थी)। दक्षिणी भारत में टिनेवेली जिले तथा अनामलाई पहाडियो पर भी कृषिद्वारा इसका उत्पादन किया जाता है। खासी और जयतिया पहाडियो पर (५००० फुट ऊँची) जो रोपण-स्थली है उनमे लगाये गये वृक्षो से १९५२ ई० तक छाल निकालने की आशा की जाती थी। इसकी छाल में क्विनीन की मात्रा अधिक होती है —(१४ प्रतिशत तक), किन्तु इस स्पीशीज का सवर्धन कठिन है और इसकी आवश्यकताओ की पूर्ति सरलता से नही की जा सकती। भारतवर्ष में उपलब्ध सिनकोना वृक्षों का ७२ प्रतिशत इसी स्पीशीज से प्राप्त होता है।

स्थानीय माँग की पूर्ति के लिए उपरोक्त मुख्य स्पीशीज ही इस देश में उत्पन्न किये जाते है और अनेक कठिनाइयो के होते हुये भी इन स्रोतो से यथासभव अधिक से अधिक छाल उपलब्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

कृषि : सिनकोना, विशेषकर सिनकोना लेजेरिआना, का सवर्धन ऊष्ण जलवायु में ३००० से ६००० फुट की ऊँचाई पर भलीभांति होता है। सिनकोना की वृद्धि के लिए

आवश्यक है कि साधारण उच्चताप (६०°-७५° फारेन हाइट) हो जिसमे कम से कम असमानता हो, वर्ष भर नियमित रूप से अच्छी वर्षा (१००-१५० इञ्च) हो, हलकी, अक्षत (virgin) वनभूमि हो जो कार्बनिक पदार्थों से समृद्ध हो, जहाँ जलोत्सारण भलीभाँति होता हो तथा जो जलाक्रन्ति (water-logging) की सभावना से रहित हो। सिनकोना के लिए अम्लीय-भूमि (पी-एच ४ २-५ ६) चाहिये। इसके सफल उत्पादन के लिए भूमि के ऊपरी १ फुट के स्तर मे ०'८ प्रतिशत नाइट्रोजन और निचली तृतीय फुट के स्तर पर कम से कम ० १ प्रतिशत नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है। तीव्र वायु के झोको से सुरक्षित ढालुआ भूमि श्रेयस्कर होती है। मद्रास के कुछ भागो में जहाँ वर्ष भर में ४५ इच वर्षा होती है तथा पर्याप्त समय तक सूखा भी रहता है, सिनकोना का उत्पादन किया गया है। भारतवर्ष में बगाल तथा मद्रास में इसकी खेती होती है।

प्रवर्धन (Propagation),—सिनकोना का प्रवर्धन बीजद्वारा या पौधो के अन्य भागो से किया जाता है। सिनकोना की सभी ज्ञात स्पीशीज अत्यन्त विषमयुग्मजी (heterozygous) हैं, और कायिक प्रवर्धन (vegetatime propagation) की विधियाँ ही एकमात्र उपाय है जिससे सतति में चुने हुए पितृ गुण को स्थिर रखा जा सकता है। भारतवर्ष मे बीजो द्वारा प्रजनन विधि ही साधारणत अपनायी गयी है, क्योकि अपेक्षाकृत यह अल्पव्ययसाध्य है और सर्वोत्तम स्पीशीज के बीज भी सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। सिनकोना के बीज बहुत छोटे तथा हल्के होते है, ९८००० बीजो का भार एक औंस ही होता है। बेहन ढालुआँ भूमि पर १२×४ फुट की क्यारियो मे रोपा जाता है तथा छप्पर से ढँक दिया जाता है। क्यारियों की भूमि के ऊपरी स्तर में २-३ इच की गहराई तक बालू तथा पत्तियो की खाद जो समान मात्रा मे मिली रहती है हाथ से भलीभाँति दबा दिया जाता है ताकि सभी स्थान एक रूप से ठोस और समतल हो जायँ। बीज-क्यारियो या रोपणी की भूमि मे किसी भी दशा मे पशुओ की खाद नही मिलानी चाहिये। सग्रह करने के पश्चात् बीजो को यथासम्भव शीघ्रता से बो देना चाहिये क्योकि रखने से उसकी अकुरण-क्षमता कम हो जाती है। बीजो को सतह पर घनेरूप से छीट दिया जाता है। बीजो को यथास्थान रखने के लिए उनके ऊपर महीन रेत छिडक दी जाती है और फुहारे द्वारा क्यारियो को हल्के पानी से सीच दिया जाता है। इन क्यारियो की धूप से रक्षा करनी चाहिये। जलवायु के अनुसार बोने के पश्चात् ३-६ सप्ताह मे बीज उग आते हैं। जब बीजाकुर एक इच ऊँचे तथा दो जोडे पत्तियो वाले हो जाते है, तो उन्हे रोपणी-क्यारियो में लगा दिया जाता है। इन क्यारियो

को बीज की क्यारियो के ही समान सावधानी से तैयार किया जाता है, किन्तु इनमे रेत या पत्तियो की खाद का स्तर अधिक मोटा होता है। चार चार इच की दूरी पर एक नुकीली छडी (खूटी) द्वारा छोटे छोटे गडे बनाकर इनका प्रतिरोपण पक्तियो मे किया जाता है। आसाम और बगाल म बीज की क्यारियो मे पक्तियों मे पौधो की दूरी १ ५ इच तथा पक्तियो के बीच की दूरी २ इच और रोपणी क्यारियो में पौधो के बीच की तथा पक्तियो के बीच की दूरी ४ इच के लगभग होती है। साधारणत छप्पर द्वारा इनको छाया प्रदान की जाती है और यदि वर्षा ८० इच से अधिक न हो तो सुदृढ फर्न या छोटी ऊँचाई वाले पाम (ताल) के पादपो से छाया प्रदान की जाती है। जब पौधे बढ जाते है तो छाया क्रमश. हटा दी जाती है। नव पादप जब १८-२४ इच ऊँचे और १४-१८ माह के हो जाते हैं तब वे रोपस्थली (खेतो) मे लगाये जाते हैं। लगाने का समय वर्षाऋतु आरम्भ होने से पहले होता है।

पौधो के बीच की दूरी कितनी हो यह भूमि की समृद्धि (उर्वरता), ऊँचाई और स्पीशीज के ऊपर निर्भर करती है। किसी किसी रोपस्थली मे पौधो के बीच की दूरी ६ × ६ फुट होती है, पर अधिक तर ४ × ४ फुट की दूरी ही रखी जाती है और प्रति एकड भूमि में २४०० पौधे लगाये जाते है। पौधो को अपेक्षाकृत निकट लगाना अच्छा समझा जाता है क्योकि इस प्रकार पौधो की छाया पृष्ठीय मूलिकाओ (superficial rootlets) को सूर्यप्रकाश से सुरक्षित रखती है और घासो को बढने नही देती। इससे वृक्षो के स्तम्भ सीधे और नि शाख होकर ऊपर बढते हैं। छाल की वृद्धि के समय उसका प्रकाश से पृथक रहना भी, ऐल्केलॉयड के उत्पादन में वृद्धि का कारण होता है। बढते समय जब वृच एक दूसरे को दबाने लगते हैं तो उनमे से कुछ पौधो को निकाल दिया जाता है, इस प्रकार अपेक्षाकृत समय से पहले ही कुछ छाल मिल जाती है, तथा बागानो को भी निश्चित लाभ पहुँचता है। छोटे वृक्षो को छाया की आवश्यकता पडती है, इसकी पूर्ति छायेदार वृक्षो को २० फुट की दूरी पर लगाकर की जाती है। मून्साग बागान (रोपणस्थली) में एल्नस नेपालेन्सिस, एरीथ्रिना इण्डिका और अल्बिजिआ स्टिपुलाटा (*Alnus nepalensis, Erythrina indica* and *Ablizzia stipulata*) को छायेदार वृच के रूप में लगाया जाता है। एल्नस-नेपालेन्सिस एक ऊँचा तथा सीधा वृच है जिसके मूल ग्रन्थी मे नाइट्रीकारी जीवाणु होते हैं तथा भूमिकटाव रोकने मे विशेष लाभकारी होता है। दक्षिण भारत में इस कार्य के लिए ग्रैविलिआ-रोवस्टा (*Gravillea robusta*) का साधारणत उपयोग किया जाता है। इस प्रकार सिनकोना

की रोपस्थली मे साधारणत प्रत्येक वर्गाकार क्षेत्र मे २४ सिनकोना पादप होते है तथा छायेदार वृक्ष २० फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं। रूस के काकेशस क्षेत्र मे सिनकोना का उत्पादन वार्षिक और द्विवार्षिक सस्य के रूप मे किया जाता है। शीत ऋतु मे अत्यधिक ठण्ड पडने के कारण नवोद्भिज या कर्तन को काचगृह में रखना पडता हैं। वसन्त-ऋतु मे एक एकड मे ४४००० पौधो के हिसाब से १२×१२ इन्च की दूरी पर खेतो मे लगाये जाते हैं और शरद-ऋतु मे काटे जाते हैं। समूचे पादप को ऐल्केलॉयड निकालने के काम मे लाते हैं। महायुद्ध के वर्षो मे भारतवर्ष मे उत्पादन की एक सशोधित विधि का परीक्षण किया गया था किन्तु आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न होने के कारण त्याग दी गयी थी। सिनकोना लेजेरिआना की कृषि के लिए अक्षत भूमि वरेण्य होती है किन्तु इस प्रकार की भूमि सीमित होने के कारण, सिनकोना क्षेत्रो को साफ करके उनमें उत्पादन आवश्यक हो जाता है। जावा मे सिनकोना सक्सिरुब्रा के स्कन्ध के ऊपर सिनकोना लेजरिआना के चुने हुए स्ट्रेन्स strains की कलम लगाने की प्रथा है, क्योकि सिनकोना सक्सिरूब्रा ऐसी भूमि मे भी अंकुरित हो जाता है जो सिनकोना लेजेरिआना के लिए अनुपयुक्त होती है। सिनकोना रोबस्टा का प्रयोग भी स्कन्ध वृक्ष के रूप में किया जा सकता है।

भारतवर्ष में कायिक प्रवर्धन (vegetative propagation) की विधि पर पर्याप्त कार्य किया गया है। दक्षिणी भारत के बागानो मे, क्विनीन की अधिक उपलब्धि के लिए चुनी गयी सिनकोना लेजेरिआना के क्लोन के ऊपर किये गये परिक्षणो से ज्ञात होता है कि खण्ड मुकुलन (patch budding) की सशोधित जाफना विधि, जिसमें खण्ड, छालो द्वारा ढका रहता है ८१-९५ प्रतिशत सफलता प्रदान करती है, और नाकामुरा की पार्श्व रोपण (side grafting) विधि से ४७ प्रतिशत सफलता मिलती है। लका मे किये गये परीक्षण से ज्ञात होता है कि पौधे के अग्रभाग के कर्तन (cutting) से उससे निचले भाग के कर्तन की अपेक्षा अच्छा परिणाम मिलता है। सिनकोना लेजेरिआना एवं सिनकोना सक्सिरूब्रा के अग्रभाग के छोटे कर्तनो से क्रमश ४४ ८ तथा ७९.१ प्रतिशत कलमो मे जडें निकल आयी। सिनकोना सक्सिरूब्रा के स्कन्ध पर सिनकोना लेजेरिआना का कलम दीर्घ-उपरोपण (Cleft grafting) विधि से लगाने से यह प्रगट होता है कि दक्ष कलम लगाने वालो के द्वारा ९० प्रतिशत कलमे लग जाती हैं। चापोपरोपण (inarching) की अपेक्षा ऑक्सिन साधित (auxin treated) गूटी (कलमो) द्वारा प्रवर्धन अधिक सरल बताया जाता है। ऐसा कहा जाता है, इसमे समय कम लगता है और यह अधिक सुविधाजनक होता है। २ से

३ वर्ष पुरानी शाखाओ की गूटी लगायी जा सकती है। मगपू मे किये गये परीक्षण प्रयोगो में, सिनकोना लेजेरिआना की जो गूटी लगाई जानेवाली थी उनको मिट्टी लगाने के पहले, लैनोलिन मे इन्डोल ब्यूटिरिक उम्ल के २ प्रतिशत का लेप लगाकर २४ घन्टे तक रखा गया था। ऐसा देखा गया कि चार महीनो के अन्दर ही ८८ प्रतिशत कलमो मे खूब जडें निकल आयी। कठोर दारुवाले कर्तनो को ० ०२ प्रतिशत इन्डोल ब्यूटिरिक अम्ल के घोल मे २४ घन्टे तक रखने पर २० प्रतिशत कर्तनो मे ही जडे निकली।

संग्रहण पेडो की छाल का निकाला जाना चौथे वर्ष से ही आरम्भ कर दिया जाता है जब कि पौधो का वार्षिक विरलन आवश्यक हो जाता है। काटी गयी टहनियो तथा अस्वस्थ उखाडे गये वृक्षो की छाल को, ऐल्केलॉयड निकालने के काम मे लाया जाता है। जब पेड १०-१२ वर्ष के हो जाते है तो उनमे ऐल्केलॉयड की मात्रा अधिकतम रहती है और तब सभी पेडो से छाल निकाली जाती है। वृक्ष की शाखाओ को अलग कर दिया जाता है, और जमीन से ५ फुट ऊपर तक छोडकर तनो को काट दिया जाता है। पेड के ठूठो को खनकर बाहर निकाल लिया जाता है, जडो को साफ कर लिया जाता है और छाल को अस्थि-क्षुर (bone knife) द्वारा अलग कर लिया जाता है। तनो और शाखाओ को ऊपर से धीरे-धीरे ठोकने से छाल ढीली हो जाती है और आसानी से अलग हो जाती है।

छाल का सुखाना · एकत्रित छाल को धीरे-धीरे सुखाया जाता है, और भी अच्छा हो यदि उन्हे छायादार स्थान मे सुखाया जाय। वर्षा ऋतु मे, इसी प्रयोजन के लिए बनाये गये विशेष प्रकार के छायादार स्थानो मे अथवा कृत्रिम ताप देकर इन्हें सुखाया जाता है। छाल को लम्बी अवधि तक १७५° फारेनहाइट से ऊपर के तापमान पर या धूप मे खुला न रखना चाहिये। साधारणत ऐसा किया जाता है कि छाल को सूखे मौसम मे अलग किया जाता है और समय समय पर उन्हें उलट पुलट कर सुखाया जाता है।

सुखाने के समय उनमे न तो फफूदी पडनी चाहिये और न किण्वन आना चाहिये। ठीक तरह से सुखायी गयी छाल कई महीनो तक ज्यो की त्यो बनी रहती है और उसमे कोई अवह्रास नही आता। सूखी छाल को बोरो मे बन्द कर दिया जाता है और प्रत्येक बोरे मे १०० पौड छाल भरी जाती है। सुखाते समय उनके भार में लगभग ७० प्रतिशत की कमी आ जाती है।

स्थानापन्न द्रव्य : सिनकोना लैन्सिफोलिआ [*C lancifolia* Mutis कोलम्बियन छाल], सिनकोना ओवेटा (*C ovata* Ruiz & Pav) (नरजाद छाल), रेमिजिया पिडकुलेटा (*Remijia pedunculata* Flueck क्यूप्रिया छाल) तथा रेमिजिया पुर्डियाना

(*Remijia purdieana* Wedd) की छाल बहुधा सिनकोना की छाल के स्थान पर प्रयुक्त की जाती है।

भारत में क्विनीन के सम्भरण-स्रोत . भारत मे क्विनीन की वार्षिक खपत इस समय लगभग २,००,००० पौण्ड है जो निम्नलिखित दो स्रोतो से उपलब्ध होती है —

(अ) भारत में सिनकोना के दो बगान हैं जिन पर राजकीय स्वामित्व है और जिनमे क्विनीन के उत्पादन के लिए फैक्टरियाँ भी हैं। इनमे से एक बगाल के दार्जिलिंग जिले मे मगपू नामक स्थान पर है और दूसरा नीलगिरि मे उटकमण्ड के समीप नेदुवत्तम नामक स्थान पर है। पहले नीलगिरि मे निजी स्वामित्व वाले कई बगान थे किन्तु उधर कुछ वर्षों में उनकी दशा इतनी बिगड गयी कि नही के बराबर हो गये। बगाल मे सिनकोना कृषि के सुपरिंटेंडेण्ट सी० सी० काल्डर के अनुसार निजी बगानो के सिनकोना की छाल बाजार मे बहुतायत से मिलती थी, अब यह सर्वथा दुर्लभ हो गयी है। जब यह बाजार मे आती भी है तो अपने घटिया गुणो के कारण बाजार भाव से कम मूल्य पर बिकती है।

(ब) दोनो फैक्टरियो द्वारा उत्पादित क्विनीन की मात्रा कुल मिलाकर १,००,००० पौण्ड प्रतिवर्ष से अधिक नही होती है, इसलिए इसे बडी मात्रा में बाहर से मँगाया जाता है। भारतवर्ष मे क्विनीन के न्यून उत्पादन का कारण यह रहा है कि सिनकोना की खेती बहुत कम भूमि में की जाती है। बगाल और मद्रास मे राजकीय बागानो मे सिनकोना का उत्पादन कितने क्षेत्रफल मे होता है यह नीचे दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त सिनकोना की खेती के लिए ३८,००० एकड अतिरिक्त उपयुक्त भूमि की भी सूचना मिली है।

वर्ष	कुल एकड भूमि	वर्ष	कुल एकड भूमि
१९३९-४० ई०	५३२२ १०	१९४४-४५ ई०	७६४४ ०७
१९४०-४१ ई०	५४३७ ५९	१९४५-४६ ई०	९२३७ ६३
१९४१-४२ ई०	५६०७ ५९	१९४६-४७ ई०	१०५३७ ७३
१९४२-४३ ई०	५९५५ ९७	१९४७-४८ ई०	११७७७ ५३
१९४३-४४ ई०	६५०८ ६९	१९४८-४९ ई०	१३०१७.१३

भारत मे क्विनीन (कुनैन) की आवश्यकता·

भारतीय जनता के दृष्टिकोण से क्विनीन एक ऐसा भेषज है जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता है और यह बात इस तथ्य से स्वत स्पष्ट हो जाती है कि देश में मलेरिया का रोग सर्वाधिक व्यापक है और इसके निरोध एव उपचार के लिए क्विनीन का

उपयोग किया जाता है। इस रोग का यहाँ इतना व्यापक होना ही इस माँग के लिए पर्याप्त कारण है कि इस बहुमूल्य भेपज की सप्लाई पर्याप्त मात्रा मे होनी चाहिये। ऐसा आँका गया है कि भारत मे मलेरिया के १० करोड़ रोगी बिना उपचार के रह जाते है, और ८० लाख से कुछ ऊपर रोगियो को सम्यक् अथवा आशिक उपचार मिल रहा है। यह जरूरी नही है कि ये आकड़े बिल्कुल सही हो, फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि देश में इस रोग से कितने ज्यादा लोगो को कष्ट मिल रहा है। इससे अत्यधिक मृत्यु होने के अतिरिक्त रोगी कार्य करने मे अक्षम हो जाते हैं और इनकी यह अक्षमता अस्थायी भी होती है और स्थायी भी। इससे जो आर्थिक क्षति पहुँचती है और आर्थिक क्षति के फल स्वरूप देश को जो दण्ड भुगतना पड़ता है वह अत्यधिक है। जहाँ तक क्विनीन के उत्पादन का प्रश्न है, भारत अभी भी उससे आधे से कम का उत्पादन करता है जितने की यहाँ वार्षिक खपत है। कुल २,००,००० पौंड मे से १,१०,००० पौंड क्विनीन तो बाहर से मगायी जाती है और यहा केवल ९०,००० पौंड ही पैदा की जाती है। कृष्णन के अनुसार १,४०,००० पौड क्विनीन का आयात होती है और केवल ७०,००० पौण्ड का यहा उत्पादन होता है।

कई सश्लिष्ट मलेरियारोधी भेपजो के उत्पादन से क्विनीन की स्थिति मे परिवर्तन आ गया है। इन सश्लिष्ट भेपजो को बड़ी मात्रा मे यहाँ हर साल बाहर से मगाया जाता है। यह भी बता दिया जाय कि जहाँ तक मलेरिया के तीव्र आक्रमण के लक्षणो को नियन्त्रण में लाने का सम्बन्ध है, क्विनीन अब भी अन्य सश्लिष्ट भेपजो की तुलना में अच्छा ही पड़ता है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कोई भी मलेरियारोधी सश्लिष्ट औषधि अभी भारत मे तैयार नही होती। इसलिए आपात काल मे, जैसे कि युद्ध के समय, यदि इसका बाहर से आना बन्द हो जाय तो भारत को मलेरिया के उपचार के लिए मुख्यत सिनकोना के ऐल्केलॉयडो पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। इसलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि सिनकोना बागानो को अगर बढ़ाया न जाय तो वर्तमान बगानो में उत्पादन तो जारी रखा ही जाय। हाल में चालू किया गया "नैशनल ऐण्टीमलेरिया कन्ट्रोल" नामक सस्थान, १० करोड़ लोगो को मलेरिया मे सरक्षण प्रदान कर चुका है और यथा समय वह देश भर मे यह सरक्षण प्रदान करने लगेगा। स्वाभाविक है कि इससे सभी प्रकार के सश्लिष्ट मलेरियारोधी भेपजो की आवश्यकता कम हो जायगी।

क्विनीन के अतिरिक्त सिनकोना छाल से प्राप्त होने वाले अन्य ऐल्केलॉयड :

भारतवर्ष के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि चिकित्सावृत्तिवालो ने सिनकोना

छाल के सभी ऐल्केलॉयडो मे केवल क्विनीन (कुनैन) को ही मान्यता दे रखी है। लेफ्टिनेण्ट कर्नल आर नावुल्स एव सिनियर ह्वाइट (Lieut—Col. R Knowles and Senior-White) द्वारा तैयार किये गये एक प्रकाशित ग्रथ में मलेरिया के उपचार का जो इतिहास दिया गया है इसको देखने से प्रकट होता है कि क्विनीन सल्फेट का नैत्यक (routine) उपयोग एक आकस्मिक घटना मात्र है उसमे कहा गया है—"यह निश्चयात्मक तथ्य से बहुत दूर है कि सिनकोना छाल से उपलब्ध होने वाले सभी ऐल्केलॉयडो मे क्विनीन ही उपयोग के लिए सबसे अच्छा है। क्विनीडीन तथा सिनकोनिडीन दोनो ही मलेरियारोधी क्षमता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावी है।" मलय स्टेट मे कउलालामपुर मे फ्लेचर (Fletcher) द्वारा किए अनुसधान कार्य से तथा "कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन" मे जो अनुभव प्राप्त हुए है उनसे यह प्रकट होता है कि क्विनीन के अतिरिक्त अन्य सभी ऐल्केलॉयड भी जो सिनकोना छाल से उपलब्ध होते है मलेरिया के उपचार मे बहुत प्रभावी होते है अगर इनको उसी मात्रा मे दिया जाय जिस मात्रा मे क्विनीन दी जाती है। छाल के कुल ऐल्केलॉयडो को "कारमाइकेल हॉस्पिटल फॉर ट्रॉपिकल डिज़ीज़ेज" मे तथा "कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन" के बहिरग विभाग मे, सिनकोना फेब्रिफ्यूज के रूप में, कई वर्षों तक सफल परिणामो के साथ व्यवहृत किया गया है। ऐसा मालूम होता है कि मलेरिया के उपचार मे सिनकोना के अन्य ऐल्केलॉयडो का जो प्रभाव पडता है, उसे चिकित्सको द्वारा पर्याप्त मान्यता नही दी गयी है। यदि मलेरिया रोकने मे उनका प्रभाव क्विनीन के बराबर न भी पडता हो तो भी उनका प्रयोग करना अच्छा होगा। जो लोग क्विनीन खरीद सकते है उनके लिए क्विनीन को मलेरिया की औषधि बना रहने दिया जाय, किन्तु कुल ऐल्केलॉयडो को जनता की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसे मूल्य पर उपलब्ध कराया जाय जिसपर जनता उसे खरीद सकती है।

सिनकोना छाल का रसायन :—सिनकोना का सबसे महत्त्वपूर्ण ऐल्केलॉयड क्विनीन है। इसके अतिरिक्त बीस और ऐल्केलॉयड सिनकोना से पृथक किये गये है, जिनमे सिनकोनिडीन, क्विनिडीन तथा सिनकोनीन महत्त्वपूर्ण है। ये ऐल्केलॉयड क्विनिक एव सिनकोटैनिक अम्लो के लवण के रूप मे विद्यमान रहते है और सिनकोना की विभिन्न जातियो में इनके सकेन्द्रण की जो सापेक्षिन मात्रा होती है, उसमे अन्तर रहता है। सिनकोना लेजेरिआना, सिनकोना कैलिसाया तथा सिनकोना आफिसिनैलिस का प्रमुख ऐल्केलॉयड क्विनीन है, जब कि सिनकोना सक्सिरूब्रा का प्रमुख ऐल्केलॉयड सिनकोनीन है। पादपो में कुल ऐल्केलॉयडो की मात्रा ८ से १२ वर्ष की आयु तक

बढ़ती जाती है और उसके बाद वह घटने लगती है। पादपो के रसारोहण (ascent of sap) काल मे एल्केलॉयड बनने लगते है। टहनियो मे ऐल्केलॉयडो का सकेन्द्रण कम रहता है और तने के नीचे की ओर उनका सकेन्द्रण बढता जाता है और मूल की छाल में सर्वाधिक रहता है। सिनकोना लेजेरिआना के तने की छाल मे कुल ऐल्केलॉयडो का ९० प्रतिशत क्विनीन होता है जब कि मूल की छाल के कुल ऐल्केलॉयडो मे क्विनीन लगभग ६० प्रतिशत होता है। पत्तियो मे लगभग १ प्रतिशत ऐल्केलॉयड होता है। सुदूरपूर्व मे सिनकोना की कृषि के आरम्भिक वर्षों मे सिनकोना सक्सिरूब्रा के कुल ऐल्केलॉयड ओषधीय प्रयोजनो के लिए 'क्विनेटम' के नाम से व्यवहृत किये जाते थे। भारत मे जब सक्सिरूब्रा का स्थान अन्य जातियो ने ले लिया तो क्रमश क्विनेटम की जगह 'सिनकोना फेब्रिफ्यूज' का प्रयोग होने लगा जिसमे क्विनीन निकाल लेने के बाद अवशिष्ट ऐल्केलॉयड होते है। राष्ट्रसघ (League of Nations) के मलेरिया कमीशन ने क्विनेटम के सम्बन्ध मे यह पुनर्निर्धारित किया था कि इसमे क्विनीन, सिनकोनिडीन तथा सिनकोनीन सम भाग मे मिश्रित रहते है और कमीशन ने एक नया उत्पाद चालू किया जिसे 'टोटाक्वीन' या 'टोटाक्विना' कहते है। ब्रिटिश भेषजकोश में 'टोटाक्वीन' के सम्बन्ध मे यह बताया गया है कि इसमे सिनकोना के कुल क्रिस्टली ऐल्केलॉयड–क्विनीन, सिनकोनिटीन, सिनकोनीन तथा क्विनिडीन–७० प्रतिशत से कम नही होते और उनमें क्विनीन का अश $\frac{1}{6}$ से कम नही होता। मलेरियारोधी भेषज के रूप मे व्यवहृत करने के लिए सिनकोना फेब्रिफ्यूज के भौतिक गुणो एव सरचना मे अन्तर रहता है और यह 'टोटाक्विना' के मानक का ही होना चाहिये। क्विनीन एव क्विनिडीन समावयवी हैं और ये क्रमश वामावर्त एव दक्षावर्त है। मेथॉक्सिल ग्रुप की विद्यमानता के कारण ये दोनो सिनकोनीन एव सिनकोनिडीन से भिन्न होते हैं। मूलानुपाती (empirical) सूत्र की दृष्टि से क्विनीन को मेथॉक्सी-सिनकोनिडीन एव क्विनिडीन को मेथॉक्सी-सिनकोनीन माना जा सकता है।

सिनकोना के प्रमुख ऐल्केलॉयडो को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है— अर्थात् क्विनिडीन के व्युत्पन्न तथा विषमचक्रीय वलयक्रम (heterocyclic ring system) के व्युत्पन्न जो पहले "अणु का द्वितीयार्ध कहलाता था। इस द्वितीयार्ध की सरचना चारो ऐल्केलॉयडो मे एक सी ही है। क्विनीन का पूर्ण सश्लेषण १९४५ ई० में घोषित किया गया था।

भारत (मगपू) मे पैदा होने वाले सिनकोना की प्रमुख जातियो की जडो, तनो तथा शाखाओ की छाल से जो महत्त्वपूर्ण ऐल्केलॉयड उपलब्ध होते है उनकी मात्रा, सारणी न० ५ में दिखायी गई है।

सारणी–५

	प्रतिशत	क्विनीन	सिनकोनिडीन	क्विनीडीन	सिनकोनीन	अक्रिस्टलीय	कुल
सिनकोना लेजेरिआना							
मूल	छाल	५ ११	० ४४	० ५३	० ६८	० ७१	७ ४७
	ऐल्केलायड का	६८ ४	५ ९	७ १	९ १	९ ५	
स्कध	छाल	४ १४	० ३६	० ४४	० २५	० ६०	५ ७९
	ऐल्केलायड का	७१ ५	६ २	७ ६	४ ३	१० ४	
शाखा	छाल	१ ९८	० ०९	० १४	० २०	० ५७	२ ९८
	ऐल्केलायड का	६६ ४	३ १	४ ७	६ ७	१९.१	
सिनकोना सकर (हाइब्रिड)							
मूल	छाल	३ १०	० ६३	० ५०	१ २२	० ६९	६ १४
	ऐल्केलायड का	५० ५	१० ३	८ १	१९ ९	११ २	
स्कध	छाल	२ ८७	० ३३	० ३४	० ४६	० ५४	४ ५४
	ऐल्केलायड का	६३ २	७ ३	७ ५	१० १	११ ९	
शाखा	छाल	१ ७९	० २१	० २९	० ४४	० ६६	३ ३०
	ऐल्केलायड का	५४ २	६ ४	६ २	१३ ३	२० ०	
सिनकोना ऑफिसिनैलिस							
मूल	छाल	१ ७६	० ४९	० ५२	० ६६	० ६३	४ १६
	ऐल्केलयड क	४२ ३	११ ८	१४ ९	११ ९	१५ १	
स्कध	छाल	२ ५६	० ८९	० १३	० ३७	० ४७	४ ४२
	ऐल्केलायड का	५७ ९	२० २	२ ९	८ ४	१० ६	
शाखा	छाल	१,४४	० ४९	० ०९	० १९	० १४	२ ३५
	ऐल्केलायड का	६१ ३	२० ८	३ ८	८ १	६ ०	
सिनकोना सक्सिरूब्रा							
मूल	छाल	१ ४२	१ १२	० ३७	३ ००	१ ३०	७ २१
	ऐल्केलायड का	१९ ७	१५ ५	५ १	४१ ७	१८ ०	
स्कध	छाल	१ ७४	१ ४७	० २०	१ ६३	१ ०५	६ ०९
	ऐल्केलायड का	२८ ६	२४ १	३ ३	२६ ८	१७ २	
शाखा	छाल	१ १६	० ८२	० २०	१ १०	० ७२	४.००
	ऐल्केलायड का	२९ ०	२० ५	५ ०	२७ ५	१८ ०	

सिनकोना छाल के कुल ऐल्केलॉयड सिनकोना फेब्रिफ्यूज

"सिनकोना फेब्रिफ्यूज" पद अस्पष्ट है। १९०३ ई० से पहले सिनकोना सक्सिरुब्रा के कुल मिश्रित ऐल्केलॉयडो को 'सिनकोना फेब्रिफ्यूज' कहा जाता था। १९०३ ई० के बाद, सिनकोना लेजेरिआना तथा इससे और सिनकोना सक्सिरुब्रा से उत्पन्न सकर (hybrid) की छाल से क्विनीन निकाल लेने के पश्चात् अवशिष्ट ऐल्केलॉयडो के मिश्रण को मिनकोना फेब्रिफ्यूज कहा जाने लगा। इस मिश्रण मे कुछ मात्रा क्विनीन की मिला दी जाती थी, ताकि सरचना मे वह मौलिक सिनकोना फेब्रिफ्यूज के सदृश हो जाय। यह चूर्ण एव टिकिया के रूप मे यहाँ जनता को वेचा जा रहा है और इसकी कीमत शुद्ध क्विनीन (कुनैन) से कम होती है। जैसा यह आमतौर से मिलता है, उससे ऐसा लगता है कि इसमे छाल के सार एव क्विनीन के उपोत्पादो का मिश्रण रहता है जिसे क्विनीन निर्माता किसी तरह निकाल देना चाहते हैं। इनमे से कुछ मिश्रण उत्कृष्ट कोटि के होते है जिसमे ऐल्केलॉयडो की मात्रा बहुत ज्यादा होती है और बहुत मे अनुभवी चिकित्सक इन्हें चिकित्सीय दृष्टि से क्विनीन जैसा ही लाभकर मानते हैं। कुछ मिश्रण निश्चय ही घटिया होते हैं और उनमे ऐल्केलॉयडो का अश बहुत कम होता है। विभिन्न नमूनो की सरचना तथा उनमे विद्यमान ऐल्केलॉयडो की मात्रा विश्लेषण करने पर कितनी मिली यह नीचे दिखाया गया है।

क्विनीन	—	—	—	२ ७—१५ ५ प्रतिशत
सिनकोनिडीन	—	—	—	३ ४—३५ ० ,,
सिनकोनीन	—	—	—	१८ ६—३३ ५ ,,
क्विनिडीन	—	—	—	४ ५—२२ ८ ,,
अक्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड		—	—	१७ ०—५४ ९ ,,

अन्य ऐल्केलॉयडो का प्रभाव

गुड्सन, हेनरी तथा मैक्फाई (१९३० ई०) द्वारा पक्षियो के मलेरिया पर जो प्रयोग किये गये थे उनसे प्रकट हुआ है कि सिनकोना के ऐल्केलॉयडो मे सर्वाधिक प्रभावी हाइड्रोक्विनीन था और उसके बाद नम्बर था क्रमश क्विनिडीन, क्विनीन, सिनकोनिडीन तथा सिनकोनीन का। अन्तिम चारो ऐल्केलॉयड लगभग समान ही प्रभावी है। डेल्स एव जेम्स ने सभी प्रकार के मलेरिया मे क्विनीन, क्विनिडीन तथा सिनकोनीन का उपचारात्मक प्रभाव एक सा ही पाया। सिनकोनीन अवसाय पैदा करता है पर उनकी विपालुता मे कोई अन्तर नही रहता। सिउका (Ciuca) ने इसी तरह का तुलनात्मक परीक्षण क्विनेटम के साथ किया था और उसे शुद्ध क्विनीन

हाइड्रोक्लोराइड जैसा ही प्रभावी पाया। इससे यह प्रकट होता है कि जहा तक मलेरिया पर सिनकोना छाल के क्रिस्टली ऐल्केलॉयडो की क्रिया का सम्बन्ध है और सुदम्य तथा दुर्दम तृतीयक (benign and malignant tertian) परजीवियो पर इनकी विशिष्ट क्रिया का सम्बन्ध है, इनमे कोई अन्तर नही है। क्विनिडीन की विषालुता के सम्बन्ध मे फ्लेचर के जो निष्कर्ष है वे हमारे अपने अनुभव से मेल नही खाते। इससे हृदय पर अवसादक प्रभाव पडने की और मुर्च्छा की सम्भावना रहती है, इससे आकस्मिक मृत्यु की घटनाएँ हो चुकी है, विशेषत ऐसे रोगियो में जो काला-जार जैसे कृशकारी रोगो से ग्रस्त थे। उपरोक्त बातो से यह स्पष्ट है कि केवल शुद्ध क्विनीन को प्रयोग मे लाने से बहुत बर्बादी हुई है, साधारण मलेरिया के उपचार के लिए क्विनीन के स्थान पर अपेक्षाकृत सस्ते और उसी की तरह प्रभावी ऐल्केलॉयडो को काम मे लाया जा सकता है, और मँहगे एव सुपरिष्कृत एल्केलॉयडो को गम्भीर मलेरिया के रोगियो के लिए आरक्षित रखा जा सकता है। सुनियन्त्रित रूप से किये गये परीक्षणो से ऐसा पाया गया है कि प्रतिकिलो शरीर भार के हिसाब से सिनकोना फेब्रिफ्यूज ० १ ग्रेन की मात्रा मे देने से क्विनीन से कम लाभदायक रहा है पर प्रतिपौंड शरीर भार के हिसाब से इसी मात्रा मे यह क्विनीन जैसा ही प्रभावी रहा है। सिनकोना फेब्रिफ्यूज क्विनिनम तथा क्विनेटम मे किसी को भी व्यवहृत किया जा सकता है, पर इसी दशा में जब यह ज्ञात हो कि उसमे कुल क्रिस्टली ऐल्केलॉयड किस परिमाण मे विद्यमान है, ताकि अपेक्षित मात्रा मे इनका सेवन कराया जा सके। उदाहरण के लिए, यदि औषधि मे कुल क्रिस्टली ऐल्केलॉयड ७० प्रतिशत या उसके लगभग है तो पता चल जायगा कि उसका १० ग्रेन ७ ग्रेन क्विनीन के बराबर है। यदि ऐसा करना वाछनीय नही समझा जाता तो छाल के कुल ऐल्केलॉयडो के सल्फेट का प्रयोग किया जा सकता है। समग्र भारत मे बिगत कई वर्षों से मलेरिया के उपचार मे सिनकोना फेब्रिफ्यूज का प्रयोग सन्तोषप्रद परिणाम के साथ किया गया है। कलकत्ता के "कारमाइकेल हॉस्पिटल फॉर ट्रॉपिकल डिज़ीजेज़" मे जो मिश्रण प्रयुक्त किया जाता है वह यह है —

सिनकोना फेब्रिफ्यूज (भारतीय)	—	—	१० ग्रेन
साइट्रिक अम्ल	—	—	२० ,,
मैग्नीशियम सल्फेट	—	—	२० ,,
लिकोरिस (मुलेठी) का सार	—	—	१ ड्राम
वर्जिनियन प्रून का सीरप	—	—	१० बूद
सीरप तथा जल समभाग	—	—	१ औंस

मात्रा एक सप्ताह तक भोजन के २ या २½ घटे बाद प्रतिदिन तीन बार १ औंस की मात्रा देनी चाहिये। उसके बाद २४ दिनो तक दिन मे दो बार इसी मात्रा मे इसका सेवन कराया जाना चाहिये। इससे मतली और वमन की सम्भावना रहती है क्योकि रवाहीन ऐल्केलॉयड मुँह मे चिपका रह जाता है। फिर भी अधिकाश रोगी इसे अच्छी तरह बरदाश्त कर लेते है, अगर यह ठीक समय से दिया जाय—अर्थात भोजन के ढाई घटा बाद जब पेट खाली रहता है। अगर मतली आये या वमन हो, तो सिनकोना फेब्रिफ्यूज लेने मे पहले एक हजार भाग जल मे १ भाग ऐड्रिनैलिन की १५ मिनिम की मात्रा, अथवा १ मिनिम टिंक्चर आँयोडीन को थोडे जल मे मिलाकर ले लेने से वमन रुक जायगा। यदि आवश्यक हो तो अफीम का टिंक्चर भी ५ से १० मिनिम की मात्रा मे दिया जा सकता है। फ्लेचर (१९२५ ई०) इस परिणाम पर पहुँचे थे कि सिनकोना फेब्रिफ्यूज जिसमें ७ से १० प्रतिशत क्विनीन हो, दिन मे दो बार १० ग्रेन की मात्रा मे देने से चिकित्सीय दृष्टि से क्विनीन जितना ही प्रभावी होता है और उससे अधिक विषालु नही होता।

सिनकोना से निर्मित औषधियाँ तिक्त, ज्वरघ्न एव क्षुधावर्धक के रूप मे व्यवहृत होती है। अपने स्तम्भक प्रभाव के कारण इसका क्वाथ अथवा अम्ल-फाण्ट गरारो के रूप में कभी-कभी प्रयुक्त किया जाता है। क्विनीन तथा टोटाक्विन का विस्तृत उपयोग विशेष कर मलेरिया के लिए किया जाता है। यद्यपि इनके स्थान पर अब सश्लिष्ट औषधियो का प्रयोग होने लगा है, तथापि अभी अनेक वर्षों तक पर्याप्त परिमाण मे इनके व्यवहृत होते रहने की सम्भावना है। जहाँ पर मलेरिया ग्रस्त रोगियो का उपचार बिना पर्याप्त चिकित्सीय निरीक्षण के करना पडे, वहाँ मेपाक्रिन की अपेक्षा क्विनीन का ही उपयोग किया जाना चाहिये। क्विनिडीन का प्रयोग अलिन्द विकम्पन (auricular fibrillation) मे किया जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) *Report, Drugs Enquiry Committee*, 1931 , (2) Goodson, J A Henry, T A , and Macfie, J W , S , 1930, *Biochem Jour* , 24, 4, 874, (3) *Reports, Cinchona Plantation Factory, Bengal*, 1920-29, (4) *Seaborne Trade Statistics, India*, 1928—30 (5) *Proceedings Celebration of the* 300th *Anniversary of the Use of Cinchona*, 1931, St Louis, Mo , U S A (6) *Wealth of India , Raw Materials*, 1950, II, 163, (7) Chopra R, N , Mukherji B , and Chopra I C , 1950 *A Treatise*

on Tropical Therapeutics, 381, (8) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 533

सिन्नामोमम कैम्फोरा (लॉरेसी)

Cinnamomum camphora (Linn.) Nees and (Eberm.) (Lauraceae)

कर्पूर वृक्ष Comphor Tree

नाम—कपूर, कर्पूर, कर्पूरम

कपूर बहुप्रचलित औषधियो में से एक है जिसको भारत के प्राय. हर घर मे कई प्रयोजनो के लिए उपयोग में लाया जाता है। कपूर की आवश्यकता के लिए भारत प्राय विदेशो पर ही सर्वथा निर्भर करता है। चीन, जापान, फारमोसा और बोर्नियो के कपूर की यहाँ के बाजार मे अच्छी बिक्री होती है। कपूर का वृक्ष लम्बा सुन्दर और सदाहरित होता है जो चीन, जापान, एव फारमोसा के लिए देशज है और इसका प्रवेश तथा इसकी कृषि, भारत सहित अन्य कई देशो मे, शोभावर्धक वृक्ष के रूप में अथवा कपूर के स्रोत के रूप में की गयी है। अपने प्राकृतिक आवास स्थान में १०० फुट तक ऊँचा होता है और इसका घेरा ६-८ फुट तक होता है। किन्तु भारत में इसका विकास रुद्ध हो जाता है। कपूर (सिन्नामोमम कैम्फोरा) के कई प्रकार है और आकृति-विज्ञान की दृष्टि से तो कुछ में कोई विभेद नही किया जा सकता है, किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से वे सर्वथा सुस्पष्ट होते हैं। कुछ मे कपूर पाया जाता है और कुछ केवल सुवासित तेल देते हैं। कपूररहित पादपो को जो प्राकृतिक गुणो में सिन्नामोमम् कैम्फोरा से मिलते-जुलते दिखते हैं अलग जाति का बताया जाता है, किन्तु अधिकाश लोगो की राय में यह केवल इसका एक भिन्न रूप (form) है। कपूर बनता है तेल कोशिकाओ म जो वृक्ष के सभी अगो मे पायी जाती है। इन कोशिकाओ का निर्माण तभी आरम्भ हो जाता है जब वृक्ष के अग अभिवृद्धि करने लगते है और इन कोशिकाओ मे एक पीतवर्ण तेल भर जाता है जिसमें धीरे धीरे कपूर जमा होता जाता है। कपूर का निर्माण एक एन्ज़ाइम द्वारा होता है जो वृक्षो के वर्धनशील अवयवो में विद्यमान रहता है, विशेषकर कैम्बियम के भीतरी ऊतको मे। काष्ठ के प्रत्येक परतो म, उनके निर्माण के साथ-साथ, कपूर अधिकाधिक बनता जाता है।

कृषि · भारत मे इस पादप की सफल कृषि देहरादून, सहारनपुर, कलकत्ता, नीलगिरि तथा मैसूर मे की गयी है। नीलगिरि मे यह पादप ७०००

फुट की ऊँचाई तक और श्रीलका मे ५००० फुट की ऊँचाई तक खूब होता है। ४०००-६००० फुट की ऊँचाई पर यह सर्वाधिक पनपता है किन्तु तभी जब कि तापमान १५ डिग्री से नीचे न जाय। भारत के सभी भागो मे, जहाँ ४० इच वृष्टि होती है, इस पौधे की कृषि की जा सकती हे, किन्तु वाणिज्यिक दृष्टि से उष्ण क्षेत्रो के बाहर इसकी खेती के लाभकर होने की सभावना कम है और उष्ण क्षेत्रो मे भी आर्थिक लाभ ज्यादा नही हो सकता। बताया जाता हे कि मलाया मे, कम उपजाऊ लैटेराइट मिट्टी मे यह पादप खूब पनपता है। किन्तु उस सम्बन्ध मे भारत मे किये गये कार्यो से पता चलता है कि इसकी सफल खेती के लिए उपजाऊ, जलोत्सारित बलुई दुमट मिट्टी आवश्यक होती है। गहराई से जोती गयी चिकनी मिट्टी वाली भूमि भी इसके लिए अनुकूल पडती है, किन्तु पत्ती की खाद और बालू की सहायता से भूमि को रध्रित बना देना चाहिये। कृत्रिम खाद देने की भी सिफारिश की गयी है। बीज, कलम, शाखा-कतरनो, एव मूल के अन्त भूस्तारी (root-suckers) द्वारा यह पौधा उगाया जा सकता है, किन्तु बीज द्वारा इसका प्रवर्धन प्रचलित प्रणाली है। बीजो को, सग्रहण के बाद यथासम्भव शीघ्र रोपणी (नर्सरी) में बो देना चाहिये। इसके लिए हल्की उपजाऊ रेतीली दुमट मिट्टी वाली क्यारियाँ तैयार की जाती हैं जिनमें जलोत्सारण की अच्छी व्यवस्था रहती है हल्लाकराई स्टेट (नील्गिरि) मे आमतौर से यह पणाली अपनायी जाती है कि भरपूर मात्रा में शोला (shola) मिट्टी और गोबर का खाद देकर तैयार की गयी ऊँची क्यारियो में बीज को बो दिया जाता है। उगने के ६ महीने बाद नवोद्भिदो को ऐसी टोकरियो मे प्रतिरोपित कर दिया जाता है जिनमे बराबर-बराबर मात्रा में, खूब सडी गोबर खाद और बालू का सम्मिश्रण भरा रहता है। जडो और शीर्षो के अन्तिम छोर काट दिये जाते है। टोकरियो मे तब तक मिट्टी भरना जरूरी होता है जब तक कि तने उसी स्तर तक न ढक जायें जिस तक उन्हे क्यारियो मे ढके रहना है। नवोद्भिदो को खेत मे ६-१२ फुट के अन्तर से २ घनफुट गहरे गड्ढो में रोप दिया जाता है। प्रतिरोपण का काम जनवरी-फरवरी की अवधि मे किया जाता है, जब वेहन लगभग एक वर्ष के हो गये रहते है। अक्टूबर-नवम्बर मे दोहरी जोताई कर खेत तैयार किया जाता है और गड्ढे दिसम्बर मे खोदे जाते है। पौधो के दोनो तरफ ६-८ फुट का अन्तर रहना चाहिये। इससे अधिक अन्तर रखना भूमि को बर्बाद करना है। दोनो तरफ ६ फुट का अन्तर रखने से एक एकड भूमि मे १२१० पादप आ सकते है। देहरादून मे प्रतिरोपण का समय जुलाई का महीना है जब वेहन ४ या १६ माह के हो गये रहते है।

कपूर तैयार करने की प्रणाली : कपूर की सर्वोत्तम उपज ५० वर्ष से ऊपर के वृक्षो से मिलती है। उपरोक्त देशो मे, जहाँ इसकी खेती इसी शताब्दी मे शुरू की गयी है, उपज के कम होने का यही कारण है कि वृक्ष वहाँ काफी पुराने नही हो पाये है। पैरी (Parry) ने कपूर तैयार करने की प्रणाली का वर्णन इस प्रकार किया है—"वृक्षो को गिरा दिया जाता है और नयी डालियो और टहनियो को काट कर छिद्रित घडो में पैक कर भापीय ताप द्वारा उन्हे गर्म किया जाता है। भाप घडो मे प्रविष्ट होकर कतरनो को सतृप्त करती है जिससे कच्चा कपूर ऊर्ध्व पातित होकर घडे पर रखे गये मिट्टी के बर्तनो मे जाकर जम जाती है। अपरिष्कृत कपूर बर्तन मे रखा जाता है और उससे एक तरह का तेल कुछ मात्रा मे निसृत होता है जिसे एकत्र कर लिया जाता है। यही तेल कपूर तेल कहलाता है। किन्तु अधिकाश तेल मामूली भभको मे पानी और कतरनो को डाल कर और उनका आसवन करके बनाया जाता है। अपरिष्कृत उत्पाद, प्रयुक्त काष्ठ का लगभग ३ प्रतिशत होता है। तेल क्रिस्टलीय कपूर से निथार लिया जाता है जिसमे इसका विलेय रूप मे काफी अश रहता है। तत्पश्चात् इसे भभके में डालकर दो तिहाई भाग आसवन कर लिया जाता है। कपूर का अधिकाश भाग अवशेष में रह जाता है जिसे ठडा करके दबाया जाता है जिससे और कपूर अलग हो जाता है। इस क्रिया को कई बार किया जाता है जब तक कपूर मिलता रहता है। जो अवशेष बच जाता है वह वाणिज्यिक कपूर का तेल होता है।" अपरिष्कृत कपूर को सामान्यत बिना बुझा चूना और चारकोल के साथ ऊर्ध्वपातन प्रक्रिया से शोधित किया जाता है। पहले कपूर के तेल का कोई मूल्य नही समझा जाता था, किन्तु आज सैफ्रॉल बनाने मे इसका बहुत अधिक उपयोग किया जाता है। सैस्साफ्रास का कृत्रिम तैल बनाने और हेलियोट्रोपिन का सश्लेषण करने के लिए सैफ्रॉल को सस्ते परिमल के रूप मे काम में लाया जाता है। जापान, यूरोप और अमेरिका मे अपरिष्कृत उत्पाद से कपूर को परिष्कृत करते है। अपरिष्कृत उत्पाद मे ९० प्रतिशत कपूर रहता है। ऊर्ध्वपात करके इसे बडे-बडे कक्षो मे पहुँचाया जाता है जहाँ छोटे-छोटे क्रिस्टल के रूप मे यह सघनित होता है, जिसको कपूर का फूल कहते हैं। जलीय दबाव देकर, इन्ही क्रिस्टलो से प्रचलित कपूर खण्ड तैयार किये जाते हैं। देहरादून मे किये गये परीक्षणात्मक कार्यो से प्रकट होता है कि पत्तियो का आसवन करके कपूर प्राप्त किया जा सकता है किन्तु प्राप्ति, वाणिज्यिक उद्योग के रूप मे लाभकर नही होगी। वृक्ष के विभिन्न अगो में कपूर का सकेन्द्रण भिन्न-भिन्न मात्रा मे रहता है। भूमिस्थ जडो मे अधिकतम कपूर रहता है। भारत के विभिन्न भागो मे उगाये जाने वाले वृक्षो के विभिन्न अगो में कितना प्रतिशत कपूर एव कपूर तेल रहता है यह नीचे के विवरण से ज्ञात हो जायगा।

भारत मे उगाये जाने वाले कपूर वृक्ष के विभिन्न अगो मे कपूर की मात्रा :-

वृक्ष उगाने के स्थान	अग	वाष्पशील तेल की उपज की प्रतिशत मात्रा	कपूर की प्रतिशत मात्रा	कपूर तेल की प्रतिशत मात्रा
नीलगिरि	हरी पत्तियाँ	१ ०	० १-० ७	० ९-०.३
मद्रास	,,	२ ६२	१ ९९	० ६३
बर्मा	,,	१ ५१	१ ०३	० ४८
कोचीन	,,	२ ३३	२.०१	० ३२
देहरादून	,,	४.०४	० ३८	३ ६६

कपूर तेल वह अवशिष्ट है जो कपूर के ऊर्ध्वपातित होने पर बच जाता है।

भारत मे कपूर का उत्पादन : बहुत समय पहले १८९६ मे हूपर ने ऊटकमण्ड में उगाये गये कपूर वृक्ष की पत्तियो का आसवन किया था। और ५० पौण्ड पत्तियो से १ प्रतिशत तेल प्राप्त किया जिसमें १० से १५ प्रतिशत मात्रा कपूर की थी। उत्तरी भारत में कपूर की खेती की सभावनाओ के सम्बन्ध में होवार्ड, रावर्ट्सन तथा साइमन्सेन ने विस्तृत अध्ययन किया है और उनके अनुसधान १९२३ मे इण्डियन फॉरेस्ट रिकार्ड्स में प्रकाशित हुए हैं। भारत मे प्राकृतिक कपूर ज्यादा नही पैदा होता। नीलगिरि में हल्लाकराई स्टेट मे लगभग ८ वर्गमील का क्षेत्र है, जिसमे २०-६० वर्ष के वृक्ष हैं जिनका समय-समय पर कपूर के लिए विदोहन किया जाता है। पत्ती के वजन के आधार पर लगभग १ प्रतिशत कपूर प्राप्त किया जाता है। हल्लाकराई स्टेट मे कपूर का वार्षिक उत्पादन लगभग ५०० पौण्ड है और तेल का १५० पौण्ड और इन दोनो ही उत्पादो को तैयार बाजार मिल जाता है। कपूर का प्रति एकड उत्पादन लगभग ६० पौण्ड और तेल का १० पौण्ड होता है और अनुकूल स्थितियो मे प्रति एकड १८० पौण्ड तक उत्पादन हो जाने की सम्भावना है। अमेरिका मे कपूर की अनुमानित उपलब्धि प्रति एकड १२५-१५० पौण्ड है और अल्जीरिया के बागानो मे प्रति एकड उपज २६८ पौण्ड है। श्रीलका के बागानो मे आसुत कपूर का प्रति एकड उत्पादन अनुमानत १२०-१३० पौण्ड है।

कपूर के अन्य सम्भव स्रोत : ऑसिमम अथवा कैम्फर बेसिल की कई जातियो, विशेषकर ऑसिमम कैनम (*O. canum*) तथा ऑसिमम किलिमैंडशारिकम (*O kilimandscharicum*) की पत्तियो से भी आसवन द्वारा कपूर निकाला जाता है।

थी। प्राकृतिक कपूर की कीमते सश्लिष्ट कपूर की कीमतो का अनुगमन करती है और सश्लिष्ट कपूर की कीमत तारपीन तेल की कीमत पर निर्भर करती है।

सन्दर्भ :–

(1) Hooper, 1896, *Pharm Jour* 2, 21, (2) Howard, Robertson and Simonsen, 1923, *Ind For Rec*, 9, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) *Wealth of India Raw Materials* 1950, II, 173, (5) Raghvan, M S, 1940, *A Note on the Possibilities of Camphor Cultivation in South India* (Govt. Press, Madras), (6) Burkill, I. H, 1935, *A Dictionary of Economic Products of the Malaya Peninsula*, (7) Rao et al, 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 160, (8) *Kew Bull*, 1920, 45, 1921, 129, (9) Howard *et al*, *Ind For Rec*, 1923, 9, 309, (10) *Wealth of India, Raw Materials*, 1950, II, 13, (11) Narielwala and Rakshit, 1942, *Report, Essential Oils Committee*, 12, (2) Rakshit, 1938, *Perfume Essen Oil Rec*, 29, 402, (13) *Bull Imp Inst London*, 1914, 39, 14, 217, (14) *Annual Report, F R I*, 1942-43, 91, (15) Mulary and Waston, 1926, *Jour. Ind Chem Soc*, 3, 2631 (16) Berry and Sarin, 1936, *Chem and Industry*, 605, (17) Parry, E J, *The Chemistry of Essential Oils, The Manufacture of Camphor*, (18) Parry E J, 1950, *Indust Chem*, 24, 302, 113, (19) Trease, G E, 1952, *Text, Book of Pharmacognosy*, 259

सिन्नामोमम तमाला

Cinnamomum tamala Nees and Eberm, (Lauraceae)

भारतीय कैसिया लिग्निया—(Indian Cassia Lignea)

नाम :–स०-तमालक, तेजपत्र, हि० और ब० तेजपात, गु०-तमालपत्र, त०-तालिश-प्पत्तिरी, ते० तालिसपत्री।

यह मध्यम आकार का सदाहरित वृक्ष है जो हिमालय के उष्ण एव अर्धोष्ण क्षेत्रो मे खासी और जयन्तिया की पहाडियो मे और पूर्वी बगाल मे वन्य अवस्था मे पैदा होता है। यह जाति तेजपात की पत्तियो का स्रोत है जो उत्तरी भारत मे मसाले के रूप मे विस्तृत रूप से व्यवहृत होती है। वृक्ष की छाल को व्यापार मे भारतीय कैसिया छाल या भारतीय कैसिया लिग्निया कहते हैं, और यह सिक्किमवर्ती हिमालय

के पाद मे पैदा होने वाले वृक्षो से सग्रहीत किया जाता है। तेजपत्र मुख्यत सिलहट जिले के जयन्तिया परगना मे उगाया जाता है। इस क्षेत्र के अनेक बागान स्वय जात है और कुछ मे वृक्ष लगाया गया है और उनका कुल क्षेत्रफल लगभग ६०० एकड है।

इसकी छाल कुछ ज्यादा खुरदरी होती है और असली दालचीनी या सिन्नामोमम जीलैनिकम की छाल की अपेक्षा अधिक मूल्य पर बिकती है। यह असली दालचीनी छाल मे अपमिश्रण करने के लिए बहुत उपयोग मे लाया जाता है। इस पादप की छाल के बाहरी हिस्से का असवन करने पर उससे एक वाष्पशील तैल निकलता है जो पाण्डु पीत रग का होता है। कैसिया तैल का मुख्य घटक सिन्नामिक ऐल्डिहाइड है और वाणिज्यिक किस्म के तेलो मे यह ७० से ८५ प्रतिशत् मात्रा मे पाया जाता है। यद्यपि यह ऐल्डिहाइड भी श्री लका के दालचीनी की छाल के तेल का मुख्य घटक है, किन्तु दोनो के गध और सुवास मे बडा अन्तर है। सिन्नामन के तेल मे जो सम्बद्ध पदार्थ है जैसे पाइनीन, नॉनिल ऐल्डिहाइड आदि, उनका गध सुकोमल एव मधुर होता है, किन्तु कैसिया के तेल में विद्यमान सिन्नामिक ऐल्डिहाइड, टर्पीन आदि से पराभूत रहता है जिनमे तेल मे कुछ अरुचिकर गध आ जाती है। कैसिया की छाल और तेल का बहुत बडा व्यापार बम्बई मे होता है, किन्तु अधिकाश पुनर्निर्यात होता है, न कि वास्तविक निर्यात। सिन्नामोमम तमाला का भारत मे कितना व्यापार है, उसके बारे मे निश्चित सूचना नही प्राप्त की जा सकती, किन्तु यही प्रतीत होता है कि अगर असली भारतीय छाल का निर्यात होता भी है तो बहुत ही कम। बाजार में सश्लिष्ट सिन्नामिक ऐल्डिहाइड के आ जाने से तथा कैसिया तेल का सस्ते टर्पीनो के साथ अपमिश्रण होने से इस तेल का व्यापार बहुत घट गया है। पत्तियो का उपयोग मुख्यत मसाले के रूप मे किया जाता है। कश्मीर मे पान की पत्तियो के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। यूरोप के पाक विज्ञान मे बे (Bay) की पत्तियो का जो स्थान है वही भारतीय पाक विज्ञान मे इन पत्तियो का है। त्रिफला एव काम्पिल्य (Kamala) के साथ रगने मे यह स्वच्छक (clarifier) के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। तेजपत्ते की पत्तियाँ वातानुलोमक होती है, शूल (उदर) एव अतिसार में इनका उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियो का तेल दालचीनी की पत्तियो के तेल से मिलता जुलता है और इसमे डेक्स्ट्रोऐल्फा-फिलैण्ड्रीन और ७८ प्रतिशत युजिनॉल होता है। जो वाणिज्यिक वाष्पशील तेल, साबुन को सुगधित करने एव औषधियो मे प्रयुक्त किया जाता है, वह सिन्नामोमम कैसिया से प्राप्त किया जाता है और चीन से उसका आयात किया जाता है।

सिन्नामोमम ग्लैण्डुलिफेरम (*C glandulıferum* Meıssn) नेपाल का कपूर काष्ठ :—यह एक बडा पादप है जो दक्षिणी हिमालय में कुमायूँ से पूर्व की ओर आसाम, खासिया पहाडियो एव सिलहट तक होता है। इस वृक्ष की छाल रूक्ष, पाण्डु-वभ्रु, अति सुगन्धयुक्त होती है और ताजी कटने पर कपूर की तीव्र गध देती है। भारतीय भैपजकोप मे इस पादप के प्रति और अधिक ध्यान देने की शिफारिश की गयी है। इसके काष्ठ और पत्तियो से एक क्रिस्टलीय उत्पाद मिलता है जिसे शिमेल एण्ड कम्पनी ने दक्ष-कपूर बताया है। इसे सस्साफ्रास तेल के स्थानापन्न के रूप में व्यवहृत करने का सुझाव दिया गया है। सस्साफ्रास तेल सस्साफ्रास आफिसिनेल की जड से उपलब्ध होता है जो वर्जिनया एव टेन्नेसी मे पैदा होता है। सस्साफ्रास तेल कीमती होता है और अधिकाशत इसका उपयोग साबुन तथा परिमल पदार्थ बनाने में किया जाता है। परतु इस बात मे सन्देह है कि सिन्नामोमम ग्लैडुलिफेरम वस्तुत सस्साफ्रास तेल के उत्तम स्थानापन्न का काम दे सकता है।

सिन्नामोमम जीलैनिकम (लॉरेसी)

Cinnamomum zeylanıcum Breyn (Lauraceae)

सिन्नामोमम, सीलोन सिन्नामन

नाम —स०—तमालपत्र, गुडत्वक, हिं, गु०, म० ते० और व—दालचीनी,
त०—कन्नालवगपत्तै, इलायगम, कन्न०—दालचीनी, लवग पत्ती,
सिंहली—कुरुन्डू, प०—दारचीनी, किर्रा, बम्ब०—तज, दालचीनी।

लॉरेसी कुल के कई जातियो जैसे सिन्नामोमम जीलैनिकम, सिन्नामोमम तमाला आदि वृत्तो की छालो के लिए "सिन्नामन" की सज्ञा दी जाती है। असली सिन्नामन या सिन्नामोमम जीलैनिकम भारत मे प्रचुरता से नही पैदा होता। यह पादप पश्चिमी तट पर कोकण से दक्षिण की ओर वन्य दशा मे पैदा होता हे और तेनासरीम (बर्मा) के जगलो में भी पाया जाता है। इसकी परीक्षणात्मक खेती दक्षिण भारत मे भी शुरू की गयी थी किन्तु इसका उत्पादन व्यापारिक स्तर तक नही आ सका। भेपज बाजार से जितना भी इसका सम्भरण होता है, वह प्राय सब का सब श्री लका से आया रहता है, जहाँ यह पादप वन्य दशा मे पैदा होता है। वहाँ इसकी कृषि वाणिज्यिक पैमाने पर होती है। वहाँ दक्षिणी प्रात मे गाले जिले मे तथा पश्चिमी प्रात के नेगोम्बो के इलाके मे इसके बडे-बडे बागान है। हल्की श्वेत रेतीली मिट्टी या किंचित कठोर मिट्टी इसके लिए अनुकूल पडती है, और क्यारियो मे बीज बोकर और फिर नवपादपो

का प्रतिरोपण कर इसका प्रवर्धन किया जाता है। प्रतिरोपण के बाद दूसरे या तीसरे वर्ष मे इनका स्थूण कर्तन किया जाता है ताकि प्ररोह निकले, जिनमे से केवल ५ या ६ को दो वर्ष तक, या तब तक, जबतक कि छाल पर कार्क की परत जमने से वह भूरे रग का न हो जाय, बढने दिया जाता है। ये प्ररोह जब ६-८ फुट ऊचे और ० ५-२ इच के व्यास के हो जाते है तो इनमे छाल निकाली जाती है। ये (सूखने पर पतली छडियो (क्विल) के रूप मे बेची जाती है जिनमे अनेक अत्यत पतले और भगुर क्विल होते है जिनके भीतरी सतह पर बहुधा खडी धारियो के निशान होते है। इनके साथ भारतीय कैसिया लिग्निया (सिन्नामोमम तमाला) आदि की अपेक्षाकृत अधिक रुक्ष मोटी, एव कम सुवास वाली छाल का बहुधा अपमिश्रण किया जाता है।

दालचीनी का औषधि मे केवल एक सीमित मात्रा मे ही उपयोग किया जाता है। इसमे वातानुलोमक, स्तम्भक एव क्षुधावर्धक गुण होते है और आत के विकारों के लिए दी जाने वाली अनेक औषधियो मे यह एक घटक होता है। दांत दर्द और तन्त्रिकार्त्ति (neuralgia) मे इसका बाह्य प्रयोग किया जाता है, किन्तु इसका सर्वाधिक उपयोग मसाला या व्यजन के रूप मे किया जाता है। क्योकि इसमे एक वाष्पशील तेल होता है जो रसदार व्यजनो को मनोरम सुवास देता है।

रासायनिक सरचना तथा आर्थिक पक्ष

दालचीनी तेल में वाष्पशील तेल (० ८-१ ४ प्रतिशत), फ्लोबाटैनिन, म्युसिलेज, कैल्सियम ऑक्ज़ेलेट और स्टार्च विद्यमान रहते है। इस तेल का प्रमुख घटक सिन्नामिक ऐल्डिहाइड है यद्यपि फिलैण्ड्रीन, पाइनीन, लिनैलूल, कैरियोफिलीन, युजिनॉल आदि भी इसमें सूक्ष्म मात्रा मे रहते है। ब्रिटिश भेषजकोष मे ऐल्डिहाइड की मात्रा—५५-६८ प्रतिशत तक सीमित कर दी गयी है, किन्तु असली तेल मे इसकी मात्रा ७५ प्रतिशत तक हो सकती है। पत्तियो से भी, आसवन करने पर एक काले रग का तेल मिलता है, जो सिन्नामान छाल के तेल से बहुत भिन्न होता है। इसमे एक गध होती है जो लवग के गध से मिलती जुलती है और बडे अनुपात मे (७०-८० प्रतिशत) युजिनॉल होता है तथा सिन्नामिक ऐल्डिहाइड, पाइनीन, लिनैलूल आदि का सूक्ष्म अश होता है।

दालचीनी की कृषि का प्रमुख केन्द्र श्री लका है जहाँ इसके उत्पाद का बडा व्यापार होता है जो निम्नलिखित आकडो को देखने से स्पष्ट हो जायगा। १९१९ ई० और १९२० ई० मे कितनी भूमि इसकी कृषि के अन्तर्गत थी और इसके उत्पादो का कितना निर्यात हुआ यह नीचे के आकडो से विदित हो जायगा।

	क्षेत्रफल (एकड)	छाल (पौंड)	छाल का तेल (औंस)	पत्ती का तेल (औंस)
१९१९	३५,०८३	७७,००,५६०	६६,७७३	२,२९,९२८
१९२०	३४,६६२	३९,३३,५५२	७३,२४६	२,६५,९७६

तब से निर्यात व्यापार बहुत कम हो गया है १९२६ ई० मे केवल २५,००० एकड भूमि पर इसकी कृषि की गयी थी, और ४८३,००० पौण्ड छाल बिकी थी जिसके अन्तर्गत १३,३०,००० पौण्ड ऐसी कतरने थी जिनका आसवन के लिए उपयोग नही किया जा सकता था। इसका कारण शायद यह है कि पहले तेल चर्वण निर्यास (Chewing gum) और चाकलेट के घटक के रूप में औद्योगिक पैमाने पर प्रयुक्त किया जाता था, किन्तु अब सिन्नामिक ऐल्डिहाइड जैसे स्थानापन्न पदार्थ सस्ता होने के कारण प्रयुक्त किये जाते है। इसके अतिरिक्त, सिन्नामन की उपज केवल प्रति एकड ५० से १०० पौण्ड होती है, जब कि नारियल (खोपडे) की १००० से २००० पौण्ड और चाय की ४०० से ६०० पौण्ड। इसलिए दालचीनी की कृपि की लोकप्रियता बहुत घट गयी है और नेगेम्बो जिले के बहुत से बागान जहाँ केवल दालचीनी पैदा की जाती थी, वहाँ अब धीरे धीरे नारियल की कृषि को स्थान मिलता जा रहा है। किन्तु १९४८ ई० मे इसकी कृषि की भूमि मे कुछ वृद्धि हो गयी और ३३०७७ एकड भूमि इसकी खेती के अन्तर्गत रही। १९४६ ई० मे श्री लका से ६०,००० हडरवेट (छाल) क्विल, १०,००० हडरवेट (छाल) कतरने, १३,०००औस छाल के तेल और ११,५६,००० औंस पत्ती के तेल का निर्यात हुआ।

दक्षिण भारत मे इसकी कृषि कभी बडे पैमाने पर नही हुई और इसकी उपज साधारणत आन्तरिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे ही व्यवहृत हो जाती थी। इसकी पत्तियो का तेल थोडी मात्रा मे उत्तरी एव दक्षिणी कर्नाटक मे एव मलाबार मे पैदा किया जाता था, जिसका निर्यात कर दिया जाता था। आसवन करने से हरी पत्तियो से लगभग १ प्रतिशत काला तेल निकलता है। इस हेतु तीक्ष्ण एव तिक्त सिन्नामन की पत्तियो को, आशिक रूप से जल पूर्ण मिट्टी के वर्त्तनो मे, कसकर भर दिया जाता है और तब उनका आसवन किया जाता है। पानी के तापमान को कभी भी क्वथनाक तक नही जाने दिया जाता और आसवन मे १६ घण्टे लग जाते है। सघनित्र मे एकत्र तेल पानी से अधिक भारी होने के कारण, तल मे बैठ जाता है और ऊपर से जलाच्छादित होने के कारण, वाष्पीभूत नही हो पाता। श्रीलका मे पत्तियो को आसवन से पहले समुद्र जल से मसृणित किया जाता है। दक्षिण कर्नाटक मे पत्तियो के वजन का ० ७५ प्रतिशत तेल उपलब्ध हो जाता है। उत्तर मैंगलोर डिवीजन में तेल

का औसत वार्षिक उत्पादन लगभग ३,६०० पौण्ड होता है। दालचीनी की पत्तियों का तेल, युजिनॉल की मात्रा (८०-९५ प्रतिशत) की दृष्टि से लवग के तेल के समकक्ष ठहरता है, क्योंकि युजिनॉल के रहने से ही यह परिमल एव नागर (flavorning) उद्योगो के लिए बड़ा उपयोगी हो जाता है। इसके फलो से भी कुछ औषधीय तेल प्राप्त होता है।

भारत मे दालचीनी की कृषि की सम्भावनाएँ इस समय आशाप्रद नही है। श्रीलका की दालचीनी के छाल का तेल निश्चित रूप से श्रेष्ट कोटि का होता है और बाजार मे उपलब्ध सर्वोत्तम तेल होने की इसे ख्याति प्राप्त है। यदि दालचीनी की खेती यहाँ लाभप्रद नही है, तो यहाँ इसकी खेती करनेवालो को इससे कुछ आर्थिक लाभ मिल सकता है। सिन्नामोमम जीलैनिकम को सिंचिलिग में भी उपजाया गया है, किन्तु उससे प्राप्त तेल भारतीय दालचीनी के तेल से भिन्न और निम्न कोटि का होता है।

संदर्भ :—

(1) Parry, 1921, *The Chemistry of Essential Oils and Artificial Perfumes*, (2) Finnemore, 1926 *The Essential Oils*, (3) Schimmel & Co , 1928, *The Report*, (4) *Wealth of India , Raw Materials*, 1950, II. 178, (5) *Bull Imp Inst Lond* , 1921, 19, 319, (6) Chowdhry, 1944, *Ind. Farming* 5, 563, (7) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*

सिट्रुलस कोलोसिन्थिस (कुकरबिटेसी)

Citrullus colocynthis Schrad (Cucurbitaceae)

पर्याय —कोलोसिन्थिस वल्गेरिस (Colocynthis vulgaris Schrad)

नाम —स० महेन्द्रवारुणी, उर्दू—इन्द्रायन, हि० और म०—इन्द्रायण, माकाल, गु० इन्द्रावण, इन्द्रायन, इन्द्रावण, म०—कडूवृन्दावन, इन्द्रावण, त० पेयत्तुम्मट्टी, वेरित्तुम्मट्टी, ते० एतिपुच्छा, पापरबुडम, क०—पाहामेक्कै कायि, तुम्तीकायि, मला० पेयकोम्मुट्टि।

इन्द्रायण सम्पूर्ण भारत मे विस्तृत रूप से पायी जाती है। यह भारत के शुष्क पश्चिमोत्तर प्रान्तो मे तथा मध्य और दक्षिणी भारत मे प्रकृति अवस्था मे उगती है और पजाब एव सिंध में तथा कारोमण्डल के तटवर्ती क्षेत्रो मे सामान्य रूप से पायी जाती है। इसके फल जाड़ो मे पकते हैं और उत्तरी भारत मे दिसम्बर और जनवरी के महीनो मे जडी बूटी बेचने वाले इसकी बिक्री करते है। भारत मे साधारणतया

मूल और सम्पूर्ण फल, बीज निकाल कर उपयोग मे लाये जाते है, जब कि ब्रिटिश भेषजकोश मे केवल गूदे को मान्यता दी गयी है। भारतीय इन्द्रायण की किस्मे आयातित किस्मो से कुछ भिन्न होती है, और वे प्राय गोलाकार सतरे के फलो के बराबर या उनसे कुछ छोटे होते है, तथा उनके बाहरी पृष्ठ पर हरित और पीताभश्वेत चित्तियाँ विद्यमान रहती है। बाजार मे सिट्रुलस कोलोसिन्थिस के स्थानापन्न द्रव्य पाये जाते है, उत्तरी भारत के पहाडी क्षेत्रो मे कुकुमिस ट्राइगोनस, (*Cucumis trigonus*), कुकुमिस स्यूडोकोलोसिन्थिस (*C pseud-colocynthis*) एव कुकुमिस हार्डविकाई (*C hardwickii*) प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होते है और इनके फल प्राय इन्द्रायण के फलो मे अपमिश्रित कर बेचे जाते है। वे चिकने और आकार में दीर्घायत (oblong) होते है और इस प्रकार उनमे इन्द्रायण के गोल फलो से भेद किया जा सकता है। इन्द्रायण की कृषि व्यवस्थित रूप से भारत मे कही भी नही की जाती, सिवाय सूरत एव कराची के जहाँ पर इनकी खेती अपोढ बालू (सैंडड्रिफ्ट) को रोकने के लिए केवल प्रायोगिक स्तर पर की जाती है।

फल जब ताजा रहता है तो इसका गूदा रस से युक्त तथा स्पन्जी होता है, किन्तु जब सूख जाता है तब यह पीले सफेद रग का हो जाता है और अन्दर का गूदा पीताभ रग का तथा परिमाण मे कम हो जाता है। गूदा छिलके से चिपके रहने के कारण कठिनाई से अलग होता है इसलिए भारतीय इन्द्रायण बाजार मे छिलका-रहित शायद ही पाया जाता है जो कुछ भी छिलका-रहित इन्द्रायण बाजार मे पाया जाता है वह भूमध्यसागरीय तट से आयात किया जाता है। शुष्क फल के १०० ग्राम मे गूदा, बीज और छिलका का अनुपात क्रमश १५ ६२ २३ होता है। औसतन १२-१५ प्रतिशत शुष्क गूदा फल से उपलब्ध होता है। पौधे के सभी भाग अत्यन्त तिक्त होते है और उनमे ऐल्केलॉयड तथा कोलोसिन्थिन नामक तत्त्व सूक्ष्म अश मे पाये जाते है।

इन्द्रायण भारतीय चिकित्सा मे व्यवहृत होने वाला एक प्राचीन भेषज है। ऐसा उल्लेख किया गया है कि इसका फल विरेचक होता है और वह पैत्तता (Biliousness) मलबन्ध, ज्वर मे लाभकारी तथा आन्त्र परजीवियो को नाश करने मे सक्षम होता है। अधिक मात्रा मे सेवन करने से यह अत्यधिक मरोड, अवसन्नता और कभी कभी रक्तयुक्त आस्राव उत्पन्न करता है। इसके जड का प्रयोग जलोदर, कामला, मूत्र-विकारो एव आम बात मे होता है। यूनानी हकीम इस औषधि का उपयोग तीव्र विरेचन के लिए जलोदर, कामला और भिन्न-भिन्न गर्भाशय सम्बन्धी रोगो, विशेषत अनार्त्तव में करते है। रोमन और ग्रीक चिकित्सा मे भी इस औषधि का उल्लेख है।

सामान्य मात्रा मे भी इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है, केवल अन्य विरेचक औपधियो की सहायक औषधि मे ही इसका उपयोग है ।

रासायनिक सघटन . भारतीय और यूरोप की इन्द्रायणो के सघटन मे रासायनिक दृष्टि से वस्तुत कोई भेद नही है दोनो का शरीरक्रियात्मक प्रभाव अपने ऐल्केलॉयड एव तिक्त तत्त्व कोलोसिन्थिन के कारण होता है । ऐल्केलॉयड बहुत ही थोडी मात्रा मे रहता है और इसको शुद्ध रूप मे पृथक नही किया जा सका । भारतीय इन्द्रायण के नमूने का रासायनिक विश्लेषण कलकत्ता के "ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन" मे किया गया था जिसका परिणाम निम्नलिखित है ।

		गूदा	सम्पूर्ण फल (शुष्क)
पैट्रोलियम ईथर	सत्व	० ६१	१ ३६
सल्फ्यूरिक ईथर	सत्व	३ १७	२ ०४
ऐल्कोहॉली	सत्व	१० ९०	१२ १५

सामान्यत तिक्त तत्त्व की मात्रा सूखे गूदे मे दो प्रतिशत से कम नही होती जो ब्रिटिश भेषजकोश मे दिये मानक के अनुसार ठीक पाया जाता है । जिस पदार्थ को हम कोलोसिन्थिन (सिट्रुलिन) के नाम से जानते है, और जिसे ग्लाईकोसाइड माना जाता रहा है, वह अब एक ऐल्केलॉयड तथा क्रिस्टलीय ऐल्कोहॉल, सिट्रुलाल का एक मिश्रण पाया गया है । गूदे मे अल्फा-इलैटेरिन, हेण्ट्रियाकोण्टेन, एक फाइटोस्टेरॉल एव वसीय अम्लो का एक मिश्रण भी पाया जाता है ।

इन्द्रायण का उपयोग चिकित्सा मे तीव्र विरेचन के लिए होता है, ठोस सत्त्व के रूप मे यह आधुनिक औपधि निर्माण की बहुत सी विरेचन की गोलियो (पिल्स) मे भी व्यवहृत होती है । यद्यपि भारत में इन्द्रायण का उपयोग पर्याप्त मात्रा मे होता है, तथापि इसके फल और इससे बनी औपधियाँ बहुत बडी मात्रा मे प्रतिवर्ष यूरोप, अरब और सीरिया मे मँगाई जाती है । स्पेन और साईप्रस मे इन्द्रायण के फलो की खेती विशेपत बाहर भेजने के उद्देश्य से की जाती है । वास्तव मे आयातित इन्द्रायण फल और ठोस सत्त्व यहाँ बाजारो मे भारतीय इन्द्रायण से बनी औपधि की अपेक्षा अधिक मिलता है । फल और बीज कभी-कभी अफ्रीका के कुछ भागो मे आहार के लिए काम मे आते है । बीजो मे भी एक ऐल्केलॉयड, पोलीसैकेराइड या ग्लाइकोसाइड, एव एक या एक से अधिक एन्जाईम (जो बीटा-ग्लाइकोसाइडो और टैनिन का अपचयन करता है) पाया जाता है । सक्रिय तिक्त तत्त्व मे से पीतवर्ण का एक क्रिस्टलीय पदार्थ बहुत थोडी मात्रा मे पृथक किया गया है जो १७६° से० पर गलता है ।

सन्दर्भ :—

(1) Power and Moore, 1910, *J. C S Trans*, 99, (2) Chopra *etal*, 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770, (3) *Wealth of India*, *Raw Materials*, 1950, II 185, (4) Badhwar and Griffith, 1946, *Ind For*, 72, 64, (5) Agarwal and Datt, 1934, *Curr Sci*, 3,250, (6) Alimchandani *et al* 1949, *Jour Ind Chem Soc*, 26, 515, 519

सिट्रस औरैन्शिफ़ोलिया (रूटेसी)

Citrus aurantifolia (Christm.) Swingle (Rutaceae)

पर्याय:—सिट्रस मेटिका वैराइटी ऐसिडा (*Citrus medica* var *acida*)

कागजीनीबू वृक्ष—The Lime Tree

नाम—हिं० कागजी निम्बु, ब०—कागजी निम्बु, पाती नेबू, गु०—खाटालिम्बु, त०—एल्युमिच्ची, ते०—निम्मू, कन्न०—लिम्ब, निम्ब, मल०—एरुनी चिनारकम।

सिट्रस लिमन (रूटेसी)

Citrus limon (Linn.) Burm. (Rutaceae)

पर्याय.—सिट्रस मेडिका वैराइटी लिमोनम (*Citrus medica* var *limonum*)

नाम—हिं०—बडानीबू, जम्बीरा, पहाडीनिम्बु, पहाडीकागजी, ब०—बडानेबू, गोरा नेबू, गु०—मोटुलिम्बु, म०—इडलिम्बु, थोरालिम्बु, कन्न०—बीजपूरा, बिजोरी, त०—पेरिया येलूमिचई, ते०—बीजपूरम।

जमीरीनीबू वृक्ष—The Lemon Tree

नीबू के रस मे प्रतिस्कर्वी गुण होने के कारण नीबू का फल चिकित्सा मे अतिशय प्रसिद्ध है, प्राय सब देशो मे यह भोजन का आवश्यक अग समझा जाता है। चिकित्सा एव सुगन्ध मे नीबू का विशेष महत्व है। ताजे नीबू के बाहरी फलभित्ति से एक पीले रग का कडुवा, वाष्पशील, सुगन्धित तेल निकाला जाता है। चिकित्सा मे इसका मूल्यवान उपयोग सुवासक, वातानुलोमक और क्षुधा-वर्धक गुण के लिए होता है। हिमालय की उष्ण घाटियो मे नीबू स्वत जगली रूप मे भी उत्पन्न होता है। मैदानो मे ४००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती की जाती है। छोटा कागजी नीबू भारतवर्ष मे सर्वत्र उगता है। विभिन्न आकार के छोटे, बडे तथा रग मे भिन्न-भिन्न नीबू प्राय सर्वत्र ही मिलते है। मद्रास मे १७,००० एकड मे इसकी खेती होती है, जो सबसे अधिक है। बम्बई, बगाल, पजाब, मध्यप्रदेश,

हैदराबाद, दिल्ली, पटियाला, उत्तरप्रदेश, मैसूर और बडौदा मे भी यह पैदा होता है। पहाडी नीबू या जम्बीरी नाम से प्रसिद्ध बडा नीबू एक ही सजाति का है, परन्तु आकार मे बडा होने से और खुरदरी, पतली और ढीली त्वचा रहने के कारण कागजी नीबू (Lime) से भिन्न है। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश मे जगली नीबू का वृक्ष स्वत उत्पन्न होता है, जो ४,००० फुट की ऊंचाई पर होता है। नीबू घरेलू वगीचो मे भी लगाया जाता है। उत्तरप्रदेश, वम्वई, मद्रास, मैसूर मे छोटे नीबू वोये जाते है। हर तरह की मिट्टी और ऊँचाई पर यह उत्पन्न होता है। सिंचाई वाली एव वरसात पर निर्भर करने वाली दोनो प्रकार की भूमि मे यह खूब उग सकता है।

इन फलो की खेती पर ससार के दूसरे भागो मे जितना ध्यान दिया गया है, उसकी अपेक्षा भारत मे वहुत कम ध्यान दिया गया है। नीबू का उद्योग सिसली मे वहुत अधिक उन्नति पर है, और इससे कुछ कम कैलेब्रिया (इटली) मे है। परन्तु इसके वृक्ष संसार के वहुत से भागो मे प्रचुर रूप से उत्पन्न होते है, विशेषत स्पेन, पुर्तगाल, फ्रास, कैलिफोर्निया, फ्लोरिडा, वेस्टइण्डीज और न्यू साउथवेल्स मे। नीबू का रस, नीबू का तेल और इससे वननेवाली दूसरी वस्तुएँ जैसे—साइट्रिक अम्ल, साइट्रस पेक्टिन आदि वहुत वडी मात्रा मे भारत मे अन्य देशो से आयात की जाती है। १००० से १५०० गैलन नीबू का तेल सामान्यत प्रतिवर्ष भारत मे दूसरे देशो से समुद्रमार्ग से आता है, जिसका मूल्य लगभग ५०,००० से ६०,००० रुपये होता है। नीबू के रस, शर्वत तथा इससे वने अन्य पेय का किस मात्रा मे आयात होता है, कोई निश्चित लेखा-जोखा नही है। इसमे कोई सन्देह नही कि वडी मात्रा मे ये वस्तुएँ आयात होती है। गुण की दृष्टि से भारतीय नीबू का छिलका, सिसली मे आने वाले नीबू के छिलके के समान ही होता है और यह अनुमान लगाया गया है कि यदि भारतीय नीबू से तेल निकाला जाय तो, व्यापारिक दृष्टि से यह असफल नही होगा। कागजी नीबू मे वाष्पशील तेल की मात्रा वडे नीबू की अपेक्षा कम रहती है, परन्तु कागजी नीबू मे रस और साइट्रिक अम्ल की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक रहती है। १०० घ० सेमी० कागजी नीबू के रस मे साइट्रिक अम्ल की औसत मात्रा ५ ९ प्रतिशत होती है, जब कि वडे नीबू के इतने ही रस मे ३ ७ प्रतिशत होती है। इससे स्पष्ट है कि यदि वडे नीबू के उत्पादन का कार्य वहुत वडे पैमाने पर प्रारम्भ किया जाय तो यह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होगा। नीबू का उत्पादन कठिन नही है, इसके लिए आर्द्र और छायादार जलवायु चाहिये, जहाँ शुष्क तथा वृद्धिप्रद वायु और पर्याप्त धूप उपलब्ध हो। ऐसी परिस्थितियाँ भारत

मे सुलभ है और इसके लिए अधिक खर्च की भी जरूरत नही। यदि ठीक प्रकार से भूमि का चुनाव किया जाये तो समुचित सीचने की व्यवस्था भी हो सकती है। कतिपय कृषि शास्त्र के विशेषज्ञो ने घाट की पर्वत श्रेणियो के जलोत्सारित निचले प्रदेशो मे इसकी खेती के लिए सुझाव दिया है। उनके इस सुझाव पर गम्भीरता से और भलीभाँति विचार करना चाहिये। वास्तव मे भारतवर्ष मे इसकी खेती की जो परिस्थितियाँ विद्यमान है वे किसी भी अवस्था मे कैलिफोर्निया, फ्लोरिडा और न्यू साउथवेल्स की परिस्थितियो से कोई बुरी नही है, इन सब जगहो मे नीबू की खेती अभी हाल मे प्रारम्भ की गयी है और शीघ्रता से बढी है। 'कैलिफोर्निया फ्रूट ग्रोवर्स एक्सचेन्ज', जो वहाँ नीबू के उद्योग का नियत्रण करता है, की रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि सहकारिता के प्रयास से एव आधुनिक वैज्ञानिक कृषि के उपकरणो के प्रयोगो से कितनी अधिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। वर्ष के लगभग ४ महीनो मे कैलिफोर्निया मे कुहरा छाया रहता है जो कि नीबू की खेती के लिए हानिकारक है। कुहरे के समय कृत्रिम ऊष्मा से फल के बगीचो को ताप पहुँचाकर नीबू की फसल को कुहरे से होनेवाली हानियो से बचाया जा सकता है। यदि इन देशो मे ऋतु के प्रतिकूल होने पर भी नीबू का उद्योग इतने बडे रूप मे पनप सकता है, तो यह समझ मे नही आता कि इसकी खेती भारत में बडे पैमाने पर क्यो नही को जा सकती और क्यो नही कच्चे माल और उसके उपलब्ध उपोत्पाद का उपयोग यहाँ किया जा सकता।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (3) *Year Book of Agriculture*, 1930, U S A Publication, (4) *Wealth of India*, Raw Materials, 1950, II, 188, (5) *Agric Marketing in India, Report. Marketing Citrus Fruits*, 1943, 43, 12

कॉल्चिकम ल्यूटियम (लिलिएसी)

Colchicum luteum Baker (Liliaceae)

भारतीय कॉल्चिकम

नाम —स०—हिरण्यतुथा, हि०—हिरन-तूतिया, सूरिन्जान, उर्दू—सूरिन्जाने तल्ख, प०—सूरञ्जान-इ-तल्ख

कॉल्चिकम ऑटम्नेल के घनकन्द (कार्म) और बीज ब्रिटिश भेषजकोष मे मान्य है, और पाश्चात्य चिकित्सा मे गाऊट की उत्कृष्ट औषधि के रूप में इनका अत्यधिक उपयोग होता है। यह पौधा मध्य यूरोप मे सब स्थानो में पाया जाता है, परन्तु भारत

मे नही मिलता। अनेको वार प्रयत्न किया गया कि यह स्पीशीज भारत मे उत्पन्न हो सके, परन्तु इसमे बहुत कम सफलता मिली। यद्यपि कॉल्चिकम ऑटम्नेल भारत मे उत्पन्न नही होता तथापि इसका अच्छा स्थानापन्न द्रव्य कॉल्चिकम ल्यूटियम के रूप मे प्राप्य है। यह पश्चिमी शीतोष्ण हिमालय में बहुत अधिक तथा मरी से लेकर कश्मीर एव चम्बा तक खुली चरागाह वाली भूमि मे या जगलो की वाहरी सीमा पर मिलती है। अफगानिस्तान एव उत्तरी भारत मे इस औषधि की बहुत ख्याति है। इसका काला, भूरा-सूखा सत्त्व, छोटे छोटे टुकडो के रूप मे, जो इसके घनकन्द से तैयार किया जाता है, वाजार मे पसारियो के यहाँ मिल सकता है।

कृषि :

इस पौधे को पैदा करने के लिए इसके बीजो को क्यारियो मे अथवा सदूको मे मई मास मे या उसके वाद ही बोकर मिट्टी से हल्का ढँक दिया जाता है और ऊपर से छाया का प्रबन्ध कर दिया जाता है। बीज अकुरित होने मे कभी कभी वहुत समय लेते है। वेहन जब एक साल का हो जाता है, तब उनको ३ फुट के अन्तर मे खेतो मे रोप दिया जाता है। घनकन्द का सग्रहण पौधो के २ साल का होने पर प्रारम्भ होना है। कश्मीर की घाटी, ऊरी, दोमेल, किस्तवार और बध्रवाह की पहाडियो मे घनकन्द जून और जुलाई मे सग्रह किया जाता है और वार्षिक सग्रह लगभग ५०-१०० मन आँका जाता है।

भारत के वाजारो मे सामान्यत इसकी दो किस्मे विकती है—एक मीठी और दूसरा कडुई। कडुई किस्म कॉल्चिकम ल्यूटियम है, जिसमे कॉल्चिसीन ऐल्केलॉयड पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहता है। मीठे किस्म के सुरञ्जान मे भी एक ऐल्केलॉयड की अत्यल्प मात्रा रहती है, परन्तु वह सक्रिय नही होता। कॉल्चिकम ल्यूटियम वा सुरञ्जानेतल्ख को, मीठे किस्म की सुरञ्जाने शीरी से, इसके कटु स्वाद द्वारा एव आकार मे छोटा, काले रग का तथा घनकन्द के जालिका रूपी (reticulated) होने से भेद कर सकते है। घनकन्द काट मे कुछ शकुवत या चौडा अडवत या लम्बा तथा समतल-उत्तल (plano-convex), रग मे भूरा या भूराधूसर और पारभासी या अपारदर्शक होते है। समतल पार्श्व पर लम्वाई मे एक नाली (groove) रहती है। पृष्ठ भाग पर लम्वाई मे अनिश्चित और अनियमित धारियाँ होती है। ताजे घनकन्द की लम्वाई १५-३५ मिमी और व्यास १०-२० मिमी होती है। सूखे घनकन्द सुगमता से टूट जाते है, विभग (fracture) भुरभुरा होता है, विभजित सतह श्वेत एव मण्डमय होता है घनकन्द गध रहित तथा स्वाद में कडुआ और तीक्ष्ण होता है।

अरब के लोगो को इसका चिकित्सीय गुण अच्छी प्रकार ज्ञात था। कश्मीर हर्मोडैक्टाइल या सुरञ्जाने तल्ख का उपयोग, विशेषत गठिया आमवात तथा यकृत और प्लीहा के रोगो में पहले एव आज भी यूनानी हकीम रसायन एव मृदुविरेचक के रूप में करते हैं, गठिया मे इसको मुसव्वर के साथ में और वाजीकरण के लिए सोठ और पिप्पली के साथ मे देते हैं। आमवातजन्य या अन्य सूजन पर इसको केसर एव अण्डे के साथ मिलाकर लेप के रूप मे लगाते हैं। क्षताकन (Cicatrization) बढाने के लिए इसकी जड का चूर्ण व्रणो पर छिडका जाता है। हिरण्यतुथा या हिरन तूतिया अफगानिस्तान तथा उत्तरी भारत मे एक ख्यातिलब्ध औषधि है—यह काला, भूरा, सूखा सार है जो कॉल्चिकम ल्यूटियम तथा अन्य जातियो के जलीय सार से तैयार किया जाता है। भारतीय चिकित्सा में तूतिया (copper sulphate) और कॉल्चिकम ल्यूटियम की जड से बनाये आँख के अजन के लिए 'तुथम' या 'तुत्ताञ्जन' शब्द आता है। कॉल्चिकम ल्यूटियम के घनकन्दो को मीठे किस्म वाले सुरञ्जान अथवा एक दूसरे पादप नार्सिसस तजेता (*Narcissus tazetta*) के घनकन्दो से प्राय अपमिश्रित किया जाता है। नार्सिसस तजेता फारस में प्रचुर परिमाण मे उगता है और ऐसा समझा जाता है कि इसके गुण भी सुरञ्जान के समान ही है। एक किस्म, जिसे कॉल्चिकम स्पेसिओसम (*C speciosum* Stev) नाम से जाना जाता है, सामान्य रूप से बडघिस और खुरासान मे उत्पन्न होता है और वहाँ से भारत मे आता है। भारतवर्ष के बाजारो मे सुरञ्जान के बीज प्राय नही बेचे जाते। डाइमाक, वार्डन और हूपर (१८९३) के अनुसार लाहौर से प्राप्त कडवे सुरञ्जान मे ईथर का सार जिसमें ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है, १ ३१ प्रतिशत पाया गया, और फारस से प्राप्त मीठे सुरञ्जान (Merendera persica) मे ० ६९ प्रतिशत पाया गया। कॉल्थिकम ल्यूटियम के घनकन्द की परीक्षा 'कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' मे की गयी। वे देखने मे अपने साधारण आकृति में कॉल्चिकम आटम्नेल के घनकन्दो से मिलते-जुलते हैं। रासायनिक विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि इनमें भारी मात्रा में स्टार्च, लघुमात्रा मे तैलीय रेजीनी पदार्थ तथा एक तिक्त ऐल्केलॉयड पाया जाता है। अमेरिकी भेषजकोश मे निर्धारित आमापन विधि से आमापन करने पर पाया गया कि कॉल्चिकम ल्यूटियम के हवा मे सुखाये गये घनकन्दो मे ऐल्केलॉयड ०.२१ से ० २५ प्रतिशत की मात्रा में होता है, तथा बीजो मे ० ४१ से ०.४३ प्रतिशत की मात्रा मे। इसके प्राप्त ऐल्केलॉयड मे वही गुण होते है जो मान्यता प्राप्त कॉल्चिकम आटम्नेल के ऐल्केलॉयड कोल्चिसीन मे होते हैं। अमेरिकी भेषजकोश यह अपेक्षा रखता है कि घनकन्दो मे ० ३५ प्रतिशत ऐल्केलॉयड होना चाहिये, और बीजो में ० ४५ प्रतिशत। किन्तु ब्रिटिश

भेषजकोश मे इस सम्बन्ध मे कोई मानक नही निर्धारित किया गया है। उसमे केवल इतनी ही सिफारिश की गयी है कि बीजो का उपयोग टिंक्चर तैयार करने के लिए किया जाना चाहिये तथा घनकन्द का उपयोग कॉल्चिकम का सार या मदिरा तैयार करने के लिए। ऐल्केलॉयड कोल्चिसीन पर उच्च तापमान का दुष्प्रभाव पडने की सम्भावना रहती है इसलिए घनकन्दो को ग्रीष्म के आरम्भ मे ही सग्रहीत कर लेना चाहिये और ६५° से नीचे के तापमान पर सुखा लेना चाहिये। इस निर्देश की ओर ध्यान देने से ऐल्केलायड की मात्रा मे वृद्धि की सम्भावना रहती है। कॉल्चिकम ल्यूटियम के सूखे बीज भूरे, श्वेत रग के अण्डाकार अथवा अनियमित रूप से गोल (व्यास २-३ मि मी), गन्धहीन एव तिक्त होते है। ये औषधीय होते है और सार या टिक्चर के रूप मे इनका उपयोग उन्ही प्रयोजनो के लिए किया जाता है जिनके लिए इनके घनकन्दो का किया जाता है। बीज आम तौर से भारतीय बाजारो में नही बिकते। भारतीय काल्चिकम के घनकन्दो मे पर्याप्त स्टार्च तथा ऐल्केलॉयड कोल्चिसीन (सूखे घनकन्द का ० २१—० २५ प्रतिशत) रहता है। बीजो मे ० ४१ से ० ५३ प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहता है।

कॉल्चिसीन का गुण-कर्म · मुख्य ऐल्केलॉयड कॉल्चिसीन $C_{22}H_{25}O_6N$ पीत पत्रक, क्रिस्टल के रूप मे, अथवा श्वेताभ पीत रवाहीन पाउडर के रूप मे पाया जाता है, और जब उसे आर्द्र करके गरम किया जाता है तो वह सूखी घास की तरह की एक गन्ध देता है। यह स्वाद मे बडा कडुवा होता है और प्रकाश मे खुला रखने पर कुछ काले रग का हो जाता है। तनु खनिज अम्ल या क्षार मे उबालने पर यह जलापघटित हो जाता है और इससे मेथिल ऐल्कोहाल तथा कॉल्चिसाइन (colchiceine) ($C_{21}H_{23}O_6N$) प्राप्त होते हैं। इसका प्रभाव बहुत कुछ उसी प्रकार का होता है जैसा कॉल्चिसीन का, किन्तु कॉल्चिसीन अधिक सक्रिय और विषालु होता है। बडी मात्राओ मे लेने पर कॉल्चिसीन आन्त्रशूल तथा प्रवाहिका पैदा करता है और वमन लाता है। अपरिष्कृत भेपज से तथा कॉल्चिसीन से निर्मित औषधियाँ सैलिसिलेट के रूप मे गाउट के उपचार मे प्रयुक्त की जाती हैं। इनका प्रयोग अनुभव जन्य क्लिनिकल परिणामो के आधार पर किया जाता है। इधर हाल के वर्षों मे कॉल्चिसीन का विस्तृत उपयोग पादप प्रजनन के लिए किया गया है ताकि कोशिकाओ मे बहुगुणिता (polyploidy) आ सके। इस काम के लिए कॉल्चिसीन की भिन्न भिन्न शक्ति का घोल प्रयुक्त किया जाता है और उनके प्रयोग की विधि एव अवधि मे भिन्न भिन्न पौधो के हिसाब से अन्तर रहता है। इस ऐल्केलॉयड का प्रभाव कोशिकाओ के विभाजन के समय तर्कु तत्र (spindle mechanism) पर पडता है और विभक्त गुण सूत्रो (chromosomes)

को पृथक होने से रोक देता है। ऐसा भी कहा जाता है कि कैसर की कोशिकाएँ इस ऐल्केलॉयड के प्रभाव से एक्स-किरणो से शीघ्र प्रभावित होती हैं सम्भवत इस कारण से कि ऐल्केलॉयड सूत्री-विभाजन (mitosis) पर प्रभाव डालता है। उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा कि कॉल्चिकम ल्यूटियम या सुरन्जाने-तल्ख के बीज और घनकन्द जो बाजार मे मिलते हैं वे औषधीय प्रयोजनो के लिए कॉल्चिकम ओटम्नेल के बीज और घनकन्दो के स्थान पर प्रयुक्त किये जा सकते है। इस पादप को अब 'इण्डियन फारमाकोपियल लिस्ट' मे मान्यता मिल गयी है, तथा ब्रिटिश भेषज-कोश मे इसे स्थानापन्न द्रव्य के रूप में मान्यता मिल गयी है।

सन्दर्भ :—

(1) Datt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) Chopra *et al*, 1929, *Ind. Jour. Med, Res*, 16, 770, (3) *Wealth of India Raw Materials*, 1950, II, 307, (4) Henry, T A, 1949, *The Plant Alkaloids*, (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 151, (6) Chandra Sekharan, S. N and Parthasarathy, S V, 1948, *Cytogenetics and Plant Breeding*, (7) Chopra, R N, Kapoor, L D., Handa, K L, and Chopra, I C, 1947, *Jour. Sci Indust Res*, 6, 480, (8) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946

डाटूरा स्ट्रैमोनियम (सोलैनेसी)

Datura Stramonium Linn. (Solanaceae)

पर्याय :—डाटूरा टैटुला (*Datura tatula* Linn)
जिम्सन वीड, स्टिक वीड, मैडऐपुल, थार्न ऐपुल, स्ट्रैमोनियम

नाम—स०—धतूरा, उन्मत्त, कनक, शिवप्रिय, हिं०, ब, म० और गु०—धतूरा, सादा धुतूरा, त०, ते०, कन्न० और मल०—उम्मत्ता, प०—ततुर, दतुरा।

प्राचीन भारतीय वैद्यो को धतूरे का ज्ञान था। वे इस भेषक को मादक, वमन-कारक, पाचक और विरोहण (healing) मे उपयोगी मानते थे। वैदिक काल के लोग यह जानते थे कि इसके बीजो का धूम्रपान दमा के उपचार के लिए उपयोगी है। इसकी विषालुता का ज्ञान लोगो को भलीभाँति था और साहित्य मे तो आत्महत्या एव मानव-हत्या के उद्देश्य से इसके प्रयोग का बहुधा उल्लेख मिलता है। धतूरे की सूखी पत्तियो एव फलो का उल्लेख ब्रिटिश एव अमेरिकी भेपजकोशो मे श्वासरोग एव कुकुरखाँसी आदि में उद्वेष्टरोधी (antispasmodic) के रूप मे मिलता है। इसकी

पत्तियो एव बीजो मे हाइओसियामीन, ऐट्रोपीन और हाइओसीन ऐल्केलॉयड विद्यमान रहते हैं जो सक्रिय तत्त्व है। डाटूरा स्ट्रैमोनियम भारत का देशीय पौधा है। यह हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेश मे—कश्मीर से लेकर सिक्किम तक—सर्वत्र प्रचुर मात्रा मे उत्पन्न होता है।

कृषि धतूरे की खेती के लिए खूब चूनेदार भूमि अनुकूल पडती है। वसन्त ऋतु मे इसे ३-३ फुट की दूरी पर ड्रिलो मे बोकर उपजाया जा सकता है, बाद मे उनमे से पौधे निकाल कर विरल कर दिये जाते है, ताकि पौधो की दूरी १० फुट हो जाय। धतूरे पर तुषार का बहुत हानिकर प्रभाव पडता है, इसलिए इसकी खेती के लिए छायादार स्थान अधिक उपयुक्त होता है। जब इसके फल पूर्णत परिपक्व हो जाते है पर देखने मे हरे रहते है और कुछ सूर्य के प्रकाश मे या छाये मे ही सूख गये होते है, तब समूचे पौधे को काट लिया जाता है। पत्तियो को पौधो से तोडकर अलग सुखाया जाता है। जब फल फटने लगते है तो उन्हे झकझोर कर बीजो को निकाल लिया जाता है। पत्तियो की उपज प्रति एकड १०००-१५०० पौण्ड होनी चाहिये तथा बीजो की उपज लगभग ७०० पौण्ड। नाइट्रोजेनी उर्वरक (खाद) पौधो की काफी अभिवृद्धि करता है एव पौधो में सेल्केलॉयड की भी वृद्धि करता है। कॉल्चिसीन की अभिक्रिया मे क्षुप चतुर्गुणित (टेट्राल्पॉयड) होते है, और उनमे द्विगुणित (डिप्लॉयड) पौधो की अपेक्षा ऐल्केलॉयड अधिक होते है।

भारत मे औषधि मे व्यवहृत होने वाली धतूरे की अन्य जातियाँ है डाटूरा इन्नॉक्सिआ (*D innoxia* Mill) और डाटूरा मीटल (*D metel* Linn)

डाटूरा इन्नॉक्सिआ, पर्याय—डाटूरा मीटल (*D metel* Auctt) (non Linn) यह एक स्थूल, वार्षिक क्षुप है जिसकी ऊँचाई ३-४ फुट होती है। यह वस्तुत मैक्सिको का पादप है पर अब तो दक्षिण प्रायद्वीप के पश्चिमी भागो एव भारत के कुछ अन्य भागो मे भी पैदा होता है। इस पौधे से भारी अरुचिकर, व्यापक गध निकलती है। भारत मे इसका उपयोग ठीक उन्ही प्रयोजनो के लिए किया जाता है जिनके लिए डाटूरा स्ट्रैमोनियम का। इस पौधे का महत्त्व इसलिए है कि सम्भवत यह स्कोपोलामीन ऐल्केलॉयड का स्रोत है। स्कोपोलामीन का उपयोग शल्य क्रिया और प्रसव के पूर्व निश्चेतक के रूप मे, नेत्र चिकित्सा तथा वायुयान या जलयान द्वारा यात्रा करते समय वमन आदि विकारो के शमन के लिए किया जाता है।

डाटूरा मीटल (*D metel* Linn.) पर्याय—डाटूरा फैस्चुओसा (D *fastuosa* Linn), डाटूरा ऐल्बा (*D alba* Nees), डाटूरा फैस्चुओसा वैराइटी ऐल्बा (*D fastuosa* var *alba* (Nees) C B Clarke) —यह कुछ अरोमिल बिस्तारी पौधा

है जो कभी-कभी बढकर क्षुप रूप का हो जाता है। यह सारे भारत में पैदा होता है। व्यापार के लिये यह प्राय स्वयजात (जगली) पौधो से एकत्रित किया जाता है। पहाडियो पर जून के महीने मे तथा मैदानो में जुलाई के महीने में बीज बोकर इसे उपजाया जा सकता है। पत्तियो की उपज एव ऐल्केलॉयड की मात्रा पर कटाई (Prunig) का तथा कलिका रहित कर देने का बहुत अधिक प्रभाव पडता है। काट-छाँट करने से पौधे की ऊँचाई, पत्तियो की सख्या, शुष्क भार एव ऐल्केलॉयड की मात्रा पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, पर कलिकाओ को तोड देने से इनमें वृद्धि होती है। डटूरा मीटल का प्रमुख ऐल्केलॉयड स्कोपोलामीन है। औषधि मे इसकी सूखी पत्तियो का उपयोग ठीक उसी उद्देश्य मे होता है जिस उद्देश्य मे स्ट्रैमोनियम एव बेलडोना की पत्तियो का करते है। पूर्वीय अफ्रीका में इनकी हरी पत्तियो का उपयोग कपडा रगने के लिए किया जाता है।

डाटूरा स्ट्रैमोनियम वैराइटी इनेर्मिस (*D stramonium* var *inermis*) के बीज ऑक्सफोर्ड ब्रिटेन से मगाकर परीक्षणात्मक कृषि के लिए जम्मू और कश्मीर में बोये गये और जम्मू की नर्सरी से सगृहीत की गयी पत्तियो से कुल ऐल्केलॉयड ० १८ प्रतिशत उपलब्ध हुआ जबकि यारिखा (७००० फुट) से सगृहीत की गयी पत्तियो से ० २९ प्रतिशत ऐल्केलॉयड मिला। यारिखा के स्थानीय डाटूरा स्ट्रैमोनियम से कुल ऐल्केलॉयड ० ४२ प्रतिशत उपलब्ध हुआ।

टिप्पणी :—देश की भाषाओ मे श्वेत धतूरा उसे कहते हैं जिसमे श्वेत फूल निकलते है और काला धतूरा उसे कहते हैं जिसमे रगीन फूल निकलते हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि पुष्पो का रग स्पीशीज का द्योतक नही है, एक ही स्पीशीज के पौधो मे श्वेत, नीलारुण अथवा नील पुष्प हो सकते है।

डाटूरा स्ट्रैमोनियम एव डाटूरा मीटल का रसायन और उपयोग : भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे पैदा होने वाले डाटूरा स्ट्रैमोनियम मे ऐल्केलॉयड की मात्रा मे उल्लेखनीय विभिन्नता पायी जाती है, जो ० ४७ से ० ६५ प्रतिशत तक होता है। डाटूरा मीटल के मिश्रित भारतीय बीजो मे ० २३ प्रतिशत कुल ऐल्केलॉयड उपलब्ध होता है, जिसमे मुख्यत दो भाग हाइओसियामीन का और एक भाग हाइओसीन होता है, साथ ही थोडा ऐट्रोपीन भी विद्यमान रहता है। सम्पुट (capsule) मे कुल ऐल्केलॉयड ० १ प्रतिशत होता है जिसमे मुख्यत हाइओसीन रहता है। बीजो मे ० २१६ प्रतिशत हाइओसीन, ० ०३४ प्रतिशत हाइओसियामीन और नाम मात्र का ऐट्रोपिन रहता है। डाटूरा मीटल की पत्तियाँ एव बीज भारतीय भेषजकोष द्वारा मान्य बना दी गयी थी और इससे बने

गैलेनीय (galenical) तथा अन्य योगो जैसे टिंचर, प्लास्टर आदि का बहुधा प्रयोग होता था। स्वापक तथा वेदनाहर गुणो वाली दोनो स्पीशीज तन्त्रिकार्त्ति (न्यूरैल्जिआ) में उपयोगी होते हैं और उद्वेष्टरोधी के रूप मे व्यवहृत होते है। धतूरा मे बेलाडोना के सदृश ही गुण रहता है। दमा का दौरा रोकने के लिए इसकी पत्तियो का सिगरेट बनाकर पीया जाता है। पार्किन्सनता (Parkinsonism) के इलाज मे भी इनका उपयोग किया जाता है। धतूरा गोली, टिकिया, टिंक्चर एव सत्व के रूप में व्यवहृत किया जाता है। धतूरे का मरहम जिसमे लैनोलिन, पीला मोम एव पेट्रोलेटम रहता है, अर्श के उपचार में व्यवहृत होता है। इसकी पत्तियाँ फोडा-फुन्सी तथा मछली के काटे जख्मो के लिए एव पत्तियो का रस कान-दर्द में उपयोगी होता है। इसके फलो से निचोडे हुए रस को बालो की रूसी एव झडते हुए बालो को रोकने के लिए शिरोवल्क (स्काल्प) पर लगाया जाता है। स्ट्रैमोनियम आयुर्वेदिक औषधि 'कनक आसव' का एक प्रमुख घटक है, जिसका उपयोग खाँसी दमा तथा क्षय रोग मे शामक, कफोत्सारक, उद्वेष्टरोधी तथा वेदनाहर के रूप मे होता है। डाटूरा स्ट्रैमोनियम के बीज इसकी पत्तियो से अधिक प्रभावशाली होते है, किन्तु इनमे बडी मात्रा में (१६-१७ प्रतिशत) एक निश्चित तेल रहने के कारण इनसे किन्ही स्थायी औषधियो का बना सकना बहुत कठिन है। बीजो का प्रयोग आत्महत्या या मानव हत्या के लिए भी किया गया है। इससे आक्रान्त व्यक्ति का गला सूख जाता है, सिर चकराने लगता है, पैर लडखडाने लगते हैं और वह विक्षिप्त हो जाता है, वाणी स्पष्ट नही निकलती तथा आँखो से दिखाई भी नही पडता, रोगी मूर्छित हो जाता है और अन्ततोगत्वा मृत्यु का शिकार हो जाता है।

तने के ऊपर की पत्तियो एव शाखाओ में आधार की ओर पत्तियो एव शाखाओ की अपेक्षा ऐल्केलॉयड अधिक रहता है। साफ मौसम मे इसमे कुल ऐल्केलॉयड की जो मात्रा होती है, वह वर्षा होने के बाद बहुत कम हो जाती है। वस्तुत यह अन्तर बहुत अधिक होता है, इसलिए अधिक ऐल्केलॉयड प्राप्त करने के लिए पत्तियो को उषाकाल मे ही चुन लेना चाहिये न कि शाम को, क्योकि सायकालीन पत्तियो में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम होती है। छाये मे सुखायी गयी पत्तियो में धूप मे सुखायी पत्तियो की अपेक्षा अधिक ऐल्केलॉयड होता है। जो पत्तियाँ पौधे मे ही सूखती है उनमे, तोडकर सुखायी गयी पत्तियो की अपेक्षा, अधिक ऐल्केलॉयड होता है, उस दशा मे तने और मूल में ऐल्केलॉयड की मात्रा कम हो जाती है, सम्भवत इसलिए कि इन अगो मे विद्यमान ऐल्केलॉयड का कुछ भाग पत्तियो मे चला जाता है। उन पत्तियो मे अपेक्षाकृत अधिक ऐल्केलॉयड पाया जाता है,

जिन्हे तोडने के बाद सुखाने के पहले एन्जाइम नष्ट करने के लिए १००° से० तापमान पर १५ मिनट तक रखा जाता है। कलियो को तोड देने से पत्तियो की प्राप्ति अधिक हो जाती है।

आर्थिक पक्ष : डाटूरा स्ट्रैमोनियम से निर्मित औषधियों की माँग बहुत अधिक है। इनसे बने गैलेनिकी योगो के अतिरिक्त श्वासरोग मे व्यवहृत होनेवाले सिगरेटो एव धूमन चूर्णो का भी यह प्रमुख घटक है। अमेरिका मे इस पौधे की खेती औषधीय प्रयोजनो के लिए की गयी है। भारत मे धतूरे की इतनी अधिक सम्भरण को देखते हुए भी यह आश्चर्य की बात है कि धतूरे से निर्मित औषधियाँ एव ऐल्केलॉयड हाइओसियामीन और हाइओसीन का आयात हमे बाहर से करना पडता है। डाटूरा मीटल मे ऐल्केलॉयड की मात्रा कम नही होती है और यह इतना अधिक पैदा होता है कि इसका उपयोग न केवल साधारण गैलनिकी योगो के रूप मे अपितु ऐल्केलॉयड हाइओसियामीन तथा हाइओसीन के निस्सारण के लिए भी लाभदायक होगा। भारत मे गैलेनिकल और टिंक्चर थोडी मात्रा मे तैयार किये जाने लगे है और यह बताया जाता है कि कलकत्ता मे एक फर्म स्कोपोलामीन हाइड्रोब्रोमाइड का उत्पादन करने लगी है, किन्तु इस उत्पादन की मात्रा इस महान देश के लिए अत्यल्प है।

सन्दर्भ :—

(1) *Wealth of India*, Raw Materials, 1952, III, 14, (2) Datt, N B 1928, *Commercial Drugs of India* 117, (3) Santapau, H, 1948, *J Bombay Nat Hist, Soc*, 47, 659, (4) Gerlack, 1948, *Econ Botany*, 2436, (5) Greenway, 1941, *Bull Imp Inst Lond*, 39, 231, (6) Tummin Katti, 1938, *Proc Indian Sci Congress* 20, 204, (7) Kapoor, L D, Handa, K L and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Industr Res*, 12 A, 313

डिजिटैलिस लैनेटा (स्क्रॉफुलैरिएसी)

Digitalis lanata Ehrh (Scrophulariaceae)

ग्रीशियन फॉक्सग्लोव, वूली फॉक्सग्लोव

(Grecian Foxglove, Woolly Foxglove)

डिजिटैलिस सहिष्णु (hardy) शाकीय पौधो का एक जीनस है। यह एशिया और यूरोप का देशीय पौधा है, इसकी कुछ जातियो की खेती विश्व के कई भागो में की

जाती है। भेषजीय महत्त्ववाली डिजिटैलिस परप्यूरिया और डिजिटैलिस लैनेटा, इन दोनो जातियो को भारत मे लाया गया है, और औषधीय उद्देश्य मे अब इनकी खेती भी होने लगी है।

डिजिटैलिस लैनेटा एक बहुवर्षी या द्विवर्षी पौधा है, जिसकी ऊँचाई २-३ फुट होती है। यह मध्य एव दक्षिणी यूरोप का भेषज है। अब इसकी खेती इग्लैण्ड, अमेरिका तथा कनाडा मे होती है। भारत मे इसकी खेती कश्मीर मे लगभग ७,००० फुट की ऊँचाई पर होती है। यह पौधा दुमट मिट्टी मे खूब पनपता है और इसकी खेती की वही पद्धति है जो डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती की है। यारिखा (कश्मीर) मे इसकी खेती अर्ध-वाणिज्यिक पैमाने पर होती है। सूखी पत्तियो की वार्षिक उपज प्रति एकड २४० पौण्ड होती है। डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियाँ डिजिटैलिस के सदृश ही विशिष्ट शरीर क्रियात्मक प्रभाव उत्पन्न करती हैं, किन्तु इनका प्रभाव डिजिटैलिस की पत्तियो की अपेक्षा अधिक सशक्त और कम सचयी (Cumulative) होता है। यह एक हृद्वल्य (Cardiac) सक्रिय ग्लाइकोसाइड डिजॉक्सिन का स्रोत है जो इस जीनस की अन्य जातियो मे नही पाया जाता। डिजॉक्सिन कुछ भेषजकोशो मे मान्य है।

सघटक : डिजिटैलिस लैनेटा की हरी ताजी पत्तियो मे तीन प्राकृतिक ग्लाइकोसाइड होते हैं, जिनके नाम है लैनेटोसाइड ए, बी और सी। लैनेटोसाइड ए और बी डिजिटैलिस परप्यूरिया के आदि ग्लाइकोसाइड-परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड ए और बी से निकटतम सम्बन्धित है और एक एसिटिल ग्रुप का विलोपन करके इनको परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड ए और बी मे परिवर्तित किया जा सकता है। लैनेटोसाइड 'सी' से जल-अपघटन के बाद डिजॉक्सिन उपलब्ध होता है जिसे सन् १९३१ ई० मे स्मिथ ने क्रिस्टलीय रूप मे एसिटिक अम्ल तथा ग्लूकोज के साथ अलग किया था इन लैनेटोसाइडो को निकालने के लिए हरी-ताजी पत्तियो को एक उदासीन लवण के साथ पीस दिया जाता है, ताकि निष्क्रिय हो जायें। तत्पश्चात् पीसे हुए पदार्थ को एथिल एसिटेड के साथ मिलाकर निःसृत किया जाता है और ग्लाइकोसाइडो को तनु ऐल्कोहॉल से पुन क्रिस्टलित कर लिया जाता है। इस प्रकार से उपलब्ध पदार्थ, लैनेटोसाइड ए (४६ प्रतिशत) लेनेटोसाइड 'बी' (१७ प्रतिशत) तथा लैनेटोसाइड 'सी' (३७ प्रतिशत) का मिश्रण रहता है। डिजॉक्सिन एक श्वेत क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल तथा क्लोरोफार्म मे अल्पविलेय तथा तनु ऐल्कोहॉल मे विलेय होता है। यह पत्तियो के कुल ग्लाइकोसाइड से प्रभाजी निष्कर्षण (fractional extraction) द्वारा उबलते हुए क्लोरोफार्म अथवा एथिल एसिटेट की सहायता से पृथक कर लिया जाता है। अल्पविलेय प्रभाग ऐल्कोहॉल से क्रिस्टलित कर लिया जाता है। अम्ल जल-अपघटन (acid hydrolysis)

के उपरान्त डिजॉक्सिन से डिजॉक्सिजेनिन और डिजिटॉक्सोज प्राप्त होते हैं। डिजॉक्सिन ठीक वही हृद्वल्य प्रभाव उत्पन्न करता है जो डिजिटैलिस करता है। इसकी शक्ति बराबर बनी रहती है और यह शीघ्र ही अवशोषित होकर बहिर्गत हो जाता है। यह तैयार डिजिटैलिस (Prepared Digitalis) की अपेक्षा तीन सौ गुना अधिक शक्तिशाली होता है और द्रुत डिजिटैलिस प्रभाव के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। मौखिक सेवन से घटे भर मे ही हृदय पर डिजिटैलिस का विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करता है, और ६ घटे मे इसकी अधिकतम क्रिया परिलक्षित होती है। इसका अन्त शिरा (Intravenous) इजेक्शन देने पर तुरत प्रतिक्रिया होती है, जो ५-१० मिनट मे ही परिलक्षित हो जाती है, और १-२ घन्टे में इसका अधिकतम प्रभाव हो जाता है। जैसा कि डिजिटैलिस के सेवन करने मे होता है, इसके सेवन से भी मतली, वमन और हृदक्षिप्रता (tachycardia) उत्पन्न हो जाती है। डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियाँ तथा बीज दोना ही सक्रिय होते है। बीजो मे ३० प्रतिशत पीताभहरित, गाढा मैला वसीय तेल होता है।

उपयोग . प्राय डिजिटैलिस लैनेटा की पत्तियो का उपयोग केवल लैनेटोसाइडो तथा डिजॉक्सिन के तैयार करने के लिए होता है। इसकी पत्तियाँ पश्चिमी हिमालय मे किसी भी परिमाण मे पैदा की जा सकती हैं, यदि भैषजिक प्रतिष्ठान डिजॉक्सिन एव लैनेटोसाइडो का उत्पादन अपने हाथ मे ले। सम्प्रति ये ग्लाइकोसाइड विदेशो से मँगाये जाते है, जब कि कच्चा माल भारत में प्राप्य है।

सन्दर्भ :—

(1) Trease, G E , 1952, *Text Bock of Pharmacognosy*, 521, (2) *Wealth of India Raw Materials*, 1952 III, 61, (3) Bal, S N , Gupta, B , Bose, A N and Bose, S , 1952, *Ind Jour Pharm*, 14, 189

डिजिटैलिस परप्यूरिया (स्क्राफुलैरिएसी)

Digitalis purpurea Linn (Scrophulariaceae)

फॉक्सग्लोव (Foxglove)

डिजिटैलिस परप्यूरिया को लोग प्राय फॉक्सग्लोव के नाम से जानते है। यह एक द्विवर्षी या बहुवर्षी शाकीय क्षुप पौधा है जो २-६ फुट ऊँचा होता है, एव ५,०००-६,००० फुट की ऊँचाई पर पैदा होता है। यह मूलत पश्चिमी यूरोप मे पैदा हुआ परन्तु अब तो ससार के अनेक भागो मे उपजाया जाता है। इसकी अनेक जातियाँ है, जो समान शरीर-क्रियात्मक कार्य करती है पर उनकी शक्ति की मात्रा मे अन्तर होता है।

उदाहरणार्थ टिजिटैलिस कम्पैनुलेटा (*D. campanulata*) या डिजिटैलिस ऐल्वा (*D alba*) की अपेक्षा डिजिटैलिस परप्यूरिया अधिक प्रभावशाली होता है, किन्तु आस्ट्रिया से आने वाले डिजिटैलिस ऐम्बिगुआ (*D. ambigua*) मे डिजिटैलिस परप्यूरिया के बराबर ही चिकित्सीय क्रियाशीलता पायी जाती है। अनेक वर्षो तक इग्लैण्ड मे उत्पन्न पत्तियाँ, बाजार मे सर्वोत्तम मानी जाती थी किन्तु बाद मे जर्मनी एव आस्ट्रिया ने अच्छी कोटि (क्वालिटी) की पत्तियाँ बडे परिणाम में विश्व को दी। प्रथम महायुद्ध के दिनो मे जर्मनी से इनका निर्यात होना बन्द हो गया था और अमेरिकियो ने अपने ससाधनो के विकास के प्रयास किये। कैलिफोर्निया, ऑरगॉन और वाशिगटन मे डिजिटैलिस वन्य अवस्था मे पैदा होता है, इन पौधो से सगृहित पत्तियाँ औषधीय उपयोग के प्रयोजनो के लिए प्रभावशाली और पर्याप्त शक्ति सम्पन्न पायी गयी। अमेरिका मे पैदा होने वाली जातियो मे एक डिजिटैलिस लूटिया (*D lutea*) है जो चिकित्सीय दृष्टि से उतनी ही अच्छी है जितनी डिजिटैलिस परप्यूरिया। वस्तुत जठरात्र प्रदेश पर अपेक्षाकृत बहुत कम विषैला प्रभाव डालने के लिए यह प्रसिद्ध है।

भारत मे प्रति वर्ष डिजिटैलिस बहुत अधिक परिमाण मे व्यवहृत होता है। इसक अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि मेसर्स स्मिथस्टैनिस्ट्रीट एण्ड कम्पनी, जो कलकत्ते मे रासायनिक निर्माण की फर्म है, ने १९१२ ई० मे लिखते हुए कहा था कि वह फर्म अकेले ही भारत में पैदा होने वाली ३ से ४ हण्डरवेट पत्तियो का उपयोग कर सकती है, बशर्ते कि वे पत्तियाँ उतनी ही क्रियाशील हो जितनी कि आयातित पत्तियाँ। तब से खपत पर्याप्त मात्रा में बढ गयी है। डिजिटैलिस से बनी कुछ औषधियाँ जिनका उपयोग इस देश के चिकित्सको द्वारा किया जाता है, बाहर से मँगायी जाती है। इस समस्या का केवल आर्थिक पक्ष ही नही है, अपितु औषधीय दृष्टिकोण से इस तथ्य को भी ध्यान मे रखना चाहिये कि विदेशो से भारत को आयातित डिजिटैलिस से बनी औषधियाँ अल्पकाल मे ही अपनी २० से ४० प्रतिशत शक्ति खो देती है। लेखक एव उसके सहयोगियो ने, कुछ वर्ष पूर्व, भारत मे पैदा होने वाले डिजिटैलिस के गुणो का इस दृष्टि से अनुसधान किया था कि क्या भारतीय पत्ती डिजिटैलिस एव उससे निर्मित औषधियाँ विदेश से आयातित होने वाली पत्ती एव औषधियो के स्थान पर लाभ के साथ व्यवहार मे लायी जा सकती है। इस अनुसधान का परिणाम यह हुआ है कि कलकत्ता का बगाल केमिकल एण्ड फार्मास्युटिकल वर्क्स नामक प्रतिष्ठान प्रतिवर्ष लगभग १ टन पत्तियो का उपयोग कर सकता है और ये सभी पत्तियाँ भारत में (कश्मीर में) में पैदा होती है।

भारत के विभिन्न स्थानो मे पैदा होने वाले डिजिटैलिस की पत्तियो के चिकित्सीय प्रभाव का विवेचन करने से पूर्व इस देश मे इसकी कृषि, सचयन-रीति, सुखाने एव सग्रहण (भराडारण) के ढग के सम्बन्ध में सक्षिप्त विवरण दे देना अप्रासगिक न होगा।

भारत मे डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती .

जहाँ तक मालूम है डिजिटैलिस की कोई भी जाति भारत के लिए देशीय नही है किन्तु डिजिटैलिस परप्यूरिया एक लम्बे अर्से से विभिन्न पर्वतीय बागो के किनारे शोभावर्धक पादप के रूप मे लगाया जाता है। १८८० ई० मे सहारनपुर के सरकारी बागों मे, तथा मसूरी के पर्वतीय बागो मे इसे पैदा करने के प्रयास किये गये ताकि इसकी पत्ती औषधीय प्रयोजनो के लिए सर्वदा सुलभ हो सके। किन्तु पौधा खूब फूला फला नही, जैसी सूचना थी, पत्तियाँ उससे बहुत कम उपलब्ध हुई थी और उनकी उत्पादन-लागत बाहर से आयातित होनेवाले डिजिटैलिस से कुछ अधिक पडती थी। इसलिए उस समय उन स्थानो मे इसकी व्यवस्थित खेती की योजना स्थगित कर दी गयी। कुमायूँ के बागो मे यह पौधा अधिक पनपा और १९१२ ई० में इसकी पत्तियो की रासायनिक परीक्षा मार्टिण्डेल ने की और सक्रियतत्त्वो की दृष्टि से निर्धारित मानक से उन्हें कुछ ऊपर ही पाया। इस पौधे की खेती अन्य स्थानो मे भी की गयी और दार्जिलिंग (हिमालय) के निकट मगपू एव बर्मा के सिनकोना बागानो के अधिकारियो ने इसकी खेती का काम हाथ मे ले लिया। नीलगिरि की पहाडियो पर भी इसे लगाया गया और वहाँ स्वयवपित बीजो से यह खूब अभिवृद्ध हुआ। सिनकोना बगानो ने इसे गवर्नमेण्ट मेडिकल स्टोर डिपो को ३ आना प्रति पौण्ड के भाव से सम्भरण किया। मगपू के खुले मैदानो मे समुद्र की सतह से ६,००० फुट की ऊँचाई पर लगाये जाने मे खूब अच्छा पैदा होता है और उसे देखरेख की भी कोई विशेष आवश्यकता नही पडती। हजारो नवपादप अपने आप उगते है और उसके पोषण के लिए रोपणियो की आवश्यकता नही पडती। नया बागान लगाने से पूर्व झाड-झखाड साफ कर दिया जाता है और भूमि को १ फुट गहरा खोद दिया जाता है। फिर रस्सी की सहायता से सीधी पक्तियो में २ फुट के फासले पर पौधे रोप दिये जाते है। इस प्रकार प्रतिएकड १०,८०० पौधे रोपे जाते हैं। लगभग १२ महीने तक पौधों की अभिवृद्धि होती है तथा इस बीच उनको दोबारा छाटने की और जाडे के दिनो मे एक बार निराई की आवश्यकता हो सकती है। इस प्रकार उपजाये जाने पर पौधे खूब बढते हैं, और पत्तियाँ अच्छी फसल देती है।

डिजिटैलिस परप्यूरिया की खेती इस समय मुख्यत कश्मीर के यारिखा, तन्मार्ग आदि स्थानो मे होती है। मगपू (दार्जिलिंग) मे और नीलगिरि की पहाडियो पर अब इसकी खेती का परित्याग कर दिया गया है, किन्तु इस क्षेत्र मे यह पादप वहाँ की प्रकृति का अभ्यस्त हो गया है। लगभग २० वर्ष पहले कश्मीर मे इसकी खेती व्यापारिक दृष्टि से प्रारम्भ की गयी थी। माँग की कमी के कारण खेती को बडा धक्का पहुँचा और औसत वार्षिक उत्पादन घट गया। हाल मे फिर से वाणिज्यिक पैमाने पर इसकी खेती यारिखा (कश्मीर) मे प्रारभ की गयी है। चिकित्सीय दृष्टि से सक्रिय पौधो की मैदानी क्षेत्रो मे खेती करने का प्रयास सफल नही हो पाया है।

उन चुने पादपा से जिनकी पत्तियो मे ग्लाइकोसाइड ऊँची मात्रा मे विद्यमान हो, सगहित किये गये बीजो से फॉक्सग्लोव का प्रवर्धन किया जाता है। यह एक कैल्सियम-असह (calcifuge) पादप है, जो हलकी और रेतीली भूमि मे, जिसमे मैगनीज का भी कुछ अश मिला हो, अच्छा पैदा होता है। इसको ऊपर की हल्की छाया अधिक अनुकूल पडती है और ऐसी ही छायादार भूमि मे इसकी सर्वोत्तम खेती होती है। जमीन खूब अच्छी जोती हुई होनी चाहिये जिसमे पत्ती की खाद काफी पडी हो। बीजो को बारीक बालू में मिश्रित कर दिया जाता है ताकि बुआई सर्वत्र समान रूप से हो सके, और मार्च या अप्रैल मे खूब तैयार क्यारियो मे बोया जाता है। एक एकड रोपने के लिए ४–८ औस बीजो से पर्याप्त वेहन प्राप्त किये जा सकते है। जब नवोद्भिद २–३ इच के हो जायँ तो उन्हे खेतो मे २–२ फुट की दूरी पर बनायी गयी मेडो पर १½ फुट के फॉसले से प्रतिरोपित किया जाता है। प्रतिरोपण कार्य आर्द्र मौसम मे करना अधिक अच्छा होता है। जिन क्षेत्रो मे इसकी खेती होती है उनमे से प्राय अधिकाश मे स्वय वपित बीजो से प्रचुर मात्रा मे नवोद्भिद उपलब्ध हो जाते है और इन्हे खूब तैयार भूमि मे प्रतिरोपित करने के लिए सगृहीत कर लिया जाता है। फसल मे कभी भी घास पात नही जमने देना चाहिये और खेतो को वर्ष भर मे एक या दो बार गोड देना चाहिये। पत्तियो की उपज बढाने के लिए सतुलित मात्रा मे कृत्रिम खाद भी डाली जा सकती है। पादप दूसरे वर्ष में लगभग अप्रैल के अन्त मे या मई के आरम्भ मे फूलने लगता है, फिर फल लगते है और अन्त मे सूख जाता है। अनुकूल स्थितियो मे मूलस्तम्भ पुनरुज्जीवित हो जा सकता है और पौधा एक या दो वर्ष तक और जीवित रह सकता है।

पत्तियो का सचयन —डिजिटैलिस भारत में, लगभग अप्रैल के अन्त मे और मई के आरम्भ मे फूलने लगता है। जब पौधा पूर्ण विकसित होता है और प्रत्येक डाल पर दो तिहाई फूल पूर्णत खिल गये रहते है, तो पत्तियो का सचयन प्रारम्भ हो

जाता है और गर्मी भर सचयन होता रहता है। यूरोप और अमेरिका में भी पत्तियाँ गर्मी भर सग्रहीत की जाती है—जुलाई से लेकर सितम्बर तक जब तक पौधा फूलता रहता है। गर्मी के प्रारम्भ मे—लगभग जून मे, फूलो के खिल जाने से ठीक पूर्व—सगृहीत की गयी पत्तियाँ सर्वोत्तम होती है। ऐसा कहा जाता था कि दो वर्ष की अवस्था वाले पौधे से पत्तियो का सचयन करना चाहिये किन्तु अनुसधानो ने दिखा दिया है, कि एक वर्ष की अवस्था वाले पौधो से सगृहीत पत्तियो मे ग्लाइकोसाइड की मात्रा उतनी ही होती है, जितनी दो वर्ष की अवस्था वाले पौधो से सगृहीत पत्तियो मे। भारत वर्ष मे पौधो की आयु का विचार किये बिना ही उनसे पत्तियाँ इकट्ठी कर ली जाती है। यहाँ उन्हे हाथ से तोडा जाता है जिसमे पत्तियो का तना (वृन्त), जो मोटा और गूदेदार होता है, सगृहीत नही हो पाता। नीचे आधार पर की बुरे रग की पत्तियाँ एव तने के ऊपर की छोटी पत्तियाँ छोड दी जाती है। वस्तुत प्रत्येक पौधे की तीन-चौथाई पत्तियाँ ही चुनी जाती है। चुनते समय नयी और पुरानी पत्तियाँ सब एक मे मिल जाती है। सचयन करने मे मौसम का कोई खास विचार नही किया जाता। सचयन के समय प्राय वर्षा ऋतु का आरम्भ रहता है और मौसम प्राय कुछ नम सा होता है। कश्मीर मे एक वर्ष और दो वर्ष की अवस्था वाले पौधो से सचयन जून से लेकर अक्टूबर तक होता है।

मुरझाना एव सुखाना :—इस देश मे प्रत्येक दिन की एकत्रित पत्तियाँ बाँस के मचान पर पतली सतह मे फैलाकर मुरझाने के लिए ३६ घटे तक छोड दी जाती है और समय-समय पर किण्वन को रोकने के लिए उसे उलट-पलट दिया जाता है। अततोगत्वा किसी 'सिरक्को' या चूल्हे पर १५०° फारेनहाइट तापमान पर पत्तियो को सुखा लिया जाता है। वर्षा के दिनो में चूल्हे के उपयोग के बिना पत्तियो को पूर्ण रूप से सुखाना कठिन है, किन्तु चूल्हे पर सुखाते समय तापमान अधिक हो जाने पर पत्तियाँ खराब हो जाती है। भारतीय पत्तियो के बारे में हम लोगो का अनुभव है कि धूप मे या हवा मे सूखी हुई पत्तियो मे जैसा कि कश्मीर से आयी हुई पत्तियाँ होती है —चूल्हे पर सुखायी गयी पत्तियो की अपेक्षा क्रियाशीलता अधिक काल तक पायी जाती है। कश्मीर मे पत्तियाँ खुली हवा मे सूखने के लिए पतली सतह मे फैला दी जाती है और इनके सूखने मे ७ से १० दिन लग जाते है।

भण्डारण :—सूख जाने पर पत्तियो को छायादार अँधेरे स्थान में रख दिया जाता है। फर्श पर उन्हे गाँज कर धूल, मिट्टी और प्रकाश से बचाने के लिए चटाइयो से ढँक दिया जाता है। अमेरिका मे किये गये श्री हैचर के अनुसधान कार्यों से स्पष्ट हो गया है कि वहाँ पर इस भेषज के सरक्षण के विषय मे किसी भी प्रकार के पूर्वोपाय

था सावधानी की आवश्यकता नही है जैसा कि कही-कही पर पत्तियो को वायुरोधी टिनो मे जिनके तल छिद्रित हो और जिनमे ताजा जला चूना रख दिया गया हो, वद कर सुरक्षित किया जाता है। हम लोगो का अनुभव है कि गर्म और आर्द्र जलवायु मे जैसा कि भारत मे पाया जाता है—इस प्रकार का पूर्वोपाय या सावधानी न अपनाने से पत्तियो की भेपजीय सक्रियता काफी घट जाती है। डिजिटैलिस की पत्तियो मे जो वायुरोधी वोतलो मे बन्द कर हमारी प्रयोगशाला मे रखी गयी थी, सक्रियता भली-भाँति सुरक्षित वनी रही, अपेक्षाकृत उन पत्तियो के जिन्हे आर्द्र वातावरण मे विशेष-कर गर्मी के दिनो मे खुला छोड दिया गया था। कश्मीर मे पैदा होने वाली पत्तियाँ भेषजीय गुण मे ब्रिटेन या अन्य देशो से आयातित पत्तियो के समान होती है। मगपू मे उपजने वाले डिजिटैलिस की भी पत्तियाँ भेषजीय गुण मे अच्छी होती है, पर नीलगिरि से प्राप्त होने वाली पत्तियाँ गुण मे निम्नकोटि की होती है।

भारतीय पत्तियो की शरीरक्रियात्मक एव चिकित्सीय सक्रियता : सन् १९१३ ई० मे डॉ० गार्डन शार्प ने भारत में पैदा होने वाले डिजिटैलिस का जैविकीय आमापन किया था। उन्हे ज्ञात हुआ कि सरसरी तौर पर परीक्षण करने से भारत में पैदा होनेवाली पत्तियाँ सभी तरह से इग्लैण्ड तथा जर्मनी की स्वय जात या आशिक रूप से खेती करके उपजायी गयी पत्तियो के समान ही होती हैं। उनका स्वाद ठीक वैसा ही कड्वा था। वारीकी से छानबीन करने पर यह पाया गया कि भारतीय पत्तियो का वृन्त और शिरान्यास अपेक्षाकृत कुछ अधिक स्थूल होता है। यूरोपीय पत्तियो की अपेक्षा भारतीय पत्तियाँ अधिक काली एव सख्त थी पर दक्षिणी इग्लैण्ड में कृषि द्वारा पैदा की गयी पत्तियो से बहुत अधिक भिन्न नही थी। भारतीय पत्तियो से तैयार किये गये टिंक्चर अधिक काले थे एव उनमे अधिक रेजिनी पदार्थ थे, अपेक्षाकृत उन टिंक्चरो के जो ब्रिटेन एवं जर्मनी मे उगाये पत्तो से तैयार किये गये थे। मगपू मे पैदा होनेवाली पत्तियो से मेढक प्रणाली द्वारा जैविकी आमापन करने तथा मानव हृदय पर चिकित्सीय परीक्षण प्रयोग करने पर अच्छे परिणाम मिले। डा० शार्प ने घोषणा की कि मगपू मे पैदा होनेवाले डिजिटैलिस परप्यूरिया की पत्तियाँ कम से कम, शक्ति मे ब्रिटिश एव जर्मन पत्तियो के वरावर थी, पर नीलगिरि मे पैदा होनेवाली पत्तियाँ तत्सम प्रभाव पैदा करने में असमर्थ रही। सन् १९२० ई० मे कैम्ब्रिज की फार्माकालॉजिकीय प्रयोग-शाला के डा० डगलस काउ ने मगपू एव नीलगिरि मे पैदा होनेवाली पत्तियो से मेसर्स स्मिथ स्टैनिस्ट्रीट एण्ड कम्पनी द्वारा निर्मित टिंक्चर का आमापन सतोपजनक परिणाम के साथ किया था।

कश्मीर से आयी हुई नमूने की पत्तियो का जैविकी आमापन एव क्लिनिकल परीक्षण करने पर अच्छे परिणाम प्राप्त हुए थे। अब कश्मीर मे डिजिटैलिस व्यापक पैमाने पर उपजाया जाता है। पत्तियाँ धूप मे सुखाकर टीन के वायु-रोधी डब्बो मे बन्द कर दी जाती है। कश्मीर पर वर्षा का उतना अधिक प्रभाव नही पडता जितना कि पूर्वीय हिमालय पर जहाँ मगपू बसा हुआ है। इसलिए कश्मीर मे पत्तियो को चूल्हे की सहायता बिना भी धूप मे सुखाना सभव है। कश्मीर मे डिजिटैलिस के पैदा करने की बडी सम्भावनाएँ है। इन पत्तियो से निर्मित ताजे टिक्चर का रोगियो पर प्रभाव, प्रति १०० पौण्ड शरीर भार में ७-७ ड्राम की मात्रा मे देने से, भलीभाति पडा।

उष्ण कटिबधी प्रदेशो मे डिजिटैलिस से निर्मित औषधियो की शक्ति मे विभिन्नता : उपर्युक्त कथन के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के कुछ भागो मे अच्छी कोटि की डिजिटैलिस की पत्तियाँ पैदा की जा सकती है। उक्त तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण है जब इस बात को ध्यान मे लाते है कि डिजिटैलिस की पत्तियो तथा उनसे निर्मित औषधियो की गुणो के स्थायित्व में उष्णकटिबधी जलवायु मे ह्रास हो जाता है, जैसा कि लेखक तथा उसके सहयोगियो द्वारा (१९२५-२६ ई०) मे दर्शाया गया है। 'हैचर' (Hatcher) की विधि से जैविकी आमापन बिल्लियो और मेढको पर किये गये थे और 'कुण्डसन एव ड्रेस बाक (Kundson and Dresbach) की विधि से रासायनिक आमापन किये गये थे। उपर्युक्त विधियो मे से किसी से भी डिजिटैलिस द्वारा निर्मित द्रव्य की भेषजीय सक्रियता का ठीक ठीक आमापन नही किया जा सका अत क्लिनिकल परीक्षण भी उसी टिंक्चर से किया गया। रोगी पर डिजिटैलिस का प्रभाव ३६ से ४८ घटे के अन्दर, टिंक्चर की औसत मात्रा १५ घन सेन्टीमीटर (अथवा ४½ ड्राम) प्रति १०० पौण्ड शारीरिक भार के हिसाब से दिये जाने पर, पडता है पर यदि टिंक्चर की शक्ति में ह्रास हो गया हो तो इस औसत मात्रा मे काफी वृद्धि करनी पडती है। उपर्युक्त दोनो विधियो द्वारा दर्शाया गया कि विख्यात इगलिश तथा अमेरिकी फर्मों द्वारा निर्मित टिंक्चर की शक्ति मे थोडे समय मे ही २० से ४० प्रतिशत ह्रास हो जाता है। निर्माण के तुरन्त बाद भेजे गये ताजे टिंक्चर भी यहाँ पहुँचने पर तत्काल ही जब आमापित किये गये तो ज्ञात हुआ कि परिवहन की अवधि मे उनकी शक्ति में ह्रास हो गया। यह ह्रास डिजिटैलिस के ग्लाईकोसाइडो मे कुछ अज्ञात परिवर्तनो के कारण होता है। ऐसे टिंक्चर १ १० के अनुपात मे तनुकृत किये जाने पर कुछ श्याम रग के हो जाते है जबकि अच्छे टिंक्चर हल्के हरे रग के होते हैं यद्यपि

ये टिंक्चर बिल्ली को अन्त शिरा मार्ग द्वारा दिये जाने पर और अधिक विषैले हो जाते हैं और इसलिए इनकी लघुतर अल्पतम घातक मात्रा पर्याप्त शक्तिहीन होती है जहाँ तक उनकी चिकित्सीय सक्रियता का सम्बन्ध है। यह भी दिखाया जा चुका है कि कश्मीर अथवा मगपू मे पैदा होनेवाली डिजिटैलिस परप्यूरिया की पत्तियो से निर्मित ताजे टिंक्चर मे साधारण शक्ति दिखायी पडी। डिजिटैलिस की पत्तियाँ भी बहुत जल्दी खराब हो जाती हैं, यदि उनको उचित ढग से न सुखाया जाय और यदि उनका भण्डारण गलत ढग से किया गया हो।

उपयोग डिजिटैलिस का उपयोग मुख्यत हृद्वाहिका तन्त्र (कार्डियो-वस्कुलर सिस्टम) पर प्रभाव डालने के लिए किया जाता है। यह प्रकुचन सकोच (systolic contraction) मे वृद्धि लाता है और क्षति-अपूर्त (decompensated) हृदय की क्षमता को बढाता है। इससे हृद्-गति मन्द हो जाती है, और मूत्रलता के साथ हृद्-शोथ में कमी आ जाती है। यह रक्ताधिक्य हृद्पात (congestive heart failure), अलिन्द स्फुरण (auricular flutter), तथा अलिन्द विकम्पन (fibrillation) मे हृदपेशी उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। हाल ही में यह दिखाया गया है कि यह रक्त के स्कन्दन (coagulation) मे वृद्धि लाता है और शरीर मे विद्यमान हेपैरिन के प्रतिस्कन्दक प्रभाव को दूर करता है। इसका स्थानीय प्रभाव क्षोभक (irritant) होता है और डिजिटैलिस के ग्लाइकोसाइडो से बने एक मरहम का उपयोग व्रणो को साफ रखने के लिए किया जाता है। जल जाने पर, ताप से क्षति-ग्रस्त कोशिकाओ को परिरक्षण में, यह टैनिक अम्ल या सिल्वर नाइट्रेट की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। साधारणत यह टिकिया, पाउडर या तैय्यार डिजिटैलिस की टिंक्चर, पुटक (cachet), वर्तिका (सपोज़िटरी) और इन्जेक्शन के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। चिकित्सीय मात्रा में देने पर यह भेपज साधारणत मन्द विषालु प्रभाव पैदा करता है, इसलिए इसकी मात्रा को इस प्रकार नियमित करना चाहिये, जिससे विषालु प्रभाव न पडे। डिजिटैलिस से बनी औषधियो की शक्ति डिजिटैलिस के मानक पाउडर के रूप मे व्यक्त करनी चाहिये। इसके मानकीकरण के लिए श्री चोपडा द्वारा परिवर्त्तित (modified) हैचर और ब्राडी (Hatcher and Brody) की 'बिल्ली-विधि' से विश्वसनीय परिणाम मिले है। इस विधि से शक्ति तथा विषालुता दोनो का ही आमापन हो जाता है। डिजिटैलिस के विषालु प्रभाव के अन्तर्गत शिरोवेदना, थकान, व्याकुलता (malaise), निद्रालुता (drowsinerr), मतली और वमन आ जाते है। दृष्टि धुधली पड जाती है। साइनस अतालता (Sinus arrhythmia) इसके मन्द विषालु प्रभाव के रूप में, समय से पूर्व ही उत्पन्न हो सकता है। प्रवेगी अलिन्द या

निलय हृद्क्षिप्रता (Paroxysmal auricular or ventricular tachycardia) गम्भीर परिणाम पैदा करते है, वैसी अवस्था में भेपज का सेवन तुरन्त ही बन्द कर देना चाहिये। डिजिटैलिस की विपाक्तता के कारण जो मृत्यु होती है उनमें सबसे अधिक निलय विकम्पन (ventriculer fibrillation) के कारण ही होती है।

सघटक : डिजिटैलिस के सघटक कई ग्लाइकोसाइड है। पत्तियो में समूचे सक्रिय ग्लाइकोसाइड की सान्द्रता लगभग १ प्रतिशत होती है। तीन सुपरिभाषित क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड—डिजिटॉक्सिन, जिटॉक्सिन, और जिटैलिन—पत्तियो से अलग किये गये हैं, इन सब में हृद-क्रियाशीलता पायी जाती है और ये मूलत नैसर्गिक ग्लाइकोसाइड समझे जाते हैं। डिजिटॉक्सिन और जिटॉक्सिन अब क्रमश परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड 'ए' तथा परप्यूरिया ग्लाइकोसाइड 'बी' से निकले हुए माने जाते है जो पत्तियो में वर्तमान रहते हैं और पत्तियो मे विद्यमान ऐंजाइमो के जलापघटन द्वारा क्रमश डिजिटॉक्सिन और ग्लूकोज तथा जिटॉक्सिन और ग्लूकोज बन जाते हैं। उसी तरह यह सभव है कि जिटैलिन भी पत्तियो मे वर्तमान नैसर्गिक ग्लाइकोसाइडो का जल-अपघटनीय उत्पाद हो। डिजिटॉक्सिन पत्तियो मे लगभग ० २—० ३ प्रतिशत की मात्रा में विद्यमान रहता है। यह एक रगविहीन, गधविहीन, अत्यन्त कड़ुवा क्रिस्टलीय पदार्थ है, जो जल में अविलेय तथा ऐल्कोहॉल एव क्लोरोफार्म में विलेय होता है। यह सर्वाधिक शक्तिवान डिजिटैलिस ग्लाइकोसाइड है, इसकी क्रियाशीलता चूर्ण डिजिटैलिस की अपेक्षा १००० गुना अधिक होती है। जठरान्त्र प्रदेश मे यह अत्यन्त शीघ्र पूर्णरूप से अवशोषित हो जाता है। डिजिटैलिन हृदय पर कार्य करने वाला एक सक्रिय ग्लाइकोसाइड है जो डिजिटैलिस परप्यूरिया के बीजो में वर्तमान रहता है और पहले जिसका वर्णन डिजिटैलिनम विरम (Digitalinum verum) नाम से किया गया है। यह अनभिज्ञात सक्रिय ग्लाइकोसाइडो की बडी मात्रा के साथ एव निष्क्रिय सैपोनिनो के साथ बीजो मे वर्तमान रहता है, (उपलब्धि, लगभग ० ३ प्रतिशत हेक्सा-ऐसीटेट के रूप में)। निष्क्रिय सेपोनिनो से ही डिजिटोनिन, जिटोनिन और टिजेनिन अलग किये गये हैं। बीजो मे पीत ऐम्बर वर्ण का मृदु स्वाद वाला एक वसीय तेल लगभग ३१ ४ प्रतिशत पाया जाता है।

भारत में पैदा होने वाला डिजिटैलिस, विदेशो से आयातित होने वाले डिजिटैलिस का स्थान तीव्र गति से ग्रहण करता जा रहा है। भारत मे अनेक औषध निर्माण करने वाली फर्मे ताजी पत्तियो से निर्मित ताजे टिक्चर अपने ग्राहको को बेच रही है। भारत मे पैदा होने वाली डिजिटैलिस की पत्तियो से, जिनका सचयन तत्काल किया गया हो तथा जो भली भाँति सुखायी गयी हो, निर्मित टिक्चरो का व्यवहार करके विशेष लाभ

प्राप्त किया जा सकता है। भारत में समुचित ढंग से डिजिटैलिस की खेती करने का भविष्य बड़ा अच्छा दिखाई पड़ रहा है। डिजिटैलिस के उत्तम कोटि के बीज उत्पन्न किये जाने के परीक्षण यारियाह भेषज फार्म (कश्मीर) में किये जा रहे हैं जहाँ वाणिज्यिक उद्देश्य से अच्छी किस्म की डिजिटैलिस पैदा की जा रही है। ब्रिटेन तथा अमेरिका से मँगाये बीजों द्वारा जो पौधे उगाये गये उनकी पत्तियों में ९ यूनिट प्रति ग्राम की शक्ति पायी गयी, जबकि स्थानीय पौधों की पत्तियों का आमापन करने पर उनमें प्रति ग्राम ११ ४२ से १२ ५ यूनिट की शक्ति पायी गयी। इसकी तुलना अन्तर्राष्ट्रीय मानक से जो १२ ५ यूनिट है भली भाँति की जा सकती है। कश्मीर में पैदा होने वाली सूखी पत्तियों का उत्पादन, माँग की पूर्ति के लिए शनैः शनैः बढ़ता जा रहा है।

सन्दर्भ :—

(1) Chopra, Bose and De, 1925, *Ind Med Gaz*, 60, 93, (2) Chopra and Chose, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (3) Chopra and De, 1926, *Ind Jour Med Res* 13, 781, (4) Chopra and De, 1926, *Ind Med Gaz* 61, 117, 212, (5) Chopra and De, 1929, *Ind Med Gaz* 64, 312, (6) Wealth of India *Raw Materials*, 1952, III 60, (7) Luthra, J C, 1950, *Ind Farming*, II, II, (8) Chopra Chowhan and De, 1934, *Ind Jour Med Res*, 22, 271, (9) Trease, G E, 1952 *Text Book of Pharmacognosy*, 515, (10) Kapoor, L D, Handa, K L, and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Industri Res* 12A, 313

इलेट्टैरिया कार्डेमोमम (जिंजिबरेसी)

Elettaria cardamomum Maton (Zingiberaceae)

लेसर कार्डेमम, कार्डेमम

नाम—सं०—उपकुञ्चिका, एला, हिं०—और बं०—छोटी इलायची, म०—वेलदोडे, गु०—एलची, ते०—येलाककगलु, त०—एलाक्कै, कन्न०—एलक्कि, मल०—येलम।

इलायची एक बहुवर्षी पौधा है जिसका मूलस्तम्भ मोटा, मांसल एवं तना पत्तीदार होता है। इसकी ऊँचाई ४ से ८ फुट होती है तथा इसका पुष्पक्रम भूमि के सतह से ही आरम्भ हो जाता है और लम्बा शाखित होता है। यह पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत के लिए देशीय है और कर्नाटक, मैसूर, कुर्ग, वाइनाड, ट्रावंकोर और कोचीन के

आर्द्र जगलो मे पाया जाता है, वहाँ इसकी खेती भी यूरोपियन तथा भारतीय कृषको द्वारा चाय एव रबड के बागानो मे की जाती है। कुर्ग एव मैसूर के काफी बागानो के जलदरियो (gullies) और खड्डो (ravines) मे इसे उगाया जाता है क्योकि ऐसे ही आर्द्र और छायादार स्थानो में यह खूब पनपता है। वर्मा, श्रीलका, कोचीन, चीन और मलाया द्वीपसमूह मे यह वन्य दशा मे पैदा होता है। बाज़ार मे अनेको किस्म की इलायची मिलती हैं।

किस्मे '—कृषि द्वारा उपजाये हुए इलेट्टैरिया कार्डेमोमम की अनेको किस्मे होती है और उनके उत्पत्ति-स्थान पर आधारित उनके व्यापारिक नामो से इनके किस्मो को पहचानने मे भ्रम हो जाया करता है। इनके फलो के आकार के आधार पर दो भेद किये गये है। वे है (१) इलेट्टैरिया कार्डेमोमम वैराइटी मेजर (*E cardamomum* var *major* Thw) जिसमें श्रीलका की वन्य देशीय इलायची अथवा वृहत्तर दीर्घायत इलायची या लम्बी इलायची भी शामिल है और (२) इलेट्टैरिया कार्डेमोमम वैराइटी माइनर [(*E cardamomum* var *minor* Watt पर्याय इलेट्टैरिया कार्डेमोमम वैराइटी मिनुस्कुला—*E cardamomum* var *minuscula* Burkill)] इनमे खेती द्वारा उत्पन्न होने वाली सभी इलायचियाँ, विशेषकर जो मलाबार और मैसूर की इलायची के नाम से ज्ञात है, शामिल है। बडी किस्म वाली इलायची आद्य (प्रिमिटिव) किस्म की है, जिससे खेती द्वारा उत्पन्न छोटी किस्म वाली इलायची निकली है। छोटी इलायची (वैराइटी माइनर) सामान्यतया भारत में पैदा की जाती है। इसके अन्तर्गत अनेको प्रजातियाँ (races) शामिल हैं जिनके पौधो के आकार मे, पत्तियो के सतह की बनावट में और पुष्प गुच्छो और फलो के सम्पुटिकाओ (capsules) के स्वरूप मे अन्तर रहता है। सभी उपजातियो और प्रजातियो में सकरण सफल होता है और उनमे जो अन्तर दिखायी देता है वह सम्भवत प्राकृतिक सकरण के कारण होता है। मलाबार इलायची की खेती मुख्यत मैसूर और कुर्ग में तथा थोडी-बहुत ट्रावकोर मे होती है। दक्षिण भारत का वन्य प्ररूप (type) मलाबार इलायची ही है, किन्तु एक के बारे मे सदेह है। मलाबार इलायची की अपेक्षा मैसूर इलायची ऊँचे स्थानो पर उपजायी जाने के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि यह विभिन्न अवस्थाओ मे भलीभाति उगती है और इसे पानी की उतनी अधिक आवश्यकता नही होती। यह विस्तृत खेती करने के योग्य है और त्रिवाकुर, अन्नामलाइ और नेल्लिअम्पाथी की पहाडियो पर इसकी वृहत्तर खेती की जाती है। श्रीलका की देशी इलायची एक पुष्ट वैराइटी है जो श्रीलका के पश्चिमी जगलो में सर्वत्र पैदा होती है और हाल के वर्षो मे भारत मे इसको उगाया गया है। इन दो मुख्य किस्मो के

अतिरिक्त, कुछ और किस्मो का हाल मे पता लगा है। मैसूरेन्सिस (*mysorensis*) नामक एक वैराइटी है जो नमूने दक्षिण भारत मे सामान्यतया पायी जाती है और कुछ क्षेत्रो मे इसकी खेती भी की जाती है। एक दूसरी किस्म मजाराबाद (मैसूर राज्य) के इलायची-क्षेत्र मे उपजती हुई देखी गयी है जिसका नाम वैराइटी लैक्सिफ्लोरा (var *laxiflora*) है।

वितरण —भारत मे इलायची की खेती केवल उन्ही प्रदेशो मे केन्द्रित है, जो इसके प्राकृतिक आवास (Natural habitat) है, पर उत्तरी कर्नाटक का एक छोटा क्षेत्र ऐसा है जहां यह सुपारी के बगीचो मे गौण फसल के रूप मे उगायी जाती है। इसकी कृषि के प्रमुख क्षेत्र ये है —कर्नाटक का उत्तरी भाग, मैसूर में शिमोगा, हसन और कादुर के जिले, कुर्ग की पहाड़ियाँ, मद्रास मे नीलगिरि (नीलगिरि और मलाबार वाइनाड) के उत्तर एव दक्षिण के नीचे की पहाड़ियाँ एव नेलिअम्पाथी और कोइंइकैना की पहाड़ियाँ और त्रिवाकुर एव कोचीन राज्य की इलायची की पहाड़ियाँ। विभिन्न राज्यो में १,००,०००—१,२०,००० एकड़ भूमि मे हर वर्ष इलायची की खेती होती है। इस क्षेत्रफल का ५० प्रतिशत त्रिवाकुर-कोचीन मे, २३ प्रतिशत मैसूर में, १३ प्रतिशत कुर्ग मे और १३ प्रतिशत मद्रास मे पड़ता है। भारत के अतिरिक्त श्रीलंका ही ऐसा देश है जो बडी मात्रा में इलायची उत्पन्न करता है (७,००० एकड भूमि, १९३८ ई० मे)। इलायची की कुछ खेती मध्य अमेरिका मे, विशेषकर ग्वाटेमाला में की जाती है।

उपयोग .—इलायची एक वाणिज्यिक महत्त्व की वस्तु है। अधिकाशत यह विदेशो को भेजी जाती है जहा उसका उपयोग मसाले एव वासक के रूप मे किया जाता है। इलायची का उपयोग मसाले एव चर्वण पदार्थ (masticatory) तथा औषधि में होता है। इलायची के बीजो में एक बडी प्रिय गध होती है और एक विशिष्ट उष्ण एव हल्का तिक्त स्वाद होता है। इसके बीजो का उपयोग तरदार व्यञ्जन, केक, रोटी, रसोई के अन्य पदार्थो तथा मदिरा को सुवासित करने के लिए भी किया जाता है। मध्य पूर्व के देशो में इलायची का उपयोग कहवा (Coffee) को सुवासित करने के लिए किया जाता है। औषधि मे इसका उपयोग वातानुलोमक भेषजो के एक घटक के रूप मे होता है। ब्रिटिश और अमेरिकी भेषजकोशो मे इसे मान्यता प्राप्त है और इसका उपयोग ऐरोमैटिक उद्दीपक, वातानुलोम तथा वासक के रूप मे किया जाता है। इसके बीजो मे एक प्रकार का तेल निकाला जाता है, जिसका उपयोग भेषजी (फार्मेसी) और इत्र बनाने मे किया जाता है। इसके बीजो में यह (तेल) ४ से ८ प्रतिशत की मात्रा मे रहता है। इस तेल मे पर्याप्त मात्रा में

टर्पिनिल एसिटेट सिनिओल, मुक्त टर्पिनिऑल और सभवत लिमोनीन भी विद्यमान रहते है। सकलेसपुर से लाये गये इलायची के भाप आसुत जलीय अश मे ० ५ प्रतिशत वाष्पशील तेल पाया गया जिसके निम्नलिखित स्थिराक हैं —आपेक्षिक घनत्व ० ०९२०, nd³⁰, १ ४६०६, और D³⁰, O, सीनिऑल की मात्रा ८० प्रतिशत। वाष्पीय आसवन द्वारा उपलब्ध मलाबार इलायची के तेल मे बोर्निऑल पाया गया, किन्तु मैसूर इलायची के तेल मे यह नही मिला।

उत्पादन भारत में इलायची की औसत वार्षिक उपज ३५,००० और ४०,००० हण्डरवेट के बीच होती है। गत कुछ वर्षो मे पर्णजीवको (thrips) के आक्रमण के कारण कुछ क्षेत्रो मे इसका उत्पादन बहुत घट गया है। अब उपयुक्त नियत्रण उपायो के अपनाने से कई क्षेत्रो मे उपज बढने की सूचना मिली है। १९०२-०३ ई० मे भारत से विदेशो को निर्यात होने वाली इलायची की मात्रा २७०५ हण्डरवेट थी जो १९१९-२० ई० मे बढकर १६,५५६ हण्डरवेट हो गयी किन्तु इसके बाद निर्यात में बडी गिरावट आ गयी, पर धीरे-धीरे १९३९-४० ई० मे यह बढकर पुन १७,३८१ हण्डरवेट हो गयी। द्वितीय महायुद्ध के दिनो मे, जबकि यूरोपीय बाजार बन्द हो गये थे, पुन गिरावट आयी थी। १९४५-४६ ई० से निर्यात पुनः आरम्भ कर दिया गया है। उक्त महायुद्ध के पूर्व आयात करने वाले प्रमुख देश थे—स्वीडेन, जर्मनी, ब्रिटेन, सयुक्तराज्य अमेरिका तथा मध्य पूर्व के देश। १९४७ ई० से अरब तथा स्वीडेन आयात करने वाले प्रमुख देश हो गये हैं।

ऐमोमम की कुछ स्पीशीज के बीज जिन्हे कार्डेमम भी कहा जाता हैं, असली कार्डेमम (*E cardamomum*) के सदृश होते हैं और कार्डेमम के सस्ते स्थानापन्न हैं। भारत मे ऐमोमम ऐरोमैटिकम और ऐमोमम सुबुलैटम को खेती होती है।

एमोमम ऐरोमैटिकम (*Amomum aromaticum* Roxb) जिन्जिबरेसी (*Zingiberaceae*)

नाम–हि० और ब०–मोरग इलायची; म०-वेलदोडा

यह पौधा पूर्वी बगाल और असाम के लिए देशीय है, तथा वहाँ के आस-पास के क्षेत्रो मे भी पाया जाता है। हिमालय की तलहटी मे आसाम तथा बगाल के आर्द्र जिलो मे इसकी खेती की जाती है। इसके बीजो का उपयोग मसाले के रूप में होता है और वे औषधि मे भी व्यवहृत होते है। इसके बीजो मे लगभग १—१ २ प्रतिशत तेल होता है जिसमे सिनिओल बहुत अधिक परिमाण मे होता है। इस तेल मे इलायची की विशिष्ट गन्ध नही होती।

ऐमोमम सुबुलेटम (*Amomum subulatum* Roxb).

नाम—स०–एला, हिं० और व०–वडा इलायची, त०–पेरिया येलाके, फा०–काकिलाहे–कलाँ–

इस इलायची की खेती नेपाल, वगाल, सिक्किम और आसाम मे पहाडी नदियो के किनारे पकिल स्थानो मे की जाती है। इसके गहरे लाल-भूरे, गोलाकार (फलो की) सम्पुटिकाओ (१ इच लम्वी) की प्रत्येक कोशिका में अनेक बीज होते है जो एक गाढे, शर्करायुक्त मज्जा द्वारा परस्पर चिपके रहते हैं। ये सामान्यतया बाजार में दूकानदारो द्वारा वेचे जाते है। ये बीज गुण मे असली इलायची के वीजो के सदृश होते है जिनके स्थान पर प्राय इनका उपयोग किया जाता है। मिठाइयो के वनाने मे भी इनका उपयोग होता है। इन वीजो से प्राप्त तेल का जिसमे पर्याप्त मात्रा मे सिनिओल रहता है, सुवासन के लिए उपयोग होता है। देशीय एव पाश्चात्य दोनो औषधियो मे वडी इलायची का उपयोग अन्य उद्दीपक तिक्त और विरेचक औषधियो के साथ टिक्चर या चूर्ण के रूप में किया जाता है। आँखो में सूजन आ जाने पर उसके सशमन के लिए इसके तेल को पलको पर लगाते है।

सन्दर्भ :–

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) *Wealth of India*, *Raw Materials*, 1948, I, 68, 1952, III, 149, (3) Buskill, I H, 1935, *A Dictionary of Economic Products of the Malay Peninsula*, (4) Narasimhaswamy 1940, *Ind Jour Agric Sci*, 10, 1030, (5) *Agric Market India Rep*, 1947 Production and Marketing, Cardamom Marketing Ser No 59, 7.

एफेड्रा जिरार्डिआना (नीटेसी) और सबद्ध स्पीशीज
Ephedra gerardiana Wall. (Gnetaceae) and Allied Species

नाम—प०—असमानिआ, बुतशुर, चेवा।

हाल के वर्षों के कुछ ही भेषजो ने चिकित्सा व्यवसाय का इतना अधिक ध्यान आकृष्ट किया है जितना एफेड्रीन ने, जो चीनी पौधे, 'मा हुवाङ्ग' एफेड्रा सिनिका (*Ephedra sinica*) मे प्राप्त ऐल्केलॉयड है। इस विषय पर प्रयोगात्मक कार्य से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके है और प्रोफेसर वी इ रीड द्वारा सुसकलित एक ग्रन्थ सूची उन लोगो के लिए ध्यानाकर्षक होगी जो इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहते है। चीन मे इस भेपज का उपयोग गत पाँच हज़ार वर्षों से होता चला आ रहा है। फिर भी एफेड्रा का आवास (habitat) केवल चीन तक ही सीमित नही है, अपितु यह बहुत सी जगहो मे फैला हुआ है। ल्यू (Liu) ने वताया है कि यह समूचे

विश्व मे फैला हुआ है । भारत वर्ष मे इसकी अनेक जातियाँ हिमालय के शुष्क प्रदेशो मे बहुतायत से पैदा होती है । एफेड्रा की कुछ स्पीशीज़ मैदानो मे भी उपजती है, पर इनमे एल्केलॉयड नाम मात्र को या बिल्कुल ही नही होता है ।

इस देश की देशी औषधियो में इस पौधे का उपयोग कभी नही किया गया है। यद्यपि एचिसन (Aitchison) के अनुसार एफेड्रा वल्गैरिस के कुछ भाग का उपयोग लाहौल मे औषधीय दृष्टि से किया जाता है, किन्तु न तो आयुर्वेदिक (हिन्दू) चिकित्सा में और न तिब्बी (मुसलमानी) चिकित्सा मे इस भेषज का कोई उल्लेख मिलता है। कहते है कि एफेड्रा की एक उपजाति, सम्भवत एफेड्रा इटरमीडिआ (*E intermedia*) प्रसिद्ध 'सोम' नामक पौधा है, जिससे वैदिक काल के ऋषियो का अतिप्रिय पेय (सोम) तैयार किया जाता था, परन्तु इस बात की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नही मिलता है। चिकित्सा मे एफेड्रा के क्रमश बढते हुए प्रयोग एव इसकी उच्च मूल्य ने लेखक को भारतीय एफेड्रा के स्रोतो का अन्वेषण करने तथा उसके रासायनिक सघटन, गुण-कर्म एव क्लिनिकल उपयोगो का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया (१९२६) ई०। इसमे मिलने वाले एक अन्य ऐल्केलॉयड, स्यूडो-एफेड्रीन की भी, यह देखने के लिए कि क्या चिकित्सा में इसका कोई उपयोग हो सकता है, सावधानी के साथ छानवीन की गयी।

चोपडा और उनके सहयोगी (१९२९ ई०) झेलम घाटी की पर्वत श्रेणियो पर उगने वाली दो जातियो का वर्णन करते है। ये जातियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं, क्यो कि इनमे ऐल्केलॉयड की मात्रा बहुत अधिक होती है। इन दोनो मे एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन के अनुपात में बहुत बडी भिन्नता है

(१) एफेड्रा वल्गैरिस (*E vulgaris*) या एफेड्रा जेरार्डिआना (*E gerardiana*) को देशी भाषा मे जानुसार कहते है। यह एक छोटा, दृढ और प्राय ऊर्ध्व क्षुप है, जिसकी ऊँचाई सामान्यतया, १ से २ फुट होती है। यह हरिपाल जिला, कुर्रम घाटी (१,००० फुट की ऊँचाई पर), हिमालय में (८,००० से १४,००० फुट की ऊँचाई पर) एवं सिक्किम के भीतरी प्रदेशो मे भी समुद्र की सतह से १६५०० फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। इसमे ० ८ से १ ४ प्रतिशत तक ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है, जिसका लगभग आधा अश एफेड्रीन तथा शेष स्यूडो-एफेड्रीन होता है। यहाँ इस बात को भी ध्यान मे रखना चाहिये कि इन स्पीशीज़ की हरी शाखाओ (टहनियो) और स्तम्भो मे विद्यमान ऐल्केलॉयड की मात्रा में पर्याप्त अन्तर होता है। भारतीय एफेड्रा वल्गैरिस की हरी टहनियो मे उसके स्तम्भो की अपेक्षा चौगुना तथा एफेड्रा इण्टरमीडिया की हरी टहनियो में स्तम्भो की अपेक्षा ६ गुना ऐल्केलॉयड रहता है।

(२) एफेड्रा इण्टरमीडिया वैराइटी टिबेटिका (*E intermedia* var *tibetica*) को देशी भाषा मे 'हुम' (Trans-Indus) कहते है। यह एक छोटा और ऊर्ध्व क्षुप है। यह चित्राल की भीतरी घाटियो मे शुष्क पहाडी ढालो पर ४,००० से ५००० फुट की ऊँचाई पर, गिलगिट, जास्कर ऊपरी चेनाब और कनावर (६,००० से ९,००० फुट की ऊँचाई पर) मे तथा बलूचिस्तान मे भी पाया जाता है। वैराइटी टिबेटिका मे ०२ से १० प्रतिशत ऐल्केलॉयड रहता है जिसका ० ०२५ से ० ०५६ अंश एफेड्रीन और शेष स्यूडो-एफेड्रीन होता है।

एफेड्रा जेराडिआना और एफेड्रा इण्टरमीडिया को भ्रमवश एफेड्रा एक्विसेटिना (*E equisetina*) मान लिया गया है जो अपुष्पी पौधा होता है, किन्तु एफेड्रा एक्विसेटिना काष्ठीय नही होता तथा इसके स्तम्भ कोमले होते है और पत्तियाँ बहुत अधिक होती हैं जो शिखर पर पोरियो (internode) मे चिपकी रहती हैं, न कि उस क्षेत्र मे जहाँ से वे निकलती है। इनके सरस फलो, जडो, काष्ठीय स्कन्धो तथा शाखाओं मे बहुत कम एफेड्रीन पाया गया। स्तम्भ ही इसका वह भाग है जिसमें सर्वाधिक ऐल्केलॉयड मिलता है। इससे अच्छी मात्रा मे ऐल्केलॉयड पाने के लिए यह आवश्यक है कि शिशिरकालीन तुषारपात होने के पूर्व पतझड (शरद) में ही इसका सग्रहण कर लिया जाय।

एफेड्रा फोलिआटा (*E foliata* Boiss) जिसको देशीय भाषा में "कुचार" कहते हैं, बलूचिस्तान, सिन्ध, कुर्रम घाटी, पजाब के मैदानो, मुख्यत दक्षिणी भागो में और साल्टरेंज पर ३००० फुट की ऊँचाई तक पैदा होता है। इसमे ऐल्केलॉयड नही होता है। भारत में उपजने वाले एफेड्रा की स्पीशीज के सही २ नामाकन के बारे मे अभी हाल तक भ्रम था। भारत में पैदा होने वाले इस औषधीय पौधे की महत्त्वपूर्ण जातियाँ कौन कौन सी है और कहाँ कहाँ होती हैं, इसका ब्योरा नीचे दिया गया है। आगे के विवेचन मे वही पुराना वर्गीकरण रखा गया है।

एफेड्रा जिराडिआना, पर्याय एफेड्रा वल्गैरिस

E gerardiana Wall —Syn *E vulgaris* Hook f , non A Rich

नाम — प०—अम्मानिया, बुदगुर, चेवा, बुतशुर, लद्दाखी—त्से, तीपत, त्रानो; बुशहर—राची, खण्टा फाग।

यह जाति गर्म रूक्ष पर्वतीय (alpine) हिमालय के शुष्क प्रदेशो मे कश्मीर से लेकर सिक्किम तक ७,००० से १६,००० फुट की ऊँचाई पर और पागी (चम्बा) लाहौल और स्पीति (कुल्लू), कनावर (बाशहर) के चीनी और किन्वा कैलाश श्रेणियो पर,

शाली-पहाड़ियो पर (उत्तरी शिमला) तथा कश्मीर और लद्दाख मे यत्र-तत्र पाया जाता है। लाहौल घाटी में यह भागा (धार घाटी), चन्द्रा (कोक्सर घाटी) और चन्द्रभागा (पत्तनघाटी) नदियो के जलग्रह क्षेत्रो मे पाया जाता है। कश्मीर के दत्तामूला नामक स्थान मे पाये जाने वाले इस पौधे मे ऐल्केलॉयड पर्याप्त मात्रा मे रहता है। वैराइटी सैक्साटिलिस (var *saxatilis* Stapf) अपेक्षाकृत अधिक लम्बा और आरोही होता है, यह गढवाल और कुमायूँ मे पाया जाता है। वैराइटी सिक्किमेन्सिस (var *sikkimensis* Stapf) ऊर्ध्व, पुष्ट, किन्तु कोमल होता है। वह सिक्किम मे पैदा होता है। इसके प्रकन्द में फुटबाल के आकार की बडी बडी गाँठें होती हैं जिनका उपयोग तिब्बती लोग ईंधन के रूप मे करते है।

एफेड्रा इण्टरमीडिया (*E intermedia* Schrenk and Mey)—यह घनी शाखाओं वाला ऊर्ध्व अथवा शयान (prostrate) क्षुप है जो पागी, कनावर में सर्वत्र पाया जाता है, तथा कश्मीर, कुल्लू और जौनसार में कुछ कम मात्रा में पाया जाता है। इस पौधे की चार किस्मो का पता लगा है, जिनमे वैराइटी टिबेटिका भारत मे पाया जाता है। एफेड्रा पैचिक्लाडा (*E pachyclada* Boiss) इससे बिल्कुल मिलती जुलती स्पीशीज है जो चित्राल, बलूचिस्तान और अफगानिस्तान में पाया जाता है।

एफेड्रा मेजर-पर्याय एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस (*E major* Host, Syn *E nebrodensis* Tineo) यह एक ऊर्ध्व, यदाकदा आरोही, घनी शाखाओ वाला क्षुप है जिसकी ऊँचाई ६ फुट तक होती है। इसकी प्रोसेरा नामक वैराइटी [var *procera* (Fisch and Mey) Aschers., & Graebn] लाहौल में पायी जाती है। इसकी टहनियाँ एफेड्रा जिरार्डिआना की टहनियो से बहुत अधिक मिलती है।

एफेड्रा फोलिआटा (*E foliata* Boiss & Kotschy) यह एक लम्बा आरोही क्षुप है, जिसमे खाद्य फल लगते हैं। यह दक्षिणी पजाब तथा राजस्थान के मैदानो मे पाया जाता है। इस स्पीशीज की चार ज्ञात उपजातियो मे वैराइटी सिलिआटा [var *ciliata* (Mey) Stapf.] भारतवर्ष में पाया जाता है। इसमे ऐल्केलॉयड अधिक नही होता।

कृषि —औषधीय उपयोगवाले एफेड्रा की सफल खेती सयुक्त राज्य अमेरिका इगलैण्ड, केनिया और आस्ट्रेलिया मे की जा चुकी है। यह उत्तरी भारत मे ८,००० फुट या इससे अधिक ऊँचाई पर ऐसे प्रदेशो मे जहाँ वर्ष भर मे कुल वर्षा २० इच से अधिक नही होती, उगाया जा सकता है। जम्मू और कश्मीर तथा कुल्लू घाटी का कुछ भाग एफेड्रा जिरार्डिआना और एफेड्रा मेजर की खेती के लिए उपयुक्त स्थान है। इसके पौधे बीजो से, या स्तरण (layers) द्वारा, या प्रकन्दो के कर्तन द्वारा उगाये जाते

है । बसन्त के प्रारम्भ में बीज पंक्ति से बनाये गये छिलो (छिद्रो) में २ इंच के अन्तर पर, ०.५ इंच की गहराई में बो दिये जाते हैं। पंक्तियों की आपस की दूरी ३० इंच होनी चाहिये। लगभग एक वर्ष तक सिंचाई तथा निराई आवश्यक होती है। इसके पौधे दृढ (रोधी) होते हैं और अत्यधिक मरुद्भिदी (xerophytic) परिस्थितियो मे भी सतोषजनक रूप मे बढता है। भारतीय स्पीशीज, एफेड्रा मेजर, एफेड्रिन का सर्वाधिक सम्पन्न स्रोत है। लाहौल से सगृहीत पौधा मे २ ५ प्रतिशत से अधिक ऐल्केलॉयड होता है जिसका तीन चौथाई अश एफेड्रीन होता है। एफेड्रा इण्टरमीडिया के हरे स्तम्भो मे कुल ऐल्केलॉयड ०.७ से २ ३३ प्रतिशत रहता है, जिसका लगभग दशाश एफेड्रीन होता है और शेष स्यूडो-एफेड्रिन। ब्रिटिश फर्मास्यूटिकल कोडेक्स में 'एफेड्रा' के अन्तर्गत 'एफेड्रा सिनिका और एफेड्रा एक्विसेटिना की जो कि चीन के लिए देशीय है तथा एफेड्रा जिरार्डिआना (एफेड्रा मेजर को सम्मिलित कर) की, जो भारत के लिए देशीय है, शुष्क तरुण शाखाएँ होती है जिनमें कुल ऐल्केलॉयड १ २५ प्रतिशत से कम नही होना चाहिये जिसे एफेड्रिन के रूप में परिकलित करते हैं। इण्डियन फर्माकोपिअल लिस्ट मे 'एफेड्रा' के अन्तर्गत एफेड्रा जिरार्डिआना और एफेड्रा मेजर की शुष्क, पतली एव हरी, बेलनाकार टहनियां रहती हैं, जिनका सग्रहण शरद ऋतु मे किया जाता है और जिनमें १ प्रतिशत से कम कुल ऐल्केलॉयड नही होना चाहिये जिसे एफेड्रिन के रूप में परिकलित करते है। इसमे चीड के तरह की सुगध होती है और अत्यधिक कषाय स्वाद होता है। एफेड्रा के चूर्ण (Pulvis Ephedra) का मानक वही रखा गया है जो बिना पिसे हुए एफेड्रा का।

एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन की रासायनिक सरचना—एफेड्रीन, $C_{10} H_{15} O N$, एक रग विहीन क्रिस्टलीय पदार्थ है, जिसका गलनाक ४१-४२° से० है। इसके हाइड्रोक्लोराइड रगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होते है जिसका गलनाक २१६° से० है और जिसका विशिष्ट घूर्णन जल मे—३४ २° और ऐल्कोहॉल मे—६.८१° होता है। इसके प्लैटिनिक क्लोराइड रगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होते हैं जिसका गलनाक १८६° से होता है।

स्यूडो-एफेड्रीन अथवा आइसो-एफेड्रीन, $C_{10} H_{15} ON$, एफेड्रा जिरार्डिआना और एफेड्रा इण्टरमीडिया से एफेड्रीन के साथ उपलब्ध होता है और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ एफेड्रीन को गर्म करके तैयार किया जाता है। यह एफेड्रीन का दक्षिण ध्रुवण-घूर्णक समावयवी है जिसका विशिष्ट घूर्णन परिशुद्ध ऐल्कोहॉल मे +५०° है तथा ईथर मे क्रिस्टलन करने से प्राप्त क्रिस्टल का गलनाक ११८° से० होता है।

यह क्षारक (बेस) एक उज्ज्वल, रगविहीन, लम्बी सूचिकाकार क्रिस्टलीय पदार्थ

है जा ऐल्कोहॉल मे सुगमता पूर्वक विलेय है। इसका हाइड्रोक्लोराइड, रंगविहीन सूचिकाकार क्रिस्टल होता है जिसका गलनांक १७९° से० है। इसका ऑक्जलेट अल्प अत्यधिक विलेय होता है, जब कि एफेड्रीन ऑक्जलेट विलेय होता है और जल में क्रिस्टलन करने से सूक्ष्म सूचिका के आकार का होता है और जल में अल्पविलेय तथा ऐल्कोहॉल में उससे भी कम विलयशील होता है। एफेड्रीन ऑक्जलेट की इस अल्पविलेयता के कारण उसे डी-स्यूडो-एफेड्रिन मे सुगमता से अलग किया जा सकता है।

एफेड्रा के विभिन्न स्पीशीज़ के अनुसार एफेड्रीन तथा डी-स्यूडोएफेड्रीन के अनुपात में विभिन्नता पायी जाती है। इस भेषज का वास्तविक मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि इसमे एल-एफेड्रीन किस परिमाण में विद्यमान है। एफेड्रीन ऐल्केलॉयड कम से कम छ रूपो में पाया जाता है—एल-एफेड्रीन, डी-एफेड्रीन, डी एल-एफेड्रीन, एल-स्यूडो-एफेड्रीन, डी-स्यूडोएफेड्रीन, डी एल-स्यूडोएफेड्रीन। एल-एफेड्रीन तथा डी-स्यूडोएफेड्रीन ऐल्केलॉयडो को पृथक करने के बाद, एक तैलीय अवशेष बच जाता है जिसमें ऐल्केलॉयड की मात्रा काफी रह जाती है। इस तैलीय अवशेष से सिडनी स्मिथ ने दो और ऐल्केलॉयड पृथक किया जो एल-मेथिलएफेड्रीन और नॉर-डी स्यूडो-एफेड्रीन हैं। इसी तैलीय अवशेष को समानीत दाब (reduced pressure) द्वारा आसवित करके एलमेथिल एफेड्रीन तैयार किया गया, और ऐल्कोहॉल में इसके ऑक्जेलेट को घुलाकर परिष्कृत किया गया। एल-मेथिल एफेड्रीन का ध्रुवण-घूर्णन। २९ २° है ($[a]_D = 29.2°$)।

पोटैशीय मर्क्यूरिक आयोडाइड के घोल पर एल-एफेड्रीन तथा डी-स्यूडो एफेड्रीन ऐल्केलॉयडो की कोई विशिष्ट अभिक्रिया नही होती। इन ऐल्केलॉयडो के सल्फेट के १ प्रतिशत उदासीन घोल मे उपरोक्त अभिकर्मक को डाला जाय तो कोई अवक्षेप नही प्राप्त होता, पर ३ प्रतिशत उदासीन घोल के प्रयोग से अवक्षेप प्राप्त होता है जो तनु अम्लो मे शीघ्र विलेय हो जाता है। एल-मेथिल एफेड्रीन और डी एल-स्यूडोएफेड्रीन के घोल पर उक्त अभिकर्मक की अभिक्रिया इससे भिन्न होती है, इन ऐल्केलॉयडो के सल्फेट का १ प्रतिशत उदासीन घोल शीघ्र ही अवक्षेपित हो जाता है और ये अवक्षेप तनु अम्ल मे नही विलेय होते।

सम्भवत एफेड्रीन का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण उसकी स्थिरता है। इसके घोल, प्रकाश, वायु या गर्मी द्वारा अपघटित नही होते, और काल का स्पष्टत उनकी सक्रियता पर कोई प्रभाव नही पडता। उदाहरणार्थ एफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड का घोल जो एक विसंक्रमित एम्पुल में बन्द करके ६ वर्ष तक रखा गया था, ज्यो का त्यो बना रहा, और जब इन्जेक्शन द्वारा इसका प्रवेश मस्तिष्क सुषुम्ना-वेधित (Pithed) बिल्लियो के

शरीर मे कराया गया तो उसका स्वाभाविक रक्तदाब वर्द्धक (pressor) प्रभाव पडा। केण्डाल और विटज्मान (१९०७ ई०) ने यह प्रदर्शित किया है कि एपिनेफ्रीन की तुलना मे एफिड्रीन उपचयन (अक्सिडेशन) का अत्यधिक प्रतिरोधी है। डाइब्रोमो-फिनॉल इण्डोफिनॉल, मेथिलीन ब्ल्यू या इण्डिगो कार्मीन द्वारा एफेड्रीन उपचयित नही होता, पर एपिनेफ्रीन हो जाता है। स्यूडोएफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड भी अति स्थायी होता है। इसका १ प्रतिशत घोल अनेक सप्ताह तक कमरे के ताप पर रखे जाने पर भी अपने गुणो को बनाये रखता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि अनिश्चित काल तक इसके गुण ज्यो के त्यो बने रह सकते हैं। इसका घोल बिना अपघटन के उबाला जा सकता है। सीरम (serum) मिलाकर रखने पर, घण्टो के उष्मायन (इनकुबेशन) के बाद भी, एफेड्रीन तथा स्यूडोएफेड्रीन दोनो की सक्रियता में कोई कमी नही आती।

एफेड्रा का निर्यात

सभी विभिन्न स्पीशीज वानस्पतिक स्वरूप मे एक दूसरे से इतने मिलते जुलते है कि केवल रासायनिक विश्लेषण द्वारा ही उनका व्यापारिक दृष्टि से मूल्याकन किया जा सकता है। अच्छे कोटि के भेषजो मे निम्नकोटि के भेषज के अपमिश्रण की पूरी सम्भावना रहती है क्योकि उसका पता लगाना बडा कठिन है। एफेड्रीन चिकित्सीय दृष्टि से एक बहुत ही मूल्यवान भेषज है। यदि इस भेषज के सग्रहण एव ध्यानपूर्वक समुचित चयन पर किसी प्रकार का नियत्रण नही रखा गया तो भारतीय एफेड्रा, चीनी अथवा अन्य विदेशी एफेड्रा की प्रतियोगिता मे नही ठहर सकेगा। इस देश मे चोपडा एव उनके सहयोगियो तथा कृष्णा एव घोष द्वारा एतद्विषयक जो कार्य किया गया है उसमे नि सन्देह एफेड्रा जिरार्डिआना तथा एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस का व्यापारिक महत्त्व सुनिश्चित हो गया है, साथ ही इससे यह भी स्पष्ट हो गया है कि भारतीय एफेड्रा, एफेड्रीन की दृष्टि से उतना ही सम्पन्न है जितना चीनी एफेड्रा। भारतीय एफेड्रा की माँग भारत तथा अन्य देशो मे हो रही है। किसी भी भेषज के निर्यात का ठीक-ठीक आँकडा प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन है क्योकि बहुत से भेषजो का वर्गीकरण कस्टम विभाग के विवरण पत्रो मे एक साथ कर दिया जाता है। परिमित आकलन के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत से १९२८-२९ में एफेड्रा का निर्यात लगभग २,००० मन हुआ था। ये आँकडे चीन के हाल के विकसित व्यापार के आकडो का एक अश भर है। सम्पूर्ण चीन से एफेड्रा का निर्यात प्रतिवर्ष लगभग ८,००० मन होता है। देश-विभाजन के पूर्व भारत मे एफेड्रा का प्रमुख स्रोत बलूचिस्तान था। इस देश मे

ही अब इसका स्रोत ढूंढ निकालने के प्रयास किये जा रहे है। लाहौल, पागी और कश्मीर मे पैदा होनेवाला एफेड्रा व्यापारिक दृष्टि से पर्याप्त उपयुक्त है। हाल के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि सिक्किम मे पैदा होनेवाला एफेड्रा, ऐल्केलॉयड की दृष्टि से समृद्ध है। इसके एक नमूने से १'६०७ प्रतिशत एफेड्रीन हाइड्रोक्लोराइड उपलब्ध हुआ।

विदेशी बाजारो में ऐसे एफेड्रा की मॉंग है जिसमे एफेड्रीन १ प्रतिशत से अधिक हो। भारत से भेजे गये कुछ ही एफेड्रा में इस अपेक्षित परिमाण में एफेड्रिन पाया गया। एफेड्रा की विभिन्न जातियाँ एक ही स्थान पर पायी जाती है, इसलिए सचयन-कर्ता के लिये एक स्पीशीज़ से दूसरी स्पीशीज़ का भेद करना कठिन हो जाता है।

सर्वोच्च कोटि के एफेड्रा में निम्न श्रेणी के एफेड्रा के अपमिश्रण की सभावना सदा बनी रहती है। यह समस्या इस तरह से हल हो सकती है कि ऐसे कुशल व्यक्तियो को इस कार्य पर लगाया जाय जो सुगमता पूर्वक सबका भेद पहचानकर उपयुक्त स्थानो एव उचित समय पर जाकर उनका सग्रह करें। वाणिज्यिक एफेड्रा मे ऐल्केलॉयड की मात्रा मे जो विभिन्नता पायी जाती है तज्जन्य कठिनाई को दूर करने के लिए वन-अनुसधान-सस्थान (Forest Research Institute) देहरादून ने यह सुझाव दिया है कि ऐसा एफेड्रा-सार बाजार मे भेजा जाय जिसमे कुल ऐल्केलॉयड १८-२० प्रतिशत हो और जो भार मे अपरिष्कृत भेषज का ५ प्रतिशत हो। निष्कर्पण प्रक्रिया में ऐल्केलॉयड की क्षति ७-८ प्रतिशत से अधिक नही होती। निष्कर्पण में किसी जटिल यत्र की आवश्यकता नही पडती, यह निष्कर्षण प्रक्रिया उन्ही क्षेत्रो में, जहाँ यह पौधा उत्पन्न होता है, बडी सुगमता से सम्पन्न किया जा सकता है, इससे इसके परिवहन मूल्य मे पर्याप्त कमी हो जाती है। शुष्कसत्व का उपयोग शुद्ध एफेड्रीन निर्माण के लिए किया जा सकता है। फाइन केमिकल्स, ड्रग ऐण्ड फार्मास्युटिकल्स पैनेल की रिपोर्ट (१९४६ ई०) के अनुसार सन् १९४५ ई० में भारतवर्ष मे एफेड्रीन का उत्पादन ३,००० पौण्ड हुआ था। एफेड्रा की पूर्ति मुख्यत बलूचिस्तान से होती थी। देश विभाजन के उपरान्त बलूचिस्तान से इसका आना अनिश्चित हो गया है और भारत मे एफेड्रीन का उत्पादन गिर गया है। भारत मे वे स्थान जहाँ एफेड्रा उगता है सुगम है और इस भेपज का सडको के छोर पर (road head) मूल्य लगभग १५ रु० मन है। यह मूल्य लगभग उतना ही है जिस पर विभाजन से पूर्व बलूचिस्तान से यह प्राप्त किया जाता था। भारत में एफेड्रीन के नियमित सम्भरण के लिए एफेड्रा की चुनी हुई स्पीशीज का व्यापारिक स्तर पर यहाँ कृषि करना सम्भव है।

भारतीय एफेड्रा के वितरण स्थान · नीचे सारणी ६ में, भारत मे उत्पन्न होनेवाली एफेड्रा की विभिन्न स्पीशीज का वितरण स्थान दिया गया है —

सारणी ६

भारतीय एफेड्रा

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अभ्युक्ति
एफेड्रा फोलिआटा	बम्बई और सिन्ध के मैदान, साल्ट रेंज ३,००० फुट तक, पजाव, राजपूताना की अनुर्वर भूमि में प्राय समूह में (यूथी) आदि ।	टालवॉट द्वारा लिखित 'फॉरेस्ट फ्लोरा ऑफ बम्बई प्रेसिडेन्सी ऐण्ड सिन्ध' नामक ग्रथ का दूसरा खण्ड, पृष्ठ ५४१	×
एफेड्रा पिडकुलैरिस (एफेड्रा फोलिआटा)	पजाव, राजपूताना और सिन्ध ।	हूकर जे० द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' पञ्चम खण्ड, पृ० ६४० और ८६३	×
एफेड्रा इटरमीडिआ	कश्मीर	हूकर जे० द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', पृ० ८६३	×
एफेड्रा वल्गैरिस	अफगानिस्तान, बलूचिस्तान की उत्तरी, पश्चमी चट्टानी पहाडियाँ, भीतरी शुष्क एव मध्य-हिमालय, झेलम, चेनाव और सतलज ७,८०० फुट से १२८०० फुट, पश्चिमी तिब्बत १६००० फुट तक, कुमायूँ और सिक्किम का भीतरी भाग तथा तिब्बत के सलग्न भाग ।	ग्राडिस द्वारा लिखित 'फारेस्ट फ्लोरा ऑफ नार्थ-वेस्ट ऐण्ड सेण्ट्रल इण्डिया'	पर्याय-एफेड्रा जिरार्डिआना

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अभ्युक्ति
एफेड्रा जिरार्डिआना	कुमायूँ, मुख्य हिमालय के बीच की श्रेणियाँ ६,५०० से १४,००० फुट तक तथा अति सामान्य रूप से तिब्बत के सीमावर्ती शुष्क भीतरी श्रेणियों पर खुले कंकरीली स्थानो में तथा चट्टानो के बीच।	ओस्मास्टोन द्वारा लिखित 'ए फ्लोरा ऑफ कुमायूँ'	पर्याय—एफेड्रा वल्गैरिस (*E vulgaris*) (Hook f. non A Rich)
एफेड्रा जिरार्डिआना	उत्तरी गढ़वाल डिवीजन, मध्य अल्मोड़ा, पूर्वी अल्मोड़ा, अत्यधिक सामान्य।	ओस्मास्टोन द्वारा लिखित 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ ट्रीज ऐण्ड श्रब्स बिट्वीन दी गैन्जेज ऐन्ड शारदा रिवर'	×
वही	पर्वतीय हिमालय और पश्चिमी तिब्बत तथा सिक्किम। शीतोष्ण और पर्वतीय हिमालय तथा पश्चिमी तिब्बत के शुष्क प्रदेशो मे ७,००० से १२,००० फुट तथा सिक्किम मे १२,००० से १६,००० फुट।	हूकर, जे, द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' पचम खण्ड, पृष्ठ ६४० और ८६३	×
एफेड्रा जिरार्डिआना वैराइटी वालिचाइ	पश्चिमी तिब्बत, कनावर, गढ़वाल और कुमायूँ।	श्री हूकर, जे० द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' खण्ड पाच, पृ० ६४० और ८६३	×

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अभ्युक्ति
ए जिरर्डिआना वैराइटी वीटा-सैक्साटिलिस	गढवाल और कुमायूँ	वही	×
वैराइटी गामा-सिक्किमेन्सिस	सिक्किम	वही	×
एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस वैराइटी प्रोसेरा	लाहौल एव पश्चिमी तिब्वत	वही	एफेड्रा जेरार्डिआना की श्रेणी मे वर्गीकृत
एफेड्रा पैचिक्लाडा	गढवाल तथा गढवाल से पश्चिम की ओर १५,००० फुट की ऊँचाई तक	वही	पर्याय एफेड्रा इण्टरमीडिया
वैराइटी ग्लाउका	मगोलिया से कश्मिर तक	वही	×
वैराइटी टिवेटिका	अफगानिस्तान की सीमा पर पश्चिमी तिब्वत, अफगानिस्तान।	वही	×
	विहार और उडीसा	हेन्स द्वारा लिखित 'वॉटनी ऑफ विहार एण्ड उडीसा'	एफेड्रा नही पाया जाता।
	उत्तरी वरार के वन	डिस्क्रप्टिव वोटैनिकल लिस्ट	वही
	उत्तरी वरार के वन।	विट द्वारा लिखित 'डिस्क्रिप्टिव वोटैनिकल लिस्ट, नार्दर्न एण्ड वरार फारेस्ट सर्किल्स, सी पी'	वही
	मध्य प्रदेश	हेन्स द्वारा लिखित 'डिस्क्रिप्टिव लिस्ट ऑफ ट्रीज, श्रब्स एण्ड इकानामिक हर्ब्स ऑफ दी एस सी सी पी'	वही

स्पीशीज	क्षेत्र	सन्दर्भ	अभ्युक्ति
एफेड्रा पैचिक्लाडा वैराइटी टिबेटिका	छोटा नागपुर	हेन्स द्वारा लिखित 'ए फॉरेस्ट फ्लोरा ऑफ छोटा नागपुर।'	वही
	गंगा के मैदान	डथी द्वारा लिखित 'फ्लोरा ऑफ दि अपर गैन्जेटिक प्लेन', भाग १, २ तथा ३	वही
	चटगाँव और पहाड़ी प्रदेश	हाइनिग द्वारा लिखित 'लिस्ट ऑफ प्लाट्स ऑफ दि चिटगांव ऐण्ड हिल ट्रैक्ट्स'	वही
	जिला दार्जिलिंग	गैम्बुल द्वारा लिखित 'ट्रीज, श्रब्स ऐण्ड लार्ज क्राइम्बर्स फाउण्ड इन दि दार्जिलिंग डिस्ट्रिक्ट	वही
	बंगाल	प्रेन द्वारा लिखित 'बंगाल प्लाट्स'	वही
	ऊपरी आसाम तथा खासी की पहाड़ियाँ	यू. एन. काजीलाल द्वारा लिखित 'प्रिलिमिनरी लिस्ट ऑफ प्लाट्स ऑफ अपर आसाम इन्क्लूडिंग खासी हिल्स'	वही
	नीलगिरि तथा पुलनी की पर्वत श्रेणियाँ	फाइसन द्वारा लिखित 'दि फ्लोरा ऑफ दि नीलगिरि ऐण्ड पुलनी हिल टॉप्स'	वही

स्पीशीज की विभिन्नता के कारण ऐल्केलॉयड की मात्रा मे अन्तर '—श्री रीड और ल्यू (1928) ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि सारे ससार में

एफेड्रा पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। इस पौधे की अनेको स्पीशीज का पता है पर उनमें से कुछ में ही सक्रिय तत्त्व पाया जाता है। अमेरिकी एफेड्रा की जातियो मे प्राय एफेड्रीन नही उपलब्ध होता। यूरोपीय एफेड्रा मे एक समावयविक ऐल्केलॉयड स्यूडो-एफेड्रीन पाया जाता है। चीनी तथा भारतीय एफेड्रा मे एफेड्रीन एवं स्यूडो-एफेड्रीन दोनो पाये जाते है, दोनो मे से किसी एक के ऐल्केलॉयड का परिमाण स्पीशीज पर निर्भर करता है। वन-अनुसधान-सस्थान देहरादून के कृष्णा एव घोष के साथ इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक (चोपडा) ने भारतीय एफेड्रा पर विस्तृत अध्ययन किया है, जिसके उपलब्ध परिणाम सारणी ७ एव ८ में दिये गये है। विभिन्न क्षेत्रों से लगभग एक ही समय मे सगृहीत एफेड्रा की तीन सामान्य स्पीशीज से प्राप्त कुल ऐल्केलॉयडो एव एफेड्रीन की प्रतिशतता सारणी ७ मे प्रदर्शित की गयी है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सभी नमूनो में अक्टूबर एव नवम्बर के महीनो का, जब कि एफेड्रीन की प्राप्ति सर्वाधिक होती है, आँकडा उपलब्ध नही है। सारणी ८ मे अभिलिखित अधिकाश नमूने वैयक्तिक सग्रहकर्ताओ द्वारा उपलब्ध हुए थे और वे सुविधानुकुल जून से सितम्बर तक के महीनो मे सगृहीत किये गये थे। ये महीने तुलना के लिए आदर्श रूप नही हो सकते क्यो कि ऐल्केलॉयड पर वर्षा का जो प्रभाव पडता है वह उपेक्षणीय नही, और खास तौर से तो ऐसे क्षेत्रो (चक्राता) मे जहाँ अत्यधिक वर्षा होती है। इस प्रसग का विवेचन अन्यत्र विस्तार से किया गया है।

सारणी ७

स्पीशीज	सग्रह-क्षेत्र	सग्रह माह	कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत
एफेड्रा फोलिआटा	—	—	० ०३	×
एफेड्रा इण्टरमीडिआ	रज़माक (वजीरिस्तान)	अगस्त १९२८	० १७	० ११
	दाताखेल (वही)	सित १९२८	० १२	० ०९
	शिगढ (बलूचिस्तान)	सित १९२९	० ४२	० १९
	जार्घाट (बलूचिस्तान)	सित. १९२९	० ९०	० ४८
	पागी (बाशहर)	जुला० १९२९	१ ६२	० ०७
	स्पीति (कागडा)	जून १९२९	१ २०	० ०५
	गिलगिट (कश्मीर)	जुला० १९२९	० ६७	—
	नियावत एस्तोर (कश्मीर)	जुला० १९२९	० ७५	० ०८

स्पीशीज	संग्रह-क्षेत्र	संग्रह माह		कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत
	कार्गिल (कश्मीर)	जुला०	१९२९	१ १७	० ०५
	चीनी रेन्ज (वशहर डिवीजन)	मई	१९२९	२.३३	० ३८
एफेड्रा जेरार्डिआना और एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस	रज्मक (वजीरिस्तान)	मई	१९२९	१ ९७	१ ४३
एफेड्रा जेरार्डिआना और एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस	शहीदुम (बलूचिस्तान)	अग०	१९२९	१ ४०	० ९८
	सारी (वही)	अग०	१९२९	१ ३१	० ९०
	शिगढ (वही)	अग०	१९२९	१ ६७	१ १२
	जार्घाट (वही)	सित०	१९२९	१ ३४	० ९६
	नारग (कागन)	अग०	१९२९	१ ९३	१·३०
	घत्तामुल्ला (कश्मीर)	अग०	१९२९	१·२२	० ६८
	फारी (तिब्बत फ्राटियर)	नव०	१९२८	० २९	० १०
	चक्राता	नव०	१९२९	०·९३	० ७२
	हजारा	मई	१९२८	०·७४	० ४८
	वारामुल्ला (कश्मीर)	नव०	१९२९	१ २८	०·८०
	लाहौल	अक्टू०	१९२९	२ ७९	१ ९३
	प्लास कोहिस्तान (ट्रास फ्राटियर)	सित०	१९२८	·१ १४	० ८४
	कागन घाटी	जुला०	१९२८	१ ८१	१ २३
	कागन	अक्टू०	१९२९	२ १५	१ ५२
एफेड्रा ऐक्विसेटिना	चीन		—	१ ५८	० ९८
एफेड्रा सिनिका	चीन		—	१ २८	० ६३

सारणी ८

क्षेत्र	ऊँचाई फुट में	स्पीशीज	संग्रह माह १९२९	कुल ऐल्के-लॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत	कुल ऐल्के-लॉयड में एफेड्रीन प्रतिशत
स्पीति (कांगडा)	८,०००–९,०००	ए इण्टरमीडिआ	जून	१ २०	० ०५	४ १

क्षेत्र	ऊँचाई फुट मे	स्पीशीज	सग्रह माह १९२९	कुल ऐल्के-लॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत	कुल ऐल्के-लायड मे एफेड्रीन प्रतिशत
गिलगिट (कश्मीर)	४,८९०	ए० इण्टरमीडिआ	जुलाई	०.६७	—	—
नियावत ऐस्टोर (कश्मीर)	७,८३६	,,	,,	०.७५	० ०८	१०·६
पागी (त्राशहूर डिवीजन)	८,५००	,,	जुलाई	१·६२	० ०७	४·३
कागिल (कश्मीर)	८,७३३	,,	,,	१ १७	० ०५	४·२
शिगढ (वलूचिस्तान)	९,०००	,,	सितम्बर	०·४२	०·१९	४५ २
जार्घाट (वलूचिस्तान)	८,०००	,,	,,	०·९०	० ४८	५३ ३
रज्मक वजीरिस्तान	८,५००	ए० नेब्रोडेन्सिस	जुलाई	१·७०	१·०५	६१ ७
शहीदुम (वलूचिस्तान)	८,२००	,,	अगस्त	१·४०	० ९८	७० ०
सारी (वलूचिस्तान)	९,०००	,,	,,	१ ३१	० ९०	६८ ०
शिगढ (वलूचिस्तान)	९,०००	ए० नेब्रोडेन्सिस	अगस्त	१ ६७	१ १२	६७ ०
जार्घाट (वही)	८,०००	,,	सितम्बर	१ ३४	० ९६	७१ ६
कार्डुङ्ग (लाहौल)	१०,०००	,,	जुलाई	२·५६	१ ६३	६३·६
नारग (कागन)	८,०००	ए० जेराडिआना	अगस्त	१·९३	१·३०	६७·३
घत्तामुल्ला (कश्मीर)	४,७००	,,	अगस्त	१.२२	०·६८	५५·७
चक्राता	६,८८५	,,	,,	० २८	० १४	५०·०

इनसे यह स्पष्ट है कि इन तीनो स्पीशीज मे ऐल्केलॉयड की विभिन्नता अत्यधिक पायी जाती है। जहा तक कुल ऐल्केलॉयड का प्रश्न है, विभिन्नता उतनी अधिक नही होती, किन्तु जहा तक कुल ऐल्केलॉयड मे एफेड्रीन की मात्रा का सम्बन्ध है यह अन्तर विशेष रूप से दिखाई देती है। साधारणतया, एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस और एफेड्रा जिराडिआना के कुल ऐल्कोलॉयडो मे ६० से ७० प्रतिशत एफेड्रीन तथा एफेड्रा इण्टर-मीडिआ मे लगभग १० प्रतिशत एफेड्रीन पाया जाता है। इसके अपवाद रूप में वलूचिस्तान से उपलब्ध एफेड्रा इण्टरमीडिआ है, जिसमे कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है, किन्तु एफेड्रीन का अनुपात अधिक होता है। एफेड्रा इण्टर-मीडिआ में स्यूडो-एफेड्रीन सर्वदा अधिक होता है। कुल ऐल्केलॉयड मे एफेड्रिन का अनुपात, जैसा यहा दर्शाया गया है, सर्वश्री रीड और फेन्ग (Read and Feng)

द्वारा भारतीय एफेड्रा मे उपलब्ध एफेड्रिन के अनुपात से थोडा भिन्न है, जहाँ एफेड्रा इण्टरमीडिया मे एफेड्रीन कुल ऐल्केलॉयड का ३० से ४० प्रतिशत एफेड्रीन होना दर्शाया गया है। यह वैभिन्य एफेड्रीन के आमापन की रीति मे भिन्नता के कारण हो सकता है। यहाँ दी गयी एफेड्रीन की प्रतिशतता अपरिष्कृत पौधे से पृथक किये गये एफेड्रिन हाइड्रोक्लोराइड के भार पर आधारित है, न कि रीड और फेन्ग द्वारा विकसित बाइयूरेट (biuret) अभिक्रिया द्वारा उपलब्ध सभावित बेस की प्रतिशतता के आधार पर। भारतीय, चीनी, अमेरिकी और अफ्रीकी एफेड्रा में विद्यमान ऐल्केलॉयड की मात्रा तुलना के लिए सारणी ९ मे प्रस्तुत की जा रही है।

सारणी ९

देश	स्पीशीज	कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत	स्यूडोएफेड्रीन प्रतिशत
भारतीय	एफेड्रा फोलिआटा	० ०३	×	×
	एफेड्रा इण्टरमीडिआ	२ ३३	०·४०	१८
	एफेड्रा जिरार्डिआना	२ १५	१·५२	×
	एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस	२·७९	१ ९३	×
चीनी	एफेड्रा सिनिका	१ ३१५	१,११८	०.२६३
	एफेड्रा एक्विसेटिना	१ ७५४	१ ५७९	०·२६४
अमेरिकी	एफेड्रा नेवैडेन्सिस (*E nevadensis*)	—	×	×
	एफेड्रा ट्राइफुर्का (*E trifurca*)	—	×	×
	एफेड्रा कैलिफोर्निका (*E californica*)	०·०१४	×	×
अफ्रीकी	एफेड्रा ऐलाटा(*E. alata*)	—	—	१·०

ऊँचाई का प्रभाव :

चीनी एफेड्रा के विषय मे यह दिखाया जा चुका है कि इन जातियो में उनके उत्पत्ति स्थान की ऊँचाई के अनुसार एफेड्रीन की मात्रा मे भिन्नता पायी जाती है। कृष्णा और घोष के सहयोग से इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक (चोपडा) ने हाल में भारत के विभिन्न क्षेत्रो से सग्रहीत एफेड्रा पर किये गये अनुसधानो से कुछ नये तथ्यो पर प्रकाश डाला है जो चीनी एफेड्रा के विषय मे अभिलिखित तथ्यो से मेल नही खाते। सारणी ८ में देखा जा सकता है कि समुद्र की सतह से ९ ००० फुट की

ऊँचाई पर स्थित दो भिन्न क्षेत्रो (बलूचिस्तान के सारी और शिगढ) से सग्रहीत एफेड्रा नेब्रोडेन्सिस के नमूनो मे एफेड्रिन की उपलब्धि (० ९० से १ १२ प्रतिशत) मे काफी अन्तर दिखायी पडता है। धत्तामुल्ला (कश्मीर) से नमूने के तौर पर सग्रहीत एफेड्रा जेराडिआना मे एफेड्रीन की विद्यमानता ० ६८ प्रतिशत दिखायी पडती है, जब कि एफेड्रा की इसी जाति मे, जो अपेक्षाकृत अधिक ऊँचाई (६,८८५ फुट) पर स्थित अन्य क्षेत्र (चक्राता से) सग्रहीत किया गया था, एफेड्रीन कम पायी जाती है। इसलिए भारतीय एफेड्रा मे विद्यमान एफेड्रीन की मात्रा से ऊँचाई का कोई सम्बन्ध नही दिखायी पडता।

वर्षा का प्रभाव :

भारतीय एफेड्रा की एक रोचक विशेषता यह है कि एफेड्रा के उत्पन्न होने वाले क्षेत्र की वर्षा का एफेड्रीन की मात्रा पर विपरीत प्रभाव पडता है। जितनी ही अधिक वार्षिक वृष्टि होगी, उतना ही कम ऐल्केलायड उपलब्ध होगा। न केवल वार्षिक वृष्टि का ही एफेड्रीन की मात्रा पर कुप्रभाव पडता है, अपितु जब कभी मूसलाधार वृष्टि होती है तो एफेड्रीन की मात्रा बहुत कम हो जाती है। कई स्थानो पर यह बात देखी गयी है, उदाहरणार्थ, हजारा-स्थित कागन में, जहाँ इसका सग्रह लगातार गहरी वर्षा के बाद सितम्बर मे किया गया था, परिणामत एफेड्रीन की उपलब्धि अत्यल्प हुई। इसी तरह चक्राता मे जुलाई और अगस्त के महीनो मे भारी वर्षा होने के कारण अगस्त और सितम्बर मे सग्रहीत एफेड्रा मे एफेड्रीन की मात्रा अत्यल्प पायी गयी। लाहौल एव कागन जैसे स्थानो मे जहाँ नवम्बर के प्रारम्भ मे हिमपात आरम्भ हो जाता है, अक्टूबर मे सर्वाधिक एफेड्रीन उपलब्ध होता है। इसके विपरीत, चक्राता, बारामुल्ला और चीनी जैसे स्थानो में नवम्बर मे सर्वाधिक एफेड्रीन पाया जाता है। भारतीय एफेड्रा मे एफेड्रीन की मात्रा पर वृष्टि का कुप्रभाव सारणी १० मे दर्शाया गया है।

सारणी १०

क्षेत्र (प्राप्तिस्थान)	औसत वार्षिक वृष्टि इंच	औसत कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	औसत एफेड्रीन प्रतिशत
कागन	३–१०	१ ९०	१.२०
राजमाक	२०	१ ४६	० ९०
कश्मीर	३२	१ १५	० ६५
बरामुल्ला	४५	० ९०	० ५२
चक्राता	७५	० ६३	० ४५

ऋतु का प्रभाव

यह देखा जा चुका है कि एफेड्रा मे एफेड्रीन की मात्रा, उसके सचयन काल के अनुसार न्यूनाधिक हुआ करती है। एफेड्रा के ऐल्केलॉयड की मात्रा मे ऋतु-जन्य विभिन्नता का अध्ययन करने के लिए इन तीनो स्पीशीज का मासिक सचयन भारत के विभिन्न क्षेत्रो से किया गया और उनमे विद्यमान ऐल्केलॉयड का आमापन किया गया। पहला सग्रह अप्रैल के महीने मे जब कि पौधो मे नये प्ररोह निकलते है, किया गया और यह (सग्रह) कार्य कई महीनो तक चलाया गया जिसके अन्तर्गत इसके फूलने का काल और परिपक्वता की अवधि जो अक्टूबर तथा नवम्बर मे होती है शामिल है। तत्पश्चात् इसके सूखने तथा मुरझा जाने के लक्षण दिखायी पडने लगते है। चीनी एफेड्रा का परीक्षण करके रीड (१९२८ ई०) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "एफेड्रा सिनिका और एफेड्रा एक्विसेटिना मे एफेड्रिन की मात्रा मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, और वसन्त से लेकर शरद् (पतझड) तक लगभग २०० प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। इससे शरद् मे सग्रह करने की प्राचीन चीनी प्रथा का समर्थन होता है।" कश्मीर के एफेड्रा पर चोपडा और दत्त (१९३० ई०) द्वारा किये गये आमापन के फलस्वरूप एवं भारत के विभिन्न क्षेत्रो से सगृहीत एफेड्रा पर चोपडा, कृष्णा एव घोष (१९३१ ई०) द्वारा किये गये आमापन के परिणामो से यह स्पष्ट है कि भारतीय एफेड्रा में विद्यमान ऐल्केलॉयड मे अप्रैल से नवम्बर तक कोई बडा अन्तर नही पडता, और न प्रत्येक महीने में पाया जाने वाला अन्तर ही एक सा और नियमित होता है, जैसा कि रीड ने दिखाया है। सभी विश्लेषित नमूनों मे, एफेड्रिन की मात्रा मई के प्रारम्भ से घटने लगती है, जो वर्षा के दिनो मे घटती जाती है और अगस्त मे अर्थात् वर्षा के अन्त मे, न्यूनतम स्तर पर पहुँच जाती है। इसके बाद ऐल्केलॉयड की मात्रा बढने लगती है और शरद् के महीनों मे अर्थात् अक्टूबर और नवम्बर मे अधिकतम हो जाती है और पुन शिशिर के महीने मे घट जाती है। इस प्रकार भारतीय एफेड्रा मे विद्यमान ऐल्केलॉयड की मात्रा में, मई से लेकर अगस्त तक जो कमी होती है उसका कारण और कुछ नही, अपितु जलवायु है।

भडारण का प्रभाव

इस भेषज मे विद्यमान एफेड्रीन की मात्रा पर भराडारण का जो प्रभाव पडता है, उसका अध्ययन किया जा चुका है, जो औद्योगिक महत्त्व की बात है। सारणी ११ मे दिये गये विश्लेषणो के परिणामो से यह ज्ञात होता है कि यदि इस भेषज को

भली भाँति हवा में सुखा कर, जीवाणुवृद्धि को रोकने के लिए सूखे स्थान में भंडारण किया जाय, तो एफेड्रीन की मात्रा में बिना किसी ह्रास के काफी लम्बी अवधि तक इसे सुरक्षित रखा जा सकता है।

सारणी ११

एफेड्रा के एफेड्रीन की मात्रा पर भंडारण का प्रभाव

एफेड्रा की किस्म	संचय तिथि	विश्लेषण तिथि	कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	एफेड्रीन प्रतिशत
एफेड्रा इण्टरमीडिआ चीनी से	नवम्बर १९२८ ई०	मार्च १९२९ ई०	२.०८	०.५०
		दिसम्बर १९२९ ई०	१.९०	०.४८
एफेड्रा जेरार्डिआना कश्मीर से	जून १९२८ ई०	अगस्त १९२८ ई०	०.८६	०.५५
		जून १९२९ ई०	०.७६	०.४७
		दिसम्बर १९२९ ई०	०.८३	०.५०
वही	अक्टूबर १९२८ ई०	नवम्बर १९२८ ई०	०.९३	०.६३
		जून १९२९ ई०	१.०१	०.६७
		दिसम्बर १९२९ ई०	०.९२	०.६०

अन्य भारतीय पौधों में एफेड्रीन

चोपड़ा और दे (१९३० ई०) ने साइडा कॉर्डिफोलिआ (*Sida cordifolia*) में एक अनुकम्पीअनुकारीसम (सिम्पैथोमिमेटिक) ऐल्केलॉयड की विद्यमानता बतायी है, जिसका गुण-कर्म बिल्कुल एफेड्रीन जैसा होता है और उन्होंने समझा कि यह ऐल्केलॉयड निःसन्देह एफेड्रीन था। तदन्तर, घोष और दत्त (१९३० ई०) ने दिखाया कि इस सिम्पैथोमिमेटिक ऐल्केलॉयड में एफेड्रीन के सभी रासायनिक एवं भौतिक गुण पाये जाते हैं। यह पौधा उष्ण एवं उपोष्ण भारत में सर्वत्र पाया जाता है और श्रीलंका में सड़कों के किनारे वन्य अवस्था में पाया जाता है। इसकी जड़ें, पत्तियाँ एवं बीज सभी आयुर्वेदिक चिकित्सा में क्षुधावर्धक एवं हृद्वल्य के रूप में व्यवहृत होते हैं।

समूचे पौधे में (जिनमें पत्तियाँ, बीज, स्तम्भ तथा जड़ें सभी सम्मिलित हैं) ०.०८५ प्रतिशत ऐल्केलॉयड पायी जाती है। बीजों में ऐल्केलॉयड अधिक मात्रा में, ०.३२ प्रतिशत, विद्यमान रहता है। इस (अनुसंधान) कार्य में एक विचित्र बात

यह मालूम हुई कि वनस्पति जगत की बिल्कुल दो भिन्न शाखाओ (divisions), मे एफेड्रीन पाया जाता है, एफेड्रा जिम्नोस्पर्म (Gymnosperm) के अन्तर्गत आता है, जब कि साइडा कार्डिफोलिया, ऐंजिओस्पर्म (Angiosperm) के।

चोपडा और डे ने मोरिंगा टेरिगोस्पर्मा (*Moringa pterygosperma*) (सैंजन या सहिजन) मे भी एफेड्रीन जैसा सिम्पैथोमिमेटिक ऐल्केलॉयड पाया है।

भारतीय एफेड्रा से उपलब्ध एफेड्रीन तथा स्यूडोएफेड्रीन का गुण-कर्म

१८८७ ई० मे एफेड्रीन के खोज के बाद से, एफेड्रीन पर रासायनिक दृष्टिकोण से अत्यधिक ध्यान दिया गया, किन्तु इसके ताराप्रसारक (mydriatic) प्रभाव के अतिरिक्त, जिसे जापानी अनुसधानकर्ता नागयी (Nagai) ने लक्षित किया था, इसके गुण-कर्म के सम्बन्ध मे अब तक कोई भी प्रगति नही की गयी। सन् १९२४ मे च्यू और श्मिट (Cheu and Schmidt) ने एफेड्रीन के गुण-कर्म पर एक शोध-निबन्ध प्रकाशित कराया और ऐड्रिनैलिन के साथ इसके घनिष्ठ शरीरक्रियात्मक एव क्लिनिकल सम्बन्ध को बताया। लेखक एव उसके सह-कार्यकर्ताओ द्वारा एफेड्रा की भारतीय जातियो से उपलब्ध एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन पर शोध कार्य भलीभांति किया गया है। चीनी ऐफेड्रा पर विभिन्न शोधकर्ताओ द्वारा विस्तृत अध्ययन किया जा चुका है और उससे उपलब्ध एफेड्रिन के गुण-कर्म भारतीय पौधो से उपलब्ध एफेड्रीन के सदृश पाये गये। स्यूडोएफेड्रीन पर बहुत कम ध्यान दिया गया है और यह ऐसा ऐल्केलॉयड है जो भारतीय एफेड्रा मे प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है, इसलिए लेखक एव उसके सहयोगियो द्वारा अत्यन्त सावधानी से इसका अध्ययन किया गया।

यह दिखाया गया कि स्यूडोएफेड्रीन हृदय के सदमी एव त्वरक प्रक्रिया (Inhibitory and accelerator mechanisms) दोनो को उद्दीप्त करता है और हृदपेशी (मायोकार्डियम) पर उद्दीपक प्रभाव डालता है। इससे रक्त-दाब में उतनी वृद्धि नही होती जितनी एफेड्रीन से होती है और इस वृद्धि का केवल अश मात्र ही अनुकम्पी (sympathetic) तत्र के उद्दीपन के कारण होती है, क्योकि एर्गोटॉक्सीन द्वारा अनुकम्पी तत्र को निष्क्रिय कर देने पर भी यह वृद्धि होती रहती है। वाहिका प्रेरक (vasomotor) तन्तुओ के निष्क्रिय हो जाने पर भी रक्तदाब मे वृद्धि बनी रहती है, इससे यही प्रगट होता है कि यह ऐल्केलॉयड रक्त वाहिकाओ की अरेखित पेशियों को उद्दीप्त करता है, तथा हृद्पेशी अधिक उद्दीप्त हो जाती है।

बिल्ली जैसे प्राणियो के रक्त दाब मे पर्याप्त वृद्धि आ जाती है और दो मिलीग्राम की खुराक देने से बिल्ली के रक्तदाब में बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है जो २० से ३० मिनट तक बनी रहती है। बार-बार इजेक्शन लेने से प्रत्येक बार समान प्रभाव नही होता, ज्यो-ज्यो इजेक्शन की सख्या बढती जाती है, रक्तदाब की वृद्धि क्रमश घटती जाती है।

इससे फुफ्फुस-दाब मे सुस्पष्ट वृद्धि परिलक्षित होती है और इसका प्रभाव एड्रिनैलिन के प्रभाव से मिलता जुलता होता है। इस ऐल्केलॉयड का यह प्रभाव सतत होता है। इस वृद्धि का कारण यह प्रतीत होता है कि फुफ्फुसी धमनी की शाखाओ मे सकुचन आ जाता है और फिर इससे श्लेष्मल कला की उच्छूनता (turgescence) का उपशमन भी हो जाता है। साथ ही इससे श्वसनिकाओ मे सुस्पष्ट विस्फारण आ जाता है और ये दोनो ही बातें दमा के प्रवेग को उपशमित करने मे सहायक होती है। यदि प्रयोगात्मक प्राणियो मे, पिलोकार्पीन का इजेक्शन देकर दमा की स्थिति पैदा की गयी हो तो इस तरह उत्पन्न उद्वेष्ट, स्यूडो-एफेड्रीन की २० मि० ग्रा० की मात्रा मे अन्त पेशी इजेक्शन देने से तुरत उपशमित हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह भेषज बडा सशक्त श्वसनिका-विस्फारक प्रभाव रखता है।

इस भेषज का अनुकम्पीअनुकारीसम (sympathomimetic) प्रभाव इस तथ्य से भी सुस्पष्ट हो जाता है कि ज्यो ही २० मि ग्रा की मात्रा मे स्यूडोऐफेड्रीन का इजेक्शन दिया जाता है आन्त्र की गति दमित हो जाती है और आन्त्र मे सुस्पष्ट शिथिलन आ जाता है। शशक के पृथक्कृत क्षुद्रान्त्र के एक भाग पर द्रव-निवेशन (perfusion) करने से इसी तरह का प्रभाव परिलक्षित होता है। स्वस्थाने बिल्ली के गर्भाशय एव तापन यत्र (uterine bath) मे रखे गये पृथक्कृत गर्भाशय की गति सुस्पष्ट रूप से सदमित हो जाती है, और बिलकुल बन्द भी हो सकती है। स्यूडोऐफेड्रीन का २० मि ग्रा. की मात्रा मे इजेक्शन देने से रक्त दाब मे सतत वृद्धि आती है और साथ ही प्लीहा के आकार मे सुस्पष्ट संकुचन परिलक्षित होता है। ये प्रभाव ऐड्रिनैलिन के प्रभाव के सदृश होते है।

इस भेषज का इजेक्शन देने पर उदर के अन्य अतराङ्गो जैसे कि वृक्क के आयतन मे वृद्धि हो जाती है। भेषज के वाहिकासकीर्णक प्रभाव के कारण जिससे समग्र शरीर में रक्तदाब बढ जाता है, ये सारे लक्षण प्रगट होते हैं और उसी के फलस्वरूप आशयिक (splanchnic) क्षेत्र मे रक्त का प्रवेश बढने लगता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि ज्यो ज्यो रक्तदाब मे वृद्धि आती है, त्यो त्यो वृक्क के

आयतन मे भी वृद्धि होती है। जब रक्तदाब सामान्य दशा मे आ जाता है, तो वृक्क का आयतन भी सामान्य आकार मे आ जाता है।

वृक्क के आयतन मे वृद्धि से यह सकेत मिला कि यह यह ऐल्केलॉयड सम्भवत मूत्रल प्रभाव रखता होगा। इसलिए मूत्रनली मे एक कैन्युला (प्रवेशिनी) डालकर मूत्र प्रवाह को मापा गया। गिरनेवाले मूत्र बूंदो को इलोक्ट्रोमैग्नेट द्वारा ड्रम पर रिकार्ड कर लिया जाता था। मूत्रस्राव की गति में सुस्पष्ट वृद्धि आ जाती है और यह भी देखा गया कि मूत्र प्रवाह का त्वरण (acceleration) तब तक बना रहा जब तक रक्त-दाब का प्रभाव बना रहा। ऐफेड्रीन की अधिक मात्रा देने से अधीरता (nervousness) अनिद्रा, शिरोवेदना, भ्रमि (Vertigo), धड़कन, स्वेदलता, मतली तथा वमन के विकार पैदा हो जाते हैं, और बीच-बीच मे दर्द पैदा हो जाता है तथा कभी-कभी त्वक्शोथ (dermatitis) भी हो जाता है।

एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन के गुण-कर्म मे अन्तर . सकलित परीक्षणात्मक परिणामो से यह स्पष्ट है कि स्यूडो-एफेड्रीन का प्रभाव बिल्कुल एफेड्रीन के ही सदृश होता है। दोनो ऐल्केलॉयड यकृत से होकर अपरिवर्तित रूप मे गुजरते है, और अपना स्वाभाविक-प्रभाव उत्पन्न करते है चाहे उनका इजेक्शन आन्त्रयोजनी शिरा (mesenteric vein) मे दिया गया हो अथवा दैहिक शिरा (systemic) में। ये दोनो जठरान्त्रीय मार्ग से शीघ्र ही अवशोषित हो जाते है, और जठरान्त्र की पेशी समूहो पर उनका सदमक प्रभाव समान रूप से पडता है। दोनों ही ऐल्केलॉयड रक्त वाहिकाओ को सकुचित करते है, और दोनो ही रक्तदाब मे सुस्पष्ट वृद्धि लाते हैं। एफेड्रीन द्वारा उत्पन्न वाहिकादाब अपेक्षाकृत अधिक सशक्त होता है, जिसका सम्पूर्ण प्रभाव वाहिकाप्रेरक तन्त्रिका अन्तो (vasomotor nerve endings) पर होता है, जब कि स्यूडो-एफेड्रीन का कुछ प्रभाव वाहिकाओ की पेशी समूहो पर भी होता है तथा स्यूडो-एफेड्रीन द्वारा फुफ्फुसी तथा निर्वाहिका (portal) क्षेत्रो पर दाब की वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है। श्वसनिकाओं पर स्यूडो-ऐफेड्रीन का विस्फारक प्रभाव और नासिका के श्लेष्मल कला पर इसका सकोचक प्रभाव एफेड्रीन जैसा होता है। वृक्क पर इन दोनो ऐल्केलॉयडो का प्रभाव यह होता है कि रक्त वाहिकाओ का विस्फारण हो जाता है और वृक्क के आयतन मे वृद्धि हो जाती है, किन्तु एफेड्रीन से जो आरम्भ मे क्षणिक सकुचन पैदा होता है वह स्यूडो-एफेड्रीन से नही होता। स्यूडो-एफेड्रीन का मूत्रल प्रभाव एफेड्रीन की तुलना मे अधिक होता है। इन दोनो ऐल्केलॉयडो का ऐच्छिक तथा अनैच्छिक पेशियो पर समान ही प्रभाव पडता है।

भारतीय एफेड्रा का चिकित्सीय उपयोग यह पहले ही बताया जा चुका है कि एफेड्रा की अनेको भारतीय स्पीशीज मे स्यूडो-एफेड्रीन की मात्रा अधिक होती है। अनेक किस्मो में एफेड्रीन की मात्रा कुल ऐल्केलॉयडो की ५० प्रतिशत से अधिक नही होती और प्राय इससे बहुत कम ही रहती है। १९३२-३५ ई० मे ऐल्केलॉयडो का मूल्य प्रति पौण्ड ६०० रु० था, इस मूल्य पर भी पर्याप्त मात्रा मे ऐल्केलॉयड उपलब्ध नही है। कुछ भारतीय किस्मो मे स्यूडो-एफेड्रीन की मात्रा एफेड्रीन की तुलना में बहुत अधिक होती है। इन तथ्यो को ध्यान मे रखकर ही हमलोगो ने यह देखने का प्रयास किया कि चिकित्सा में स्यूडो-एफेड्रीन कहाँ तक एफेड्रीन का स्थानापन्न हो सकता है।

दमा के उपचार मे एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन का व्यवहार . जब से एफेड्रीन के अनुकम्पीअनुकारीसम प्रभाव का पता चला है दमा के उपचार के लिए इस ऐल्केलॉयड का बहुत विस्तृत उपयोग हुआ है। इससे जो रोगशमन होता है वह इतना तात्क्षणिक नही होता जितना कि एड्रिनैलिन से, किन्तु इससे शीघ्र एव निश्चित रूप से रोगशमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका मौखिक सेवन किया जा सकता है और इसका इजेक्शन देना आवश्यक नही है। इसलिए बहुत से रोगियो पर इसका प्रयोग बिना सोचे विचारे किया गया, जिसका परिणाम कभी कभी अच्छा नही रहा है। हम ऐसे रोगियो को जानते है जिन्हें कई महीनो मे आधा ग्रेन ऐल्केलॉयड दिन मे दो चार लेने की आदत पड गयी है। "कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन" के दमा रुग्णालय (क्लिनिक) मे दमा के उपचार के लिए इसको प्रयोग मे लाने का जो अनुभव मिला है वह सतोषप्रद नही रहा है। इसमे सदेह नही कि १५ मिनट से आध घण्टे के अन्दर यह उद्वेग को नियत्रण मे ला देता है, किन्तु इससे अरुचिकर अनुषगी प्रभाव (side effects) पडने की सभावना रहती है। इससे कुछ रोगियों को हृद्प्रदेश मे १० से २० मिनट तक तीव्र वेदना हुई। इस भेषज का सेवन करनेवाले अनेक रोगियो के हृदयावरण (pericardium) म कष्ट होने की अनुभूति होती है, जो वाहिकाप्रेरक (vasomotor) तन्त्रिका-शिराओ के उद्दीप्त हो जाने से पैदा हुए अतिरक्तदाब (hypertension) के कारण होता है। कुछ रोगियो को धडकन होने लगती है, त्वचा मे सम्प्रवाह (flushing) हो जाता है और हाथ पैर की अँगुलियो मे झुनझुनी और सुन्नता मालूम पडती है। इससे हृद्-क्षिप्रता (tachycardia) आ सकती है तथा बेहोशी के दौरे भी आ सकते है। जिन रोगियो को त्वक्शोथ की तकलीफ रहती है,

उनमे इसके सेवन के पश्चात् इस प्रकोप मे प्राय वृद्धि आ जाती है और शात रोगियो मे तीव्रता से सक्रियता आ जाती है। हृद्-रोग, विशेषकर हृदपेशी के रोग से पीडित रोगियो मे यह हृद्क्षति-अपूर्ति (cardiac decompensation) उत्पन्न करता है जिसका कारण सम्भवत यह होता है कि इस भेषज का अधिक मात्रा मे सेवन करने मे हृद्पेशी पर अवसादक प्रभाव पडता है। इसके अतिरिक्त, अनुकम्पी तन्त्रिका पर इस ऐल्केलॉयड का जो उद्दीपक प्रभाव पडता है उससे स्थायी कोष्ठवद्धता उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, जो कई प्रकार के दमा रोगो को वढा देता है। वहुधा क्षुधा जाती रहती है और साथ ही साथ पाचन सम्वन्धी विकार पैदा हो जाते हैं। इस भेषज का व्यवहार दीर्घकाल तक अभी नही हो पाया है कि इसके अहितकर विषालुप्रभावो की पूरी जानकारी हमे मिल जाय, किन्तु इसका अहितकर और विषालु प्रभाव पडता अवश्य है। इसलिए इसके प्रयोग मे सावधानी बरतने की आवश्यकता है, विशेषकर उस दशा मे, जब ऐसे रोगों के उपचार के लिए लम्वी अवधि तक इसका प्रयोग करना हो। इससे जो शमन होता है वह वहुधा अल्प-कालिक होता है और इस भेषज का पुन सेवन कराने का प्रलोभन हो जाता है। इसलिए रोग के कारण की पूरी जानकारी किये बिना, दमा प्रवेग को नियन्त्रण में लाने के लिए इस भेषज का नैत्यक (routine) प्रयोग ठीक नही है।

हम ऊपर वता चुके हैं कि स्यूडो-एफेड्रीन का दाववर्धी (pressor) प्रभाव एफेड्रीन की अपेक्षा वहुत कम सशक्त होता है किन्तु इसका श्वसनिका-विस्फारक प्रभाव एफेड्रीन जैसा ही होता है। फुफ्फुसी धमनी की शाखाओ मे सकोचन आने से श्लेष्मल कला की उच्छूनता (turgescence) मे शमन आ जाता है। इस शमन से तथा श्वसनिकाओ में विस्फारण हो जाने से दमा के प्रवेग को शमित करने मे सहा-यता मिलती है। इस तरह के रोगियो के उपचार के लिए हमने स्यूडो-एफेड्रीन का प्रयोग किया है और परिणाम अच्छे रहे हैं। इस ऐल्केलॉयड का आधा ग्रेन की मात्रा मे मौखिक सेवन कराने के वाद १५ से ३० मिनट के अन्दर वक्ष-सकोच की तकलीफ दूर हो जाती है और रोगी की श्वसन क्रिया सामान्य दशा में आ जाती है। आक्रमण का आभास मिलते ही इतनी ही मात्रा मे यदि इसका सेवन कर लिया जाय तो (दमा का) प्रवेग रुक जाता है। वस्तुत. इसका उतना ही द्रुत प्रभाव पडता है जितना कि एफेड्रीन का। यद्यपि हमने काफी वडे पैमाने पर और लम्वी अवधि तक इसका प्रयोग नही किया है, किन्तु अव तक जो परिणाम प्राप्त हुए है वे उत्साहवर्धक रहे हैं और इससे पैदा होनेवाले अनुषगी प्रभाव (side effect) दुखप्रद नही होते। दमा एव अन्य व्याधियो के उपचार के लिए,

जिनमे एफेड्रीन को व्यवहार मे लाया जा रहा है, यदि स्यूडो-एफेड्रीन का प्रयोग किया जाय तो इससे न केवल उपचार-व्यय मे ही कमी आ जायगी, बल्कि एफेड्रीन के अनुषंगी प्रभावों से भी बचा जा सकेगा।

भारतीय एफेड्रा से तैयार किया गया ऐल्कोहॉलीसार अथवा टिंक्चर.—एफेड्रा जिराडिआना और एफेड्रा इण्टरमीडिया से तैयार किया गया एक ऐल्कोहॉली सार, जिसका व्यवहार चिकित्सा क्षेत्र मे प्रस्तुत ग्रंथकार ने सबसे पहले किया था, अब कई वर्षों से व्यवहृत हो रहा है। पादप की सूखी टहनियो के चूर्ण को ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे निस्सारित करके और फिर काफी जल उसमे मिलाकर ताकि ऐल्कोहॉल की शक्ति ४५ प्रतिशत हो जाय, यह सार तैयार किया जाता है। ५-० घन सेमी० सार मे कुल ऐल्केलॉयड आधा ग्रेन की मात्रा मे होनी चाहिये। इस सार को स्वतन्त्र रूप से या दमा-मिक्सचरो के साथ मिलाकर सेवन कराया जा सकता है। यह दमा के प्रवेग को नियन्त्रित करने मे बडा प्रभावी होता है। यह शुद्ध ऐल्केलॉयडो की अपेक्षा कही सस्ता पडता है, जिससे इस भेपज का उपयोग गरीबो के लिए सुगम हो जाता है। एक कम सशक्त टिंक्चर भी आजकल बाजार मे उपलब्ध है।

एफेड्रीन तथा स्यूडो-एफेड्रीन का हृदयोद्दीपक प्रभाव—इन ऐल्केलॉयडो का रक्तदाब पर जो उद्दीपक प्रभाव पडता है वह सुविदित है और इस कारण हृदयोद्दीपक के रूप मे इनको व्यवहृत किया गया है। हम बता चुके है कि एफेड्रीन, विशेष करके बडी मात्राओं मे देने मे हृदयपेशियो पर अवसादक प्रभाव डालता है, इसके प्रतिकूल स्यूडोएफेड्रीन हृद्पेशी पर उद्दीपक प्रभाव डालता है, वाहिकप्रेरक तन्त्रिका अन्तो पर प्रभाव डालने के अतिरिक्त, स्यूडो-एफेड्रीन धमनिकाओ के पेशी तन्तुओ को भी उद्दीप्त करता है। प्रस्तुत ग्रंथ के वरिष्ट लेखक ने एफेड्रा के एक सार का जिसमे एफेड्रीन और स्यूडो-एफेड्रीन दोनो ही थे (अधिक माना स्यूडो-एफेड्रीन की थी) हृदयोद्दीपक के रूप मे प्रयोग किया है और परिणाम बडे उत्साहवर्धक रहे है। ऐसे रोगियो को (सार) देने पर जिनकी हृद्क्रिया दुर्बल थी और सम्पूर्ति (compensation) नही हो पा रही थी, सुस्पष्ट लाभकर प्रभाव पडा। कई रोगियो पर इसके प्रयोग के अन्वीक्षण से यह पता चला कि दिन मे दो या तीन बार १/२ से १ ड्राम की मात्रा मे इसका सेवन कराने पर रक्त-दाब मे १०-२० मिमी (पारा) की निश्चित वृद्धि हुई। ऐसे रोगियो मे जिनके वृक्क की क्रिया मे अपर्याप्त रक्तप्रवाह के कारण विकार उत्पन्न हो गया था, विशेष मूत्रलता आयी।

जानपदिक जलशोफ (एपिडेमिक ड्रॉप्सी) —जैसा कि सुविदित है, इस (जलशोफ) मे हृदय गम्भीर रूप से ग्रस्त हो जाता है और इससे कष्ट श्वास (dyspr ea), धड़कन, पुरोहृदवेदना (P1acaerd1al pa1n), तथा हृद्-दमा के लक्षण पैदा हो जाते हैं रोग का आरम्भ होते ही हृद्स्पन्द की गति बढ जाती है। हृदयाग्र स्पन्दन की आरम्भिक ध्वनि अल्पकालिक और तीव्र होती है और बाद मे कुठित हो जाती है। बहुधा पहली ध्वनि द्विगुणित हो जाती है। बाद मे हृद्याग्र पर, हृद्यविस्फारण के कारण जिससे माइट्रल अक्षतमता (mistral incompetence) उत्पन्न हो जाती हैं, एक प्रकुचन मर्मर (systolic murmur) विद्यमान रह सकता है और कभी कभी फुफ्फुसी आधार पर एक रक्तज मर्मर (haemic murmur) भी सुनाई पडती है। एक प्रकुचनपूर्व (presystolic) मर्मर सुनाई दे सकता है। ऐसी दशाओ मे डिजिटैलिस सतोषप्रद परिणाम नही देता, वस्तुत कुछ रोगियो की दशा और भी खराब हो जाती है और कई हृदयोद्दीपक भेषज अप्रभावी सिद्ध हुए। वाम हृद्पात (heart failure) होने पर एफेड्रा का टिक्चर बडा प्रभावी सिद्ध हुआ। इससे रोगी को आराम मिला और रोग के लक्षण जाते रहे।

अन्य हृद-विकार —हृदय की विषालु स्थितियो मे जो न्युमोनिया, डिफ्थीरिया आदि के सक्रमण से उत्पन्न हो जाती हैं, एफेड्रा का टिक्चर एक उत्कृष्ट हृदयो-द्दीपक है।

सन्दर्भ :—

(1) Chopra *et al*, 1928, *Ind Jour Med Res*, 15, 889, (2) Chopra and Datt, 1930, *Ind Jour Med Res*, 17, 647, (3) Chopra and Basu, 1930, *Ind Med Gag*, 65, 546, (4) Krishna and Ghose, 1931, *Ind For* Rec. (5) Chopra, Krishna and Ghose, 1931, *Ind Jour Med Res*, 19, 177, (6) Vere Hodge, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 629, (7) *Wealth of India, Raw Materials* 1952, III, 177, (8) Hooker, J D, *Flora of British India*, V 640, 863, (9) Ghose, 1938, *Jour Ind Chem Soc*, (Industr Edn) I, 143, (10) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946, (11) *United States Dispensatory*, 24th Edn, 1947, (12) *The British Pharmaceutical Codex*, 1934, (13) Singh, 1950, *Ind For*, 76, 288, (14) Ghose and Krishna, 1943, *Ind, For* leaflet No 48

एरिथ्रॉक्सिलम कोका

Erythroxylum coca Lam, (Erythroxylaceae)

कोका, कोकेन पादप

इस पौधे से प्राप्त ऐल्केलॉयड कोकेन चिकित्सा मे अत्यधिक मूल्यवान है। यह पौधा ६ से ८ फुट तक ऊँचा होता है। पत्तिया हल्के हरे रग की, पतली अपारदर्शी, अण्डाकार होती है और दोना सिरो पर क्रमश पतली हो जाती है। गर्म एव आर्द्र क्षेत्र मे यह खूब पनपता है, किन्तु औषधीय प्रयोजनो के लिए, शुष्कतर प्रदेश के पादपो की पत्तियाँ सर्वाधिक पसन्द की जाती है। इस पौधे का मूल आवास दक्षिणी अमेरिका है, किन्तु इसे वेस्टइण्डीज, भारत वर्ष, श्रीलका, जावा तथा अन्य स्थानो मे भी उगाया जा सकता है। इसकी पत्तियो की रचना बडी ही अस्थिर होती है और अलग अलग पत्तियो के नमूनो में अन्तर रहता है। इसकी पत्तियो मे ०·१५ से ०·४५ प्रतिशत कोकेन रहता है जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐल्केलॉयड है, और इसके साथ ही अन्य ऐल्केलॉयड जैसे सिन्नामिल कोकेन, अल्फा-ट्रक्सिलीन, बीटा-ट्रक्सिलीन, बेन्ज़ॉयल-एक्गोनीन, ट्रोपा कोकेन, हाइग्रीन, कस्कोहाइग्रीन आदि रहते है। इन सबको सामूहिक रूप से 'कोकेन' कहा जा सकता है और ये सभी एक्गोनीन के व्युत्पन्न है। पत्तियो मे कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा ० ५ से १ ५ प्रतिशत तक होती है, किन्तु जावा की पत्तियो मे इससे अधिक (१ ०-२·५ प्रतिशत) ऐल्केलॉयड मिला है। कुल ऐल्केलॉयड मे कोकेन का अनुपात विभिन्न वाणिज्यिक किस्मो मे भिन्न-भिन्न होता है। बोलिवियन पादपो की पत्तियो की अपेक्षा, ट्रक्सिलो, पेरू के और जावा के पादपो की पत्तियो मे कुल ऐल्केलॉयड अधिक होता है, किन्तु कोकेन का अनुपात कुल ऐल्केलॉयड का ५० प्रतिशत बताया जाता है, जबकि बोलिवियन पत्तियो मे यह ७०-८० प्रतिशत होता है। भारत मे परीक्षणात्मक ढग पर उगाये गये कोका की पत्तियो मे ० ४-० ८ प्रतिशत ऐल्केलॉयड, मुख्यत कोकेन पाया जाता है। एरिथ्रॉक्सिलम कोका की छाल और बीजो मे भी कोकेन पाया जाता है। भण्डारण मे सूखी पत्तियो के ऐल्केलॉयड की मात्रा कम हो जाती है और लगभग सात महीने मे यह बिलकुल समाप्त हो जाती है। इसलिए पत्तियो से कुल ऐल्केलॉयड निकाल लिया जाता है और फिर कोकेन निकालने के लिए अपरिष्कृत उत्पाद को ही काम मे लाया जाता है। अधिकाश वाणिज्यिक कोकेन सीधा पत्तियो से नही निकाला जाता है किन्तु एक्गोनीन से, जो पत्तियो मे विद्यमान रहने वाले गौण ऐल्केलॉयडो का जल-अपघटन करके प्राप्त किया जाता है। फिर एक्गोनीन को अभिज्ञात विधियो द्वारा मेथिलीकरण और

वेन्ज़ॉयलीकरण करके कोकेन वना लेते हैं। इस कारण कोका की पत्तियो के कुल एक्गोनीन का आकलन वाणिज्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कोका की पत्तियों में ऐल्केलॉयडो के अतिरिक्त, ० ०६-० १३ प्रतिशत एक वाष्पशील तेल होता है जिसका मुख्य सघटक मेथिल सैलिसिलेट होता है। पत्तियो से एक रजक द्रव्य कोका सिट्रिन (Coca citrin) भी अलग किया गया है।

सवेदनाहारी (anaesthetic) भेषज के रूप में इसकी खोज होने के वाद यूरोप मे कोका की पत्तियो की माँग वडी तेजी से वढ गयी और व्यापक पैमाने पर इसकी खेती के प्रयास किये गये। भारतवर्ष मे चिकित्सा क्षेत्र मे ऐल्केलॉयड कोकेन का उपयोग वहुत बडी मात्रा मे होता है। आयातित भेषजो एव औषधियो की सारणी (दो) पर दृष्टिपात करने से ज्ञात हो जायगा कि आयात होने वाले कोकेन की मात्रा किस प्रकार क्रमश वढती जा रही है। भारत मे पर्याप्त मात्रा मे कोकेन का आयात होता है, मुख्यत यूनाइटेड किंगडम एव जर्मनी से। जर्मनी से होने वाला आयात १९४०-४१ ई० से वन्द हो गया। १९३४-३५ ई० मे भारत ने ८२३६ औंस कोकेन मँगाया था। १९४२-४३ ई० मे यह आयात घट कर २९३ औंस हो गया, किन्तु इसके वाद के वर्षों मे पुन. वढ गया और १९४६-४७ ई० मे अधिकतम परिमाण १३,०९७ औंस पर पहुँच गया। १९४७-४८ ई० मे वहुत कम आयात हुआ।

एरिथ्रॉक्सिलम कोका की खेती इस देश मे विस्तृत पैमाने पर कभी नही की गयी है। कुछ वर्ष पूर्व (१९२६ ई०) भारत के दैनिक अग्रेजी समाचार पत्रो मे कहा गया था कि कोकेन-युक्त एरिथ्रॉक्सिलम कोका सारे देश में वन्य अवस्था मे इतना उत्पन्न होता है, कि यहाँ के लोग कोका की पत्तियो को चवाने की आदत पकडते जा रहे हैं, और यहाँ कोकेन-निर्माण के गुप्त कारखाने होगे। उक्त मतव्य के समर्थन मे यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि इस भेषज की वहुत बडी मात्रा रेल गाडियो में पकडी गयी थी, और कोकेन सेवन की आदत बडी शीघ्रता से फैलती जा रही है और इसके स्रोत का पता कि कहाँ से कोकेन आता है कोई भी नही लगा सका है। अफीम एव अन्य हानिकर भेषजो के अवैध व्यापार के वारे मे वनी राष्ट्र-सघ की मंत्रणा समिति (Advisory committee of League of Nations) में, १९२५ ई० मे कोका पादप की अवैध कृषि की वात भी कही गयी थी। उस समय भारत सरकार द्वारा गहरी जाच पडताल की गयी थी और इस सवध में अधिकारियो द्वारा व्यक्त किये गये विचारो की सम्पुष्टि करने की स्थिति मे अव हम आ गये हैं। भारत में न तो एरिथ्रॉक्सिलम कोका की और न किसी अन्य पादप की जिससे कोकेन प्राप्त किया जा

सके, खेती की जाती है, यदा कदा केवल एरिथ्रॉक्सिलम कोका शोभा-पादप के रूप मे बम्बई के उद्यानो मे लगाया जाता है और इसके कुछ नमूने कलकत्ता, मद्रास एव कल्लर (मद्रास प्रात) के राजकीय बोटॉनिकल गार्डनो मे पाये जाते है। इस प्रकार, एरिथ्रोक्सिलम को [illegible] सारे [illegible] में वन्य अवस्था मे पैदा होने की बात तो दूर रही, यह भारत मे कही भी वन्य अवस्था मे उगता हुआ नही पाया जाता है। कुछ थोडे से पौधे नीलगिरि के कुछ स्थानो मे पाये गये थे, जो सम्भवत' १८८५ ई० मे किये गये परीक्षण के अवशेष थे, किन्तु इनमे कोकेन नही के बराबर या बिलकुल ही नही था। कोकेन-निर्माण की विधा एक बडी तकनीकी प्रक्रम है, अत इस बात पर कि भारत मे गुप्त रूप से कोकेन निर्माण होता है, विश्वास करने का कोई आधार नही है, और जैसा आगे के पृष्ठो में दिखाया जायगा, भारत में पकडे गये अवैध कोकेन स्रोत के बारे मे कोई रहस्य नही है। नि स्सदेह, इसका औद्योगिक निर्माण भारत के बाहर कुछ देशो में किया जाता है।

भारत मे इसकी परीक्षणात्मक खेती गत् शताब्दी के अत मे, मद्रास, मैसूर, बबई, बगाल, आसाम और छोटा नागपुर मे की गयी थी, किन्तु वाणिज्य की दृष्टि से असफल रही। यह अब यदाकदा उद्यानो मे शोभा-पादप के रूप मे पाया जाता है। कोका तथा इसके ऐल्केलॉयड घातक भेषज अधिनियम, १९३० ई० (Dangerous Drugs Act, 1930) एव इस अधिनियम के अधीन भारत सरकार द्वारा बताये गये नियमो के अन्तर्गत् आती है। कोकेन उत्पादन के लिए कोका की खेती वर्जित कर दी गयी है और कोका ऐल्केलॉयड का निर्यात, निर्माण एव विक्रय सरकारी नियत्रण के अधीन लाइसेंस द्वारा होता है। एरिथ्रॉक्सिलम कोका के लिए आर्द्र वातावरण एव समरूप से वितरित वृष्टि चाहिये, जो ७५-८० इच वार्षिक से कम न हो, तथा ५९°-६८° F. के बीच का तापमान चाहिये। भली-भाति जलोत्सारित दुमट मिट्टी मे जो ह्यूमस से समृद्ध हो, यह खूब पनपता है। यह पौधा समुद्र की सतह पर उपर्युक्त जगहो मे खूब पैदा होता है, किन्तु पहाडियो के निचले ढालो पर पैदा होने वाले पादपो की पत्तियाँ ऐल्केलॉयड मे सम्पन्न होती है। कर्तन द्वारा इसे प्रजनित किया जा सकता है, किन्तु बागान लगाने के लिए बीज के पौधे रोपणियो (nurseries) मे तैयार किये जाते है और ८-१० इच ऊँचा हो जाने पर या १२-१६ महीने का हो जाने पर खेतो मे ६-६ फुट की दूरी पर प्रतिरोपित किये जाते है। पौधे जब १-३ वर्ष के हो जाते है तब पत्तियो की पहली फसल एकत्रित की जाती है। केवल कडी परिपक्व पत्तियाँ ही, जो कि झुकाने पर आसानी से टूट जाती है, सगृहीत की जाती

हैं। तरुण पत्तियो मे सिन्नामिल कोकेन बहुतायत से पाया जाता है और परिपक्व पत्तियो मे उसकी जगह कोकेन या ट्रक्सिलीन ले लेता है। वर्ष भर मे पत्तियो का सचयन ३-४ बार किया जाता है। उन्हें तुरत, और यदि सभव हुआ तो एक ही दिन मे सुखा लिया जाता है। सूखी पत्तियो की प्रति एकड वार्षिक उपज १,५००-२,००० पौण्ड बतायी जाती है। यद्यपि कोका के पादप ४०-४५ वर्ष या इससे भी अधिक जीवित रहते है, किन्तु पत्तियो की उपज प्रथम कुछ वर्षों के बाद से घट जाती है और लगभग २० वर्ष के बाद पौधा फिर लगाना पडता है।

एरिथ्रॉक्सिलम की जातियो और एरिथ्रोक्सिलम कोका की विभिन्न वैराइटी जिससे वाणिज्योपयोगी भेषज उपलब्ध होता है, पर लिखित लेख कुछ भ्रमात्मक है। कुछ विद्वानो का कहना है कि भेषज प्रदायक सभी पौधे एरिथ्रॉक्सिलम कोका के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वैराइटी हैं, जब कि दूसरे लोग कहते है कि विभिन्न प्रदेशो मे इस भेषज के स्रोत विभिन्न स्पीशीज है। सुज्ञात वाणिज्योपयोगी टाइप हैं; (१) ह्वानुको अथवा बोलिवियन कोका—एरिथ्रॉक्सिलम कोका (*E coca* Lam) का प्ररूपी, (२) ट्रक्सिलो कोका जो एरिथ्रॉक्सिलम ट्रक्सिलेंस (*E. truxillense* Rusby) से प्राप्त किया जाता है और (३) पेरुवियनकोका जो एरिथ्रॉक्सिलम नोवोग्रैनाटेंस- (*E novogranatense* Hieron) से प्राप्त किया जाता है। ट्रक्सिलो और पेरुवियन कोका, पत्तियो के आकार, प्रकार एव बनावट मे ह्वानूको कोका से भिन्न होते है। जावा एव एशियाई देशो मे जिस टाइप की खेती की जाती है वे सामान्यतया एरिथ्रॉक्सिलम नोवोग्रैनाटेंस है। इसके बारे मे कहा जाता है कि इस पर असली एरिथ्रॉक्सिलम कोका की अपेक्षा ताप वैभिन्न्य का प्रभाव कम होता है, और गर्म-आर्द्र ऊष्ण-कटिबन्ध अधिक अनुकूल होता है।

एरिथ्रॉक्सिलम कोका का सुखाभास के लिए उपयोग —सुखाभास के लिए कोका की पत्तियो का उपयोग कई शताब्दी पूर्व दक्षिणी अमेरिका मे प्रारम्भ हुआ। पेरू और बोलिविया के निवासियो का कोका की पत्तियो का व्यसनी होना १५ वी शताब्दी से ज्ञात था। अत्यधिक शारीरिक श्रम के समय जैसे लम्बी एव श्रमसाध्य पर्वती यात्रा के समय वे पत्तियो को चबा लिया करते थे, क्योकि ऐसा करने से वे ताजगी और स्फूर्ति का अनुभव करते थे। पत्तियो का सेवन प्राय किसी पौधो के भस्म के साथ या कुछ चूना मिलाकर किया जाता था। चूर्णीकृत पत्तियाँ फ्लास्क के आकार वाली तुम्बियो मे रखी जाती थी, और किसी सूई से थोडी मात्रा मे निकाल ली जाती थी। सूई की नोक को पहले मुँह मे रखकर गीला कर लिया जाता था।

इन पत्तियो से अनेको अन्य पदार्थ भी तैयार किये जाते थे जो जनता द्वारा व्यवहृत होते थे। वहाँ के बागानों एव खानो के मालिक इसके उपयोग को और बढावा दिया करते थे क्योकि इसके प्रभाव से श्रमिको से वे ज्यादा काम करवा सकते थे।

यद्यपि ऐल्केलॉयड कोकेन का शोध १८५९-६० ई० में हो गया था, किन्तु औषधीय दृष्टिकोण से इसका महत्त्व १८८४ ई० मे अधिक बढा और इसी समय से दक्षिणी अमेरिका से सूखी पत्तियो का निर्यात आरम्भ हुआ। परिवहन व्यय कम करने की दृष्टि से १८९० ई० के लगभग पेरू मे कारखाने चलाये गये जिनमे विश्व के अन्य भागो मे निर्यात करने के लिए अपरिष्कृत कोकेन तैयार किया जाता था। सन् १८९० ई० में १७३० किलोग्राम अपरिष्कृत ऐल्केलॉयड निर्यात किया गया था और १९०१ ई० मे यह मात्रा बढ कर १०,६०० किलोग्राम हो गयी। इस प्रकार पत्तियो का स्थान ऐल्केलॉयड ने ले लिया और इससे उत्पन्न प्रभाव का ज्ञान ससार के अन्य भागो मे भी फैल गया। १८९० ई० और १९०० ई० के बीच सयुक्त राज्य अमेरिका में सुखाभास के लिए कोकेन का उपयोग व्यापक पैमाने पर प्रारभ हुआ और इसका पता यूरोप, भारतवर्ष एव चीन को भी लगने लगा। उस समय यह समझा गया की कोकेन का प्रयोग करने से मार्फिया और मदिरा पान का व्यसन दूर हो जाता है। परिणामत इन स्थितियो के इलाज मे चिकित्सको ने इसका उपयोग खुलकर करना शुरू किया पर दुर्भाग्य की बात यह हुई कि मार्फिया का व्यसन दूर करने की बात तो अलग रही, इसने अनेको रोगियो मे मार्फिनो-कोकेन का व्यसन पैदा कर दिया।

स्थानिक सवेदनाहरण के लिए इस भेषज के सफल प्रयोग की प्रशसा चिकित्सको द्वारा क्रमश अधिकाधिक की जाने लगी, जिससे ऐल्केलॉयड की माँग इस हद तक बढ़ी कि सश्लेषण विधि से इसका निर्माण किया जाना उपयुक्त समझा गया। किन्तु पत्तियो से ऐल्केलॉयड तैयार करना बहुत आसान और सस्ता होता है और इसलिए जावा एव अन्य स्थानो मे इसके बडे-बडे बागान लगाये जाने लगे। इस प्रकार ससार दक्षिणी अमेरिका की निर्भरता से मुक्त हुआ और ऐल्केलॉयड का मूल्य अपेक्षाकृत कम हो गया। जावा से पत्तियाँ यूरोप, अमेरिका और जापान के कारखानो को भेजी जाती हैं और दक्षिणी अमेरिका का उत्पाद बाजार से बिलकुल जाता रहा है। १९२२ ई० मे १७ लाख किलोग्राम पत्तियाँ, जिनमे कोकेन की मात्रा १ २ से १ ५ प्रतिशत थी, उस द्वीप (जावा) से निर्यात की गयी थी।

भारत मे कोकेन सेवन की आदत –

१८९० ई० के लगभग यह अनुभव किया गया कि बगाल और बिहार प्रात के कुछ भागों मे कोकेन का उपयोग सुखाभास (यूफॉरिया) के लिए किया जा रहा था।

सबसे पहले इसके प्रयोग का अभिलेख भागलपुर जैसे छोटे शहर से मिला। इस कहानी का सम्बन्ध वहाँ के एक बडे जमीदार से है, जिसने इसका उपयोग दाँत की पीडा से छुटकारा पाने के लिए किया था और फिर इसका आदी बन गया। उसपर इसका ऐसा असाधारण प्रभाव पडा कि वह इसके नियमित सेवन का आदी ही नही बन गया, अपितु कई अन्य लोगो को भी इसका व्यसनी बना दिया। उस समय ऐसा कहा गया कि कोकेन गुप्त रूप से पर्याप्त मात्रा मे स्कूल के लडको, छात्रो, व्यापारियो और अच्छे वर्ग के व्यक्तियो को बेचा जाता था। उस समय ऐल्केलॉयड का मूल्य प्रति ड्राम ३ रुपया या प्रति ग्रेन लगभग एक आना था और प्राय आधे ग्रेन के पैकेट मे यह सामान्य जनता को बेचा जाता था। उस समय इस भेषज के, बुरे प्रभाव को गृहस्थवर्ग एव चिकित्सको ने भलीभाँति नही समझा और इसलिए इस हानिकर भेषज के विक्रय एव उपयोग पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही लगाये गये।

कलकत्ते से लेकर भागलपुर तथा अन्य बडे शहरो मे यह व्यसन इतनी तेजी से फैला और व्यसन करने वालो पर एतज्जन्य क्षति, अल्पकाल मे ही, इतनी स्पष्ट हो गयी कि इस ओर चिकित्सको एव अधिकारियो का ध्यान गये बिना नही रहा। आबकारी विभाग द्वारा इसके आयात एव विक्रय को रोकने के लिए तुरन्त कडे कदम उठाये गये। उस समय तक, दुर्भाग्यवश, दुर्व्यसन ने अपनी जड जमा ली थी और अनेक बडे शहर इससे प्रभावित हो चुके थे। यह दुर्व्यसन दो मुख्य मार्गों द्वारा उत्तरी भारत तक भी फैल गया था। इसने बनारस से होकर लखनऊ, रामपुर, सहारनपुर और अम्बाला का एक रास्ता बनाया तथा इलाहाबाद से होते हुए कानपुर, आगरा, मेरठ और दिल्ली का दूसरा रास्ता बनाया। हमे विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि दिल्ली मे यह व्यवसन १९०० ई० मे काफी विस्तृत पैमाने पर था। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस शहर में यह एक चिकित्सक द्वारा फैला, जो इसे उद्दीपक एव टॉनिक के रूप मे विनिहित (प्रेस्क्राइब) करता था। २० से २५ वर्ष पूर्व सहारनपुर मे यह आम व्यवहार की चीज थी और वहाँ पर इसके फैलाने की जिम्मेदार एक प्रशिक्षित धात्री रही। उत्तर मे इसके प्रसार की खोज करते हुए पाया गया कि यह पजाब मे अमृतसर शहर तक फैला हुआ था जिसे शाल बेचने वाले सौदागरो ने फैलाया था, जिनका हमेशा कलकत्ता आना जाना लगा रहता था। यह व्यसन अमृतसर से लाहौर तक फैल गया। पेशावर भी इसके प्रभाव मे आगया था क्योंकि इस शहर के बहुत अधिक निवासी फल-व्यापार के सम्बन्ध मे बराबर कलकत्ते आया-जाया करते थे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रात के एक बहुत ही योग्य आबकारी अधिकारी

ने लेखक को विश्वास दिलाया कि पेशावर के लोग बहुत अधिक हदतक भारत मे चलने वाले अवैध व्यापार के लिए उत्तरदायी थे। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त से होते हुए अधिक परिमाण में चरस (कैनाबिस सटाइवा से उपलब्ध रेज़िन जो मध्य एशिया मे निर्मित होता था) लाया जाता था और उसे अत्यधिक सस्ते मूल्य पर सीमाप्रान्तो मे बेच दिया जाता था। ये चीजें बम्बई एव कलकत्ता जैसे बडे केन्द्रो मे उन सीमा-प्रान्त-वासियो द्वारा लायी जाती थी और बहुत अधिक लाभ पर बेची जाती थी। इस व्यापार से अर्जित धन को बन्दरगाहवाले शहरो ने चोरी से कोकेन मँगाने में लगाया जाता था, फिर उसको भारत के विभिन्न भागो, खासकर उत्तर भारत के बडे शहरो मे बेंच दिया जाता था। ऐसा लगता है कि कोकेन के आयात एव विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने के कारण विगत कुछ वर्षों मे इसका व्यसन के लिए उपयोग घट गया है।

एल्केलॉयड के पृथक करने के पश्चात्, पाश्चात्य देशो मे इस भेपज के सेवन का प्रमुख तरीका इजेक्शन द्वारा था और इस सेवन विधि मे कठिनाई होने के कारण उस समय इस व्यसन का बहुत अधिक प्रसार नही हुआ। तदनन्तर शीघ्र ही सुघनी के रूप मे तथा मसूडो पर रगड कर इसके सेवन का सरल तरीका खोजा गया। फलत अमेरिका की नीग्रो जनता मे अत्यन्त शीघ्रता से इसका प्रसार हुआ। भारत-वर्ष मे इसके सेवन की सर्वाधिक सरल विधि पान मे खाने की है। यही कारण है कि इस भेपज के प्रति आसक्ति उन लोगों मे अधिक प्रचलित है, जो पान खाने के आदी होते हैं। जैसा ज्ञात है कि पान की पत्ती पर थोडा खैर (कत्था) एव बुझा हुआ चूना थोडी सी सुपारी या कुछ मसाले-यथा, दालचीनी, इलायची, अदरख आदि भी रखे जाते हैं। इस भेपज को या तो मसाले मे मिलाकर पान मे लपेट कर दिया जाता है या कुछ व्यसनी इसे जिह्वा के अग्र भाग पर रख कर तुरत पान खाते हैं। जो लोग दीर्घकाल से इन भेपज के आदी हो गये होते हैं, वे प्राय कोकेन को जीभ पर रख कर बिना पान के ही, थोडे से चूने और कत्थे के साथ खा लेते हैं। कहा जाता है कि ऐसा करने से भेपज की क्रिया बढ जाती है और तज्जन्य प्रभाव प्रबलतर हो जाता है। घोल के रूप मे, इस भेपज का कभी कभी ही डाक्टर के नुस्खे के आधार पर उपयोग किया गया है। व्यसनी व्यक्ति घोल को घूँटघूँट करके धीरे धीरे पीता है और बीच बीच मे पान चबाता जाता है। मसूडो मे इसके रगडने एव सुघनी के रूप में इसके सेवन की रीति आज भी इस देश मे अज्ञात है। इसके उपयोग का एक विचित्र तरीका है, जो कभी कदाचित् व्यवहार में लाया जाता है,

खासकर वेश्याओ द्वारा, वह यह है कि कोकेन के घोल को डूश के द्वारा योनि में प्रविष्ट कराया जाता है। इससे व्यक्ति को स्थानीय सकुचन का अनुभव होता है और दैहिक प्रभाव तुरत प्रतीत होने लगता है। कहा जाता है कि इस तरह इसके लेने से रतिक्रिया की अवधि बढ जाती है।

भारत मे कोकेन-व्यसन का प्रसार :

भारत मे कोकेन व्यसन का प्रसार इस समय किस सीमा तक फैला हुआ है, इसके बारे मे ठीक ठीक कुछ कहना सम्भव न । ट्यूक (१९१४ ई०) ने कहा था कि कोकेन सेवन की आदत गरीबो एव अशिक्षितो तक ही सीमित नही है। भारत के अनेक प्रान्तो में अपने कार्य के सिलसिले में जो सूचना उपलब्ध हुई है उससे यह स्पष्ट है कि पहले कोकेन के सुखाभासी (यूफॉरिक) गुणो को केवल चिकित्सक वर्ग ही जानता था और फिर उनसे जन साधारण को भी इसके प्रभाव की जानकारी मिल गयी। क्योकि पहले ऐल्केलॉयड को रखने एव विक्रय करने पर कोई प्रतिबन्ध नही था, इसलिए इसके सेवन की आदत एक वाणिज्य नगर से दूसरे तक शीघ्रता से फैल गयी। इसका कारण यह था कि इस शताब्दी के प्रारम्भ मे रेल का विस्तार हो जाने से द्रुत परिवहन की व्यवस्था बढती जा रही थी। इस भेषज से उत्पन्न होने वाला उत्तेजक प्रभाव उन लोगो के लिए अत्यधिक आकर्षण का विषय रहा, जिन्हे इसके कुप्रभाव का ज्ञान नही था। इसके अतिरिक्त इस कुव्यवसाय से होने वाले प्रचुर लाभ ने इसके व्यापारियो को आकृष्ट किया, फलत उन्होने इसके प्रसार के लिए इसके उपयोग को लोकप्रिय बनाने हेतु तथा उसकी प्रशसा के लिए एजेन्ट रखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार यह इतना प्रचलित हो गया कि नियन्त्रण लग जाने पर भी इसका प्रचार कम होने की जगह बढता ही गया, यहा तक कि भारत के बडे शहरो के बहुतेरे निवासियो के लिए कोकेन एक सुविज्ञात वाणिज्य द्रव्य बन गया। लोग विश्वास करने लग गये थे कि यह कामोत्तेजक होता है, और बहुत लोगो ने तो इस उद्देश्य से इसका उपयोग भी प्रारम्भ कर दिया था। इसका तात्कालिक प्रभाव यह बताया जाता है कि इससे एक मधुर उत्तेजना और अत्यधिक सुख की अनुभूति मिलती है, भोजन की इच्छा घट जाती है और सेवनकर्ता को गहरी थकावट सहने की क्षमता मिलती है। अधिक काल तक सेवन करने से इसकी आदत पड जाती है जिससे शारीरिक एव मानसिक ह्रास हो जाता है तथा मृत्यु तक हो जाया करती है। इसके प्रयोग के लिए अन्य आकर्षण यह है कि इसके सेवन से एक असाधारण प्रभाव उत्पन्न होता है (यद्यपि यह प्रभाव अस्थायी ही होता है) जिससे शारीरिक एव

मानसिक थकावट शीघ्र ही दूर हो जाती है। जैसा कि हमने पहले ही कहा है, इसके व्यवहार का प्रसार कलकत्ता से बडे बडे शहरो मे हो गया जो दोनो प्रमुख रेल मार्गों पर बसे हैं। उत्तर प्रदेश से होता हुआ यह भेषज पजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त एव भारत के पश्चिमोत्तर सीमा पर स्थित आदिवासी क्षेत्र तक भी फैल गया। यह भेषज तस्कर व्यापार द्वारा बम्बई भी ले जाया जाता था और उस ओर इसका प्रसार बम्बई प्रैसिडेंसी के अनेक बडे शहरो यथा अहमदाबाद, और मध्य प्रदेश मे फैल गया। हम अवगत हो चुके हैं कि कलकत्ता से बम्बई तक के जितने बडे-बड़े शहर थे इसके प्रभाव मे आ गये थे, किन्तु ब्राच लाइन पर पडने वाले बडे शहर इस व्यसन से प्रभावित नही हुए या हुए भी तो एकाध ही। मद्रास ही भारत का वह भाग था जहाँ इस भेषज का बिलकुल ही प्रचार नही हुआ।

१९३२ ई० मे केवल कलकत्ता कस्टम ने ७,२०० औंस पकडा था और अनुभवी एव कुशल अधिकारियो का अनुमान था कि उस रास्ते से गये हुए समूचे माल का वह २ से ५ प्रतिशत अश था, इसके माने हैं कि लगभग २,००,००० से २,५०,००० औंस कोकेन देश में तस्कर व्यापार द्वारा लाया जाता था। दक्ष अधिकारियो ने हिसाब लगाया था कि १९२९ ई० में भारत के उपभोक्ताओ ने इस भेषज के लिए खुदरा व्यापारियो को २७० लाख ६४८ लाख और रुपये के बीच भुगतान किया। यह बहुत बडी धनराशि है। उक्त आँकडे से कोई भी व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि कितने व्यक्ति इस भेषज के व्यसनी हो गये होगे। २ से ३ ग्राम की दैनिक औसत मात्रा के हिसाब से भारत में सुखाभास के लिए कोकेन का सेवन करने वालो की सख्या अनुमानत २॥ से ५ लाख के बीच रही होगी। यह आँकडा बहुत कम है, क्योकि चोरी से लाये हुए कोकेन मे इस देश के व्यापारी बहुत अधिक अपमिश्रण कर देते हैं। जापान, चीन एव सुदूरपूर्व के देशों से भारत मे चोरी से लाया गया एव चुगी अधिकारियो द्वारा पकडा गया अवैध कोकेन औषधीय उपयोग का न होने के कारण नष्ट कर दिया जाता था। १९३३ ई० मे सेण्ट्रल बोर्ड आफ रेवेन्यू ने पकडे गये कोकेन से बी पी कोकेन हाइड्रोक्लोराइड का उत्पादन करने एव उसे रियायती दर पर मेडिकल स्टोर्स को सम्भरण करने का निर्णय किया। यह कार्य इस समय, सेन्ट्रल रेवेन्यूज लेबोरेटरी नयी दिल्ली द्वारा किया जा रहा है। जब्त की गयी कोकेन के परिमाण पर निर्भर करने के कारण यह कार्य नियमित रूप से नही बल्कि अश कालिक रूप से किया जाता है। सर्वाधिक मात्रा शोधित की गयी थी १९३७-३८ ई० मे, जब कि

लगभग १२०२ औंस जब्त किये गये कोकेन से लगभग ८६० औस वी० पी० कोकेन हाइड्रोक्लोराइड का उत्पादन हुआ था। जब्त किये गये कोकेन का सम्भरण हाल के वर्षों मे कम हुआ है। भारत में अब चोरी से कोकेन का आना बन्द हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप अब कोकेन के व्यसन का लगभग अन्त हो गया है।

कोकेन व्यसन का प्रभाव .—चवा कर सेवन की जाने वाली कोका की पत्तियो के व्यसनात्मक उपयोग से उत्पन्न होने वाले विकार एव प्रभाव तथा ऐल्केलॉयड कोकेन के व्यसनात्मक उपयोग से उत्पन्न विकार और प्रभाव एक जैसे नही होते। अफीम और मार्फीन में जो अन्तर होता है वही इनमे भो है। कोका की ताजी पत्तियो मे सुगन्धित रेजिन तथा अन्य ऐल्केलॉयड जैसे डेक्स्ट्रोकोकेन आदि होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि पशु मॉर्फीन के आदी हो जाते है पर कोकेन के आदी नही होते, यद्यपि एक ऐसे बन्दर का उल्लेख किया गया है जो अनुकरण करते करते कोकेन खाने लगा था। मस्तिष्क पर कोकेन का प्रभाव वहुत अधिक पडता है। केवल एक इन्जेक्शन ही मस्तिष्क की क्रिया मे अशान्ति पैदा कर सकता है, यथा मानसिक अव्यवस्था, भ्रम, विषाद जो कि एक दिन वाद लक्षित होता है और वहुधा सप्ताहों तथा महीनो तक बना रहता है। दीर्घकाल तक इसका अनुचित सेवन करने से अधिक भयावह लक्षण परिलक्षित होने लगते हैं। इससे क्षीणता, अतिशय कृशता, आचरण मे शनै शनै परिवर्तन, औदासीन्य, विभ्रम और भेषज खाने की प्रबल इच्छा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इच्छा शक्ति क्षीण हो जाती है, निर्णय लेने की गति मन्द हो जाती है, कर्त्तव्यज्ञान का अभाव हो जाता है, स्वभाव मे अस्थिरता आ जाती है, हठवादिता और विस्मृतशीलता आ जाती है, लिखने और बोलने मे अस्पष्टता एव अनिश्चितता की प्रवृत्ति आ जाती है तथा शारीरिक एव बौद्धिक अस्थिरता आ जाती है। कर्तव्यपरायणता का स्थान उपेक्षा ले लेती है, सच्चे, मिथ्यावादी एव अपराधी बन जाते है तथा समाजप्रिय व्यक्ति एकान्त-प्रिय बन जाते है। मस्तिष्क की क्रिया मे इसका विनाशात्मक प्रभाव सुस्पष्ट हो जाता है। मानसिक दुर्बलता, झुझलाहट (चिडचिडापन) गलत निष्कर्ष, सदेह अपने इर्द गिर्द के वातावरण के प्रति कटुता, किसी बात का गलत अर्थ लगाना, अनिद्रा, मतिभ्रम आदि विकार आ जाते है तथा त्वचा के नीचे साधारणत एक अस्वाभाविक उत्तेजना मालूम पड़ने लगती है। अभागा मनुष्य दयनीय जीवन यापन करने लगता है और प्रति घटे उसे इस भेषज की एक खुराक की आवश्यकता हो जाती है। वह शारीरिक, मानसिक एव नैतिक दृष्टि से सर्वथा विनष्ट हो जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) Chopra R N and Chopra, G S, 1931, *Ind Jour Med Res*, 18 1013, (2) Lewin, L. 1931, *Phantastica*, (3) *Wealth of India*, *Raw Materials* 1952, III, 199 (4) Buhler, *et al*, 1952, *Cil. Monographs*, No 13 440 (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 329, (6) Macmillan H F, 1946, *Tropical Planting and Gardening*, (7) Nicholls, H A, and Holland, J H, 1940, *A Text Book of Tropical Agriculture*; (8) Krishna, S and Badhwar, R L, 1947, *Jour Sci Indstr Res*, 6 (5) Suppl 68.

यूकेलिप्टस ग्लोबुलस (मिर्टेसी)

Eucalyptus globulus Labill. (Myrtaceae)

ब्ल्यू गम ट्री (Blue Gum Tree)

नाम—त०–कर्पूर मरम

यूकेलिप्टस जीनस की ३०० से अधिक जातियाँ हैं, जिनमे से अधिकाश निर्माण-काष्ठ (timber) के लिए मूल्यवान समझी जाती हैं। केवल २५ जातियाँ ऐसी हैं जिनसे वाणिज्योपयोगी यूकेलिप्टसतेल उपलब्ध होता है, उनमे से प्रमुख है— यूकेलिप्टस-ग्लोबुलस, यूकेलिप्टस ड्यूमोसा, (*E dumosa*) यूकेलिप्टस सिडेरॉक्सिलान, (*E sideroxylon*), यूकेलिप्टस ल्यूकॉक्सिलॉन, (*E leucoxylon*), यूकेलिप्टस एलिओफोरा (*E. elaeophora*) आदि। आस्ट्रेलिया को यूकेलिप्टस का निवासस्थान कहा जा सकता है, क्योकि इसकी ७५ प्रतिशत पैदावार उस महाद्वीप मे होती है। यूकेलिप्टस तेल इस वृक्ष की ताजी पत्तियो एव शाखाओ से आसवित किया जाता है। वाणिज्य की दृष्टि से यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस तेल की बहुत बडी मात्रा का उपयोग साबुनो को सुगधित बनाने एव खनिज सल्फाइड को उसके अयस्क से पृथक करने मे किया जाता है। मोटर के ईंधन के रूप मे इस तेल का परीक्षण प्रयोग किया जा चुका है। औषधि भेषज निर्माण मे इसका बहुत अधिक उपयोग होता है और इसके पूतिरोधी तथा नि सक्रामक गुण सर्वविदित हैं। यूकेलिप्टस-तेल के सघटको की भलीभाँति जानकारी प्राप्त कर ली गयी है। वे निम्नलिखित ढग से वर्गीकृत किये जा सकते है —

(१)	ऑक्साइड	...	उदाहरण स्वरूप–सिनिओल (यूकेलिप्टॉल)।
(२)	ऐल्कोहॉल	...	,, जिरैनिऑल, यूडेस्मॉल, मेथिल ऐल्कोहॉल, टर्पिनिऑल, आदि।
(३)	ऐल्डिहाइड	..	,, ब्यूटैल्डिहाइड, वैलेरैल्डिहाइड, क्रिप्टल, सिट्रल, सिट्रोनेलाल, आदि।
(४)	कीटोन	...	,, पिपेरिटोन।
(५)	फिनॉल	...	,, टैस्मेनॉल, ऑस्ट्रैलॉल।
(६)	एस्टर	...	,, जिरैनिल ऐसिटेट, ब्यूटिल ब्यूटिरेट, आदि।
(७)	टर्पीन		,, फिलैण्ड्रीन, लिमोनीन, आदि।
(८)	सेस्क्विटर्पीन		,, ऐरोमाडेण्ड्रीन।
(९)	बेंजीन हाइड्रोकार्बन		,, साइमीन।
(१०)	सॉलिड हाइड्रोकार्बन		,, पैराफिन।
(११)	मुक्त अम्ल		,, ऐसेटिक अम्ल, फॉर्मिक अम्ल।

इनमें सीनिओल (यूकेलिप्टॉल) औषधीय दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संघटक है। ऑस्ट्रेलॉल तथा क्रिप्टाल भी सक्षम पूतिरोधी सिद्ध हो चुके हैं, जिनका कार्बोलिक अम्ल गुणाक (carbolic acid coefficient) क्रमश १३ तथा १२·५ है, किन्तु पूतिरोधी रूप मे इनका बहुत ही कम उपयोग होता है। ब्रिटिश भेषजकोश के अनुसार औषधीय उपयोग के यूकेलिप्टस मे ५५ प्रतिशत से कम सीनिओल नही रहना चाहिये, जब कि अमरीकी भेषजकोश ७० प्रतिशत सीनिओल की अपेक्षा रखता है।

यूकेलिप्टस के वृक्ष भारत के देशज वृक्ष नही, किन्तु इसकी कई जातियां देश के विभिन्न भागो मे उगायी जा रही है, विशेषत नीलगिरि मे इससे उपलब्ध होने वाले उत्पादो के कारण यह वृक्ष बडा मूल्यवान है। वाष्पशील तेल, रजक द्रव्य, परिमल, किनो (kino–विखदिर) सभी इसमे बडे उपयोगी उत्पाद है और विश्व के विभिन्न भागो, जैसे—कैलिफोर्निया, स्पेन, दक्षिणी अफ्रिका, अल्जीरिया, पूर्वी अफ्रीका, मारिशस, जावा एव मलाया मे इसकी खेती करने के लिए ७०-८० वर्षों से प्रयत्न किये जा रहे है। इन प्रयत्नो मे अधिकतर सफलता मिली है। अत· यह आवश्यक है कि परीक्षणो द्वारा यह पता लगाया जाय कि कौन सी जाति किस देश के अनुकूल है। इसका चुनाव करने पर बहुत कुछ निर्भर करता है। मलाया मे यूकेलिप्टस

रोस्ट्राटा (*E rostrata*) एव यूकेलिप्टस सिट्रिओडोरा (*E. citriodora*) खूब पैदा होते है, जब कि यूकेलिप्टस ग्लोबुलस वहाँ के लिए अनुपयुक्त पडता है।

भारत मे परीक्षणात्मक कार्य . भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे विभिन्न जलवायु वाले समतल मैदानो एव पहाडियो पर यूकेलिप्टस की खेती के लिए अतीत मे पर्याप्त परीक्षणात्मक कार्य किया गया है। प्रारम्भिक परीक्षणो के बारे मे बहुत कम अभिलेख मिलते है। अनेक प्रयत्नो के असफल होने का कारण यह बताया गया है कि आस्ट्रेलिया के ठण्डे प्रदेशो की जातियो (स्पीशीज) को भारतवर्ष के मैदानो मे या पहाडियो पर उगाने की कोशिश की गयी जहाँ की जलवायु उनके लिए अनुपयुक्त थी। बीजो के गलत नामकरण, जातियों की गलत पहचान एव आकडो के बारे मे अपूर्ण अभिलेख रहने के कारण भी विभ्रम रहा है। फिर भी, परीक्षण के परिणाम बडे रोचक और बडे काम के है क्यो कि भविष्य मे किये जाने परिक्षणो के लिए जाति के वरण मे इनमे पथ-प्रदर्शन मिलता है। ट्रुप, पार्कर एव अन्य वैज्ञानिको ने इन परिणामो की आलोचनात्मक परीक्षा की है जिससे विभिन्न ऊँचाइयो के लिए उपयुक्त जातियो का पता चल पाया है और इन जातियो को उगाने की कोशिश लाभप्रद सिद्ध हो सकती है।

(१) मैदानो मे, और खास कर उत्तरी भारत के मैदानो मे, सफल सिद्ध हुई जातियाँ यूकेलिप्टस मिलानोफ्लोइआ, यूकेलिप्टस माइक्रोथिका और यूकेलिप्टस पैटेण्टिनर्विस।

(२) नीलगिरि और शिमला की पहाडियो पर सफल सिद्ध हुई जातियाँ . यूकेलिप्टस बाइकलर, यू० बॉट्रीऑइडिस, यू० कॉर्नूटा, यूकेलिप्टस यूजेनिऑइडिस, यू० फिसिफोलिआ, यू० गम्मिफेरा, यू० कोरिम्बोसा, यू० गुन्नाइ, यू० ल्यूकोज़ाइलॉन, यू० लागिफोलिआ, यू० मेडेनाइ, यू० माइक्रोकोरिस, यू० ऑब्लिकुवा, यू० पिलुलैरिस, यू० पोलिएन्थेमास, यू० रेग्नाना, यू० रेजिनिफेरा, यू० सिडेरोज़ाइलॉन, यू० स्टुअर्टिआना, यू० ट्राइऐन्था, यू० विमिनैलिस।

(३) मैदानी एव पहाडियो पर सफल सिद्ध हुई जातियाँ यू० कैमल्डुलेन्सिस, यू० सिट्रिओडोरा, यू० क्रेब्रा. यू० हेमिफ्लोइआ, यू० मेल्लिओडोरा, यू० मल्टिफ्लोरा, यू० पैनिकुलेटा, यू० पक्टेटा, यू० रुडिस, यू० सैलिग्ना, यू० सिडेरोफ्लोइआ, यू० अम्बेलेटा।

(४) छोटे पैमाने पर अथवा शोभा के लिए उगायी जाने वाली जातियाँ यू० कैलोफिला, यू० कैपिटेल्लैटा, यू० सिनेरिआ, यू० डीअल्बाटा, यू० डेग्लुप्टा, यू० ड्रेपैनोफिला, यू० एलिओफोरा, यू० एक्जिमिआ, यू० फीकण्डा, यू० गोम्फोसिफैला, यू० लिनि-

एरिस, यू० मैक्रोरिका, यू० मिनिऐटा, यू० ओवैटा, यू० पौसिफ्लोरा, यू० टाइकोकार्पा, यू० पुल्वेरुलेंटा, यू० रेडुन्का, यू० सीवेरिआना, और यू० टोरेल्लिआना ।

(५) भारतीय जलवायु मे निम्नलिखित जातियो की कृषि की सलाह दी गयी है ताकि उनकी उपयुक्तता का पता चले मैदानो मे यू० ऐल्बा, यू० बॉएरिआना, यू० वोजिस्टोआना, यू० डिएनाइ, यू० पैटेन्स, यू० प्रोपिन्कुवा, यू० टर्मिनैलिस, यू० ट्रैकिफ्लोइआ, पहाडियो पर—यू० क्लैडोकैलिक्स, यू० डाइव्स, यू० एक्सेर्टा, यू० मुएल्लेरिआना, यू० पिपेरिटा, और यू० प्लैन्कोनिआना ।

(६) निम्नलिखित जातियो को मैदानो में या पहाडियो पर उगाने का परीक्षण किया जा चुका है और किसी भी प्रकार की सफलता नही मिली—यू० अल्पाइना, यू० ऐन्ड्रूसाइ, यू० बेलीयाना, यू० कॉस्मोफिला, यू० डेसिपिएन्स, यू० डाइवर्सिकलर, यू० एरिथ्रोकोरिस, यू० एरिथ्रोनीमा, यू० जाइगैन्टिया, यू० गिल्फोयलाइ, यू० हीमैस्टोमा, यू० लेहमनाइ, यू० लिड्लेयाना, यू० मैकार्थराइ, यू० मैक्रैण्ड्रा, यू० मैक्रोकार्पा, यू० मार्जिनैटा, यू० आक्सिडेन्टैलिस, यू० ओलिओसा, यू० प्लैटिपस, यू० पापुलिफोलिआ, यू० साल्मोनोफ्लोइआ, यू० सैलुब्रिस, यू० स्मिथाइ, यू० स्टेल्लुलैटा, यू० अम्ब्रा, यू० अनिजेरा, और यू० विर्गेटा ।

कृषि : आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और रूस मे इसकी कुछ जातियो की बालपर्णी टहनियो का कर्त्तन रोपकर, कायिक प्रजनन किया गया है। वहाँ इस कार्य मे पर्याप्त सफलता भी मिली है। प्रौढ पत्तियो वाले पादपो की कर्त्तनो मे जडें पैदा करने की विधियो का पता लगाने के प्रयत्न किये गये हैं। रोपणियो मे बीज से उगाये गये पौधो को प्रतिरोपित करके यूकेलिप्टस को उगाने का सामान्य तरीका भारत वर्ष में अपनाया गया है। फरवरी, मार्च के महीने मे ऐसी क्यारियो मे, जिनकी मिट्टी दुमट और जिसमे खूब सडी हुई खाद मिलायी गयी हो, अथवा ४-५ इञ्च गहरे चपटे बक्सो मे बीज बो दिये जाते हैं। जब पौधे २-४ इच लम्बे हो जाते है तो उन्हे २-३ इच की दूरी पर लगा दिया जाता है। दिन के मध्य मे कुछ घण्टे तक इन्हे धूप से बचाना आवश्यक होता है। अधिक आर्द्रता के कारण पौधो के सड जाने का डर बना रहता है, अत सिंचाई सीमित होनी चाहिये। नये पौधो को प्राय अलग-अलग टोकरियो मे या बाँस की नलिकाओ मे रोप दिया जाता है और जब वे लगभग बारह इच ऊँचे हो जाते हैं तो निकाल कर तैयार किये गये गड्ढो मे फिर से रोप दिया जाता है। पौधो को प्रतिरोपण योग्य बनने मे जो समय लगता है उसमे पौधो की जाति और जमीन की ऊँचाई के अनुसार अन्तर रहता है, इसलिए रोपणियो की

समयावलि मे सुविधानुसार अन्तर रखा जाता है ताकि प्रतिरोपण का काम वर्षा के मौसम मे सम्पन किया जा सके। पजाब के मैदानी इलाको मे रोपण के समय पौधो की खूब काट-छाँट करने का परीक्षण प्रयोग किया गया है, और युकेलिप्टस कैमाल्डु-लेन्सिस के बारे मे पूरी सफलता मिली है। ऐसा लगता है कि अनेक जातियो मे छँटाई का परीक्षण प्रयोग नही किया गया है। उन जातियो के पादपो को, जा खूब बढते है, तथा सीधा तना बनाने की प्रवृत्ति रखते है, उर्वरा भूमि मे ८×८ फुट से १२ फुट×१२ फुट की दूरी पर लगाया जाता है और जो पौधे धोरे-धीरे बढते हैं, और जिनमे शाखाएँ नीचे ही निकलती है तथा भूमि भी कम उर्वर होती है, उन्हे नजादीक-नजदीक लगाया जाता है। छोटे पौधो की १-२ वर्ष तक तुषार (पाले) से रक्षा करनी चाहिये। पक्तियो के बीच की जमीन की प्रथम कुछ वर्षों तक प्रतिमास एक बार गुडाई कर दी जाती है, ताकि घास-पात न जमने पाये और ६ से १० वर्ष तक के पौधो मे विरलन आवश्यक होता है।

यूकेलिप्टस को साधारणत छाया सह्य नही है। इनकी जडे खूब फैलती है, और हवा में दृढ बने रहते है। बहुत सी जातियो मे काट-छाँट भली भाँति की जा सकती है। छोटे पादपो को, जिनकी छाल पतली होती है या झड जाती है, अग्नि से क्षति पाने का डर रहता है, किन्तु बडे पेड, विशेष करके वे जिनकी छाल नही झडती, अग्नि-क्षति से अल्प प्रभावित होते हैं। अधिकाश जातियाँ अग्नि-क्षति से शीघ्र सम्भल जाने की क्षमता रखती है।

इस देश मे, इस तेल का आसवन लगभग ३० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और ऐसा अनुमान है कि लगभग २४,००० पौण्ड वार्षिक उत्पादन हो रहा है। नील-गिरि के बागानो की पत्तियो से प्राप्त तेल का अध्ययन पूरणसिंह ने किया था। इसमे पाइनीन, सिनिओल, सेस्क्वीटर्पीन और मुक्त ऐल्कोहॉल कम परिमाण में होता है, किन्तु आस्ट्रेलियाई तेल की भाँति इसमे न तो यूडेस्मॉल होता है और न ऐल्डि-हाइड होते है, फिलैण्ड्रीन भी इसमें नही रहता। इस तेल का स्थिराक भी निश्चित कर दिया गया है। विशिष्ट घनत्व ०९०६५ से ०९१५५, ध्रुवण घूर्णन+५° से +१०°, अपवर्तनाक ((Refractive Index) १४६३ से १४६६, साबुनी करण मान ८·९ से २०, सिनिओल ६० प्रतिशत। यह तेल, वस्तुत', ७० प्रतिशत ऐल्को-हॉल मे अविलेय है, किन्तु ८० प्रतिशत ऐल्कॉहॉल मे १ भाग से भी कम में इसका विलयन हो जाता है। ब्रिटिश भेषजकोश (१९४८ ई०) ने अधोलिखित मानक स्वीकार किया है, विशिष्ट घनत्व ०.९१० से ०.९३०, ध्रुवण घूर्णन—५° से+५°,

विलेयता ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ५ भाग मे १ भाग, सीनिओल ७० प्रतिशत आयतन मे। यूकेलिप्टस के वाष्पशील तैलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–(१) भेषजीय अथवा औषधीय तेल, (२) औद्योगिक तेल, और (३) परिमल तेल। औषधीय तेलो का प्रमुख घटक सीनिओल है। तेल प्रमुख रूप से यूकेलिप्टस सिडेरॉक्सिलॉन, यूकेलिप्टस ल्यूकॉक्सिलॉन और यूकेलिप्टस एलिओफोरा, से प्राप्त किये जाते है, जिनमे से सभी भारत में उगाये जा चुके है। आस्ट्रेलिया में यूकेलिप्टस ग्लोबुलस को जिससे तेल कम निकलता है, औषधीय तेल के स्रोत के रूप में अब नही उपयोग मे लाया जाता, यद्यपि भारत मे यही एकमात्र जाति है जिससे वाणिज्यिक प्रयोजनो के लिए तेल का आसवन किया जाता है। फिलैंड्रीन तथा पिपरिटोन औद्योगिक तेलो के प्रमुख घटक है जिनको पहले खनिजो को तैराने (mineral floatation) के लिए काम मे लाया जाता था। आस्ट्रेलिया मे ऐसे तेलो के लिए जिस जाति का विदोहन किया जाता है, वह यूकेलिप्टसडाइव्स है जिसका भारत मे परीक्षण प्रयोग किया गया है। सश्लिष्ट थाइमॉल और मेन्थॉल के निर्माण के लिए उपयोग मे लाये जाने वाले एल पिपरिटोन के स्रोत के रूप मे अब यहाँ इसको बहुत महत्व मिल गया। परिमल के लिए ऐसे तेलो को काम मे लाया जाता है जिनमे टर्पिनिओल, सिन्ट्रोनेलान, जिरैनिल एसिटेट और यूडेस्मॉल अधिक रहते हैं। यूकेलिप्टस सिट्रियोडोरा का जिसमे सिट्रोनेलाल रहता है, भारत मे सुगन्धित तेलो के लिए सीमित पैमाने पर विदोहन किया जाता है।

भारतीय तेल के गुणो को बी पी के माप दण्डो से तुलना करने पर किसी को भी इसका विश्वास हो जायगा कि भारतीय तेल औषधकोशीय अपेक्षाओ को प्राय पूरा करते हैं और औषधीय प्रयोजनो के लिए उनका उपयोग बिना किसी सशय के किया जा सकता है। वस्तुतः नीलगिरि के बगानो से जितना तेल तैयार होता है वह सब गवर्नमेंट मेडिकल स्टोर, मद्रास को बेचा जाता है और अधिकारियो को कभी कोई कारण नही मिला है कि उसमे दोष निकालें। दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दुस्तान मे उगने वाली यूकेलिप्टस की सभी जातियाँ उस तरह की बहुमूल्य नही सिद्ध हुई है जिस तरह की यूकेलिप्टस ग्लोबुलस, जिसका प्ररूप वर्णन ऊपर किया गया है। देहरादून मे उगने वाले दो जाति के यूकेलिप्टस की परीक्षा बोप द्वारा १९१९ ई० मे की जा चुकी है। यूकेलिप्टस टेरिटीकॉर्निस (यूकेलिप्टस अम्बेलेटा) से मिलने वाले तेल की मात्रा करीब ०·६६ प्रतिशत थी जो ताजी पत्तियो से मिलता था और फेलैण्ड्रीन रहित था। उसमे सिनिओल की मात्रा बहुत कम होती थी, केवल १०४ प्रतिशत।

इसके प्रतिकूल यूकेलिप्टस क्रेब्रा से मिलने वाला तेल सिनिओल या फिलैण्ड्रीन से सर्वथा मुक्त पाया गया। इनमे सिनिओल के न होने से या अस्वाभाविक रूप से कम मात्रा मे होने के कारण इन तेलो का उपयोग औषधीय प्रयोजनो के लिए नही किया जा सकता। इसलिए यह जरूरी है कि समुचित जाति के यूकेलिप्टस की खेती की जाय और ऐसा किया जाय तो इस उद्यम के सफल होने का पूरा भरोसा है। फिर भी यह सम्भव नही प्रतीत होता कि भारतीय यूकेलिप्टस के उत्पाद आस्ट्रेलियाई यूकेलिप्टस के उत्पादो से व्यापार मे मुकाबला कर सकेगे। आस्ट्रेलिया मे भूमि और जलवायु सबधी स्थितियाँ विशेष रूप से उसके लिए अनुकूल पडती है और फिर ऑस्ट्रेलियन कामनवेल्थ ने उस उत्पाद के महत्त्व को समझने मे तथा अपने ससाधनो से सर्वाधिक लाभ पाने मे कभी विलम्ब नही किया है। उस देश से जिस बडी मात्रा मे तेल का निर्यात होता है वह इस तथ्य का द्योतक है। अन्य देशो मे इस वृक्ष की कृषि के सफल प्रयास किये जा चुके है, फिर भी इस तेल की पूर्ति मे आस्ट्रेलिया बराबर अग्रणी बना हुआ है।

आस्ट्रेलिया से यूकेलिप्टस तेल का निर्यात :—

वर्ष	मात्रा	मूल्य
१९२१-२२ ई०	३५,०३९ गैलन	२४,४७० पौंड
१९२२-२३ ई०	५३,१२९ ,,	३४,६०२ ,,
१९२३-२४ ई०	७९,५५७ ,,	६५,८५८ ,,
१९२७-२८ ई०	१०७,८७६ ,,	९०,९२९ ,,
१९२८-२९ ई०	११४,०९४ ,,	८५,००९ ,,

औषधीय क्षेत्र मे भारतीय तेल का भविष्य और अच्छा होना चाहिये। आस्ट्रेलियाई तेल मे फिलैण्ड्रीन की काफी बडी मात्रा रहती है और यह श्वसनी श्लेष्मा (ब्रान्किअल म्यूकोसा) के लिए बडा क्षोभक होता है, विशेषकर उस अवस्था मे जब निश्वसन मे भीतर पहुँचता है, और हृदय के लिए यह बडा ही अवसादक समझा जाता है। ब्रिटिश औषधकोश मे ऐसे तेलो को स्पष्ट रूप से वर्जित किया गया है जिनमे यह तत्त्व अधिक मात्रा मे पाया जाता है। आस्ट्रेलियाई तेल मे जो ब्यूटिरिक एव वैलेरिएनिक् ऐल्डिहाइडस है वे भी हानिकर होते हैं। भारतीय तेल मे ये दोनों ही चीजें नही रहती, इसलिए चिकित्सको को इस तेल के प्रति और भी रुचि लेनी चाहिये क्योकि इस तेल से खासी की या अन्य दु खद अनुषगी प्रभाव की सभावना कम रहती है। ऑस्ट्रेलिया मे औषधीय प्रयोजनो के उपयोग मे आने वाले यूकेलिप्टस तेल को, बाजार मे भेजने से पहले प्रभाजी पुनरासवन की प्रक्रिया द्वारा परिष्कृत

कर लिया जाता है। आस्ट्रेलिया मे यूकेलिप्टस तेल जिन अन्य जाति के यूकेलिप्टस पेडो से प्राप्त किया जाता है वे यूकेलिप्टस सिट्रिओडोरा, यूकेलिप्टस डाइव्स, यूकेलिप्टस एलिओफोरा, यूकेलिप्टस ल्युकोज़ाइलॉन, यूकेलिप्टस मैकार्थराइ, यूकेलिप्टस सिडेरोक्सिलॉन और यूकेलिप्टस स्मिथाइ हैं। भारत मे इन वृक्षो को शोभा तथा इंधन के प्रयोजनो के काम मे लाने की कोशिश की गयी है। इनसे मिलने वाले वाष्पशील तैल की ओर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई ध्यान नही दिया गया है। ऐसा सुझाव दिया गया है कि इन जातियो के वृक्षो को यहाँ वाणिज्यिक पैमाने पर खेती की कोशिश की जानी चाहिये और तेल देने वाले साधन के रूप मे इनको उपयोग मे लाने का प्रयास किया जाना चाहिये। यह भी सुझाव दिया गया है कि भारत मे उन अन्य जातियो के वृक्षो को भी लगाने की कोशिश की जानी चाहिये जिनका आस्ट्रेलिया के यूकेलिप्टस तेल उद्योग मे महत्त्व सुस्थिर हो चुका है।

यूकेलिप्टस विश्व के महत्त्वपूर्ण कठोर दारु वाले वृक्षो मे माना जाता है, और आस्ट्रेलिया मे इमारती लकडी का यह एक प्रमुख स्रोत है, किन्तु भारत मे इन वृक्षो को इमारती लकडी के काम मे नही लाया जाता है। नीलगिरि मे यूकेलिप्टस ग्लोबुलस को बगान के पैमाने पर उगाया जाता है पर इसका उपभोग मुख्यत इंधन के लिए किया जाता है। यूकेलिप्टस तेल के उत्पादन का तो वहाँ, एक सहायक घरेलू उद्योग के रूप मे विकास हुआ है। यूकेलिप्टस की कई जातियो का उपयोग वहाँ जलाक्रान्त क्षेत्रो मे वनरोपण के लिए तथा नदी तटो पर और खाली पहाडियो पर सामुहिक रूप से उगाने के लिए किया गया है। कुछ जाति के वृक्षो की सिफारिश मृतिका के कणो को बाधे रखने के लिए तथा तेज हवा को रोकने के लिए की गयी है। कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो दलदल वाले क्षेत्र के जल को सोखने की क्षमता रखती हैं और कभी कभी मलेरिया रोधक उपाय के रूप मे इनको लगाने की सिफारिश की गयी है। यूकेलिप्टस की कुछ जातियो का महत्त्व शोभा के लिए एव सडको के किनारे पर लगाने के लिए होता है। इनमें बहुत से ऐसे हैं जो मधु मक्खियो के लिए मकरन्द प्रदान करने के काम मे आती हैं।

सन्दर्भ :–

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Macpherson, J , 1925 *Med Jour. Australia, July*, (3) Puran Singh, 1917, *Ind For Rec* (4) Ghose, 1919, *Perf Essen Oil Rec* , Schimmel & Co (5) *Wealth of India, Raw Materials*, 1952, III 203, (6) Krishna, S. and Badhwar, R L.

1949, *Jour Sci Industr Res*, 8 (12) Suppl 200, (7) Troup, R S, 1921, *The Cultivation of Indian Trees*, II, 556, (8) Parker, 1925, *Ind. For Bull*, N S No 61 & 63, (9) Fielding, 1948, *Aust For*, 12, 75

यूजिनिआ कैरिओफिलस (मिर्टेसी)

Eugenia caryophyllus Thunb (Myrtaceae)

पर्याय—साइजिजियम ऐरोमेटिकम

Syzygium aromaticum Merr (L M Perry)

लौंग (Cloves)

नाम —स० और व०—लवङ्ग, हि०—लौग, लौग, म०—लवग, त०—किराम्बु।

यूजिनिआ कैरिओफिलस मूलत मोलक्काद्वीप का पौधा है। इसकी खेती प्रमुख रूप से जंजीबार, पेम्बा, ऐम्बोयिना द्वीप समूह, पेनाग और मैडागास्कर मे की जाती है, और कुछ पैमाने पर सिचिलीस, रीयूनियन, मॉरिशस और श्रीलका मे भी की जाती है। दक्षिण भारत मे भी इसकी खेती होती है। इस पौधे के फूल की कलियो से वाणिज्यिक लौंग पैदा होती है। लौंग को उस समय पेड से तोडा जाता है, जब गूदादार (पुष्प) पात्र (fleshy receptacle) जो पहले हरा रहता है गहरे लाल रग का हो जाता है। तव इसमे तेल की मात्रा अधिकतम हो जाती है। जंजीवार और पेम्बा मे अगस्त और दिसम्बर के बीच साल मे दो बार इसके पुष्पी भागो को तोडकर इकट्ठा किया जाता है। कलियों को तोडने मे चल-प्लैटफार्मों या बाँसो की सहायता ली जाती है। लौंग को खुली हवा मे चटाइयो पर फैलाकर सुखा लिया जाता है और उन्हें पुष्पावलि-वृत से अलग कर दिया जाता है। ये वृत लवग-वृत (clove stalk) के नाम से बिकने वाली एक अलग वाणिज्यिक वस्तु है। यदि कलियो को अधिक काल तक वृक्षो पर रहने दिया जाय तो वे खिल जाती हैं और पखुडियाँ गिर जाती हैं और 'पुष्पित लौग' (blown cloves) रह जाती हैं। लौग का निर्यात गाठो मे किया जाता है, ये गाठें नारियल के वृक्ष के पत्तो से बनी चटाइयो से आवृत रहती हैं।

सूखी कलियाँ (वाणिज्यिक लौग) एरोमेटिक उद्दीपक और वातानुमोलक (carminative) होती हैं। विभिन्न प्रकार के जठर क्षोभ्यता (gastric irritability) और मदाग्नि मे इनका उपयोग किया जाता है। आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा में कई तरह की व्याधियो मे लौंग को चूर्ण या क्वाथ के रूप में व्यवहृत किया जाता

है। कलियो से आसुत तेल आज कल पाश्चात्य चिकित्सा मे आमतौर से काम मे लाया जा रहा है। उसके सयोग से औपधियो मे एक मीठी सुगन्ध आ जाती है, इसलिए कड़वी औषधियो का कुस्वाद इससे वहुत कुछ दव जाता है। ग्रीज (grease), साबुन और स्पिरिट यह आसानी से मिल जाता है और सुगन्धित द्रव्यो के निर्माण मे इसका बहुत विस्तृत पैमाने पर उपयोग किया जाता है। लौंग में लगभग १४ से २० प्रतिशत वाष्पशील तेल, १० से १३ प्रतिशत टैनिन और कैरियोफिलिन (caryophyllin) नामक एक क्रिस्टलीय पदार्थ पाया जाता है। कैरियोफिलिन श्वेत और गन्धहीन होता है जो ईथर और खौलते हुए ऐल्कोहॉल मे विलेय होता है। लौंग के वृन्तो से भी ५-६ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिल जाता है। लौंग का तेल भापीय आसवन (steam distillation) द्वारा निकाला जाता है और उसमे ३४ से ९५ प्रतिशत तक फिनॉल और सेस्क्विटर्पीन पाये जाते हैं और थोडी मात्रा एस्टर, कीटोन और ऐल्कोहॉल वर्ग के यौगिको की भी रहती है। औपधीय तेल मे करीब ८२ से ९० प्रतिशत तक फीनॉल रहता है। जिन तेलों मे फीनॉल की मात्रा कम रहती है वे ही मुख्यतः भेपजो मे प्रयुक्त होते हैं और तीव्र तेल, वैनिलिन (vanillin) बनाने के काम में लाये जाते है। इधर कुछ वर्षो के अन्दर सिगरेट की तम्बाकू को सुवासित करने के लिए लौंग और लौंग के तेल की माँग, जावा, सुमात्रा, बोर्निओ, चीन, जापान तथा भारत मे वहुत बढ गयी है। मसाले के रूप मे शायद ससार भर मे इसका इस्तेमाल किया जाता है।

लौंग की सारे विश्व में जितनी आपूर्ति हे इसकी ९० प्रतिशत जैंजीबार, और पेम्बा के टापुओ से होती है, जहाँ करीव १८१८ ई० मे इस पौधे को लगाया गया था और जहाँ का यह आज प्रमुख उद्योग हैं। १९१९ ई० मे जैंजीबार और पेम्बा में इसकी खेती अनुमानत. ५२,००० एकड में होती थी और इसमे करीब ५० लाख वृक्ष थे। तव से इसकी खेती बराबर वढती जा रही है। वहाँ इसकी कितनी ज्यादा फसल होती है इसका अन्दाज इसी बात से लग जायगा कि १९२५-२६ ई० में पेम्बा मे इसकी फसल ६५०० से ७००० टन तक हुई थी और जैंजीबार में ३५०० से ४५०० टन तक। १९२७ ई० मे जनवरी से जून तक की पहली ६ माही मे केवल १४५० टन लौंग का निर्यात केवल जैंजीबार से हुआ था। इसमे से ५८ प्रतिशत भारत मे, १६ प्रतिशत ब्रिटेन मे और १० प्रतिशत अमेरिका में हुआ था। इससे प्रगट है कि बिदेशी लौंग के उपभोक्ताओं में भारत प्रमुख है। भारत में लौंग की खेती तिरुनेलवेली और नीलगिरि की पहाडियो मे तथा मलाबार, मदुराई

और कोयम्बटूर के जिलो में होती है। इस समम इसकी फसल यहाँ करीव २०० एकड भूमि मे है और इसका कुल वार्षिक उत्पादन लगभग २ लाख पौण्ड है। प्रत्येक वृक्ष से करीव ८ से २० पौण्ड सूखी लौंग या प्रति एकड १ हजार पौण्ड सूखी लौंग पैदा हो जाती है। मद्रास के कृषि निदेशक के अनुसार, यदि १५ सौ एकड़ भूमि मे लौंग की खेती कर दी जाय, तो लौग के वारे मे भारत कुछ हद तक आत्मनिर्भर हो जायगा।

खेती : लौंग, जलोत्सारित, वलुई, दुमट और लैटेराइट भूमि मे जहाँ वार्षिक वृष्टि ६५ से ७० इच की हो, खूब पैदा होती है। इसकी खेती बीज वोकर या कलम (ग्रफ्टिंग) द्वारा की जाती है। कलम से लगाये हुए पौधे छोटे और झाडीदार होते हैं। छोटे पेडो से फसल पूरी तरह और सुगमता से इकट्ठा की जाती है। बीजो के सवर्द्धन क्यारियों मे बो देने के कुछ समय बाद, जव वेहन ६ इच ऊँचे हो जाते है, तो उन्हें अलग-अलग टोकरियो मे लगा दिया जाता है। फिर तीन चार महीने वाद इन नवोद्भिदो को २० से ३० फुट के फासले पर ३ घन फुट के गड्ढो में रोप दिया जाता है। गरमी के मौसम मे इनकी हाथ से सिंचाई करना जरूरी होती है। दो तीन वर्ष बाद पौधे दृढ हो जाते हैं और तव कभी ही उनको सिंचाई की जरूरत होती है और ६ से १० वर्ष के अन्दर वे फल देने लगते हैं। फल देने के दृष्टि से पेडो की जिन्दगी ६० साल की बतायी जाती है। इस वृक्ष की कोई सुनिर्धारित वैराइटी नही हैं, किन्तु इनकी वृद्धि के ढग मे, फल देने की क्षमता मे, गुण में तथा लौग के रंग और आकार मे भिन्नतायें अवश्य रहती हैं। ऐसा देखा गया है कि आरम्भिक अवस्थाओं मे प्रतिवृक्ष तीन औंस अमोनियम सल्फेट की खाद देने से पेडो की वृद्धि शीघ्र होती है और जल्दी ही वे बडे हो जाते हैं।

लौंग के तेल की जगह वाजार में अन्य स्थानापन्न द्रव्यो के आ जाने से लौंग उद्योग के भविष्य पर प्रभाव जरूर पडा है, फिर भी कई विशेषज्ञो का मत है कि अभी भी लौंग का उत्पादन बागान मालिको के लिए लाभप्रद है।

संदर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co, 1928 *Report*, (3) Trease, G E 1952 Text Book of Pharmacogonsy 430; (4) Private Communication form Director of Agriculture, Madras, 1953

यूऑनिमस टिन्जेन्स (सिलैस्ट्रेसी)

Euonymus tingens Wall. (Celastraceas)

डॉगवुड, स्पिण्डलवुड, प्रिकवुड

(Dogwood, Spindlewood, Prickwood)

नाम—हिं०—चारफली, सिखी, कुगकु, पापर, केसरी, कुमायूं—ग्वाली; ने०—नेर्वार, कसूरी; शिमला—चोप्रा, मर्माकॉल, जौनसार—भाम्वेलिस, रोइनी।

इस जीनस मे प्राय ४० जातियां है, उनमें से अधिकाश एशिया, यूरोप, अमेरिका तथा मलाया द्वीप समूह के उष्ण प्रदेशो मे फैली हुई हैं। यह भेषज चिकित्सा मे बहुत दिनो से काम मे लाया जा रहा है और यह कहा जाता है कि प्लिनी की पुस्तक मे इसका उल्लेख आया है। इसके रेचक गुण अत्यधिक नही हैं परन्तु यह यकृत को उद्दीपित करता है जिससे पित्त का स्राव अधिक होने लगता है। ऐसे रोगियो को जिनको अजीर्ण और आध्मान के साथ-साथ यकृत की क्रिया मे मन्दता होने की शिकायत रहती है, इसे कैस्करा और इरिडीन आदि मिलाकर चिकित्सक लोग देते हैं। भारत के बाजारों मे जो यूऑनिमस मिलता है, वह अमेरिका से आयात किया हुआ, अधिकाश यूऑनिमस ऐट्रोपर्पूरियस (*E atropurpureus* Jacq) की सूखी जड का छाल होता है।

यूऑनिमस ऐट्रोपर्पूरियस की छाल में यूऑनिमॉल, ऐट्रोपुरॉल, यूऑनोस्टेरिल, मोनो-यूऑनोस्टेरिल जैसी कई चीजे रहती हैं जो इसे सक्रिय बनाती है। कुछ अनुसधानको ने इसमे ग्लाइकोसाइड तथा एक ऐल्केलॉयड की विद्यमानता की भी सूचना दी है। इसके तने की छाल भी औषधि मे प्रयुक्त होती है। यूऑनिमस वृक्षो की कई जातियाँ भारत मे बहुत पायी जाती हैं। यूऑनिमस टिंजेन्स (*E tingers* Wall), यूऑनिमस क्रेनुलेटस (*E crenulatus* Wall) तथा यूऑनिमस डाईकाटोमस (*E dichotomus* Heyne) सदाहरित छोटे पेड हैं जो पश्चिमी प्रायद्वीप के पहाडी प्रदेशो मे पाये जाते हैं। यूऑनिमस पेण्डुलस (*E pendulus* Wall), यूऑनिमस लैसेरस (*E lacerus* Buch -Ham), यूऑनिमस ग्रैण्डिफ्लोरस, (*E grandiflorus* Wall), यूऑनिमस हैमिल्टोनिऐनस (*E hamiltonianus* Wall) और यूऑनिमस ग्लेबर (*E glaber* Roxb) हिमालय और आसाम मे पाये जाते हैं। यूऑनिमस ग्लैबर बगाल और बिहार मे भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनका अभी हाल तक पश्चिमी या देशी चिकित्सा-पद्धति मे रेचक के रूप मे उपयोग नही होता

रहा है। यूआॅनिमस टिजेन्स जिसका अन्य औषधि मे प्रयोग होता है, एक छोटा सदा-हरित वृक्ष है जो ऊँचाई मे २५ फुट तक होता है। यह हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश मे सतलज से नेपाल तक साढे ६ हजार से दस हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। बाहर से इसका छाल काला और मकाग (corky) होता है, पर अन्दर की ओर पीला होता है। नेत्र रोगो के लिए यह बडा लाभप्रद समझा जाता है। कोष्ठबद्धता और मदाग्नि के दीर्घकालीन रोगो मे इसका उपयोग किया जाता है। इसमे प्राय' वह सभी सक्रिय तत्त्व होते हैं जो यूआॅनिमस ऐट्रोपर्पूरियम के छाल मे पाये जाते है और इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स मे इसे यूआॅनिमस का स्थानापन्न माना गया है। भेषज को उपयोग मे लाने के लिए इसके सूखे छाल मे अम्ल-अविलेय राख ४ प्रतिशत से ज्यादा नही होनी चाहिये, सलग्न काष्ठ का भाग ३ प्रतिशत से ज्यादा नही होना चाहिये और विजातीय कार्बनिक पदार्थ २ प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिये। पेड की भीतरी छाल से एकर जक द्रव्य उपलब्ध होता है जिसे नेपाल की हिन्दू विवाहिता स्त्रियाँ माथे मे टीका लगाने के लिए काम मे लाती है। इसकी लकडी थोडी कठोर, गठीली और चिकनी होती है। यह नक्काशी के लिए उपयुक्त समझी जाती है।

सन्दर्भ :—

(1) Rogerson, H 1912, *J C S Trans*, 1040, (2) *Wealth of India Raw Materials*, 1952, III 222, (3) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 365, (4) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1953

फेरुला नार्थेक्स (अम्बेलिफेरी)

Ferula narthex Boiss (Umbelliferae)—Asafoetida

हीग (असाफोटिडा)

नाम'—स०–हिङ्गु, हि० व ब०–हिंगडा, हीग, बम्ब०–हिगडा, त०–कायम, पेरुगयम, ते०–इगुवा, फा०–अगूजा, अफगानी–अगूजा, कुर्न, ग्रोरा।

हीग (असाफोटिडा) एक ओलियो-गम-रेजिन है जो फेरुला फोटिडा (*F foetida* Regal), फेरुला नार्थेक्स (*F narthex* Boiss) तथा फेरुला की अन्य जातियो की जीवित प्रकद और मूल को काटने पर नि स्रवण से प्राप्त किया जाता है। फेरुला फोटिडा ईरान, कन्धार और अफगानिस्तान मे होता है तथा फेरुला नार्थेक्स कश्मीर के गावो मे, बल्टिस्तान, अस्तोर तथा पश्चिमी तिब्बत और अफगानिस्तान मे बहुतायत से पाया जाता है। इन जातियो की ऊँचाई करीब तीन मीटर तक होती है।

ओलियो-गम-रेज़िन देने वाली अन्य प्रसिद्ध जातियो मे फेरुला ऐलिएसिया (*F alliacea* Boiss) फेरुला रूब्रिकॉलिस- (*F rubricaulis* Boiss) तथा फेरुल असाफोटिडा है। हीग की कम से कम दो किस्में हैं। एक तो ऐसी है जो हवा लगने से लाल और भूरे रग की हो जाती है और दूसरी पीली और सफेद। बम्बई और फारस की खाडी के बदरगाहो से ले जाकर यह यूरोप और अमेरिका को व्यापारिक स्तर पर पहुँचाया जाता है।

ट्रीज के अनुसार यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है कि 'लेसर' (Laser) के नाम से जो वस्तु पुराने जमाने के लोगो को ज्ञात थी, वह आज की वाणिज्यिक वस्तु हीग ही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अरब के चिकित्सको द्वारा पूर्व से यहाँ लायी गयी है। हीग का सग्रहण ईरान और तुर्किस्तान मे वसत ऋतु के अतिम काल मे किया जाता है। पौधे का सर काट दिया जाता है और जो नि स्राव निकलता है उसे इकट्ठा कर लिया जाता है। यह प्रक्रिया तीन बार की जाती है और हर बार पौधा कटकर छोटा होता जाता है, पौधो को आरी से काटा जाता है। पहली बार की कटाई मे जो नि स्राव निकलता है वह सर्वोत्तम कोटि का होता है और तीसरी बार का निःस्राव दूसरी कोटि का होता है। दूसरी बार की कटाई का नि स्राव निम्नकोटि का होता है। भारत मे यह भेपज खैबर या बोलन के दर्रों से होकर या फिर फारस की खाडी के बन्दरगाहो से आता है। अधिकाशत यह खाडी के रास्ते से ही बन्दर अब्बास जैसे बन्दरगाहो से बम्बई आता है। अक्सर यह टीन की पत्ती लगी पेटियो मे बद आता है, जिनमे यह ५० से २०० किलोग्राम तक होता है। फेरुला फोटिडा का उपयोग भारत मे बहुत व्यापक पैमाने पर होता आ रहा है और इसे देशी चिकित्सा-पद्धति मे बहुत प्राचीन काल से बडा सम्मान प्राप्त रहा है। वातानुलोमक और उद्वेष्टरोधी (antispasmodic) के रूप मे यह बहुत ही प्रसिद्ध है तथा औरतो और बच्चो के हिस्टीरिया (hysteria) और तन्त्रिका विकार (nervous disorders) मे इसका बहुत उपयोग किया जाता है। वासक (flavouring) के रूप मे इसका उपयोग किया जाता है और पूरे भारत मे बहुत तरह के मसालो मे यह पडता है। चिरकारी श्वसनीशोथ (chronic bronchitis) मे कफ को बाहर निकालने वाली औषधि के रूप मे इसका प्रयोग किया जाता है तथा आन्त्र-आध्मान (intestinal flatulence) को दूर करने के लिए भी इसे प्रयोग मे लाया जाता है। पशु चिकित्सा के प्रयोजनों के लिए इसकी बहुत बडी मात्रा उपयोग मे आती है। कुछ चटनियो (sauces) में इसकी थोडी मात्रा मिली रहती है। मुख्यत इसी कारण से इस ऐरोमेटिक गोंद की

बहुत वडी मात्रा आयात की जाती है। ऐसा अनुमान है कि सालाना औसत ६ हजार हडरवेट हीग, जिसका मूल्य २,१६,३०० रुपये होते हैं, अफगानिस्तान के व्यापारियो द्वारा यहाँ लायी जाती है और सीमावर्ती शहरो मे वेच दिया जाता है, जहाँ से भारत के सारे मैदानी इलाको मे इसका वितरण होता है। इसमे सदेह नही कि इसका थोडा निर्यात भी होता है, पर इसकी मात्रा बहुत नगण्य है (कुल आयातित मात्रा का करीव एक प्रतिशत)। इसका अधिकाश भाग भारत मे ही रहता है। भारतीय भेषज कोश मे इसे मान्यता प्राप्त है और इससे ऐल्कोहॉल (९० प्रतिशत) विलेय निष्कर्ष ५० प्रतिशत से कम नही प्राप्त होता।

फेरुला नार्थेक्स कश्मीर के भीतर की सूखी घाटियो मे बहुतायत से पैदा होता है और इससे काफी गम-रेजिन मिलता है, जिसे बाहर से मँगाये गये हीग की जगह उपयोग मे लाया जाता है। हीग मुख्यत दो तरह की होती है। (१) टीयर्स (tears) यह गोल या चिपटी होती है और व्यास मे ५ से ३० मिलीमीटर तक होती है। यह धूसर-श्वेत, धूमिल पीत या रक्ताभ भूरे रग की होती है। इसकी कुछ किस्मे पुरानी होने पर रक्ताभ-भूरी हो जाती हैं और कुछ धूसर या पीताभ रह जाती है। तोडने पर भीतर से यह पीताभ और पारभासक बना रहता है या धीरे-धीरे अपारदर्शक दुग्ध-श्वेत से गुलावी, लाल होते हुये रक्ताभभूरी हो जाती है। (२) पिंड (Mass) —यह ऊपर वर्णित टीयर्स का समूहन होकर पिण्ड वन जाता है और इसमे आम तौर से फल, जड के टुकडे या मिट्टी और अन्य अशुद्ध वस्तुएँ मिली रहती है। यह पिण्डाकार हीग ही आमतौर से व्यापार मे चलती है। हीग को यदि पहले ठढा कर लिया जाय तो आसानी से इसका चूर्ण बन जाता है। इसमे लहसुन की तेज गध होती है और इसका स्वाद कडुवा और लहसुन की तरह का होता है।

घटक ' हीग मे वाष्पशील तैल, रेजिन, गोद और कई अशुद्ध चीजें रहती हैं। टीयर्स और पिण्डाकार इन दोनो मे ही वाष्पशील तेल की मात्रा एक सी होती है और इस तेल की गध अप्रिय होती है और उसमे गधक के यौगिक रहते हैं। वाउमान के विश्लेषण के अनुसार (१९२९ ई०) हीग मे लगभग ये चीजे होती है—वाष्पशील तेल और रेजिन ५१ प्रतिशत, ऐसारेजिनॉल फेरुलेट (asaresinol ferulate) १६ ५७ प्रतिशत, मुक्त फेरुलिक अम्ल १ ३३ प्रतिशत, ईथर मे अविलेय रेजिन १ प्रतिशत, गोद और अपद्रव्य (impurities) ३१ प्रतिशत।

पौधे के सभी अगो से हीग की एक तीव्र गध निकलती है। कहा जाता है कि हीग को तने से सग्रहीत करने का समय जून का महीना होता है जब फल कच्चा

रहता है, किन्तु जडो से हीग जुलाई-अगस्त मे निकालते है जब पत्ते झड गये रहते है। कश्मीर मे यह नियमित रूप से नही सग्रहीत किया जाता। कुछ पठान अफगानिस्तान से इन क्षेत्रो मे आ जाया करते थे जहाँ ये पौधे अपने आप उगते हैं और पेड के तनो को तेज औजार से काटकर गोद रेजिन इकट्ठा कर लेते थे। पेड की जडो की भी कुट्टी बनाकर और उसे पानी मे उबाल कर तत्पश्चात पानी को सुखाकर कुछ गोद निकाल लेते थे। उबालने वाली प्रक्रिया से उतना अच्छा परिणाम नही निकलता है क्योकि उससे वाष्पशील तेल उड जाता है। एक पेड से अनुमानत कुल ० ४ औंस हीग साल में मिलती है।

सन्दर्भ :—

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) Humphreys, 1912, *Drugs in Commerce*, (3) *Sea-borne Trade Statistics of British India*, 1928-29, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 451, (5) Baumann, M, 1929, *Abstract in Y B Pharm*, 6, 621, (6) *Indian Pharmacopoeial List* 1946, (7) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour, Sci Industr Res, Suppl*, 12 A, 276, (8) Amin Chand, 1932, *Ind For*, 58, 277, (9) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1953

फोनिकुलम वल्गैरी (अम्बेलिफेरी)

Foeniculum vulgare Mill. (Umbelliferae)

सौफ (Fennel)

नाम —स०—मधुरिका, हि०—बडी सौफ, सौफ, सोट, ब०—पानमौरी, मौरी, बम्ब०—बडी सोफा, त०—सोहिकिरी, शोम्बु, ते०—सोपु, पेड्डा-जिलाकुर्रा।

सौफ एक द्विवर्षी या बहुवर्षी बूटी (herb) है जिसकी भारत भर मे घरेलू खेतो पर आमतौर से खेती की जाती है। शीत-ऋतुकालीन पौधे की तरह इसे ६००० फुट तक की ऊँचाइयो तक सर्वत्र उगाया जा सकता है। कई स्थानो मे यह अपने आप पैदा होती है। खुली जगहो मे, जलोढ मिट्टी (alluvial soil) जिसमे नमी अधिक न हो यह बहुतायत से होती है।

फोनिकुलम वल्गैरी (*F vulgare* Mill) और फोनिकुलम कैपिलैसियम (*F capillaceum* Gilib) ये दोनो जातियाँ सबसे अधिक महत्त्ववाली है जिसकी

भारत, जावा, जापान, ईरान, मिश्र, यूनान इटली, रूमानिया, रूस, जर्मनी, पोलैण्ड आदि देशो मे खेती की जाती है। इसकी खेती इसके फलो के लिए की जाती हैं जिनका उपयोग रसोई मे या अचार, कैन्डी-मिठाई और लिकर (candies and liqueur) बनाने में मसाले के रूप मे बहुत ज्यादा किया जाता है। इसके फलो से २ से ६ ५ प्रतिशत तक एक वाष्पशील तेल मिल जाता है। खेती से उगायी गयी सौफ और वन्य-अवस्था मे उगने वाली सौफ मे इतना सूक्ष्म अन्तर होता हैं कि कुछ वनस्पतिविद् उन सबको फोनिकुलम वलौरी की प्रजाति (races) या उपजाति (subspecies) या वैराइटी (Variety) मानते हैं। सौफ की कई प्रजातियाँ या वैराइटी हैं जिनकी खेती विश्व भर मे होती है। इसलिए इनमे कोई आश्चर्य की बात नही है कि विभिन्न देशो मे पैदा होने वाली सौफ मे उनके वाष्पशील तेल की मात्रा मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसकी विभिन्न किस्मो और प्रजातियो का वानस्पतिक दृष्टिकोण मे विभेद करना कठिन है।

सुगन्ध और स्वाद के लिए सौफ का प्रयोग मानव अज्ञात चिरन्तन काल से करता आ रहा है। इसके फल का उपयोग प्राचीन रोमन लोग करते थे। इसके गूदेदार प्ररोहो (succulent shoots) को वे लोग शाक-सब्जी के तौर पर भी काम मे लाते थे और दक्षिणी इटली मे ऐसा आज भी होता है। मध्य यूरोप मे इसकी खेती को सम्राट शार्लमान्ये (Charlemagne) ने प्रोत्साहन दिया था। आज रसोई के प्रयोजन के लिए जिसमे चटनी या रसदार व्यजन (शोरवे) को सुगध-स्वाद देना भी शामिल है, तथा अचार, कैन्डी, लिकर बनाने मे यह आम तौर से सर्वत्र मसाले की तरह काम मे लाया जाता है। सभी देशो के औषधकोशो मे इसे मान्यता प्राप्त है, क्योकि इसमें एक वाष्पशील तेल होता है जो उद्दीपक, ऐरोमोटिक और वातानुलोमक होता है। सम्मिश्र मुलेठी चूर्ण का यह एक घटक है और इसमे तथा इसी तरह के अन्य चूर्णो के प्रयोग से पेट मे जो मरोड पैदा होता है उसको दूर करने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। सोडियमबाईकार्बोनेट और शर्बत (सीरप) के साथ मिलाकर इसे बच्चो के आध्मान (flatulence) के उपचार मे औषधि के रूप मे दिया जाता है। सारे भारत मे चर्वण के रूप में इसका उपयोग होता है।

यूरोप मे हृद्पेय (cordials) के निर्माण मे इसका प्रयोग किया जाता है और सौंफजल इसीसे बनता है, जो औषधि के रूप मे, विशेपकर और भेषजो के अनुपान के लिए तथा वासक के रूप मे उपयोग किया जाता है। भारतीय चिकित्सा मे इसकी

बडी मांग रहती है। यह उद्दीपक, वातानुलोमक तथा ऐरोमेटिक माना जाता है। इसके गरम फाण्ट के प्रयोग से स्त्रियो को दूध अधिक होता है और इससे पसीना भी अधिक पैदा होता है। इसमे सदेह है कि देशी चिकित्सा मे इसके सम्वध मे जो दावा है वह कहाँ तक सही सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु इसके फलो का वाणिज्यिक महत्त्व बहुत बडा है। खास करके फ्रास मे इसकी खेती काफी बडे पैमाने पर की जाती है। इसका अनुमान इसी बात से लग जायगा कि फ्रास मे 'गार्ड' (Gard) विभाग ३०० हेक्टेयर मे इसकी खेती करता है और सालाना लगभग ३ लाख किलोग्राम तेल तैयार करता है, इसके फलो की वडी मात्रा वहाँ मदिरा (सुवासित मद्य) मे काम आती है। फ्रास मे औसतन २० लाख किलोग्राम फल सालाना मारसेंल्स के बदरगाह के जरिये आयात किया जाता है।

खेती भारत मे सौंफ की खेती शीतकालीन फसल के रूप मे की जाती है और इसकी खेती उसी ढग से की जाती है जैसे सामान्य बगीचे की फसल की जो बेचने के काम आती है। कुछ राज्यो मे, जैसे बम्बई मे, बहुत बडे पैमाने पर इसकी खेती की जाती है। जून से अक्टूबर तक के बीच जमीन को जोतकर, मिट्टी तोड कर और हेंगा चलाकर भूमि तैय्यार करते हैं। बीज को हाथ से छीटकर क्यारियो में बोते हैं। ९ पौण्ड बीज १ एकड के लिए पर्याप्त होते हैं। बीजो को उगने मे २० दिन लग जाते हैं। जब पौधे ३ इच ऊँचे हो जाते है तो जनवरी तक हर पखवाडे खेत को खूब सीचते हैं। हरी हालत मे ही फसल को काट लेते है और उसे ५-६ दिनो तक जमीन पर ही पडा रहने देते हैं। प्रति एकड २८० पौंड से ११२० पौंड तक फल पैदा होता है। औसत ७२० पौण्ड की पैदावार अच्छी समझी जाती हैं। फ्रास मे सौंफ २८ से ३० इच की दूरी पर बनायी गयी उथली नालियो (furrows) मे बोयी जाती है और जब पौधे ३ से ४ इच बडे हो जाते है तो उनकी छँटनी कर देते हैं, ताकि दो पौधो के बीच ४ से ६ इच तक का फासला बना रहे। वहाँ करीब १३ सौ पौण्ड प्रति एकड की पैदावार होती है।

भारत प्रतिवर्ष लगभग ५ लाख किलोग्राम सौफ निर्यात करता है। किन्तु भारत मे इतनी ससाधन क्षमता वर्त्तमान है कि सौंफ और उसके तेल का निर्यात करके फ्रास का बाजार वह कब्जे मे कर ले। इस तथ्य को देखते हुए कि भारत का तेल अन्य देशो की तुलना मे अच्छा होता है, इस दिशा मे सफलता मिलने की पूरी सम्भावना है। विभिन्न देशो के तेलो के गुणो की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जायगा।

	फ्रास का तेल	गैलीशिया का तेल	रूस का तेल	भारत का तेल
आपेक्षिक घनत्व, १५° सें०पर —	०.९७६	०.९६६	०.९६७	०.९६८
ध्रुवण-घूर्णन, १०० मी० मी० की नली में—	+१६.०°	+२२°	+२३°	+२१°
जमने के बाद गलनांक—	१२.५°	४०°	४४°	८२°
फेन्कोन की प्रतिशतता—	—	१९.३	१८.२	६.७

सौंफ का तेल —सौंफ से वाष्पशील तेल की उपलब्धि उसके किस्म पर निर्भर करती है। साधारणत: तेल की प्राप्ति मे अन्तर १.५ से ४ प्रतिशत तक होता है, किन्तु न्यूनतम प्राप्ति ०.५३ प्रतिशत और अधिकतम ६.५ प्रतिशत तक पायी गयी है। बाजार से खरीदे गये भारतीय सौंफ के तीन नमूनों का राव, सद्वरो तथा वाट्सन ने विश्लेपण किया और उनसे ०.५३ से ०.८२ प्रतिशत वाष्पशील तेल (शुष्क आधार पर) प्राप्त किया, जिसकी गंध मीठी और ऐनीसी की तरह थी। उमनी के अनुसार भारतीय सौफ से ०.७ से १.२ प्रतिशत तेल मिलता है। इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स (१९५२ ई०) के अनुसार, वाष्पशील तेल की उपलब्धि मे १.० से २.९ प्रतिशत तक अन्तर होता है, और स्थायी तेल की उपलब्धि मे ८.८ से १५.८ प्रतिशत तक यह उपलब्धि अन्य देशों की तुलना मे बहुत कम है, जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से प्रत्यक्ष है।

सौंफ फल

किस्म	तेल की प्रतिशत मात्रा
१ फ्रेंच स्वीट	२.१
२ जर्मनी (सैक्सन-)	४.७
३. भारतीय	०.७२
४ रूसी	४.८
५ गैलेशियाई	४.४
६. जापानी	२.७

जर्मनी, रूसी और गैलेशियाई सौफों से वाष्पशील तेल की प्राप्ति अधिक होती है और इसमे ६० प्रतिशत ऐनियोल और १८ से २२ प्रतिशत फेन्कोन नामक कीटोन जिसका फारमूला $C_{10} H_{16} O$ है, पाया जाता है। रोमन सौफ जिसे मीठा तेल (oil of sweet) कहते हैं उसमे फेन्कोन की मात्रा अत्यल्प होती है या बिल्कुल ही नही होती, जब कि जापानी सौंफ मे १० प्रतिशत और भारतीय सौंफ

मे ६ ७ प्रतिशत फेन्कोन पाया जाता है। जिन तेलो मे फेन्कोन की मात्रा न्यून होती है उनमें साधारणत ऐनिथोल की मात्रा अधिक होती है। ऐनिथोल, $C_{10} H_{12} O$ फेनॉलिक ईथर है और तेल को ठण्डा करने पर यह शीघ्र ही विलग हो जाता है, विशेषकर यदि ऐनिथोल का एक क्रिस्टल तेल मे डाल दिया जाय। सौंफ के 'तिक्त' तेलो मे ऐनिथोल की विद्यमानता ही उनके विशिष्ट स्वाद का कारण है। बाजार से खरीदी गयी भारतीय सौफ से निकाले गये तेलो की विशेषताएँ, राव, सद्वरो और वाट्सन के मतानुसार तथा एक पूर्ववर्ती अनुसधानकर्ता के मतानुसार ये हैं— आपेक्षिक घनत्व १५ डिग्री से पर ० ९६८० से ० ९७६७, ध्रुवण घूर्णन २५° से० पर+११ ७° से+२१°, n_D^{25}, १ ५१५५ से १ ५३८३, जमनाक (congealing point) +५ ५° से+९ O°, ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के १ भाग मे १ विलेयता। ये स्थिराक व्यापारिक मीठी सौंफ के तेल स्थिराक के निर्धारित सीमा के अन्दर आते हैं। भारतीय सौंफ के तेल मे ७० प्रतिशत से ऊपर ऐनिथोल और ६ प्रतिशत फेन्कोन पाया जाता है।

सौंफ का तेल ऐरोमेटिक, वातानुलोमक होता है और बच्चो के उदर-शूल के उपचार के काम मे लाया जाता है। यूरोप मे रसोई के प्रयोजनो के लिए तथा हृद-पेय एव सुवासित मद्य तैयार करने के लिए इसका बहुत उपयोग किया जाता है। परिमल पदार्थों के निर्माण मे इसका कम उपयोग होता है, परन्तु बहुधा साबुनो को सुवासित करने मे इसको काम मे लाया जाता है। वाष्पशील तेल के आसवन के बाद सौफ की जो खली बच जाती है वह पशुओ के लिए एक मूल्यवान खाद्य है क्योकि इसमे १४ से २२ प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा और १२ से २० प्रतिशत वसा की मात्रा रहती है। व्यापारिक विदोहन की दृष्टि से, तेल के अल्प प्रतिशत की उपलब्धि कृषको को हतोत्साहित करने वाली बात है। शुद्ध ऐनियोल भी बाजार मे बिकने लगा है, इससे सौंफ के तेल का महत्त्व भी बहुत कुछ घट गया है। इस बात का पता लगाने के लिए कि उचित और वैज्ञानिक ढग से खेती करने से तेल की मात्रा मे वृद्धि हो सकती है या नही, और अनुसधान किया जाना चाहिये।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Rao, Sudborough and Watson, 1925, *J Ind Inst Sci*, 184, (3) Umney, J C, 1897, *Pharm Jour*, 4, 225, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy* 440, (5) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour Sci Industr. Res*, 12 A, 276, Suppl. , (6) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1952, 107

मुख्य घटक मेथिल सैलिसिलेट के होने के कारण, मेथिल सैलिसिलेट को ही मान्यता दे रखी हैं। किन्तु इन तीनो चीजो की अर्थात् सश्लिष्ट मेथिल सैलिसिलेट, गॉल्थीरिआ के तेल और स्वीट बर्च के तेल की अनुमति अधिकारियो ने दे रखी है यदि उनपर लगा लेबुल यह बताता हो कि वह किस साधन से बनाया गया है। अन्य कई पौधो मे भी मेथिल सैलिसिलेट की विद्यमानता का पता लगा है। ये पौधे बेचुलेसी, पॉलीगैलेसी, एरिकेसी, लेग्युमिनोसी आदि कुल के पौधे है जो विश्व के विभिन्न भागो मे पैदा होते हैं, किन्तु कुछ मे सक्रिय तत्त्व की विद्यमानता की मात्रा इतनी कम है कि उनका कोई वाणिज्यिक महत्व नही हो सकता। गॉल्थीरिआ फ्रैग्रैण्टिस्सिमा नीलगिरि, ट्रावनकोर, बर्मा में टुगू के पास और विशेष करके असम मे स्वतन्त्र रूप से पैदा होता है। यह नेपाल से भूटान तक ६ हजार से ८ हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है और खासिराया की पहाडियो मे तथा पश्चिमी घाटो पर भी पाया जाता है। पूरनसिंह ने वाणिज्यिक उपयोग की दृष्टि से इसके आसवन करके निकाले गये उत्पाद का अध्ययन किया था (१९१७ ई०)। उन्होने यह पाया कि असम के पौधो मे वाणिज्यिक प्रयोजनो के लिए पर्याप्त तेल होता है। उनके परीक्षणो के परिणाम इस प्रकार हैं।

		ताजी बूटी	सूखी बूटी
१—नीलगिरि गॉल्थीरिआ	३५० पौण्ड	०'०३६ प्र श	०'०६७ प्र श
२—नीलगिरि गॉल्थीरिआ	५०० पौण्ड	० १२० प्रतिशत	०'२३ प्रतिशत
३—असम गॉल्थीरिआ	३५० पौण्ड	० ६५ प्रतिशत	१'२ प्रतिशत

भारतीय विण्टरग्रीन के तेल मे उसी प्रकार के गुण पाये जाते हैं जैसा कि अन्य देशो के इस तेल में होते है। असम के तेल के स्थिराक इस प्रकार हैं—

आपेक्षिक घनत्व १.१८५, ध्रुवण अघूर्णक, ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ६ भाग मे विलेय, मेथिल सैलिसिलेट अश ९९ १ प्रतिशत, अपवर्तनाक २०° से० पर १ ५३७ से १ ५३९, रगहीन या प्राय' रगहीन, विशिष्ट उग्र गध, और मीठा ऐरोमेटिक तीखा स्वाद।

आर्थिक पक्ष · विण्टरग्रीन के तेल और स्वीट वर्च के तेल मे ९५ से ९९ प्रतिशत तक मेथिल सैलिसिलेट होता है। विण्टरग्रीन का तेल पहले 'प्राकृत' सैलिसिलिक अम्ल बनाने मे विस्तृत रूप से प्रयोग मे लाया जाता था। जब से कोलतार से सश्लिष्ट मेथिल सैलिसिलेट बनने लगा है, तब से स्थिति मे काफी परिवर्तन आ गया है। कुछ समय तक तो 'प्राकृत' उत्पाद को अधिक पसन्द किया

जाता था, क्योंकि सश्लिष्ट मेथिल सैलिसिलेट मे कई आपत्तिजनक अशुद्ध वस्तुएँ विद्यमान रहती थी, किन्तु अब सश्लिष्ट मेथिल सैलिसिलेट का निर्माण इस पूर्णता को पहुँच गया है कि विण्टरग्रीन से प्राकृत उत्पाद मे कोई लाभ नही रह गया। इसके अतिरिक्त सश्लिष्ट उत्पाद की कीमत प्राकृत उत्पाद की कीमत से बहुत सस्ती पडती है और फिर यह भी है कि गॉल्थीरिआ का तेल, ब्रिटिश फार्मास्युटिकल कोडेक्स के अनुसार, लगाये जाने पर उससे कही अधिक बार त्वक पर विस्फोट (eruption) पैदा कर सकता है, जितना कि सश्लिष्ट उत्पाद के लगाने से हो सकता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नही है कि साधारण उपयोग में सश्लिष्ट उत्पाद ने प्राकृत उत्पाद को पीछे कर दिया है।

यद्यपि भारतीय गॉल्थीरिआ फ्रैग्रैण्टिस्सिमा से उपलब्ध प्राकृतिक उत्पाद के वाणिज्यिक उपयोग की सम्भावना बहुत आशाप्रद नही प्रतीत होती है, फिर भी कोई कारण नही है कि वर्तमान ससाधनो को नष्ट होने दिया जाय और इस दिशा मे समुचित अनुसधान न किया जाय। पूरन सिंह के अनुसार (१९१७ ई०) भारतीय पौधे से जितना तेल निकालता है वह बहुत कम है, किन्तु आसवन की सुधरी प्रणाली को अपनाकर तेल की उपलब्धि शायद बढायी जा सकती है। जर्मनी में जिगेलमान (Ziegelmann) ने जो परीक्षण किये है उनसे पता चलता है कि आसवन के पूर्व यदि द्रव्य का मृदुभावन (maceration) किया जाय तो तेल ज्यादा मिल सकता है। नीचे दिये गये विवरण से यह बात ज्यादा स्पष्ट हो जाती है —

तेल की उपलब्धि-प्रतिशत (स्वीट बर्च के छाल से)	तेल की उपलब्धि-प्रतिशत (गॉल्थीरिआ की पत्तियो से)
०.२० (बिना मृदुभावन)	०.७०
०.४१ (४० सें० पर बारह घटे मृदुभावन)	१.३०

इसलिए सम्भव है कि यदि तेल निकालने की सुधरी प्रणाली को अपनाया जाय, जैसा कि जर्मनी मे है, तो भारत मे गॉल्थीरिआ के तेल का उत्पादन लाभप्रद हो सकता है। इसकी कृषि से नियमित रूप से कच्चे पदार्थ की आपूर्ति होती रहेगी और असम मे यह एक रुपया दस आना प्रति पौण्ड की लागत से तैयार किया जा सकेगा, जब कि सश्लिष्ट मेथिल सैलिसिलेट की लागत चार रुपये प्रति पौण्ड तक की है। सश्लिष्ट उत्पाद की कीमत यद्यपि बहुत कम हो गयी है (ढाई रुपया प्रति पौण्ड), फिर भी उत्पादको को काफी लाभ आता है। भारत कम से कम विण्टरग्रीन तेल की अपनी आवश्यकता को अपने ससाधनो से पूरा तो कर ही सकता है।

संन्दर्भ :–

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co , 1895, *Report*, (3) Puran Singh, 1917, *Ind For Rec* , (4) Chopra, R N , and Badhwar, R L , and Ghosh, S , 1949, *Poisonous Plants of India*, I, 605

जेन्शिआना कुरू (जेन्शिएनेसी)

Gentiana kuroo Royle (Gentianaceae)

भारतीय जेन्शिअन मूल (Indian Gentian Root)

नाम .—ब० तथा हिन्दी—करू, कुटकी, बम्ब०—पाषाणभेद, गु०—पाखानभेद; प०—नीलकान्त, कमलफूल ।

पिक्रोराइजा कुरूआ (स्क्रॉफुलैरिएसी)

Picrorhiza kurrooa Linn (Scrophulariaceae)

नाम —स०—कटुका, कटुरोहिणी, हि० और ब०—कटकी, कुरू, प०—काली कुटकी, बम्ब०—बालकडू, त०—कटुकु-रोगणी, अ० और फा०—खरबके हिन्दी, कश्मी०-कौर ।

जेन्शिअन बहुत प्राचीन काल से औषधि के रूप मे ज्ञात है, तथा प्राचीन यूनान और अरब के चिकित्सको के काल से चली आ रही हैं । कई जटिल योगो मे यह भी एक घटक के रूप में रहता है । औषधकोश मे यह एक महत्वपूर्ण तिक्त औषध है और इसका विस्तृत रूप से उपयोग किया जाता है । सभी साधारण तिक्त औषधियो मे जो पौष्टिक (बल्य) गुण पाये जाते हैं, वे इसमे भी बहुत अधिक मात्रा मे मिलते हैं । अपने ऐरोमेटिक गुणो के कारण इसका स्वाद अनुकूल होता है और इसमे टैनिन न होने के कारण कोई स्तम्भक प्रभाव नही पाया जाता । इसलिए इसे अन्य तिक्त औषधियो से अधिक पसन्द किया जाता है । आधुनिक चिकित्सा के कई बल्य और क्षुधावर्धक नुस्खो मे इसका समावेश रहता है । इस भेषज का मान्यता-प्राप्त स्रोत जेन्शिआना ल्यूटिआ (*Gentiana lutea*) (साधारण यूरोपीय पीत जेन्शिअन) के प्रकद और मूल है । जेन्शिआना ल्यूटिया एक सुन्दर बहुवर्षी पौधा है जो मध्य एव दक्षिणी यूरोप के आल्प्स के पहाडी प्रदेशो में पैदा होता है । इसकी सुखायी जडो को बेलनाकार टुकडो मे उन्हे समूचा या फिर अनुदैर्घ्य टुकडो मे काटकर भारत को निर्यात किया जाता है । जेन्शिअन की कई जातियाँ जैसे जेन्शिआना कुरू, जेन्शिआना डिकम्बेन्स (*G decumbens*), जेन्शिआना टेनैल्ला (*G tenella*) इत्यादि भारत के

पहाडी प्रदेशो मे पायी जाती है, किन्तु चिकित्सा प्रयोग मे उनका कोई उपयोग नही किया जाता है यद्यपि इन सभी की मूलों या तनो मे तिक्तता अल्प या अधिक मात्रा मे जरूर रहती है। इनमे जेन्शिआना कुर्रू सुविख्यात है और मान्यता-प्राप्त भेषज की जगह इन जाति को बहुत ज्यादा काम मे लाया जाता है और इसे भारतीय फार्मास्युटिकल कोडेक्स १९५२ ई० मे मान्यता भी मिल गयी है। यह एक छोटा शाकीय पौधा है। जिसका फूल सुन्दर और नीला होता है और जो कश्मीर मे और उत्तर पूर्वी हिमाचल के प्रदेशो मे ५ हजार से ११ हजार फुट की ऊँचाई पर आम तौर मे पाया जाता है। यह पौधा पहाडी स्थानो मे उगता है, पर ऐसे ऊँचे स्थानो मे जहाँ यह नही उपजता, यह अपने को वहां के अनुकूल नही बना पाता है। खेती मे इसके सर्वोत्तम विकास के लिए आशिक रूप मे छाया का होना बडा सहायक होता है। इसे पुष्पित होने मे कुछ वर्ष लग जाते है और काफी समय बीतने पर इसकी जडें बिक्री के लिए समुचित आकार की हो पाती हैं। यह नगी पहाडियो पर और चट्टानो की ढालो में, दोनो जगह ही उगता है। ज्यादातर जडे पहाडो से मैदानो को भेजी जाती है। पर अभी तक इनकी रचना के बारे मे विस्तारपूर्वक कोई रासायनिक अध्ययन नही हुआ है, इसलिए चिकित्सक तथा भेषज-निर्माता इसका उपयोग नही कर सकते हैं। इस जाति के मूल के एक नमूने का, जो कश्मीर से आया था, विश्लेषण किया गया था जिसके परिमाण निम्नलिखित है—

	जेन्शिआना कुर्रू	जेन्शिआना ल्यूटिया
जलीय सार	२० प्रतिशत	३०–४० प्रतिशत
भस्म	० ७० प्रतिशत	६ प्रतिशत से अधिक नही
जेन्शिओपिक्रिन	शून्य	१ ५ प्रतिशत

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जेन्शिअन की इस जाति मे जेन्शिओपिक्रिन नही होता जो जेन्शिआना ल्यूटिया का एक सक्रिय तत्त्व समझा जाता है। अत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से मान्यताप्राप्त भेषज के स्थान पर जेन्शिआना कुर्रू की जड का प्रयोग नही किया जा सकता। ब्रिटिश फार्मास्युटिकल कोडेक्स के अनुसार जेन्शिआ के मूल को सुखाने की जो क्रिया है सम्भवत उसका असर मूल के सघटको पर पडता है। जेन्शिआना ल्यूटिया की ताजी जडो मे जेन्शिओपिक्रिन नामक सक्रिय तत्त्व विद्यमान रहता है। मूल को धीरे धीरे सुखाने से थोडी बहुत मात्रा में किण्वक परिवर्तन होते है जिनसे जेन्शिओपिक्रिन के जलापघटन की सभावना रहती है, इसके फलस्वरूप जल विलेय सार कम हो जाता है। इसलिए सम्भव है कि जेन्शिआना

कुर्रू मे जेन्शिओपिक्रिन और जलीय सार के अभाव का कारण सुखाने की वह प्रक्रिया है जो कश्मीर मे बरती जाती है। देहरादून के सस्थान मे विश्लेषण के लिए कश्मीर से ऐसी ही जडे भेजी गयी थी। इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स (१९५२ ई०) के अनुसार जडो मे एक तिक्त तत्व और २० प्रतिशत पीले रग का पारदर्शी भगुर रेजिन रहता है, जो मस्तगी (mastic) के सदृश होता है। यह रेजिन उदासीन और स्वादहीन होता है और क्षार के घोल मे अविलेय रहता है। इसमे जेन्शिओपिक्रिन नही होता जो जेन्शिआना ल्यूटिया का सक्रिय तत्व समझा जाता है।

इस सम्बन्ध में पिक्रोराइज़ा कुर्रूआ (*Picrorrhiza kurrooa* Linn.) की चर्चा करना उपयोगी होगा, क्योकि इसका आम तौर से उपयोग जेन्शिआना कुर्रू मे अपमिश्रण करने के लिए या उसका स्थानापन्न बनाने के लिए किया जाता है। इन दोनो भेषजो के पहचान के सम्बन्ध मे बडा विभ्रम है, क्योकि भाषा मे दोनो के लिए "कुटकी" नाम का प्रयोग किया जाता है। देशीय चिकित्सा पद्धति में पिक्रोराइज़ा कुर्रूआ को एक बहुमूल्य, तिक्त, बल्य के रूप मे उतना ही प्रभावी माना जाता है जितना कि जेन्शिअनको। इसके अतिरिक्त कालिकज्वररोधी (antiperiodic) और पित्तोत्पादक (cholagogue) के रूप मे भी यह प्रसिद्ध है। यह पौधा उत्तर पश्चिम हिमालय मे कश्मीर से सिक्किम तक पाया जाता है। इसके नमूने गढवाल, चम्बा, हज़ारा जिला, कश्मीर, गिलगिट, उत्तर पश्चिम हिमालय और सिक्किम हिमालय से इकट्ठा किये गये हैं। यह पौधा थोडा बहुत रोमिल होता है। इसका प्रकन्द बहुवर्षी, काष्ठीय और तिक्त होता है, जो १५ से २५ से० मी० तक लम्बा होता है और सूखी पत्तियो के आधार से आच्छादित रहता है। उन स्थानो के लोगो द्वारा इसका खूब उपयोग किया जाता है, और इस बात के प्रमाण मौजूद हैं कि इसे काफी मात्रा मे इकट्ठा करके मैदानी इलाको को भेजा जाता है। इसकी जडो की आपूर्ति मुख्यतया उत्तर पश्चिम और सिक्किम हिमालयी क्षेत्रो से की जाती है। इसकी कृषि हिमालय मे ९,००० से १५,००० फुट की ऊँचाई तक की जा सकती है। प्रकन्दो से इसका प्रवर्धन किया जा सकता है, किन्तु प्रकृति में बीजो से प्रवर्धन होता है। जिन सक्रिय तत्वो के कारण इसका प्रभाव पडता है उनको विनिश्चित करने के लिए इसकी जडो की क्रमबद्ध रसायनिक छानबीन की गयी थी। विभिन्न विलायको द्वारा निष्कर्षण करने पर निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए थे।

पेट्रोलियम ईथर सार	१·४९ प्रतिशत
सल्फ्यूरिक ईथर सार	३·४५ प्रतिशत

परिशुद्ध ऐल्कोहॉलीय सार	३२ ४२ प्रतिशत
जलीय सार	८ ४६ प्रतिशत

विभिन्न निस्सारणों की और आगे परीक्षा करने पर यह पाया गया कि—

(क) पेट्रोलियम ईथर सार मे एक ऐल्केलायड का सूक्ष्म अंश और एक वैक्सी पदार्थ जो ३९° से० पर पिघलता है, विद्यमान रहता है।

(ख) सल्फ्यूरिक ईथर सार में एक ग्लाइकोसाइड, टैनिन्स और कार्वनिक अम्ल होते हैं।

(ग) ऐल्कोहॉलीय सार मे एक ग्लाइकोसाइड और रेजिन्स आदि होते हैं।

(घ) जलीय सार में शर्करा, तिक्त पदार्थों की बडी मात्रा आदि मिलती हैं।

इस भेषज मे तिक्त पदार्थ २६·६ प्रतिशत के परिमाण मे विद्यमान पाया गया। एक ग्लाइकोसाइड भी इसमे पाया गया जो क्रीम रंग का रवाहीन चूर्ण के रूप मे था और जो अत्यन्त तिक्त और आर्द्रताग्राही था। इसका विशिष्ट घ्रुवण-घूर्णन (जलीय घोल में)—१००° है और यह जल, ऐसिटोन, ऐल्कोहॉल और एसिटिक ईथर मे मुक्तरूप से विलेय है, पर क्लोरोफार्म, बेंजीन, और ईथर आदि में अविलेय है।

उपरोक्त विवरण से यह पता चलेगा कि पिक्रोराइजा मे तिक्त पदार्थ की एक बडी प्रतिशत मात्रा रहती है। जेन्शिअन मे विद्यमान तिक्त तत्वों के कारण उसकी भेषजीय सक्रियता होती है इसीलिए पिक्रोराइजा कुर्रुआ का बहुत व्यापक पैमाने पर उपयोग किया जाता है जहां तिक्त भेषजों का निर्देश किया जाता है। इसे इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स १९५२ ई० मे स्थानापन्न द्रव्य के रूप मे मान्यता प्रदान की गयी है।

सन्दर्भ :

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India* , (2) *British Pharmaceutical Codex*, 1926 , (3) *Indian Phrmaceuticai Codex*, 1952, (4) Trease, G E 1952, *Text Book of Pharmacognosy* , (5) Dutta, S C, and Mukerji, B 1950, *Pharmacognosy of Indian Root and Rhizome Drugs*, 95, 108

ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा (लेग्युमिनोसी)—लिकोरिस

Glycyrrhiza glabra Linn (Leguminosae)—Liquorice

नाम—ब० तथा बम्ब०—जष्टिमधु, गु०—जेठी मध, हि०—मुलेठी, जेठीमधु, प०—मुलेठी, म—मधुयष्टि, यष्टीमधु, त०—अदिमदुरम, ते०—अतिमधुरमु, यष्टीमधुकम।

ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा या लिकोरिस (मुलेठी) का ज्ञान भेपजविज्ञान मे हजारो वर्षो से है। प्राचीन चीनी भेपजविज्ञान में इसे प्रथम श्रेणी के उत्कृष्ट भेपजो मे माना जाता था और ऐसा समझा जाता था कि इसका दीर्घ काल तक सेवन करने वाले लोगो का कायाकल्प हो जाता है। प्यास, ज्वर, दर्द, खांसी, और स्वास—कष्ट को दूर करने के लिए इसका उपयोग किया जाता था। कई शताब्दियो से चीन मे बहुत बडी मात्रा मे इसका उपयोग होता रहा है, और वहाँ भेपजीय दुकानो पर अब भी मुलेठी के अनेक योग (preparations) बिकते हैं। हिन्दू चिकित्सा विज्ञान मे इसका बडा महत्वपूर्ण योगदान रहा है और प्रसिद्ध ग्रथ 'सुश्रुत' मे इसे प्रमुख भेपजो मे स्थान दिया गया है। प्राचीन मिश्र, यूनान तथा रोम मे इसका बहुधा उपयोग किया जाता था। थियोफेस्टस (Theophrastus) ने इसका उल्लेख किया है। रोमन लेखक इसको रैडिक्स डल्सिस के नाम से निर्देश करते थे, किन्तु ऐसा समझा जाता है कि लगभग तेरहवी शताब्दी तक इटली मे इसकी खेती नही की जाती थी। खोज से पता लगता है कि इगलैण्ड मे इसकी खेती सोलहवी शताब्दी मे होती थी। उपलब्ध साक्ष्य से यह प्रकट होता है कि मध्य-काल में यूरोप मे इसका बहुत उपयोग किया जाता था। आज भी यह चिकित्सा तथा भेपजी (फार्मेसी) मे अपना स्थान बनाये हुए है।

इस पौधे की सूखी जडें भारतीय बाजारो मे भेपज विक्रेताओ द्वारा आमतौर से बेची जाती हैं। देशीय लिकोरिस बलूचिस्तान और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) मे मिलती है किन्तु भारत मे इसके पैदा होने की सूचना नही है। इस भेपज की आपूर्ति मुख्यत फारस की खाडी, एशिया माइनर, तुर्किस्तान, साइबेरिया आदि स्थानो से आयात करके होती है। चीन, फ्रास, इटली और जर्मनी आदि देशो मे भी इसकी खेती होती है।

पौधे —जिनसे अधिकाश वाणिज्यिक भेपज उपलब्ध होता है, ये हैं. ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा, वैराइटी टिपिका (*G. glabra* var *typica* Reg. and Herd) यह ४ या ५ फुट ऊँचा होता है जिसमे मटरकुलीय नील-लोहित रग का फूल

उगता है। इसके भूमिस्थ भाग में लम्बी जड़ें और पतले प्रकन्द या भूस्तारी (stolon) होते हैं। इसकी मुख्य जड़ तने के नीचे कई शाखाओं में बँट जाती है, जो जमीन में ४ फुट या उससे अधिक गहराई तक नीचे चली जाती है। इसमें कई भूस्तारी निकलते हैं जो जमीन के अन्दर सतह से लगे या कुछ नीचे ५-६ फुट तक बढ़ते चले जाते हैं। यह पौधा स्पेन (ओल्ड कैस्टिल, नवारा, अरागान, केटालोनिया, वैलेन्सिया और अण्डालूसिया) में इटली (कैलेब्रिया और सिसली) में इंगलैण्ड (यार्कशायर) में, फ्रांस, जर्मनी तथा अमेरिका में पैदा होता है।

ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा वैराइटी ग्लेण्डुलिफेरा

यह गैलिसिया तथा मध्य और दक्षिणी रूस में अपने आप बहुतायत से पैदा होता है। भूमिस्थ भाग में जड़ें होती हैं जो बहुत ज्यादा और लम्बी होती हैं, पर उनमें भूस्तारी (stolon) नहीं होते।

ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा वैराइटी वायोलेसिया इससे ईरानी लिकोरिस पाया जाता है जो इराक और ईरान में दजला और फरात की घाटियों में संग्रहीत किया जाता है। जैसा कि इसके नाम से मालूम होता है इसके फूल बैंगनी रंग (violet) के होते हैं।

उत्पादन और व्यापार यह पौधा जंगली पैदा होता है और इसकी खेती दक्षिणी यूरोप, सीरिया, इराक, टर्की, तुर्कान और रूस में होती है। ये ही देश इसके निर्यात के प्रधान स्रोत हैं। इसकी जड़ों की वाणिज्यिक आपूर्ति वार्सीलोना, एलीकैण्टी, सेविली, स्पेन, इराक, रूस, टैगहार्न, इटली, स्मर्ना, अलेक्जेण्ड्रेटा, हैफा, सीरिया, ग्रीस, मिस्र, बेल्जियम, फ्रांस और जर्मनी से होती है। जड़ का नाम प्रायः उस देश के नाम पर रहता है जहाँ यह पैदा होती है। पाकिस्तानी सीमा प्रान्त में यह पौधा अपने आप खूब पैदा होता है और इसकी जड़ों का एक बड़ी मात्रा में हर साल भारत में आयात होता है। इसकी जड़ का बड़ा व्यापार होता है और अकेले अमरिका ने ही १९३९ ई० में ६२,३३०,९६८ पौण्ड लिकोरिस जड़ की और ८६६,२६९ पौण्ड लिकोरिस सार की खपत की। १९४० ४० में अमेरिका ने ५६,२४७,८५७ पौण्ड जड़ का आयात किया। कृषि-जन्य मुलेठी का सबसे बड़ा उत्पादक स्पेन है। चीनी मुलेठी की जड़ बड़े अच्छे किस्म की होती है और ग्लिसिराइजा युरेलेन्सिस (G. uralensis) से प्राप्त की जाती है।

उपयोग मुलेठी शामक, कफोत्सारक तथा वासक है। मुलेठी का चूर्ण भेषज निर्माण के अनेक प्रयोजनों में काम आता है। उदाहरणार्थ—इसे वटी (Pills) बनाने

मे या तो वटी के पदार्थों को उचित गाढा बनाने के लिए या वटी पर चूर्ण छिडककर उन्हे आपस मे चिपकने से बचाने के लिए तथा चूर्णितसार मे तनुकारी (diluent) आदि के रूप मे काम मे लाया जाता है। औषधि मे अब इसके चूर्ण की जगह इसका सार काम मे लिया जाता है। पश्चिमी चिकित्सा मे मृदु विरेचक के रूप मे मुलेठी से निर्मित औषधियो का प्रयोग बहुत ही व्यापक रूप से होता है। खासी के उपचार के लिए कफसिरप तथा गले की खराबी मे चूसने वाली गोलियो (lozenges) के रूप मे इसका बहुत उपयोग किया जाता है। भेषजी मे मुलेठी का मुख्य उपयोग कडुवे स्वाद वाले भेषजो की, जैसे सनाय, मुसब्बर (ऐलो), अल्युमिनियम क्लोराइड, सेनेगा, हाइओसायमस, तारपीन (टर्पेण्टाइन) आदि की कडुवाहट को कम करने के लिए किया जाता है। उदरस्थ तीक्ष्ण पदार्थों के कारण उत्पन्न वेदना, क्लेश तथा अन्य लक्षणो को दूर करने मे यह आश्चर्यजनक काम करता है। अम्ल के क्षोभक प्रभावो को दूर करने मे यह क्षारो की अपेक्षा अधिक काम करता है। देशी पद्धतियो के चिकित्सको द्वारा यह टॉनिक के रूप मे, जननमूत्र मार्गों के प्रतिश्याय (catarrh) मे शामक के रूप मे तथा मृदु विरेचक के रूप मे व्यवहृत किया जाता है। आर्थिक दृष्टि से इस भेषज का आयात कुछ महत्त्व रखता है क्योकि केवल औषधियो मे ही इसका उपयोग नही होता बल्कि रजक तथा तम्बाकू उद्यगो मे भी इसे काम मे लाया जाता है। औषधीय दृष्टि से मुलेठी की जड की जगह उसका सार ही सर्वथा प्रयोग मे लाया जाता है। तम्बाकू को सुगन्धित करने के लिए निर्माताओ द्वारा मुलेठी का अधिकाश भाग उपयोग मे लाया जाता है। मिष्टान्न-उद्योग मे भी इसकी काफी मात्रा मे खपत होती है। मुलेठी का सार निकालने के बाद उसका जो अवशेष रह जाता है उसका उपयोग छत्रको (mushrooms) के लिए खाद के रूप मे तथा झागवाले (फोम) अग्नि-शामको (foamfire—extinguishers) के निर्माण मे किया जाता है। इस भेषज का केवल एक लघु भाग ही यहाँ सग्रहीत किया जाता है और अपरिष्कृत भेषज तथा उससे बने योगो (preparations) का अधिकाश भाग बाहर से मँगाया जाता है। यह पौधा आसानी से उगाया जा सकता है, विशेषकर उष्ण प्रदेशो की नदी की घाटियो मे।

कृषि · मुलेठी की कृषि के लिए तीन चार फुट या उसमे भी ज्यादा गहरी ऐसी जमीन चाहिये जहाँ की मिट्टी ककडरहित, हल्की और दुमट हो। साधारणत यह उसी भूमि पर लगातार पैदा की जाती है। अक्टूबर या नवम्बर मे पौधे को जडसहित उखाड लिया जाता है जिससे वहाँ की भूमि २ या ३ फुट तक पलट जाती है। उसके बाद भूमि की सतह को बराबर कर दिया जाता है और पौधो को रोपने के लिए दो

फुट चौडी मेडे एक-एक फुट के अन्तर पर बनायी जाती है। मेडो की पक्तियो को खेत की खाद (faimyard manure) देकर खूब पुष्ट बनाया जाता है। खाद प्रति-एकड १५ से २० टन दी जाती है, फिर पक्तियो के बीच की जमीन से मिट्टी लेकर खाद के ऊपर चढा दी जाती है जिससे करीब १५ इच ऊँची गोल मेडे तैयार हो जाती है। उखाडे हुए पौधो की जडो से कटे हुए चार-चार इच लम्बे मूल-शिखर (क्राउन) के टुकडे रोपे जाते है। उपरि-भूस्तारी (runner) या भूमिगत तनो के चार चार इंच लम्बे टुकडो से भी, जिनमे प्रत्येक मे कम से कम दो कलियाँ हो, पौधे उगाये जाते है। इनके रोपने का काम मार्च मे या अप्रैल के आरम्भ मे किया जाता है। उस समय इन टुकडो को छिद्रारोपित कर दिया जाता है। साधारणत तीन-तीन कर्त्तनो (sets) का रोपण इस प्रकार किया जाता है कि दो समूहो के बीच मे १२ इच की दूरी रहे और प्रत्येक दूसरे समूह मे कर्त्तनो को इस प्रकार रोपा जाता है कि मेडो के बीच मे चोटी पर पुराने मूल-शिखर हो और उसके दोनो तरफ प्राय दस-दस इच की दूरी पर एक-एक कर्त्तन रहे। इन रोपे हुए मूल-शिखरो को दो तीन इच मिट्टी से ढँक दिया जाता है। अच्छी फसल का सुयोग तब होता है जब रोपनी के समय और उसके बाद २ महीनो तक मौसम सूखा बना रहे। अगर मई या जून मे मौसम ठढा रहे तो २० से ४० प्रतिशत मूल-शिखर उगते ही नही। मुलेठी की खेती मे यही सबसे बडी कठिनाई होती है और साथ ही यह भी कठिनाई है कि लागत बहुत बैठती है। इस कारण से कम कीमत वाली मुलेठी की तरफ ज्यादा ध्यान रहता है जो वन्य-अवस्था मे पैदा होती है और इकट्ठा की जाती है। गरमी मे भूमि को साफ रखा जाता है और नवम्बर मे पौधे को जमीन से १ इच ऊपर काट दिया जाता है। मुलेठी का पौधा जमीन मे चार या पाच वर्ष तक रहता है। बहुत से लोग तो पहले के दो वर्षो मे मेडो के बीच की जमीन मे गाजर, आलू और पातगोभी की भी खेती कर लेते है। पतझड मे पौधे उखाडे जाते है। मुख्य फसल अक्टूबर मे तैयार की जाती है, यद्यपि कुछ लोग सितम्बर के अत मे भी फसल तैयार कर लेते है ताकि बाजार मे अच्छी कीमत मिल सके। नवम्बर मे इसके उखाडने का काम समाप्त हो जाता है। मेड की बगल मे २ फुट गहरी खाई तैयार कर ली जाती है और फिर भीतर की ओर गोडते हुए जडो के पास की मिट्टी को मुलायम कर दिया जाता है जिससे कि वे आसानी से उखाडे जा सके। प्रति एकड दो टन मुलेठी की जड और ३ से ४हृण्डरवेट छाट (trimmings) मिल जाय तो इतनी पैदावार सतोष-जनक समझी जाती है।

अभी हाल मे इन लेखको ने जम्मू और कश्मीर की प्रयोगात्मक रोपणियो मे इस पौधे को लगाया था। बारामुला, श्रीनगर और जम्मू मे इस पौधे की पैदावार की प्रगति अच्छी रही। श्रीनगर की रोपणी से प्राप्त हुए प्रयोगात्मक फसल का जो वैश्लेषिक परिणाम निकला उसे नीचे दिया गया है —

	श्री नगर	पी० पी० और बी० पी० सी०
कुल राख	९ २ प्रतिशत	बिना छिली जडो की १० प्रतिशत से अधिक नही।
अम्ल मे अविलेय राख	५ ६ प्रतिशत	बिना छिली जडो की २ ५ प्रतिशत से अधिक नही।
जल मे विलेय सार	२३ ३ प्रतिशत	२० प्रतिशत से कम नही।
ग्लिसिराइजिन	३ ६ प्रतिशत	२ से ७ प्रतिशत तक।
मण्ड (स्टार्च)	४ ६ प्रतिशत	ग्लूकोज, सक्रोज, मण्ड ३० प्रतिशत के लगभग गैर्रांट मण्ड ६ प्रतिशत से अधिक नही।

घटक —मुलेठी का मुख्य घटक ग्लिसिराइजिन होता है, जो उसमे ग्लिसिराइजिक अम्ल के पोटैशियम और कैल्सियम लवण के रूप मे विद्यमान रहता है। ग्लिसिराइजिक अम्ल, ग्लाइकोसाइड नही है, क्योकि जल-अपघटन करने पर इससे कोई शर्करा न प्राप्त होकर, ग्लिसिरेटिक अम्ल का एक अणु और ग्लाइक्युरॉनिक अम्ल के दो अणु प्राप्त होते है। ग्लाइक्युरॉनिक अम्ल का हेक्सोज शर्करो से निकट का सम्बन्ध है, और ग्लिसिरेटिक अम्ल मे सैपोनिन के समान ही रक्तसलायी (हीमोलिटिक) गुण होता है। मुलेठी मे ग्लूकोज ३·८ प्रतिशत, सक्रोज (इक्षु-शर्करा) २ ४ से ६·५ प्रतिशत और तिक्त तत्त्व, रेज़ीन, मैनाइट, एस्पैरेजीन २ से ४ प्रतिशत और वसा ० ८ प्रतिशत होता है। कहा जाता है कि ग्लिसिराइजिन गन्ने की शर्करा की अपेक्षा प्राय ५० गुना अधिक मीठा होता है और इसकी मिठास १ १५००० की तनुता मे भी पहिचानी जा सकती है।

स्थानापन्न द्रव्य तथा अपमिश्रक —मचुरिया की मुलेठी, जो ग्लिसिराइजा यूरालेन्सिस (*G uralensis*) से प्राप्त की जाती है, रग मे श्याम भूरी और अपशल्कित (exfoliating) छालवाली होती है। ग्लिसिराइजा ग्लेब्रा से इसकी आतरिक सरचना भिन्न होती है, क्योकि इसकी मज्जा-रश्मियाँ टेढी होती हैं और इसके

काष्ठ में रिक्तिकाएँ (lacunae) वर्तमान रहती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमे उतनी ही मात्रा मे ग्लिसिराइजिन होता है जितनी कि अन्य किस्मो मे होता है, किन्तु इसमे शर्करा का अश मात्र रहता है। अमेरिकी मुलेठी या वन मे पैदा होने वाली मुलेठी ग्लिसिराइजा लेपिडोटा (*G lepidota* (Nutt) Pursh) की जड होती है, जो अमेरिका के पश्चिमी भाग और निचले कनाडा मे बहुतायत से अपने आप उगती है। इसमे ६ प्रतिशत ग्लिसिराइजिन होता है। ऐब्रस प्रिकेटोरियस (गुञ्जा या घुँघची) (*Abrus precatorius* Linn) की जड जिसे साधारणत वन्य मुलेठी, भारतीय मुलेठी या मुलेठी झाडी कहते है असली मुलेठी की जगह काम मे लायी जाती है, किन्तु इसके विषैले गुणो के कारण चिकित्सीय उपयोग के लिए इसको स्वीकृत नही किया जा सकता है।

मुलेठी का गुण-कर्म '—मुलेठी से वनी औषधियो के शामक, कफोत्सारक और सुस्वादु होने के कारण खाँसी की पेय औषधियो मे तथा वासक के रूप मे मुलेठी का व्यवहार बहुत अधिक किया गया है। हॉलैण्ड के रेवर्स ने यह लक्ष्य किया कि मुलेठी की औषधियो का सेवन करनेवाले रोगियो का वजन कभी कभी बढ जाता था और टखने (ankle) मे सूजन आ जाती थी। ऐमस्टर्डम विश्वविद्यालय मे आगे जो अनुसधान कार्य चला उससे यह प्रकट हुआ कि मुलेठी के मौखिक सेवन से जल और लवण का अवधारण होता था और साथ ही पोटैशियम की बहुत कमी हो जाती थी। उससे रक्त-परिसचरण मे पहले से अधिक द्रव वढ जाता था, अत हृदय का कार्यभार वढ जाता था। प्रत्येक धडकन के साथ शिराओं द्वारा रक्त भरण दाव वढ जाता था, जिससे हृदय का आयतन और धमनियो मे दवाव वढ जाता था। फिर कुछ समय वाद रक्त परिसचरण पूर्ववत स्थिति पर आ जाता था जिमसे लवण और जल घट जाता था। मुलेठी का सेवन वन्द कर देने पर पोटैशियम फिर इकट्ठा होने लगता था।

यह प्रभाव उमी तरह का है जैसा कि डेसोक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसिटेट देने पर देखा जाता है। स्ट्राग और रूजाक भी जो स्वतत्र रूप से ब्रिटेन मे इस पर अनुसन्धान कर रहे थे, इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि पैराअमीनोसैलिसिलिक अम्ल का उपचार पाने वाले यक्ष्मा के रोगियो मे विद्युत-अपघटच (electrolytes) के सतुलन मे जो गडवडी होती है, उसका कारण मुलेठी का सुवास है। ग्रोयेन और उनके साथियो ने ऐडिसन व्याधि (Addison's disease) से पीडित कई रोगियो की सफल चिकित्सा मुलेठी के उपचार से की है, किन्तु कुछ रोगियो को इससे सतोष-

जनक फल नही प्राप्त हुआ। इसके प्रतिकूल वोर्स्ट और मोल्युन्सेन ने यह पाया कि मुलेठी का प्रभाव साधारणत सामान्य व्यक्तियो पर सर्वथा वही पडता है जैसा कि डेसॉक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसिटेट का होता है, पर ऐडिसन की व्याधि से पीडित रोगियो पर यह प्रभाव नही पडता है। अभी हाल मे वोर्स्ट और मोल्युसन ने ऐसा वताया है कि मुलेठी और कॉर्टिसोन को जव साथ-साथ दिया जाता है तो मुलेठी का प्रभाव वही होता है जो डेसॉक्सीकोर्टि कोस्टिरोन एसीटेट का होता है। सम्भवत उसका कारण यह है कि मुलेठी डेसॉक्सीकोर्टिकोस्टिरोन एसीटेट की तरह का प्रभाव तभी पैदा करती है जव कि अधिवृक्क (ऐड्रिनल) ग्रन्थियाँ कॉर्टिसोन या सम्वन्धित स्टिरॉयड की एक न्यूनतम मात्रा पैदा करती हो।

कार्ड का यह कथन है कि सक्रिय तत्त्व सम्भवत ग्लिसिरेटिनिक अम्ल हो सकता है। अतः यह बुद्धिमानी की वात होगी कि निम्नलिखित रोगो के रोगियो के लिए मुलेठी का प्रयोग औषधियो मे वासक रूप मे न किया जाय। हृद्-पात, अतिरक्त-दाव, वृक सम्बन्धी रोग, स्थूलता (मोटापा) और गर्भावस्था के विकार।

सन्दर्भ :

(1) Beal, G D and Lacey, H T, 1929 *J Amer Pharm Assoc* 18, 145, (2) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 389, (3) Datta, S C, and Mukerji, B, 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 53, (4) Kapoor, L D, Handa K L, and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Industr. Res*, 12 A, 7, 313, (5) *Lancet*, 1950, II 381, (6) *Ibid*, 1953, I 657, 663, (7) Revers, 1946, *Ned Tijdschr Geneesk*, 90, 135, (8) *Brit Med, Journ*, 1951, II, 998, (9) *Ibid*, 1952, I, 360, (10) Groen, *New Eng, J Med* 1951, 224, 71, (11) *Pharm, Jour* 1953, (12) *Ind Jour Pharm*, 1953, 12, 15, 323

हेमीडेस्मस इण्डिकस (ऐस्क्लेपियाडेसी)

Hemidesmus indicus R. Br. (Asclepiadaceae)

भारतीय सारसापारिला (Indian Sarsaparilla)

नाम :—सं०—अनन्त, सारिवा, हि०—मग्राबू, व०—अनन्तमूल, त०—नन्नारी, फा०—उश्वाहे—हिन्दी।

सारसामूल का स्रोत स्माइलैक्स ऑर्नेटा (*Smilax ornata*) है, जो कि कोस्टारिका देश का एक आरोही पौधा है। यह भेषज उसी जीनस के अन्य जातियो से भी

उपलब्ध होता है, जो मध्य अमेरिका मे पाये जाते है। साधारणत यह जमैका सारसापारिला के नाम से ज्ञात है, क्योकि जमैका के रास्ते से पहले इसका निर्यात विभिन्न देशो को हुआ करता था। स्माइलैक्स ऑफिसिनैलिस (*S officinalis*) होण्डुरास से आता है, किन्तु स्माइलैक्स ऑर्नैटा व्यापारिक दृष्टि से सर्वोत्तम समझा जाता है। सारसापारिला की प्रमुख किस्में और उनकी प्राप्ति के स्थान, जैसा कि अमेरिकी भेषज कोश १४ (यू० एस० पी० XIV) (१९५० ई०) मे दिया हुआ है, इस प्रकार है —

किस्म और उत्पत्ति स्थान	पर्याय	वानस्पतिक स्रोत
मैक्सिकी	वेराक्रुज या ग्रे	स्माइलेक्स ऐरिस्टोलोकिफोलिआ
होण्डुरास	ब्राउन	स्माइलेक्स रिगेलाइ
इक्येडोरीय	ग्वायाक्विल	स्माइलेक्स फेब्रिफ्यूजा
मध्य अमेरिकी	कोस्टारिका या जमैकी,	अनिश्चित जाति

पोषाहार सम्बन्धी विकारो तथा उपदँश की चिकित्सा के लिए दीर्घकाल से इस पौधे की ख्याति अस्पष्ट रूप से चली आ रही है। पुराने आमवात और चर्म-रोग मे तथा रक्तशोधक के रूप मे भी इसका उपयोग किया जाता है। सदिग्ध स्रोत की सारसापारिला पर अनेक रासायनिक अनुसधान किये जा चुके है और यह कहा जाता है कि पुराना होने के कारण व्यापार के माध्यम से प्राप्त होने वाला बहुत सा भेषज निष्क्रिय हो गया है। सारसापारिला के एक नमूने का परीक्षण पावर और सालवे ने (१९१३ ई०) मे किया था। उसमें एक क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड, सारसैपोनिन, $C_{44} H_{76} O_{20}, 7 H_2 O$ मिला, जो जल-अपघटन पर सारसैपोजेनिन $C_{26} H_{42} O_3$ और ग्लूकोज देता है। फाइजर तथा जैकोबसन (१९३८ ई०) ने सारसैपोजेनिन का अन्वीक्षात्मक सरचना-सूत्र प्रतिस्थापित किया। इस भेषज मे सिटोस्टेरॉल $C_{27} H_{46} O$ और स्टिग्मास्टेरॉल $C_{30} H_{50} O$, सिटोस्टेरॉल, डी-ग्लूको-साइड, एक नया क्रिस्टलीय डाई-कारबॉक्सिलिक अम्ल, जिसे सारसैपिक अम्ल $C_6 H_4 O_6$ कहते है, तथा ग्लूकोज, वसा-अम्ल और प्राय १ २५ प्रतिशत रेजिनी पदार्थ भी पाया गया। हाल के अनुसधानो ने यह निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है कि सारसापारिला मे सक्रिय तत्त्व, एक इन्जाइम, एक वाष्पशील तेल और एक सैपोनिन है, जिनमे से कोई भी, उपदश या अन्य रोगो मे, जिनके लिए इस भेषज का उपयोग किया जाता है, कुछ भी प्रभाव नही रखता। इसकी क्रिया-विधि (mode of action) अस्पष्ट तो है, किन्तु यह शरीर की प्रतिरक्षात्मक-व्यवस्था को

उद्दीप्त कर सकता है अथवा अन्य भेषजों के आन्त्रीय अवशोषण को बढ़ा सकता है। अनुपान के रूप में इसका उपयोग किया जाता है, विशेषकर अमेरिका में जहाँ इसके तरल निस्सार (fluid extract) और मिश्रित सिरप (compound syrup) को अभिकृत मान लिया गया है। ऐल्कोहॉलरहित पेय बनाने में बहुत बड़ी मात्रा में उसका उपयोग किया जाता है। सारसापारिला तथा उससे बनी औषधियाँ बड़ी मात्रा में प्रतिवर्ष भारत में आयात की जाती हैं। भारत के समुद्र-बाही व्यापार सम्बन्धी रिपोर्ट से पता चलता है कि १९२८-३३ ई० की अवधि में ४० हजार रुपये के मूल्य का सारसापारिला यहाँ आयत किया गया।

सारसापारिला से सम्बद्ध दो पादप भारत में बहुत होते हैं। ये हैं सैक्कोलेबियम पेपीलोसम (*Saccolebium papillosum*) तथा हेमीडेस्मस इण्डिकस।* हेमीडेस्मस इण्डिकस की जड़ दक्षिणी भारत में बहुत दीर्घ काल से बल्य और रसायन के रूप में प्रयुक्त होती आयी है। इसकी जड़ को भारतीय सारसापारिला भी कहते हैं। यह एक आरोही पादप होता है और उत्तर भारत में बहुतायत से होता है। बंगाल में, दक्षिण में ट्रावकोर से श्रीलका तक, तथा बम्बई में भी यह पाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण औषधि के रूप में इसका दीर्घ काल से उल्लेख होता आया है। १८३१ ई० में ऐशबर्नर ने यूरोप के चिकित्सकों का ध्यान इस पौधे की ओर आकृष्ट किया और १८६४ ई० में इसे ब्रिटेन के भेषजकोष में स्थान मिल गया था, किन्तु इसकी ख्याति वहाँ जल्दी ही समाप्त हो गयी थी, क्योंकि भारत से जो सामग्री जाती थी वह प्राय अपमिश्रित और घटिया किस्म की होती थी। फिर देशी चिकित्सापद्धति में यूरोपीय सारसापारिला के एक बहुमूल्य स्थानापन्न के रूप में इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यूरोपीय सारसापारिला, स्माइलेक्स ऑर्नेटा तथा इससे सम्बद्ध जातियों से प्राप्त किया जाता है। जातियों की विभिन्नता के अनुसार स्माइलैक्स की जड़ों के बाजार में अलग-अलग नाम हैं। होण्डुरास का सारसापारिला, टेक्सास का सारसापारिला, मैक्सिको सारसापारिला, जमैकी सारसापारिला इत्यादि। व्यापार में काम आनेवाला भारतीय सारसापारिला हेमीडेस्मस इण्डिकस की जड़ से

*'सारिवा' के दो भेद है—श्वेत एवं कृष्ण। हेमिडेस्मस इण्डिकस को श्वेत सारिवा (अनन्तमूल) तथा इक्नोकार्पस फ्रूटेसेन्स—*Ichnocarpus frutescens* R Br को और कहीं-कहीं क्रिप्टोलेपिस बुकैनैनाइ—*Cryptolepis buchanani* Roem & Schult को कृष्ण सारिवा कहते हैं। इन तीनों के मूल पर अभिज्ञान सम्बन्धी अनुसधान अनुवादक और उनके सहयोगियों द्वारा प्रकाशित है। देखें—*Ind J Pharm* 27, 2, 35-39, 1971, *Jour Res Ind Med* (2), 242, 1971, *Ibid*, VI (2) 159, 1971—अनु॰

प्राप्त किया जाता है। बाजार में यह छोटे-छोटे बण्डलो मे पाया जाता है जिसमे पौधो की जडो के टुकडे या टेढी-मेढी जडे, पतले तनो से बँधी हुई रहती है।

भारतवर्ष मे इस पादप की खेती, वैज्ञानिक आधार पर, कही भी नही की जाती है। यह सारे देश मे वन्य अवस्था मे उगता है। यदि इस पादप की खेती द्वारा पैदा किया जाय तो इसकी किस्म मे बहुत सुधार हो सकता है। भारत मे इसकी जडो की बहुत बडी खपत है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इसकी खपत और भी बढ गयी थी, जब विदेशी सारसापारिला का आयात बन्द हो गया था (१९३९-४० ई० मे इसका आयात मूल्य ५०,४०८ रु० था)। पानी मे आसवन करने से इसकी जड से एक स्टेरोप्टीन निकलता है जो एक वाष्पशील अम्ल है। इसमे एक वाष्पशील तेल भी विद्यमान है जिसमे ८० प्रतिशत क्रिस्टलीय पदार्थ, २-हाइड्राक्सी-४-मेथॉक्सी बेन्जैल्डिहाइड होता है। इस भेषज मे गध कुमारिन के कारण होती है। इसके अतिरिक्त इससे हेमिडोस्टेरॉल और हेमीडेस्मॉल नाम के दो स्टेरॉल भी अलग किये गये है। उसकी जडो मे रेजिन टैनिन और किंचित मात्रा मे ग्लाइकोसाइड भी पायी जाती है। क्लिनिकल परीक्षणो से यह प्रकट होता है कि आयातित सारसापारिला से यह किसी तरह न्यून नही है।

सन्दर्भ :—

(1) *Sea-borne Trade Report of British India* (Bengal Govt Pub), 1928-29, (2) Power, F B, and Salway, A H, 1914, *J C S Trans*, 201, (3) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 169, (4) Datta, S C, and Mukerji, B, 1950 *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 89

हाइओसायमस म्यूटिकस लिन (सोलेनेसी)

Hyoscyamus muticus Linn. (Solanaceae)

हेनबेन (Henbane)

नाम—हि०—खुरासानी अजवायन, कोही भग, ब०—खोरासानी अजोवान

मुसलमान चिकित्सक दीर्घकाल से इसके बीज का उपयोग करते आये है। यद्यपि यह हिमालय का पादप है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओ की चिकित्सा मे इसका उपयोग नही हुआ है। डायोस्कोरिडेस को सम्भवत हेनबेन यूरोपीय हाइओ-सायमस ऐल्बस का ज्ञान था और प्राचीन लोगो द्वारा इसका उपयोग किया जाता था। इग्लैण्ड मे हेनबेन का मध्य काल मे उपयोग होता था। अठारहवी शताब्दी

मे कुछ काल तक इसका उपयोग वहाँ बन्द हो गया था, पर लन्दन के १८०६ ई० के भेपणकोष मे स्टोर्क द्वारा अनुसधान कार्यों के कारण इसको पुन स्थान मिला।

हाइओसायमस म्यूटिकस उत्तरी पश्चिमी हिमालय मे, विशेपकर पश्चिमी पजाव, सिन्ध, बलूचिस्तान (पाकिस्तान) और अफगानिस्तान मे पैदा होता है। इस पादप की सहारनपुर, लायलपुर और कश्मीर मे परीक्षणात्मक तौर पर खेती की गयी है। यह बहुवार्षिक शाकीय पौधा है जो ३० से ९० इच ऊँचा होता है। इसकी शाखाएँ मुलायम रोम से ढकी रहती है और जडें बहुत फैलने वाली होती है। इसकी स्तम्भिक (cauline) पत्तियाँ सवृन्त और १०—२० × ५—१२.५ से०मी० होती है। सबसे नीचे की पत्तियाँ सबसे बडी होती है। इसके फूलो की पखुडियाँ हलके पाण्डु रग की या श्वेत होती है। इसका अवयव (limb) बाहर से गुलाबी और भीतर से गहरे गुलाबी रग का और शिरा-युक्त (veined) होता है तथा आधार पर प्राय गहरे नील-लोहित रग के धब्बे होते है। इस अपरिष्कृत भेपज मे सूखी पत्तियाँ और पुष्पी भाग होते है, जिन्हें पादप से फूलने के बाद तुरन्त ही सग्रहीत कर लिया जाता है। इस अपरिष्कृत भेपज का भारत मे पर्याप्त व्यापार होता है। इण्डियन फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) मे भारतीय हाइओसायमस नाइजर के स्थानापन्न के रूप मे इसका उपयोग होता है। इसमे हाइओसायमस नाइजर की अपेक्षा ऐल्केलॉयड की प्रतिशत मात्रा अधिक होती है।

कृषि —इस पौधे की खेती जम्मू और सहारनपुर मे की जाती है किन्तु सीमित पैमाने पर। इसकी खेती की पद्धति वही है जो हाइओसायमस नाइजर की है। पश्चिमी पजाब और सिन्ध मे नदी के तटो पर बडे बडे भूमि खण्डो मे ये उगते है।

घटक —सूखी पत्तियो और पुष्पी भागो से ० ५ से १ ३४ प्रतिशत तक ऐल्केलॉयड मिलता है जिसमे मुख्यत हाइओसियामीन होता है। अभी हाल मे यह भी पाया गया है कि हाइओसियामीन के अतिरिक्त इसमे ० ०२ प्रतिशत हाइओसीन भी रहता है। कपूर, हाँडा और चोपडा ने सूडान से बीज प्राप्त करके जम्मू (१,००० फुट) और यारीखाह मे (७,००० फुट) मे इसकी खेती की। जम्मू मे बोये गये बीज से ३-४ सप्ताहो मे ही पौधे निकल आये और उनसे इकट्ठी की गयी पत्तियो से ० ३५ प्रतिशत ऐल्केलॉयड मिला। यारीखाह मे जो बीज बोये गये थे, वे वहाँ के तुपार से बच नही पाये। अन्तर्राष्ट्रीय भेषजकोश यह अपेक्षा करता है कि इसमे ० ५ प्रतिशत से कम ऐल्केलॉयड, जिन्हे हाइओसियामीन के रूप मे परिकलित करते है, नही होना चाहिये। अहमद और फाहमी ने इसकी पत्तियो मे १ ७ प्रतिशत, स्तम्भो मे ० ५ प्रतिशत तथा फूलो मे २.० प्रतिशत ऐलकेलॉयड पाये थे। इसमे

मुख्य ऐल्केलॉयड हाइओसियामीन है। इसमे ऐन्थोसायनिन वर्णक भी पाया जाता है।

मिस्र, अरब, ईरान और सूडान के मरु प्रदेशो का यह देशीय पादप है, और अलजीरिया मे भी इसे लगाया जाता है। मिस्र मे अरब गडरिये इसे जगली पौधो से इकट्ठा करते है। इसके जीवनक्षम (viable) बीजो का मिस्र से बाहर निर्यात कानूनन् निषिद्ध है।

सन्दर्भ :

(1) Trease, G E , 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 503, (2) Ahmed, Z F, and Fahmy, I R , 1949, *J Amer Pharm Assoc* (Sci Ed), 38 478, (3) Ahmed, Z F., and Fahmy, I R , 1949, *J Amer, Pharm Assoc*, (Sci Ed) 38, 484; (4) Dutta, S C and Mukerji, B , 1952, *Pharmacognosy of Indian Leaf Drugs*, 54, (5) Kapoor, L D , Handa, K L. and Chopra, I C , 1953, *Jour Sci Industr Res* , 12 A, 7, 314

हाइओसायमस नाइजर (सोलेनेसी)

Hyoscyamus niger Linn (Solanaceae)

हेनवेन (Henbane)

नाम:—स०—पारसीकाय, पारसीक यवानी, हिं०—खुरासानी अजवायन, ब०—खोरासानी अजोवान, म०—खोरासानी ओवा, त०—कुरासानीयोमम।

हाइओसायमस नाइजर अथवा हेनवेन एक सुविज्ञात पादप है जो शामक तथा उद्वेष्टरोधी गुणो के लिए उपयोग मे लाया जाता है। हॉकिंग के मतानुसार यह मूलत यूरेसिया का अन्तर्वासी पादप था। अब यह सारे यूरोप मे, दक्षिण मे पुर्तगाल से ग्रीस तक तथा उत्तर मे नार्वे से फिनलैण्ड तक होता है। काकेशिया, ईरान, एशिया माइनर, उत्तरी अमरीका और साइबेरिया मे भी यह होता है। भारत मे जम्मू और कश्मीर मे, हिमाचल प्रदेश मे तथा उत्तर प्रदेश मे कुमायूँ की पहाडियो मे पैदा होता है। जम्मू और कश्मीर मे यह पादप समूची घाटी मे वन्य-अवस्था मे खूब पैदा होता है। उत्तरी पश्चिमी हिमालय की भीतरी शुष्क घाटियो मे शाकरगढ, कमरी दर्रा के पार, गुरीकोट (१४,००० फुट) तथा लेह (११,००० फुट) जैसे दूरस्थ स्थानो मे भी यह पादप पैदा होता है। कश्मीर की घाटी मे यह पादप पहलगाँव, आरू, गुलमर्ग, सोपियान, अनन्तनाग, बारामुल्ला,

वदनीपुर आदि स्थानो से वाणिज्यिक प्रयोजनो के लिए सग्रहीत किया जाता है। हाइओसायमस की सूखी पत्तियाँ और पुष्पीय भाग औषधीय प्रयोजनो के लिए उपयोग में लाये जाते है। इसकी दो किस्मे है, पहला वार्षिक तथा दूसरा द्विवर्षी।

भेषज निर्माण के उपयोग मे लाये जाने वाले दोनो प्रकार के हाइओसायमस नाइजर पादपो मे निम्नलिखित अन्तर ध्यान देने योग्य है।

द्विवर्षी पादप का प्रथम वर्ष	द्विवर्षी पादप का द्वितीय वर्ष	वार्षिक पादप
स्तम्भ बहुत छोटे	स्तम्भ शाखाओ वाले तथा १ ५ मीटर तक ऊँचे।	स्तम्भ साधारण तथा ० ५ मी० ऊँचे।
पत्र भूमि के निकट गुच्छो मे अण्डाकार, भालाकार तथा पर्णवृन्ती, लम्बाई ३० से० मी० तक, पत्र-दल २५ से० मी० तक लम्बा और रोमिल होता है।	पत्र अवृन्त, दीर्घायत से त्रिभुजाकार, अण्डाकार १० से २० से० मी० लम्बा, किनारे दीर्णपिच्छाकार (पिनैटीफिड) या अत्यन्त दतुर, अति रोमिल, विशेषकर मध्य शिरा तथा शिराओ के समीप।	पत्र अवृन्त, द्विवर्षी पत्रों से छोटे, किनारे कम कटे हुए तथा कम रोमिल।
साधारणतया प्रथम वर्ष मे पुष्प नही लगते।	पुष्प मई या जून मास मे लगते है। पुष्पो का दल-पुज पीत वर्ण का और गहरे गुलाबी रग की शिराओ वाला होता है।	पुष्प जुलाई या अगस्त मास मे लगते है। पुष्पो का दलपुज हल्के पीले रग का और कम गहरी शिराओ वाला होता है।

इसके कुछ वाणिज्यिक नमूनो के विश्लेषण के आधार पर फोर्सडाइक और जॉनसन ने यह बताया है कि भारतीय हेनबेन मे जितना ऐल्केलॉयड होता है वह अधिकृत मानक से बहुत कम हे। कश्मीर तथा भारत के अन्य भागो मे अपने आप पैदा होनेवाले तथा कृषि द्वारा लगाये गये पादपो की पत्तियाँ इस ग्रन्थ के लेखको ने विश्लेपण के लिए एकत्र की थी। इनमे ऐल्केलॉयड की निम्नलिखित प्रतिशत मात्रा पायी गयी।

ग्रोन (कश्मीर) में वन्य पादप	०.०७६ प्रतिशत
गुलमर्ग— वन्य पादप	०.०६६ ,,
श्रीनगर—कृषिजन्य पादप	०.०५१ ,,
उत्तरी पश्चिमी सीमाप्रान्त—वन्य पादप	०.०४७ ,,
लायलपुर—कृषिजन्य पादप	०.०२५ ,,
सहारनपुर— ,, ,,	०.०३५ ,,
पटना— ,, ,,	०.०४४ ,,

इस तरह देखा गया है कि कश्मीर में ५,००० फुट की ऊँचाई पर स्वत-उगनेवाले या कृषिजन्य पादपों की पत्तियों में ऐल्केलायड की मात्रा ब्रिटिश या अमेरिकी भेषजग्राम के लिये गये मानक तक या उससे ऊपर होती है (०.०५१-०.०७६ प्रतिशत)। नीचे की ऊँचाई वाले या सहारनपुर, लायलपुर या उत्तर पश्चिम सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) के मैदानों के पादपों की पत्तियों में ऐल्केलायड की मात्रा अधिकृत मानक से बहुत कम होती है। गत कई वर्षों में भेषज अनुसंधान प्रयोगशाला (ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी—निर्माण-विभाग) में इस भेषज के प्रचुर परिमाण में उपार्जित नमूनों के विश्लेषण से जो परिणाम मिले हैं, उससे इस तथ्य की सम्पुष्टि हो जाती है। यहाँ परीक्षण के लिए समूची फसल कश्मीर से आयी थी। गत कई वर्षों की फसलों में ऐल्केलॉयड की मात्रा इस प्रकार रही है —

१९४५ ई०	०.०४८ प्रतिशत
१९४६ ई०	०.०६२ ,,
१९४९ ई०	०.०४९ ,,
१९५० ई०	०.०४४ ,,
१९५१ ई०	०.०५१ ,,

कश्मीर में प्राकृतिक साधनों से पैदा होनेवाले इस भेषज का वर्तमान उत्पादन भारत के भेषज निर्माण उद्योग की आवश्यकता के लिए अपर्याप्त है। इसलिए इस भेषज की और उससे बनी ओषधियों की बहुत बड़ी मात्रा आयात की जाती है। दूर दूर तक बिखरे हुए स्थानों से पादपों को इकट्ठा करने में बड़ा खर्च बैठता है और उनके सक्रिय तत्वों की उपलब्धि में बहुत अन्तर रहता है।

भारत में कृषि

वाट के मतानुसार भारत में हाइओसायमस की कृषि के बारे में प्रथम अभिलेख रॉयल (१८३९ ई०) का मिलता है। उन्होंने बताया कि भारत के मैदानी इलाकों

मे कई स्थानो पर हेनबेन की सफल कृषि की गयी और मेडिकल स्टोर डिपोओ के लिए निस्सार निकाले गये। बाद के अभिलेखो से पता चलता है कि कलकत्ता, सहारनपुर, आगरा अजमेर, बम्बई और नीलगिरि मे इसकी सफलता के साथ कृषि की गयी थी। बाद मे इसकी कृषि क्षीण हो गयी और यहाँ की अपेक्षित खपत के लिए इसकी अधिकाश मात्रा यूरोप से मँगायी जाने लगी। इसका बीज भी (अजवाइन खुरासानी) ईरान और काबुल से आयात किया जाने लगा।

जम्मू और कश्मीर हाइओसायमस के वर्तमान सम्भरण की अनुपूरक वृद्धि के लिए परीक्षणात्मक पैमाने पर जम्मू और कश्मीर के ऐसे क्षेत्रो मे जहाँ इस पादप मे अधिक मात्रा मे ऐल्केलॉयड पाया जाता है, कई रोपणियो मे इसकी खेती आरम्भ की गयी। यह खेती वन-विभाग ने भेषज अनुसंधान प्रयोगशाला के सहयोग से शुरू की। इन रोपणियो से पुष्पण काल की जो पत्तियाँ सग्रहीत की गयी, उनमे ऐल्केलॉयड निम्नलिखित मात्रा मे मिला :—

द्राग	(७,५०० फुट)	०.०८४	प्रतिशत
यारीखाह	(७,००० फुट)	० ०८१	,,
श्रीनगर	(५,००० फुट)	० ०५१	,,
बारामुला	(५,५०० फुट)	० ०४४	,,
जम्मू	(१,००० फुट)	० ०४४	,,

ऐसा देखा गया है कि समतल क्षेत्र, जहाँ पर घास-फूस न हो, हेनबेन की कृषि के लिए उपयुक्त होता है। इसकी खेती के लिए उपजाऊ, बलुई दुमट या गाद (silt) वाली दुमट भी जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह होता हो, अनुकूल समझी जाती है। ढालू क्षेत्रो मे एक सी फसल नही हो पाती है। निचले क्षेत्रो मे फसल घनी हो जाती है क्योकि बीज ऊपर से बह कर नीचे आ जाते है।

इस पौधे का प्रजनन बीज को छीट कर या रोपणियो मे पहले इसको उगाकर और फिर खेत मे प्रतिरोपित करके किया जाता है। वसन्त-काल मे जुलाई-अगस्त के महीनो मे तैयार की हुई जमीन मे बीजो को २-३ पौण्ड प्रति एकड के हिसाब से छीट दिया जाता है। क्योकि दाने बहुत छोटे होते है, इसलिए अच्छा यह होता है कि छीटने से पहले बीज मे बारीक मिट्टी मिला दी जाय। बीज को अगर ड्रिल से बोना हो तो इसकी कतारो को दो-दो फुट के अन्तर पर रखना चाहिये। $\frac{1}{4}$ इच से अधिक मिट्टी से बीज को नही ढकना चाहिये। ऋतु अनुकूल रही तो वसन्त मे ३-४ सप्ताह के अन्तर ही बीज उग आते है और ग्रीष्म मे २-३ सप्ताह के अन्दर

ही उग आते है। ऐसा कहा जाता है कि बीज ज्यादा अच्छी तरह उगते है यदि पहले उन्हें सान्द्र सल्फ्यूरिक अम्ल मे ७५ सेकेण्ड तक भिगो करके फिर उन्हे जल से अच्छी तरह धो दिया जाय। ऐसा करने पर १२ से १७ दिनो के अन्दर ही बीजो मे समान रूप से अंकुर निकल आते है। पौधो मे आलू के कीडे (भृङ्ग) लग सकते है और इस हालत मे उनपर डेरिस या पाइरेथ्रम का छिडकाव आवश्यक होता है। जून-जुलाई मे पुष्पण-काल के समय पत्तियो को हाथ से तोडकर इसके फसल की लवाई की जाती है। वार्षिक पौधे बीज के पक जाने पर मर जाते है, किन्तु द्विवर्षी पौधे पहले साल की फसल की लवाई हो जाने पर भी वर्फ के अन्दर जीवित रह जाते है। वसन्त मे इसमे एक लम्बी शाखा निकलती है जिसमे कई पत्तियाँ रहती है जिनकी लवाई पुष्पण काल मे अर्थात जून-जुलाई मे की जाती है। बीज सितम्बर-अक्टूबर मे परिपक्व हो जाते है और समूचे पौधे को हँसिया से काटकर या उसे हाथ से उखाडकर इसकी कटाई की जाती है। ऐसा देखा गया है कि द्विवर्षी हाइओसायमस नाइजर की उपज ज्यादा अच्छी होती है अगर उसे छीट कर बोया जाय।

हाइओसायमस की खेती जम्मू (१,००० फुट) तथा भारत के मैदानी इलाको मे (सहारनपुर) मे भी शीतकालीन फसल के रूप मे होती है। अच्छी तरह तैयार की हुई जमीन मे दो-दो फुट के अन्तर से पक्तियो मे ड्रिल द्वारा छिटाई करके यह बोया जाता है। जब अकुर उगने लगते है तो खेत की निराई और गोडाई आदि की जाती है। वृद्धि के आरम्भिक काल मे पौधो की सिंचाई की आवश्यकता पडती है। लोगो का यह विश्वास कि वार्षिक पौधो मे ऐल्केलॉयड की मात्रा द्विवर्षी पौधो के प्रथम वर्ष की पत्तियो की तुलना मे अधिक होती है, गलत पाया गया। यारिखाह (७,००० फुट) मे छीटकर बोये गये द्विवर्षी पौधो के तथा रोपाणियो मे उगाये और खेतो में प्रतिरोपित द्विवर्षी पौधो के बीच, जहाँ तक उनकी पत्तियो मे विद्यमान ऐल्केलॉयडो की मात्रा का सम्बन्ध है, कोई विशेष अन्तर नही पाया गया। ताजे हाइओसायमस की पत्तियो मे आर्द्रता अधिक रहती है इसलिये बण्डलो मे बाँधने से पहले पत्तियो को अच्छी तरह सुखा लेना चाहिये। वसन्त-काल मे सग्रहीत की गयी पत्तियो मे ९० प्रतिशत आर्द्रता रहती है जो बाद के महीनो मे (अर्थात, सितम्बर-अक्टूबर मे) ७०-८० प्रतिशत तक रह जाती है।

उपज .

फसल की औसत उपज कई बातो पर निर्भर करती है जैसे भूमि की किस्म, जलवायु सम्बन्धी स्थिति, सिंचाई और निराई आदि। ऐसा देखा गया है कि

वन भूमि या वजर भूमि जो कार्वनिक खाद से परिपूर्ण हो, काफी उपज देती है, किन्तु प्रति एकड पैदावार के सम्बन्ध मे कोई विश्वस्त आँकडे नही इकट्ठे किये गये है। यारिखाह् के ड्रग फार्म मे प्रति एकड २ से ३ मन सूखी पत्तियाँ पायी गयी थी। यदि भूमि तीन-चार वार जोती जाय और निराई तथा सिंचाई नियमित कालातराल के साथ की जाती रहे तो परीक्षणात्मक पैमाने पर इसकी सूखी पत्तियो की उपज प्रति एकड ५-७ मन तक हो सकती है।

बीज ·

वीजो का सग्रहण सम्पुटिकाओ (capsules) के म्फुटन के पूर्व अक्टूवर-नवम्वर मे किया जाता है। समूचा पौधा उखाड लिया जाता है। एक पौधे से १०,००० वीज मिलते है। वीजो को सूखा रखा जाय तो कई वर्षों तक ये जीवनक्षम वने रहते है। हेनवेन के बीज गहरे भूरे रग के होते है और आकृति मे वृक्काकार १ ५ मीलीमीटर लम्वे होते है। बीज-चोल (testa) जालिकारूपी (reticulated) होती है और वीज का आन्तरिक बनावट स्ट्रैमोनियम के वीज से बहुत कुछ मिलता हुआ होता है। हेनवेन के वीजो मे ० ०६ से ० १० प्रतिशत ऐल्केलॉयड होता है जिसमे हाइओसायमीन तथा कुछ मात्रा मे हाइओसीन और ऐट्रोपीन होता है।

भेषज में ऐल्केलॉयड की मात्रा

ब्रिटिश भेषजकोश (१९४८ ई०) मे यह निर्धारित किया गया है कि इस भेषज मे ऐल्केलॉयड की मात्रा ० ०५ प्रतिशत से कम नही होनी चाहिये। अमेरिकी भेषज-कोश १३ के अनुसार इसमे ऐल्केलॉयड ० ०४० प्रतिशत से कम नही होना चाहिये। ड्रग फार्म से सग्रहीत किये हुए वहुत से नमूनो मे ऐल्केलॉयड की मात्रा इस तरह पायी गयी है, ० ०६३, ० ०५७, ० ०४७५, ० ०५७, ० ०४४, ० ०८१, ० ०९२, ०.०६२ और ० ०६६ प्रतिशत। इस तरह यह परिलक्षित होता है कि कृषि-जनित पादपो मे ऐल्केलॉयड की मात्रा बढ जाती है। हाइओसायमस के वीजो को वाहर से मँगाकर उसकी यहाँ पर खेती करने के तथा स्थानीय हाइओसायमस के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के भी प्रयास किये गये है। यूनेस्को के सौजन्य मे अमेरिका, टर्की और ऑक्सफोर्ड से प्राप्त किये गये वीजो से उगाये गये पौधो मे ऐल्केलॉयड की मात्रा इस तरह पायी गयी हे अमेरिका ० ०६३, टर्की ० ०६२ तथा ऑक्सफोर्ड मे ० ०५९ प्रतिशत। इस तरह यह स्पष्ट है कि खेती के द्वारा कश्मीर मे उगाये जाने वाले पौधे ऐल्केलॉयड की मात्रा की दृष्टि से पश्चिमी देशो के पौधो से अच्छे सिद्ध होते है। उसमे मुख्य ऐल्केलॉयड हाइओसायमीन होता है, किन्तु थोडा सा

हाइओसीन और ऐट्रोपीन भी हो सकता है। उसके पर्णवृन्त मे स्तम्भ या फलक (lamina) की अपेक्षा अधिक ऐल्केलॉयड रहता है।

सन्दर्भ :—

(1) Dunstan and Brown, 1899, *J C S Trans*, 72, (2) Dutt, 1924, *Commercial Drugs of India*, (3) Chopra and Ghosh, 1926, *Ind Jour Med Res*, 13, 533, (4) Kapoor, L D Handa, K L and Chopra, I C, 1953, *Jour Sci Industr Res*, 12 A, 5, 238, (5) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 500, (6) Hocking, G M, 1947, *Econ Bot*, 1, 306, (7) Forsdike J L, and Jhonson, B, 1949, *Jour Pharmacol*, I (10), 661, (8) Handa, K L, Kapoor, L D, and Chopra, I C, 1947, *Curr Sci*, 16, 315

आईपोमिआ हेडेरेसिया (कन्वॉलवुलेसी)
Ipomaea hederacea Jacq (Convolvulaceae)

नाम—हि० और ब०—कालादाना, मिरचाई, म०—कालादाना, त०—जिरकीविरै, प०—बिल्दी, स०—कृष्णबीज।

आईपोमिआ टर्पेथम (कन्वॉलवुलेसी)
Ipomaea turpethum R. Br. (Convolvulaceae)

नाम.—स०—त्रिवृत, हि०—पितोहरी, निशोथ, ब०—तिउरी, म०—निशोतर, त०—शिवदे, प०—चितावसा।

आईपोमिआ टर्पेथम का भारत मे विरेचक के रूप मे दीर्घ काल से उपयोग होता आया है। किन्तु भेषजकोशो मे इसे अधिकृत रूप से मान्यता नही प्राप्त है। यह सम्पूर्ण भारत मे तीन हजार फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है। इस पादप की जड के छिल्के से जो रेजीनी पदार्थ (टर्पेथिन) निकलता है, वह जैलप (Jalap) (*Ipomoea purga*) का एक अच्छा स्थानापन्न द्रव्य है।

आईपोमिआ हेडेरेसिया के बीज (कालादाना) मे रेचक तत्त्व होता है और मान्यता प्राप्त जैलप के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। बहुत से आरम्भ-कालिक यूरोपियन शोधकर्ताओ ने कोष्ठबद्धता मे कालादाना के चूर्ण की उपयोगिता को सही पाया है। फिर भी आईपोमिआ पर्गा अथवा आइपोमिया म्यूरिकैटा (*I muricata*) का बडी मात्रा मे यूरोप या ईरान से यहाँ आयात किया जाता है जो बम्बई मे बहुत मिलता है। देश मे पैदा होनेवाले आईपोमिआ के गुणो को

पहले पर्याप्त मान्यता नही प्राप्त थी, और तब इसकी अधिक मांग को देखते हुए आईपोमिआ के पौधे को मैक्सिको से मँगाकर यहाँ देश मे इसकी खेती करने के प्रयास किये गये थे। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे वस्तुत. इसकी खेती यहाँ हिमालय की घाटियो मे की गयी थी, किन्तु वह सफल नही हो पायी। इसकी उपज आशानुरूप नही हुई और वह मांग को पूरा करने के लिए पर्याप्त न थी। ऊटकमण्ड के बगीचो मे यह पौधा अच्छा उगा था और यह आशा हुई थी कि इसपर लगायी गयी पूँजी पर काफी लाभ आ जायगा यद्यपि मेडिकल स्टोर्स डिपो बाजार से बहुत नीचे मूल्य पर इसे खरीदता था। यहाँ के कृषि-जन्य जैलप मे रेचकतत्व उतना ही पर्याप्त होता था जितना कि दक्षिणी अमरीका से आयात किये गये जैलप मे होता था। यद्यपि यहाँ जैलप का स्थानापन्न अपने आप पैदा होता है और भेषज-कोशो द्वारा अधिकृत आईपोमिआ पर्गा भी कई स्थानो पर सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है, फिर भी यहाँ मैक्सिको से आइपोमिया पर्गा बडी मात्रा मे आयात होता रहा है। वस्तुत जैलप की बहुत बडी मात्रा को यहाँ आवश्यकता रहती है, क्योकि भेषजकोश के उग्र विरेचको मे से इसका भी बहुत उपयोग किया जाता है।

आईपोमिआ टर्पेथम को लोकप्रियता मे सर्वाधिक अवरोध उत्पन्न करनेवाली बात यह थी कि भारत के भेषज-व्यापारी बहुधा इसमे अपमिश्रण करते थे या नकली चीज देते थे।* बाजार मे जो निशोथ उपलब्ध है उसमे प्राय इस लता की जड नही रहती जिसमे विरेचक तत्त्व विद्यमान रहता है, बल्कि अधिकाश मे उसमे वायव स्तम्भ (aerial stems) या मूल और वायव स्तम्भ का मिलावट रहता है। भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) मे आईपोमिआ टर्पेथम को मान्यता मिल गयी है जिसमे इसकी श्वेत किस्म की सूखी जडो को जिसमे छाल पूर्णरूप से सलग्न हो, अधिकृत माना गया है। इसमे ५ प्रतिशत से कम रेजिन नही होता है जिसका कुछ हिस्सा ईथर मे विलेय हो जाता है। इसी तरह भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) मे कालादाना (आईपोमिआ हेडेरेसिया) को मान्यता मिल गयी है।

सन्दर्भ

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946.

---

* बाजार मे निशोथ के नाम मे प्राय मार्सडेनिया टेनैसिस्सिमा (*Marsdenia tenacissima* W & A) की जडे मिलती है। इन दोनो पर अनुवादक एव सहयोगियो द्वारा अनुसन्धान प्रकाशित है। देखे (*Ind J Pharm*, 23, 1, 186, 1961, *Jour' Sci Industr Res*, 20c, 3, 92, 1961)—अनु०

जूनिपेरस कॉम्युनिस लिन० (क्युप्रेसेसी)
Juniperus communis Linn (Cupressaceae)

नामः—हि०—आरार, प०—पेत्थरी, पामा, क०—चेन्या, पेथ्रा, अर०—हब्बुल्-आरार।

जूनियर के सरस फल (बेरी) और उनसे निकले तेल बहुत ही प्राचीन औषध हैं, जिन्हें प्राचीन यूनानी अच्छी तरह जानते थे। वे इसके पाचक तथा मूत्रल गुणो के कारण इसका उपयोग करते थे। जूनिपेरस कॉम्युनिस सम्पूर्ण यूरोप, साइबेरिया भारत तथा उत्तरी अमेरिका मे सर्वत्र होता है, किन्तु इटली के सरस फल अपने तेल के लिए सबसे अधिक मूल्यवान माने जाते हैं। तेल निकालने का काम हगरी, इटली, रूस, बवेरिया और स्वीडेन मे होता है, यह तेल औषधीय एव वाणिज्यिक प्रयोजनो के लिए निकाला जाता है। इसका प्रमुख उत्पादक देश हगरी है और इस तेल का वहाँ बहुत बडा विदेशी व्यापार होता है। भारत मे जूनियर की कई जातियाँ पश्चिमी हिमालय, कुमायूँ तथा कुर्रम की घाटियो मे समुद्रतल से ११ हजार फुट की ऊँचाई पर पायी जाती हैं। इनका वहाँ औषधि के लिए बहुत उपयोग नही होता है, किन्तु मुसलमान भेषज-विक्रेता बाजार मे इसे बेचते अवश्य हैं। बशहर प्रदेश के ऊपरी भाग मे प्राप्त की गयी जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फलो के तेल का अध्ययन साइमनसन ने किया था और उन्होंने बताया कि ० २ प्रतिशत तेल उससे पाया जा सकता है। कश्मीर के जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फलो से ० ७७ प्रतिशत तेल हांडा और कपूर ने प्राप्त किया था। यूरोप के पादपो से निकलनेवाले तेल की मात्रा की तुलना मे तेल की यह मात्रा बहुत कम है। इटली के फलो से १ से १ ५ प्रतिशत, बवेरिया के सरस फलो से १ ० से १ २ प्रतिशत, हगरी के सरस फलो से ० ८ से १ ० प्रतिशत, स्वीडेन के सरस फलो से ० ५ प्रतिशत, पोलेण्ड के सरस फलो से ० ९ प्रतिशत, थुरिंजिआ के सरस फलो से ० ७६ प्रतिशत तथा पूर्वी प्रशिआ के सरस फलो से ० ६ प्रतिशत तेल मिलता है।

इस वाष्पशील तेल के अतिरिक्त, जूनिपर के सरस फलो मे प्रतीप (invert) शर्करा (लगभग ३३ प्रतिशत), रेजिन (लगभग १० प्रतिशत), एक तिक्त तत्त्व, कार्बनिक अम्ल तथा उनके लवण और मोम (wax) रहता है। जूनिपर के तेल मे अलफा पाइनीन और कैम्फीन नामक टर्पीन, कैडीनीन नामक सेस्क्विटर्पीन, कम से कम दो टर्पीन ऐल्कोहॉल जिनमे से एक टर्पीनिऑल है, तथा अत्यल्प मात्रा मे एस्टर पाया जाता है। जूनिपर के तेल के पुराने नमूनो को ठण्डा करने पर एक क्रिस्टलीय

पदार्थ 'जूनिपर कैम्फर' नीचे जम जाता है। भारत का जूनिपर तेल कतिपय घटको को छोडकर विदेशो से प्राप्य तैल से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह नीचे दर्शाया गया है —

	हगरी का	इटली का	भारतीय
आपेक्षिक घनत्व २०° पर	० ८६७	० ८६६	० ८७८८ (३०°पर)
ध्रुवण-घूर्णन ,,	१२°	९ ८२°	तेल गहरे रग का होने के कारण नही निकाला गया।
साबुनीकरण मान	५ ९	६ १	२१ २
ऐसिटिलेशन के उपरान्त साबुनीकरण मान	२० ९	२१ ३	४९ १

इन अन्तरो का कारण सम्भवत यह हो सकता है कि रखे रहने पर जूनिपर के तेल मे परिवर्तन आ जाता है। ये अन्तर बहुत नगण्य है, और भारतीय तेल मे ऐल्कोहॉल और एस्टर का गुण और अनुपात वही होता है जो विदेशी तेल मे होता है, इसमे सुवास का कारण प्रमुख रूप से इसके ऐल्कोहाल तथा एस्टर हैं। कश्मीर मे होनेवाले जूनिपर की दो जातियाँ हैं जूनिपेरस कॉम्युनिस और जूनिपेरस मैक्रोपोडा (*J macropoda*) उन दोनो का परीक्षण इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने किया था। जहाँ तक वाह्य स्वरूप का सम्बन्ध है इन दोनो के सरस फलो मे बहुत अन्तर नही है। जूनिपेरस मैक्रोपोडा के सरस फल जूनिपेरस कॉम्युनिस के सरस फल से कुछ अधिक लम्बे होते हैं। वाष्प-आसवन से जूनिपर कॉम्युनिस तथा जूनिपेरस मैक्रोपोडा से क्रमश ० २५ और ३ २४ प्रतिशत वाष्पशील तेल निकला था। उन तेलो का रग, गध और विलेयता प्राय वही थी जो भेपजकोश द्वारा मान्य तेल की होनी चाहिये। जूनिपेरस मैक्रोपोडा से निकले तेल मे ध्रुवण-घूर्णन तथा अन्य गौण भौतिक गुणो मे कुछ अन्तर पाया गया था। ब्रिटिश भेषजकोश मे निर्धारित मानक से तुलना के लिए तेल के गुण नीचे दिये गये है।

	जूनिपेरस कॉम्युनिस (बी० पी० मानक)	जूनिपेरस मैक्रोपोडा
ध्रुवण-घूर्णन	–३° से –१५° तक	–२४ ३°
आपेक्षिक घनत्व	० ८६ से ० ८९ तक	० ९१२

कश्मीर के जंगलों में प्राप्त किये गये जूनिपेरस मैक्रोपोडा के सरस फलों का अध्ययन हांडा और कपूर ने भी किया था जिनके परिणाम नीचे दिये गये हैं —

	तेल की लब्धि	आपेक्षिक घनत्व	अपवर्तनांक
जूनिपेरस काम्युनिस	०.७९ प्रतिशत	१५°सें० पर ०.९३८८	२०°सें० पर १.४८८
जूनिपेरस मैक्रोपोडा	३.३ ,,	१५°सें० पर ०.८५७१	२०°सें० पर १.४७३

भारतीय तेल के भौतिक तथा रासायनिक गुणों में सादृश्य होने पर भी जूनिपर के सरस फलों या उनके तेल को व्यापारिक उपयोग में लाने के बहुत कम प्रयास किये गये हैं। जूनीपर के सरस फलों में शर्करा बहुत होती है। उनका किण्वन और आसवन करने से एक प्रसिद्ध पेय निकाला जाता है जिसका नाम जिन (gin) है। इसकी अपनी एक विशिष्ट सुगन्ध होती है जो जूनिपर के तेल के कारण होती है। पश्चिमी देशों में इन सरस फलों की बहुत बड़ी माँग है। इस दिशा में भारत में जो सम्भावनाएँ विद्यमान हैं उनकी खोज होनी चाहिये। भारतीय फार्मास्यूटिकल कोडेक्स १९५२ ई० और भारतीय फार्माकोपियल लिस्ट १९४६ ई० दोनों में ही इन जातियों को मान्यता मिल चुकी है।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Chopra, Ghosh and Ratnagiriswaran, 1929, *Ind. Jour. Med. Res.*, 16, 3; (3) Trease, G. E. 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 132, (4) Handa, K. L., Kapoor, L. D, and Chopra, I. C., 1949, *Ind. J. Agric. Sci.*, 17, (5) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1952, (6) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946

मेन्था आर्वेन्सिस (लैबिएटी)

Mentha arvensis Linn. (Labiatae)

पुदीना (Mint)

नाम —हि०—पुदीना, बम्ब०—पुदीना, ब०—पुदीना, त० और ते०— पुदीना, फा०—पुदीनाह्।

मेन्था की कई जातियाँ जो हिमालय प्रदेश के देशीय पादप हैं, भारत में अपने आप पैदा होती हैं, किन्तु कुछ बहिर्देशीय जातियाँ भी यहाँ सफलतापूर्वक लगायी गयी हैं। देशीय जातियों में मेन्था आर्वेन्सिस, मेन्था सिल्वेस्ट्रिस तथा उसकी वैराइटी इनकेना (*M. sylvestris* var. *incana* Hook. f. and var. *royleana Hook.* f.)

और रायलिआना उल्लेखनीय हैं। मेन्था विरिडिस (*M viridis* Linn) (स्पियरमिण्ट), मेन्था पिपेरिटा (*M piperita* Linn) (पिपरमेंट) और मेन्था एक्वैटिका (*M aquatica* Linn.) को यहाँ लगाया गया है और ये भारत में अच्छी तरह उग रहे हैं। अभी हाल मे यहाँ जापानी पिपरमेण्ट के पौधे मेन्था कैनाडेन्सिस वैराइटी पिपरसेन्स (*M canadensis* var *piperascens*) को लगाने के प्रयास किये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि मेन्था की जातियो मे इस अभिवृद्धि से अच्छे परिणाम प्राप्त होंगे।

मेन्था आर्वेन्सिस पश्चिमी हिमालय में प्राकृतिक रूप से उगता है। यह कश्मीर मे ५ हजार से १० हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। यह भेषज यूनान और रोम के निवासियो को अच्छी तरह ज्ञात था। इसका उपयोग न केवल खाद्य को सुस्वाद बनाने के लिए बल्कि औषधीय प्रयोजनों के लिए भी किया जाता था। यद्यपि इस पौधे की बहुत जातियाँ भारत में पैदा होती हैं, पर हिन्दू चिकित्सको ने अपनी चिकित्सा मे इसका उपयोग शायद नही किया है, किन्तु अपने उद्दीपक तथा वातानुलोमक गुणो के कारण अब भारत मे घरेलू औषधियो मे इसका उपयोग होने लगा है।

हिमालय प्रदेश मे पैदा होनेवाले मेन्था आर्वेन्सिस से एक तेल निकलता है जो भेषजकोश मे मान्य मेन्था पिपेरिटा से निकाले जानेवाले पिपरमिण्ट तेल के समान होता है। दुर्गन्धवाले तथा अरुचिकर औषधियों के स्वाद को मधुर बनाने के लिए तथा वातानुलोमक के रूप मे औषधीय योगो मे पिपरमिण्ट तेल का भारत मे बहुत उपयोग किया जाता है। मिठाइयो और दतमजनो मे सुवास देने के लिए भी उसका बहुत उपयोग होता है। इन सब कारणो से इसका अधिक महत्त्व हो गया है। मेन्था आर्वेन्सिस से वाष्प-आसवन द्वारा जो तेल मिलता है वह मेन्था पिपेरिटा से निकलने वाले तेल की तुलना मे बहुत अच्छा होता है। इसके तेल मे वही गध, स्वाद और भौतिक गुण होते है जो ब्रिटिश भेषजकोश मे व्यवहृत होनेवाले मेन्था पिपेरिटा के तेल मे पाये जाते है। इसके तेल को कुछ दिनो तक रखने पर इससे मेन्थॉल के क्रिस्टल आसानी से पाये जा सकते हैं। कश्मीर से प्राप्त शुष्क समूचे पौधे से ०.१८ से ०.२ प्रतिशत वाष्पशील तेल निकला था। अमरीकी पौधो से जो औसत मात्रा तेल की मिलती है उसकी तुलना मे यह मात्रा काफी ज्यादा है जैसा कि निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट है —

उद्गम स्रोत	तेल की प्राप्ति
आर्लिंग्टन फार्म (अमेरिका)	०.१२—०.१३ प्रतिशत
बेल्स्टर, दक्षिणी डकोटा (अमेरिका)	०.१० „
ग्लेण्डेन (अमेरिका)	०.११ „

सम्भव है कि ताजे नमूनों से इनसे कहीं अधिक प्रतिशत मात्रा में तेल मिले जितना कि भारत में सूखे पादपों से निकाला गया था, क्योंकि कुछ विशेषज्ञों का यह कहना है कि आसवन से पूर्व पौधे के सूख जाने से उनका ५० प्रतिशत तेल उड़ जाता है।

अमरीकी कृषि विभाग द्वारा इस दिशा में जो विस्तृत अनुसंधान किये गये हैं उनके फलस्वरूप यह पाया गया है कि अगर कली और फूल लगने के समय पत्तियों को इकट्ठा कर लिया जाये तो आसवन करने पर तेल की उससे कहीं अधिक मात्रा मिलेगी जितना कि ऊपर बताया गया है। अमरीकी शोधकर्ताओं ने जो निष्कर्ष प्राप्त किये हैं उनके आँकड़े नीचे दिये गये हैं।

अवस्था	सम्पूर्ण पौधे से प्रतिशत	केवल पत्तों से प्रतिशत	शीर्षाग्र भागों से प्रतिशत
पल्लिकायन	०.११६	०.२०३	०.१७३
पुष्पण	०.११३	०.३०३	०.२३३
फलन	०.१३३	०.१२०	०.१५३

इसलिए यह सर्वथा सम्भव है कि यदि उसी तरह सतर्कता भारतीय पादपों के सम्बन्ध में बरती जाय तो इनके तेलों की मात्रा और बढ़ सकती है। चोपड़ा, हांडा और कपूर ने कश्मीर में होनेवाले मेन्था आर्वेन्सिस की पत्तियों में ०.४५ प्रतिशत तेल प्राप्त किया था, जिसका आपेक्षिक घनत्व १५° सें० पर ०.९१६१ और अपवर्तनांक २०° सें० पर १.४७४ था परन्तु तेल से मेन्थाल अलग नहीं किया जा सका।

कृषि

इसके पौधे के लिए कैल्सियमी भूमि या बलुई दुमट या ककरीली मिट्टी अधिक अनुकूल होती है और कर्तन द्वारा पौधा अच्छा उगता है। इसके पौधे काफी सहिष्णु (hardy) होते हैं और इसकी खेती के लिए किसी विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

उत्पादन :

वासक शाक भाजी के रूप मे इस भेषज की भारत के बाजार में बडी माँग रहती है। भारत मे इसके तेल उत्पादन के लिए कोई प्रयास नही किया गया है और यहाँ आयात किये हुए तेल की खपत होती है।

भारतीय फर्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) मे मेन्था आर्वेन्सिस (पुदीना तेल) को अधिकृत मान लिया गया है।

समशीतोष्ण जलवायु वाले स्थानो मे मेन्था पिपेरिटा बगीचे के पौधे के रूप मे आसानी से उगाया जा सकता है। इसकी खेती कठिन नही होती और इसके लिए साधारणतः उतना ही ध्यान देना पडता है जितना कि मक्का या आलू इत्यादि खेती के लिए। कोई दलदल भूमि जो नदी तट पर स्थित हो, इसके लिए अनुकूल होती है परन्तु यह आवश्यक है कि भूमि सूखी हो और जलोत्सारण अच्छी तरह होता हो। ब्रिटेन के कृषि मत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार कोई भी हल्की कैल्सियमी भूमि, बलुई दुमट या ककरीली मिट्टी जिसका चूरा किया जा सके पुदीना की खेती के लिए उपयोग मे लायी जा सकती है। भारत जैसे विशाल देश मे उपरोक्त तरह की भूमि का पाना कठिन नही है। तेल प्राप्त करने के उद्देश्य से कई वर्ष पूर्व नीलगिरि के बगीचो मे इस पौधे को लगाने के परीक्षण किये गए थे और उसमे कुछ सफलता भी मिली थी, अच्छी मात्रा मे उससे तेल भी मिला था। कोई कारण नही है कि यहाँ इस उद्योग को सफलतापूर्वक विकसित नही किया जा सकता हो। इसको लगाने की, खेती करने की, फसल को काटने की और आसवन करने की विधियो पर अनेक वर्षो के परीक्षण और प्रयोग के बाद, अन्य देशो मे जो परिणाम प्राप्त किया गया है, जिसका लाभ यहाँ सहज मे ही उठाया जा सकता है।

अभी हाल मे यह पौधा मैसूर मे तथा वन अनुसधान सस्थान, देहरादून में भी उगाया गया है। पजाब कृषि कालेज, लायलपुर से इस पौधे के अन्तभूस्तारी को जिनमे जडे निकल आयी थी, प्राप्त करके कश्मीर के बारामुल्ला स्थान मे (५,५०० फुट), श्रीनगर (५,००० फुट) मे, तथा यारीखाह (७,००० फुट) मे वसन्त काल मे इसको रोपा गया था। इन सभी स्थानो पर ये पौधे अनुकूल पडे। इन रोपणियो से अगस्त महीने मे सग्रहीत किये गये पुष्प-शीर्ष और पत्तियो का वाष्प-आसवन किया गया, जिसके निष्कर्ष नीचे दिये गये है।

स्थान जहाँ पौधे उगाये गये	तेलों की प्रतिशतता तथा अन्य स्थिरांक	बी० पी० सी० मानक
(१) मानीगाह (३,००० फुट)	सूखी पत्तियों के भार पर ०.३ से १ प्रतिशत तक	०.५ प्रतिशत से कम नहीं
(२) दारागुल्ला (४,००० फुट)	०.७ प्रतिशत	०.५ प्रतिशत से कम नहीं
१५° से० पर आपेक्षिक घनत्व	०.९१८८	०.८९७ से ०.९१ तक
२०° से० पर वर्तनांक	१.४८६	१.४६६ से १.४७ तक
विलेयता	७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ६ गुने आयतन में घुलनशील	७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के ४ गुने आयतन में घुलनशील।
मेन्थिल ऐसीटेट की प्रतिशतता	१४४ प्रतिशत	४ से ९ प्रतिशत तक
मेन्थॉल की प्रतिशतता	४६.६ प्रतिशत	४६ प्रतिशत से कम नहीं।

आर्थिक पक्ष :

वाणिज्य में व्यवहृत होनेवाला पिपरमेन्ट तेल मुख्यतः दो वानस्पतिक स्रोतों से प्राप्त किया जाता है। (१) अमरीकी और यूरोपीय तेल मेन्था पिपेरिटा वैराइटी वल्गेरिस 'काला पुदीना' से तथा मेन्था पिपेरिटा वैराइटी आफिसिनेलिस 'श्वेतपुदीना' से और (२) जापानी तेल मेन्था आर्वेन्सिस वैराइटी पिपेरेसेन्स से या मेन्था कैनेडेन्सिस वैराइटी पिपेरेसेन्स से। यू० एस० पी० के पिपरमिण्ट में मेन्था पिपेरिटा की सूखी पत्तियाँ तथा पुष्पशीर्ष रहते हैं। इसलिए पिपरमिण्ट तेल को एक अनन्य स्थान प्राप्त है। यह अन्य पिपरमिण्ट तेलों की तुलना में कहीं अच्छा होता है और इसका मूल्य अधिक होता है। अंग्रेजी तेलों में अमरीकी तेलों का अपमिश्रण बहुत होता है।

घटक

पिपरमिण्ट तेल में मेन्थिल एसीटेट के रूप में परिकलित ४ प्रतिशत से १४ प्रतिशत तक एस्टर रहता है और ४६ प्रतिशत से कम मुक्त मेन्थॉल नहीं होता है। वाणिज्यिक तेलों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी गयी हैं, और इनकी तुलना भेषजकोश के मानकों से कर लेनी चाहिये।

	अमेरिकी	इगलैण्ड का काला पुदीना	इगलैण्ड का श्वेत पुदीना
आपेक्षिक घनत्व	० ९०० से ० ९१५	०.९०३६	०.९०५८
ध्रुवण-घूर्णन	—१८° से—३५°	—२३.५°	—३३°
एस्टर के रूप मे मेन्थॉल	५ से १४%	३ ७%	१३ ६%
मुक्त मेन्थॉल	४५ से ५०%	५९.८%	५१ ९%
मेन्थोन	९ से १९%	११ ३%	९ २%

जापानी तेल मे एक तेज और विशेष प्रकार की वानस्पतिक गन्ध होती है और उसका स्वाद तीखा होता है। इन गुणो के कारण अँग्रेजी या अमेरिकी तेलो से सहज ही मे इसका विभेद किया जा सकता है। इसमें मेन्थॉल प्रचुर परिमाण मे रहता है, जो ठण्डा होने पर आसानी से जमकर क्रिस्टल वन जाता है। ट्रीज के अनुसार जापान के प्राकृतिक पिपरमिण्ट तेल मे ७० से ९० प्रतिशत मेन्थॉल होता है जिसको निकालने के लिऐ ही इसका बहुत ज्यादा उपयोग किया जाता है। मेन्थॉल निकाले हुए जापानी पिपरमिण्ट तेल मे लगभग उतना ही मेन्थॉल और उसका एस्टर रहता है जितना अमेरिकी तेल में। इसका वहुत उपयोग होता है, जैसा कि नीचे दिये गये १९२६ ई० के जापान के निर्यात सम्बन्धी आँकडो से प्रतीत होता है—

पिपरमिण्ट का तेल	६३७,२०३ पौण्ड
मेन्थॉल	७०५,३७१ पौण्ड
मेन्थॉल की सलाखे (पेन्सिल)	१७६,६६८ पौण्ड

अमेरिका मे पिपरमिण्ट की खेती १८१६ ई० मे ही शुरू हो गयी थी और आजतक वहाँ उत्साह के साथ यह चल रही है। अधिकतर प्रशान्त महासागर के तट पर वैज्ञानिक ढग से इस पौधे की कृषि की जाती है, और वहाँ इसके तेल का उत्पादन सन्तोप पूर्ण स्थिति मे पहुँच गया है। अमेरिका मे १९३५ से १९४७ ई० तक की अवधि का वार्षिक उत्पादन १० लाख पौण्ड से १६ लाख पौण्ड तक रहा है और इसकी कृषि का क्षेत्रफल ३५ हजार एकड से ५० हजार एकड तक। इण्डियाना, औरिगान और वाशिंगटन मे पिपरमिण्ट की कृषि का क्षेत्रफल तथा इसके तेल का उत्पादन, ज्यो ज्यो उसकी खपत वढती गयी है त्यो त्यो शनै. शनै. वढता गया है। तेल का प्रति एकड औसत उत्पादन ३०-४० पौण्ड के बीच है। अमेरिका न केवल अपनी ही आवश्यकताओ की पूर्ति करता है जो बहुत विस्तृत है बल्कि इस तेल का निर्यात भी करता है।

जापान और अमेरिका दोनों ही देश पिपरमिण्ट तेल की बिक्री से काफी बड़ा मुनाफा कमाते हैं। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जर्मनी में भी पिपरमिण्ट के तेल के सम्पन्न उद्योग हैं। पिपरमिण्ट के तेल के उत्पादन के सम्बन्ध में अभी हाल में आस्ट्रेलिया ने परीक्षण किया है और इस सम्बन्ध में जो रिपोर्ट प्रकाशित हुए हैं उनसे पता चलता है कि परिणाम बहुत सन्तोषजनक हैं। गत कुछ वर्षों से रूमानिया में भी पिपरमिण्ट की खेती परीक्षणात्मक आधार पर शुरू की गयी है और कहा जाता है यह प्रयोग बहुत ही सफल सिद्ध हुआ है। इन बातों को देखते हुए कि भारत में इसके विशाल प्राकृतिक साधन विद्यमान हैं और पिपरमिण्ट तेल का औसत मूल्य लगातार वृद्धि पर ही है, भारत को इस उद्योग में पीछे नहीं रहना चाहिये। उपयुक्त क्षेत्रों में इसकी खेती तथा वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए तेल को आसवन का काम यहाँ निश्चय ही एक बड़ा लाभप्रद उपक्रम होगा जो आरम्भ करने योग्य है।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी० एस० आई० आर०) की वाष्पशील तेल सम्बन्धी सलाहकार समिति ने अपने समन्वेशी (एक्सप्लोरेटरी) रिपोर्ट (१९४६ ई०) में कहा है—"भारत प्रति वर्ष ७५ हजार रुपये का पिपरमिण्ट तेल का आयात करता है। इसका कोई कारण नहीं कि पिपरमिण्ट के पौधों का भारत में उत्पादन सम्भव न हो। पिपरमिण्ट तेल वाष्पशील तेल समुदाय का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य है और भेषज निर्माण तथा मिष्ठान्न उद्योग में इसका बड़ा उपयोग होता है। हमारा यह मत है कि उपयुक्त वैराइटी के पिपरमिण्ट के पौधे चार से पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर अच्छी तरह उग सकते हैं, यदि चुने हुए पौधे इस ऊँचाई पर लगाये जायें।" अभी हाल में मेन्था कैनेडेन्सिस वैराइटी पिपरासेन्स का पौधा जापान से मँगाकर जम्मू (९०० फुट) में इस ग्रन्थ के लेखकों द्वारा (१९५३ ई०) में लगाया गया था स्थानीय मिट्टी तथा जलवायु सम्बन्धी स्थितियों के प्रति पौधे ने अद्भुत अनुकूलता अपनायी। रोपणी में लगाये हुए पौधे के सूखे पत्तों से २.१ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिला जिसमें ७०.१ प्रतिशत मुक्त मेन्थॉल था और प्रजनन के लिए पौधे का विस्तार किया जा रहा है। संश्लेषण विधि से बड़ी मात्रा में मेन्थॉल का उत्पादन किया जा रहा है। मेन्थोन, पुलेगोन और पिपेरिटोन जैसे कीटोनों का अपचयन करके यह प्रक्रिया बहुत आसानी से सम्पन्न की जा सकती है। यूकेलिप्टस तेल में पिपेरिटोन रहता है और कुछ हद तक उस मेन्थॉल निकाले हुए तेल में भी रहता है, जो जापान में पैदा किया जाता है। इसे आसानी से मेन्थोन में बदला जा सकता है और फिर इसे उत्प्रेरक (catalytic) हाइड्रोजनीकरण द्वारा मेन्थॉल में बदला जा सकता है। इस विधि

मे तैयार किया हुआ पदार्थ ही आज ३० वर्षों से बाजार मे सश्लिष्ट मेन्थॉल के नाम से बिक रहा है। पेनी रायल तेल (मेन्था पुलिजियम *M, pulegium*) मे पुलेगोन ही मुख्य घटक होता है और कुछ अश मे यह जापानी पिपरमिण्ट के पौधे मे भी मिलता है। पिपेरिटोन की तरह यह भी मेन्थोन मे बदला जा सकता है। मेन्थॉल को बनाने मे सिट्रोनेलाल का भी उपयोग किया जा सकता है। जावा और श्रीलका मे सिट्रोनेला घास, (सिम्ब्रोपोगान नार्डस) से तैयार किये गये सिट्रोनेला तेल मे यह सिट्रोनेलाल बहुत मिलता हैं।

शिमेल ऐण्ड कम्पनी की रिपोर्ट के अनुसार उनकी प्रयोगशालाओ मे जो सश्लिष्ट मेन्थॉल बनता है वह वाम ध्रुवण-घूर्णक होता है। इसका गलनाक ३५° सें० है और स्वरूप तथा गन्ध मे प्राकृतिक मेन्थॉल से बहुत मिलता-जुलता है। परीक्षणो से यह भी प्रकट होगया कि सश्लिष्ट उत्पादो की अपेक्षा शरीरक्रियात्मक दृष्टि से कुछ अधिक सक्रिय पर कम विषालु होता है। इसके पूतिरोधी गुण एक्रीफ्लेविन, स्कारलेट रेड, जेन-शिअन वॉयलेट जैसे भेषजो के समान ही है। जैसी स्थिति अभी है, प्राकृतिक मेन्थॉल उद्योग की सम्भावनाओ के सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी करना सम्भव नही है।

सन्दर्भ :—

(1) Russel, 1926, *J Amer Pharm Assoc*, 15, 566, (2) *Bureau of Plant Industry Bulletin*, 1905, Part III, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) Schimmel & Co., 1928, *Report*, (5) Chopra, R N, Ghosh, N N, and Ratnagiriswaran, A N, 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770 (6) *Perfumery and Esselntial Oil, Records*, 1923, 14, 397, (7) *Chemist and Druggist*, 1926, 104, 278, (8) Chopra, I C, Handa, K L, and Kapoor L D, 1946, *Ind Jour, Agri Sci*, 16, 3, (9) *Indian Phermacopoeial List*, 1946, (10) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 491, (11) Kapoo, L D, Handa, K L, and Chopra, I C, 1953, *Jour, Sci Industr. Res*, 12 A, 7, 315, (12) Narielwala, P A and Rakshit, J N, 1946 *Report of the Essential Oil Advisory Committee* (C S I R), 33, (13) Production of Drugs and Condiments Plants, F Bull, 1999, *U S, Deptt, Ag*, 1948, 77, (14) Handa, K L, Kapoor, L D, and Abrol H L, 1954, *Ind Jour Pharm*, 32, (15) Datta, S C, and Mukerji, B. 1952, *Phrmacognosy of Indian Leaf Drugs*, 73

मरिस्टिका फ्रैग्रेन्स (मिरिस्टिकेसी)

Myristica fragrans Houtt (Myristicacea)

जायफल (The Nutmeg, Mace)

नाम—स०—जातीफलम्, हि० तथा ब०—जायफल, बम्ब०—जायफल, त०—जाडिक्कै, ते०—जाजिकाय।

मिरिस्टिका मलाबैरिका (Myristica malabarica Lam)

बम्बई का जायफल

जायफल का औषधियों में अधिक उपयोग नहीं होता है, किन्तु इससे प्राप्त बाष्पशील तेल को कई महत्त्वपूर्ण भेषजकोषीय योगों में जैसे स्पिरिट अमोनिया ऐरोमैटिकस, टिंचर वैलेरिआना अमोनिएटा आदि में व्यवहृत किया जाता है। जायफल तेल का आमवात में उपयोग भी बाह्य उपयोग किया जाता है। इस तेल का मृदुरेचक वाटिकाओं और अन्य औषधियों में भी उदर-शूल को शमन करने के लिए किया जाता है और उद्दीपक तथा वातानुलोमक के रूप में शर्करा में मिलाकर दिया जाता है। औषधीय उपयोग के अतिरिक्त जायफल एक आवश्यक वाणिज्यिक वस्तु भी है, क्योंकि इससे निकाला गया बाष्पशील तेल साबुन और सुगन्धित उद्योगों के लिए एक बहुमूल्य वस्तु है।

जायफल, मिरिस्टिका फ्रैग्रैन्स के बीज की सूखी गुठली को कहते हैं। मिरिस्टिका फ्रैग्रैन्स एक सदाहरित वृक्ष है जो ऊँचाई में १० से २० मीटर तक होता है, और यह मोलक्का द्वीप में पाया जाता है। यह वृक्ष पेनाग, सुमात्रा, सिंगापुर, श्रीलंका तथा वेस्ट इण्डीज में भी होता है और मॉरिशस, बोरबान, मैडागास्कर, सेचिलीस और जंजीबार के द्वीपों में लगाया गया है। अमेरिका में जितना जायफल उपयोग में लाया जाता है उसका लगभग आधा हिस्सा ग्रेनाडा (वेस्ट इण्डीज) पूर्ति करता है। भारत में नीलगिरि पहाड़ियों में और मलाबार तट पर इसकी कई जातियाँ पायी जाती हैं। प्राचीन अभिलेखों से पता चलता है कि किसी समय भारत में जायफल वृक्ष खूब उगता था। बहुत पहले सोलहवीं शताब्दी में गारकोआ डि ओर्टा नामक पुर्तगाली चिकित्सक ने भारतीय भूमि पर जायफल वृक्षों को प्रचुरता के साथ पैदा होते देखा था, किन्तु इस समय ये बहुतायत से नहीं पाये जाते हैं। जायफल की एक जाति मिरिस्टिका मलाबैरिका है जो बम्बई में बहुत बड़ी मात्रा में पायी जाती है, किन्तु उसमें उस मृदु सुरभि की कमी रहती है, जो मिरिस्टिका फ्रैग्रैन्स का

विशिष्ट गुण है। इसलिए उसका वाणिज्यिक महत्त्व बहुत कम है। इसे 'बम्बई का जायफल' कहते है और असली जायफल मे इसका अपमिश्रण किया जाता है। जायफल तेल के आर्थिक महत्त्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अकेले अमेरिका २० लाख से ३० लाख पौण्ड जायफल सालना बाहर से मँगाता है। इसके अतिरिक्त ६,६२,६६७ रुपये के जायफल का आयात (१९२८-२९ ई०) मे भारत मे किया गया था। अत अगर इस ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाय तो भारत न केवल अपनी ही माँग की पूर्ति कर सकता है, बल्कि एक महत्त्वपूर्ण निर्यात-व्यापार स्थापित करने की आशा रख सकता है।

कृषि

भारत मे पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र तट के किनारे मिरिस्टिका फ्रेग्रैन्स की खेती करना उपयोगी हो सकता है। यह पादप विभिन्न तरह की भूमियो मे पैदा होता है, अर्थात् मोलक्का द्वीप की ज्वालामुखीय विक्षेप की बालुकामयी उपजाऊ मिट्टी से लेकर पिनाग की पीली दुमट चिकनी मिट्टी मे भी पैदा होता है।

दक्षिण भारत मे इस समय ३०० एकड से कुछ कम क्षेत्र मे जायफल वृक्ष की खेती होती है। तीन हजार फुट की ऊँचाई पर यह पेड ४९ फुट तक लम्बा बढता है। आत्मनिर्भर होने के लिए भारत मे ११०० एकड की भूमि मे इसकी खेती पर्याप्त होगी और इससे २५०० हण्डरवेट जायफल प्रतिवर्ष मिल जायगा। जायफल की सफल कृषि के लिए बलुई दुमट मिट्टी तथा लैटेराइट भूमि जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह हो, बहुत उपयुक्त होती है। मिट्टी का पी-एच मान ७ १ से ७ २ तक होना चाहिये और वार्षिक वर्षा ६६ से ७५ इच तक होनी चाहिये।

साधारणत इसकी खेती बीज बोकर की जाती है। पेडो पर ही पककर फट जाने वाले फलो से ताजे बीज इकट्ठा कर लिये जाते है और २४ घण्टो के अन्दर छाये मे उसे बो दिया जाता है। इस विधि से ९८ प्रतिशत पौधे उग आते है। ये पौधे ६ महीने मे ६ से ९ इच लम्बे हो जाते है और तब इन्हे इनके स्थायी क्षेत्र मे २५-३० फुट के अन्तर पर प्रतिरोपित कर दिया जाता है। ५० पौण्ड अच्छी प्रकार से सडी हुई फार्म की खाद, अर्धमिश्रित कम्पोस्ट खाद मे मिलाकर प्रत्येक पौधे के लिए पर्याप्त समझी गयी है। ६-७ वर्ष का होने पर वृक्ष फल देने लगता है और ३०-४० साल तक फल देता रहता है। एक जगह तो ९० वर्ष का पुराना वृक्ष अभी भी फल देता है। सामान्यत. एक वृक्ष से १५ से २० पौण्ड तक जायफल और १ पौण्ड जावित्री (Mace) इकट्ठा की जाती है, किन्तु प्रति वृक्ष से ४० पौण्ड

जायफल और १२ पौण्ड जाविन्नी पाने का भी उल्लेख है। जावित्री एक प्रकार का बीज चोल ('Aril) होता है जो कि बीज को ढके रहता है और इसका उपयोग मसाले के रूप मे होता है।

संघटन

जायफल से ५ से १५ प्रतिशत तक वाष्पशील तेल और ३० से ४० प्रतिशत तक वसा प्राप्त होता है। इससे फाइटोस्टेरिन, मण्ड, ऐमिलो डेक्स्ट्रिन, रजक द्रव्य और सैपोनिन भी मिलता है। इससे ३ प्रतिशत कुल राख और ०.२ प्रतिशत अम्ल में अविलेय राख मिलती है। पावर और साल्वे के अनुसार इसके वाष्पशील तेल (ओलियम मिरिस्टकी बी० पी०) मे पाइनीन और कैम्फीन ८० प्रतिशत, डाइपेण्टीन ८ प्रतिशत, ऐल्कोहॉल लगभग ६ प्रतिशत, मिरिस्टिसिन लगभग ४ प्रतिशत, सैफ्रोल ०.६ प्रतिशत, यूजिनॉल और आइसोयूजिनॉल ०.२ प्रतिशत विद्यमान रहता है। पेरने से या विलायको की सहायता से जायफल से एक उत्पाद मिलता है जिसे "नटमेग बटर' अथवा जायफल का निष्कर्षित तेल कहते हैं। इससे १२.५ प्रतिशत वाष्पशील तेल, ७ प्रतिशत ट्राइमिरिस्टिसिन (मिरिस्टिक अम्ल का ग्लिसराइड), ओलेइक, लिनोलेइक और अन्य अम्लो की लघु मात्रा तथा ८.५ प्रतिशत असाबुनकरणीय (unsaponifiable) पदार्थ रहते हैं।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Trease, G E, 1952 *Text Book of Pharmacognosy*, 248, (3) Private Communication, Director of Agriculture, Madras

पैपेवर सॉम्निफेरम (पैपेवरेसी)

Papaver somniferum Linn (Papaveraceae)

अफीम अथवा श्वेत अहिपुष्प

नाम —सं०—अहिफेन, हिं०—अफीम, अफियून, बं०—पोस्तो-ढेडी, बम्ब०—अफीम, अप्पो, त०—अविनी, गशगशा, फा०—अफ्यून, खशखाश, अ०—अफ्यून, किश्रुल-खशखाश।

पैपेवर सॉम्निफेरम वेराइटी ऐल्बम (*P somniferum* var *album* D C (अफीम देनेवाला पोस्ता) भारत के हर भाग मे पैदा होता है। इसके फूल सफेद होते हैं। इसके सफेद बीजो को खस-खस कहते है और सम्पुट (कैप्सुल) को पोस्ता डोडा,

कहते है। साधारणत इसकी खेती की जाती है और यह अपने आप नही पैदा होता होता है। सम्भवत यह पौधा देशीय नही है और बाहर से लाया गया है। ऐतिहासिक अभिलेखो मे यह स्पष्ट है कि अग्रेजी राज्य स्थापित होने से पूर्व इस पौधे का लगाया जाना यहाँ शुरू हो चुका था। अफीम देनेवाले अहिपुष्प के सम्पुटो के गुणो तथा उनके उपयोगो की जानकारी लोगो को ईसा सम्वत्सर के पहले से ही थी। डी कैन्डोल (De Candolle) के अनुसार सम्भवत वन्य-अवस्था मे पैदा होनेवाला पादप पैपेवर सेटिजेरम (*P setigerum*) की कृषि होने पर विकसित रूप मे इसका ही नाम पपेवर सॉम्निफेरम हो गया। अहिपुष्प की विभिन्न जातियो की कृषि शोभार्थ उद्यान-पादप के रूप मे की गयी है जिसका उल्लेख लेखको ने बहुत प्राचीन काल से कर रखा है। इसमे कोई सन्देह नही है कि इसके बीजो को खाद्य होने की मान्यता उससे बहुत पहले मिल चुकी थी जब कि इसके सम्पुट (डोडा या डोडी) को निद्रापक गुण की मान्यता दी गयी थी, और यह बात भी निश्चित है कि सम्पुटो के निद्रापक तथा स्वापक गुणो को लोग, इसके दुधिया रस के इन गुणो को जानने से पहले से ही जानते थे। निद्रापक भेषजो को बनाने मे मे अथवा उद्दीपक और शामक पेयो को बनाने मे इसके सम्पुटो का उपयोग चिरकाल से होता आ रहा है। वॉट के अनुसार पैपेवर सॉम्निफेरम अनेक शताब्दी पूर्व एशिया माइनर मे उसके सम्पुटो के लिए उगाया जाता था और अरब के लोग सूखे पोस्ते की डोडी को पूर्वी देशो मे लाये जिनमे चीन भी सम्मिलित है। ये लोग इसे उन देशो मे उस समय ले आये जब कि इसका फाणित रस (inspissated juice) निकाला भी नही गया था और उन प्रदेशो के वासियो को इसके गुणो का पता भी नही था। इस पादप के तथा इसकी डोडी के औषधीय गुणो का पता यूनान तथा रोम के आरम्भिक शास्त्रीय काल मे लग चुका था। अफीम के प्राचीनतम उल्लेखो मे एक उल्लेख थिओफ्रैस्टस (Theophrastus) के कालका लगता है जो ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आरम्भ मे पैदा हुआ था और जिसे सम्भवत पोस्ते के रस को तैयार करने की तथा उसके उपयोगो की जानकारी प्राप्त हो गयी थी। इसमें कोई सन्देह नही प्रतीत होता है कि इसके बीज और डोडी के गुणो का पता उससे पहले हो चुका था। मिस्रवासी प्रथम शताब्दी मे अहिपुष्प (Poppy) के सम्पुटो (डोडी) का उपयोग करते थे। चीन के प्रारम्भिक ग्रन्थो मे उल्लेख है कि अरब के लोग चीनो सौदागरो से पोस्ते की डोडियो का परस्पर विनिमय किया करते थे। जब उन्हे सम्पुट पहली बार देखने को मिला तो उसके पात्र-सदृश (urn-like) आकार तथा

बाजरा के समान बीजो के कारण उसका नाम मिनाग (minang) (बाजरा-पात्र) और यिंग्सु (जार-बाजरा) रखने का उन्हे सुझाव मिला। इस बात के अभिलेख मिलते हैं कि अरबवालो ने चीनियो को इन सम्पुटो से स्वापक पेय तथा औषधि बनाने का अनुदेश दिया था, जब कि चीनी अफीम के गुणो के बारे मे कुछ नहीं जानते थे। इसमे कोई सन्देह नही प्रतीत होता है कि ya-pien (ओपियम) शब्द मिनाग (minang) शब्द के बाद व्युत्पन्न हुआ।

इस तरह से यह प्रकट होता है कि पोस्ते के सम्पुटो ने अफीम की जानकारी होने के पहले ही मानव जाति का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। इसमे आश्चर्य नही कि चिकित्सको को इसके स्वापक और शामक गुणो की जानकारी हो जाने के बाद जनसाधारण को इस वस्तु का पता चला जिसने इसका उपयोग उस विश्वव्यापी इच्छा की पूर्ति के प्रयोजनो के लिए किया जो मानव मात्र में उद्दीपक या शामक पदार्थ पाने के लिए पायी जाती है।

पोस्ते के सम्पुटो का औषधीय उपयोग

पोस्ते के सम्पुटो (डोडो) का उपयोग आजकल साधारणत औषधियो मे नही किया जाता है किन्तु इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि यूनान तथा रोम के आरम्भिक शास्त्रीय काल मे लोग औषधीय प्रयोजनो के लिए इनको काम मे लाते थे और मिस्रवासी भी बाद वाले राजवशो के राज्यकाल मे इनको काम मे लाते थे। हिन्दू तथा मुस्लिम चिकित्सा में बाह्य तथा आन्तरिक उपयोग के लिए शामक के रूप मे इन सम्पुटो का उपयोग शताब्दियो तक किया गया है। हकीम लोग सिरदर्द, अतिसार, पेचिश तथा बच्चो की पाचन सम्बन्धी बीमारियो मे इसको दिया करते थे। भारत के कई भागो मे घरेलू औषधि के रूप मे इसका उपयोग किया जाता है और माताएँ दाँत निकलते समय बच्चो को शान्त रखने के लिए उन्हे इसे दिया करती है। पोस्ते के डोडो से तैयार किये हुए एक फाण्ट को हल्की चोट, शोथ और सूजे हुए भागो पर वेदनाहरण के लिए मला जाता है और कभी कभी अनेक प्रकार के कष्टप्रद नेत्ररलेष्मलार्ति मे नेत्र के चारो ओर लगाया जाता है और कर्णशोथ मे इसका सेक किया जाता है। चीन मे भी चिकित्सक लोग ईसा सम्वत्सर की आरम्भिक सदियो मे इसका निर्बाध उपयोग किया करते थे। सुग राजवश के समय के अनेक चिकित्सा विषयक लेखको ने और बाद के लेखको ने पोस्ते को डोडो के गुणो की अतिसार की चिकित्सा के लिए बडी प्रशसा की है, विशेषकर जब स्तम्भक (ग्राही) भेषजो के साथ मिलाकर इसे

दिया जाता है। चीनी लेखक वाग-शिह ने कहा है कि अतिसार में पोस्ते के सम्पुटो का प्रभाव बडा ही चमत्कारी होता है। डा० एडकिन्स के अनुसार सफेद और लाल दोनो तरह के पोस्तो का वर्णन और उपयोग चीनी चिकित्सा में, ११वी शताब्दी मे, अफीम की जानकारी होने के पहले, किया गया था। यूआन (Yuan) राजवश (१३वी शताब्दी) के एक चिकित्सक विषयक लेखक ने पोस्ते के सम्पुटो से बनी औषधियो को अतिसार के लिए बहुत ही प्रभावी बताया है।

पोस्ते के सम्पुटो (डोडो) का सुखाभास के लिए उपयोग —

यह सुविदित है कि उद्दीपक, प्रत्यास्थापक तथा शामक गुणवाली वस्तुओ के उपयोग का सम्बन्ध चिरन्तन काल से ही मानव जाति के प्राकृत इतिहास से रहा है। कोको, काफी, चाय, अफीम, ऐल्कोहॉल (मद्य) इत्यादि वस्तुओ का उपयोग, सुखानुभूति की वृद्धि के लिए उस समय से होता आ रहा है जब सभ्यता के इतिहास का आरम्भ भी नही हुआ था। ये सभी चीजें, साधारण मात्रा मे ली जायें तो ये मनुष्य की मन स्थिति पर एक अनुकूल प्रभाव डालती है। ये सभी वस्तुएँ सुख की चेतना या सुखभास में वृद्धि करती हैं। इस प्रयोजन के लिए पोस्ते के सम्पुटो का उपयोग बहुत पहले ही शुरू हो चुका था। उन देशो मे जहाँ इसका मूल उद्गम है, (जैसे एशिया माइनर) चाहे जो भी स्थिति रही हो, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि भारत मे पोस्ता का आगमन होते ही इसके डोडो का उपयोग सुखाभास के प्रयोजनो के लिए होना आरम्भ हो गया था। यह पादप 'कोकनार' के नाम से ज्ञात था। इसके सम्पुटो को 'गोजा', 'खोलये कोकनार' 'पोस्त-ये-कोकनार' या सिर्फ 'पोस्त' अथवा 'पोस्तडोडा' कहते थे। मुगलो के काल मे पोस्ते की डोडियो से बने एक पेय का, जिसे 'कुकनार' कहते थे, देशभर मे साधारणत व्यवहार मे लाया जाता था। अबुलफजल ने अपनी आईने अकबरी मे स्वय सम्राट द्वारा इसके पिये जाने का उल्लेख किया है। वह लिखता है—'जब भी शहशाह की इच्छा शराब पीने की अथवा अफीम या कुकनार लेने को होती थी तो उनके सामने फल की बडी बडी तश्तरियाँ रख दी जाती थी।' उपरोक्त वाक्य मे अफीम के अतिरिक्त 'कुकनार' शब्द का जो प्रयोग हुआ है इससे यह प्रकट होता है कि पोस्ते के सम्पुटो का तथा अफीम के फाणित रस (inspissated juice) का दोनों ही चीजो का उपयोग होता था। वॉट के अनुसार 'पोस्त' नामक जिस पेय का उपयोग आजकल पजाब मे होता है वह 'कुकनार' से बहुत कुछ मिलता-जुलता है जो अकबर के काल मे मुसलमानो मे एक विलास-वस्तु समझा जाता था। 'चार-बुघ्रा' (Char-bughra) नामक एक और पेय का भी उल्लेख आया है जो शराब, भाग

(हेम्प) अफीम और पोस्ते के सम्पुटो का एक सम्मिश्रण होता था। मुगल साहित्य मे आगे अन्य कई उल्लेख यह बताते है कि सोलहवी शताब्दी मे और उसके बाद के काल मे 'पोस्त' या 'कुकनार' पीने की आदत भारतीयो मे किस सीमा तक पहुँच गयी थी। बटाविया के सम्बन्ध मे लिखते हुए (१६५८ ई०) बॉन्टियस ने भारतीयो को 'पोस्ती' और 'अफयूनी' इन दो वर्गो मे बाँटा है। 'पोस्ती' वे थे जो अहिपुष्प के सम्पुटो को खाते और 'अफयूनी' वे थे जो अफीम खाते थे। १७वी और १८ वी शताब्दी मे पोस्ता का उपयोग बहुत व्यापक हो गया था जैसा कि तत्कालीन लेखको के कथनो से प्रत्यक्ष है। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि पोस्ता की डोडी का उपयोग सुखाभास के लिए बहुत व्यापक होगया था। पजाब के इतिहास मे सिक्खो के शासन काल मे 'पोस्त' पीने के कई उल्लेख आये हैं, किन्तु उनसे यह ठीक-ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता है कि लोगो मे 'पोस्त' पीने की आदत किस सीमा तक पहुँची हुई थी। पोस्त की खेती पर नियन्त्रण लागू हो जाने पर इसका प्रलोभन किसानो के मन से नि सदेह हट गया था जिससे इसके पीने की आदत निश्चय ही कम हो गयी है। अब भारत मे पोस्ते की डोडी मुश्किल से मिलती है और भारत के बहुत भागो मे 'पोस्त' या 'कुकनार' पेय को लोग नही जानते है और ऐसे मालूम होता है कि इसका स्थान अफीम ने ले लिया है। इस तरह से पोस्ते की ढोडी या 'पोस्त' का व्यवहार देश में असामान्य बात हो गयी है। पजाब के कुछ जिलो मे, विशेषकर जलधर और होशियारपुर मे तथा राजस्थान और मध्यभारत के कुछ जिलो मे लोगो को अभी भी इसके प्रति आसक्ति है।

मघटन —

जब ये डोडियाँ पकी नही होती, तो इनसे अफीम मिलती है। पक जाने पर और सूख जाने पर इनमे ऐल्केलॉयडो की लघुमात्रा रह जाता है और इसलिए इनका स्वापक गुण, मद पड जाता है। बिना बीजवाले सम्पुटो मे मार्फीन की मात्रा मे बहुत अन्तर रहा करता है, अधिकतम मात्रा ० ५ प्रतिशत तक मिली है। कच्ची डोडियो मे (बिना बीजवाली मे अगस्त महीने मे) ०.०५०—० ०२० प्रतिशत मॉर्फीन तथा ० ०११३ मे ० ०११६ प्रतिशत नार्कोटीन और कोडीन मिले है। पकी हुई डोडियो मे मे (बिना बीजवाली मे सितम्बर महीने मे) ० ०१७ प्रतिशत मॉर्फीन तथा ० ०२८ प्रतिशत नार्कोटीन और कोडीन मिला था। यहाँ की अविद्ध डोडियो मे ऐल्केलायड की कुल मात्रा ० ४ से ० ६ प्रतिशत तथा विद्ध ढोडियो मे ०.१५ से ० २२ प्रतिशत मिली थी। पैपेवर साम्निफेरम के बीजो मे कर्बोश ने नार्कोटीन तथा

अक्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड के सूक्ष्म अश विद्यमान पाये थे, किन्तु मुलर द्वारा बीजो का परीक्षण करने पर कुछ भी ऐल्केलॉयड नही प्राप्त हुआ।

अफीम —

पैंपेवर सॉम्निफेरम की कच्ची डोडियो (सम्पुटो) को वेधने (हल्का चीरने) से जो दुधिया निस्राव निकलता है, हवा मे सूखने पर वही अफीम कहलाता है। मानक अफीम मे स्वाभाविक आर्द्रस्थिति मे निर्जल मॉर्फीन की मात्रा ९.५ प्रतिशत से कम नही होती, पर यह मात्रा २० से २२ प्रतिशत तक हो सकती है।

भारतीय उत्पाद-वस्तु के रूप मे अफीम- का जो प्राचीनतम उल्लेख मिलता है वह मलवार तट के वर्णन के प्रसग मे यहाँ आये यात्री वारबोसा ने (१५११ ई० मे) किया है तथा पुर्तगाली इतिहासज्ञ पाइरेस ने पुर्तगाल के राजा मैनुएल को १५१६ ई० मे लिखे अपने पत्र मे बगाल और मिश्र की अफीम का उल्लेख किया है। पोस्ता की खेती तथा अफीम खाने और उसका धूम्रपान करने के इतिहास का बडा ही उत्कृष्ट वर्णन वाट ने अपनी पुस्तक "डिक्शनरी आफ दि इकॉनामिक प्रोडक्ट ऑफ-इण्डिया" मे किया है। इस लेखक ने पोस्ता के इतिहास की खोज उस समय से आरम्भ की है जब यूनान और रोम मे यह पौधा उद्यान-पादप के रूप मे लगाया जाता था और इसके औषधीय गुणो का वहाँ वालो को पता भी नही था। इसने लिखा है कि झीलो में आवास करने वाले प्रस्तर युग के स्विस लोगो ने एक तरह के पोस्तो की खेती शुरू की थी जो पैंपेवर सेटिजेरम से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अंगर (Unger) के अनुसधान (१८५७) ई० यह दिखाने मे असफल रहे है कि प्राचीन मिश्रवासी पोस्ता-रस के गुणो से अवगत थे और न मिश्र के साहित्य मे ही अफीम का कोई उल्लेख मिलता है। सम्भव यह प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम यूनान वालो ने अफीम का पता लगाया। 'तालमड' मे जो 'ऑफिऑन' (Ophion) शब्द आया है, वह स्पष्टत यूनानवालो से लिया हुआ है और अरबी शब्द 'अफ्यून' भी वही से आया है। पोस्ता का मूल उद्गम-स्थान सम्भवत एशिया माइनर था और वहाँ से यह यूनान पहुँचा। होमर (Homer) और लिवी (Livy) इस पौधे के औषधीय गुणो को जानते थे और डायोस्कोराइडेस (Dioscorides) ने, जो ईसा पूर्व पहली शताब्दी मे थे, अफीम के निस्सारण का वर्णन विस्तार के साथ किया है। ईसा सवत्सर के आरम्भ होते समय तक अफीम की तथा इसके गुणो की जानकारी सर्वत्र हो चुकी थी। उन दिनो अफीम मुख्यत एशिया माइनर मे पैदा की जाती थी और इसकी कृषि एक बडे उद्योग के रूप मे विकसित हो गयी थी। यायावर

(nomadic) अरव व्यापारियो का ध्यान इसकी ओर गया जिन्होने इस भेषज को पूर्व के विभिन्न देशो मे, जिनमे भारत और चीन भी सम्मिलित हैं, पहुँचाया और इसकी जानकारी फैलायी। ये लोग इसके बुरे प्रभाव के रहस्य को जानते थे और उन्होने इसके व्यसन को एशिया के सुदूरवर्ती स्थानो तक पहुँचा दिया। ऐतिहासिक अभिलेखो के साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ७६३ ई० से पूर्व चीन के लोगो को अफीम की जानकारी नही थी और इस बात का साक्ष्य मिलता है कि १३ वी शताब्दी मे यह भेषज उस देश मे लाया गया। चीन के प्राचीन ग्रन्थो मे यह उल्लेख मिलता है कि अरव वाले पोस्ते की डोडियाँ देकर वदले मे अन्य वाणिज्यक वस्तुएँ लिया करते थे और यह स्पष्ट है कि इसका चीनी नाम 'या-पिन' (Ya-pin) अरवी नाम 'अफ्यून' (Af-yun) से लिया गया है।

अफीम के भारत मे आने का इतिहास चीन मे उसके प्रवेश के इतिहास से कुछ कम निश्चयात्मक है। इस बात के कुछ साक्ष्य प्रस्तुत किये गये है कि ९ वी शताब्दी के द्वितीयार्ध में भारत मे लोग अफीम को जान गये थे और १५ वी शताब्दी मे तो निश्चित रूप से यहाँ इसकी जानकारी लोगो को हो चुकी थी। जब पुर्तगाल के लोग पहली बार १४९८ ई० मे कोचीन आये तो अफीम उनकी एक वाणिज्यिक वस्तु थी जिसे वे अरव देश से कालीकट तथा अन्य स्थानो को लाये। १५ वी शताब्दी के अन्त मे उन लोगो ने यहाँ वस्तुत पोस्ते की खेती आरम्भ कर दी थी। प्रोफेसर ब्लूमफील्ड के अनुसार सस्कृत साहित्य मे अफीम शब्द का कोई समानार्थक शब्द मिलता ही नही है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अफीम भारत की देशीय वस्तु नही है। मुसलमानो के विजय काल से खसखस (poppy seeds) या खसखस रस (पोस्ते का रस) शब्द सस्कृत साहित्य मे आने लगा है और भारत मे जो भी इसके नाम हैं वे (सस्कृत मे अहिफेन और हिन्दी मे अफीम) अरवी शब्द 'अफ्यून' से आये हैं। अग्रेजी का 'ओपियम' (opium) शब्द भी इसी से निकला है। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि इसे मुसलमान ही यहाँ लाये थे।

देशी चिकित्सा-पद्धति मे अफीम

हिन्दुओ की चिकित्सा के प्राचीन ग्रन्थो मे पोस्ता या उसके उत्पादो का कोई उल्लेख नही मिलता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा मे अफीम का व्यवहार कब से आरम्भ हुआ, इसका ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। चक्रदत्त, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट आदि प्राचीन ग्रन्थो मे अफीम का कोई उल्लेख नही मिलता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इनमे अन्तिम ग्रन्थ ६ ठी शताब्दी मे लिखा गया था। चक्रदत्त ११ वी शताब्दी

मे लिखा गया था, किन्तु उसके रचयिता तथा टीकाकर ने इस ग्रन्थ मे अफीम का कोई उल्लेख नही किया है। यह अवश्य कहा जाता है कि मलावार के निवासी नारायन द्वारा विष-विज्ञान पर लगभग ८६२ ई० मे लिखे गये एक ग्रन्थ मे, मूषक-विष की चिकित्सा मे अफीम के उपयोग का उल्लेख आया है। वाद के ग्रन्थो में जैसे—शार्ङ्गधर (१४ वी शताब्दी) तथा भावप्रकाश (१६ वी शताब्दी) मे अफीम का अबाध रूप से उल्लेख आया है और कई औषधियो मे इसके उपयोग का विधान किया गया है। इसलिए यह सम्भव है कि मुसलमानो की विजय के साथ-साथ या उससे कुछ ही पहले अफीम भारत मे आयी हो। इस समय आयुर्वेदिक औषधियो मे अफीम का बहुत अधिक उपयोग नही किया जाता है, प्रवाहिका (diarrhoea) तथा अतिसार (पेचिश) (dysentry) मे ही इसे दिया जाता है और वह भी कतिपय दशाओ मे ही। कहा जाता है कि 'यह त्रिदोषज विकारो को ठीक करती है, शुक्र एव पेशी शक्तियो को बढाती है तथा मष्तिक में स्वापकता पैदा करती है।" आश्चर्य की बात यह है कि हिन्दू चिकित्सको ने अफीम के वेदना-शामक गुणो का उपयोग नही किया।

यूनानी चिकित्सा-पद्धति में अफीम को सवेदनाहारी (anaesthetic) बताया गया है और शताब्दियो पूर्व इसके वेदना-शामक गुणो की जानकारी उन लोगो को हो गयी थी। आधासीसी (Hemicrania), जोडो के दर्द, कटिवेदना (लम्वेगो) इत्यादि मे अफीम दी जाती थी और न केवल इसका आभ्यतरिक उपयोग किया जाता था बल्कि लेप के रूप मे इसका वाह्य प्रयोग भी किया जाता था। पेचिश तथा प्रवाहिका मे इसका उपयोग किया जाता था। जहाँ तक मस्तिष्क पर इसके प्रभाव का सम्बन्ध है, इस बात को लोग अच्छी तरह जानते थे कि सर्व प्रथम यह उद्दीपन करके आनन्द एव तृप्ति की भावना उत्पन्न करती है, शारीरिक ओज बढाती है और उष्णता की अनुभूति पैदा करती है। इसके ये गुण ही इसके सेवन की आदत डालते है। अफीम के स्वापक गुणो को तथा श्वसन-मार्ग पर इसका जो शामक प्रभाव पडता है, उसको लोग अच्छी तरह जानते थे और उग्र खाँसी, दमा तथा हिचकी मे इसका बहुत उपयोग किया जाता था। मुस्लिम चिकित्सक वाजीकर के रूप मे भी इसके सेवन की सलाह देते थे क्योकि ऐसा विश्वास था कि उससे मैथुन के समय वीर्य-पात विलम्ब से होता है। इस समय अफीम को और औषधियो के साथ मिलाकर मधुमेह की चिकित्सा के लिए उपयोग मे लाया जाता है। इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक के अनुसधानो से यह पता चलता है कि देशीय चिकित्सा-पद्धति में इसके सेवन की सलाह बहुत सीमित

रूप से ही दी जाती है। ऐसा नही है जैसा कि साधारणत विश्वास किया जाता है कि वैद्य और हकीम लोग इसका अवाध उपयोग करते है। वे ऐसा इसलिए करते हैं ताकि साधारण लोग इसका सेवन न करने लगे।

भारत मे अफीम का उत्पादन

समशीतोष्ण और उपोष्ण जलवायु वाले प्रदेश मे, जहाँ वृष्टि बहुत अधिक न होती हो, पोस्ता उगाया जा सकता है। उपोष्ण प्रदेशो की अपेक्षा समशीतोष्ण प्रदेशो मे इसकी पैदावार कम होती है। भारत मे १५वी शताब्दी मे पोस्ते की खेती का जो प्रथम अभिलेख मिलता है उसमे कैम्बे और मालवा मे इसके पैदा किये जाने का उल्लेख है। इस देश मे इसका आगमन होने के वाद ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे इसकी खेती समुद्र-तटवर्ती क्षेत्रो में शुरू की गयी और वाद मे धीरे-धीरे प्रायद्वीप के आभ्यन्तरिक भागो में इसकी कृषि का प्रसार होता गया। पोस्ता के श्वेत वैराइटी की खेती यहाँ अधिकतर की जाती थी और अब भी की जाती है, यद्यपि इससे न्यूनतम मात्रा मे मॉर्फीन मिलती है, और गुलावी वैराइटी से अधिकतम मॉर्फीन मिलती है (श्वेत की अपेक्षा तीन गुना अधिक) और लाल वैराइटी का स्थान इन दोनो के बीच का है। इसका कारण यह है कि श्वेत वैराइटी यहाँ की जलवायु के सर्वाधिक अनुकूल पडती है और देश के किसी भी भाग में पैदा की जा सकती है। गुलावी वैराइटी राजस्थान तथा मध्य भारत मे खूब उगती है और काले वीज की लाल पुष्प वाली वैराइटी की खेती हिमालय के प्रदेशो मे की जाती है।

मुगल-काल मे पोस्ते की खेती इतने विस्तृत पैमाने पर की जाती थी कि अफीम चीन तथा अन्य पूर्वी देशो के साथ व्यापार की एक महत्वपूर्ण वस्तु वन गयी थी। मालवा की अफीम देश की उस भाग की विशेषता वन गयी थी। अकवर के शासन काल मे राजस्व के साधन के रूप मे इसका महत्त्व पहली बार समझा गया था और अकवर ने ही इसे राज्य के एकाधिकार की वस्तु वना दी थी। 'आइने-अकवरी' मे अबुल-फजल ने लिखा है कि पोस्ते की खेती फतेहपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर मे होती थी, विशेषकर उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रो में यह पैदा किया जाता था। उस समय विहार मे इसकी खेती नही होती थी, किन्तु आगे चलकर इस राज्य ने वडी मात्रा मे अफीम का उत्पादन शुरू कर दिया और इसकी खेती देश के अन्य भागो मे भी फैल गयी। रॉक्सवर्ग, ईलियट तथा एसली ने दक्षिण भारत मे इसकी खेती का कोई उल्लेख नही किया है, किन्तु यह सम्भव प्रतीत होता है कि देश के उस भाग मे भी इसकी खेती होती थी। इसमे कोई सन्देह नही कि मुगलो

के शासनकाल मे इसकी विस्तृत खेती की जाती थी, न केवल बगाल मे वल्कि उडीसा मे भी। मुगल साम्राज्य का पतन होने के वाद, इसके उत्पादन पर जो राज्य का एकाधिकार तथा नियन्त्रण था वह समाप्त हो गया और पटना के व्यापारियो के एक दल ने इसकी बिक्री के काम को अपने हाथ मे ले लिया। १७५७ ई० मे पोस्ते की खेती का एकाधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ मे चला गया जिसने उस समय तक बगाल तथा बिहार से माल-गुजारी इकट्ठा करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था। जव वारेन हेस्टिंग्स गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसने अफीम के सारे व्यापार को शासन के नियन्त्रणाधीन कर दिया। इसके उत्पादन, वितरण तथा बिक्री के नियत्रण की प्रणालियो मे कई बार परिवर्तन किये गये, किन्तु तब से इस पर एकमात्र शासन का ही एकाधिकार रहा है और समस्त देशवासियो के हित के लिए इस पर कठोर नियत्रण चला आ रहा है। ईस्ट इण्डया कम्पनी के शासन मे और बाद मे सम्राट के शासन मे पोस्ता की सामान्य कृषि का और अफीम के उत्पादन का निषेध कर दिया गया था। इसकी खेती और उत्पादन को तीन केन्द्रो तक सीमित कर दिया गया था। (१) पटना या बगाल की अफीम जो विहार और बगाल मे बोये गये पोस्ते मे प्राप्त होती थी, (२) वनारस की अफीम जो उत्तर प्रदेश से प्राप्त होती थी और (३) मालवा अफीम जो राजस्थान, ग्वालियर, भोपाल, वडौदा आदि के विस्तृत क्षेत्रो मे पैदा होने वाले पोस्ते से प्राप्त की जाती थी।

इधर हाल के वर्षों मे पोस्ते की प्राय. सम्पूर्ण कृषि उत्तर प्रदेश तक सीमित कर दी गयी है। पोस्ता के पौधे को उगाने की आज्ञा एक लिखित अनुज्ञप्ति (लाइसेन्स) के द्वारा प्राप्त की जाती है और समस्त उत्पाद को सरकार खरीद लेती है। कुछ अफीम पजाब मे भी पैदा की जाती थी जो मुख्यत राज्य की आन्तरिक खपत के लिए होती थी किन्तु अव वहाँ इसकी पैदावार प्राय वन्द कर दी गयी है। पोस्ते की खेती प्राय समूचे हिमालय मे विशेष कर शिमला की पहाडियो मे की जाती थी पर बहुत कम मात्रा मे और प्राय स्थानीय उपभोग के लिए ही। यहाँ की अफीम के उत्पाद की भी वडी सावधानी से निगरानी की जा रही है। पोस्ते की कृषि को नियन्त्रित करने का परिणाम यह हुआ है कि न केवल अफीम की उपज ही कम हो गयी है वल्कि इसके किसानो को जो प्रलोभन था वह भी जाता रहा है और देहाती क्षेत्रो मे इसके सेवन का व्यसन काफी कम हो गया है। इसी कारण इसके व्यसन का स्वरुप भी वदल गया है। ऐतिहासिक अभिलेखो से यह स्पष्ट है कि पोस्ते की डोडियो से और पौधे से 'पोस्त' या 'कुकनार नामक एक पेय वनता था जिसका मुगल-काल मे समस्त देश मे अत्यधिक सेवन होता था। अव यह पेय प्राय उठ गया है।

पोस्ते की कृषि मे ह्रास

हाल के वर्षों मे पोस्ते की कृषि वहुत कम हो गयी है, इस वात को उपलब्ध आकडो से सिद्ध किया जा सकता है। वाट ने १८८१ ई० मे इस सम्वन्ध मे जो आंकडे सकलित किये थे उनके अनुसार ब्रिटिश-भारत मे पोस्ते की खेती का कुल क्षेत्र १० लाख एकड से ज्यादा नही था और उनका यह अनुमान रहा कि तीस वर्ष पहले से इसकी कृषि इतने ही क्षेत्र तक वनी रही है। प्रति एकड अफीम का उत्पादन १५ से २० पौण्ड था। इसका अधिकाश भाग निर्यात होता था और थोडी मात्रा यह देश मे उपभोग के लिए रख ली जाती थी। तव से इसकी कृषि मे कमी ही होती गयी है और यह कमी विशेपकर गत दशाब्दियो से वहुत स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है।

निम्नलिखित विवरण से यह ज्ञात होगा कि गत कई दशाब्दियो मे पोस्ते की खेती और इसका उत्पादन उसके आधे से भी कम रह गया है जितना कि यह १९२० ई० मे था।

	पोस्ते की कृषि का क्षेत्रफल	अफीम का उत्पादन
१८८१ ई०	५३६,२८२ एकड	७,८००,५२१ पौण्ड
१९२० ई०	१५४,६२१ ,,	१,८७०,४३६ ,,
१९२१ ई०	११६,०५५ ,,	१,१७९,९७७ ,,
१९२२ ई०	११७,९३२ ,,	१,५१८,८२८ ,,
१९२७ ई०	५२,२७९ ,,	८८५,६४१ ,,

अफीम के निर्यात तथा आन्तरिक खपत दोनो मे ही कमी आ गयी है। निर्यात सम्वन्धी विवरण से पता चलता है कि इसके निर्यात मे काफी कमी आ गयी है। जब १९००-०१ ई० मे इसका निर्यात ६९७०८ पेटियो का था, १९१९-२० ई० मे गिर कर यह १०५०९ रह गया और वाद के वर्षो मे इसके निर्यात मे और भी गिरावट आ गयी। (निर्यात की एक पेटी मे १६० पौण्ड अफीम रहती है)। नवीनतम सूचनाओ के अनुसार १९५२-५३ ई० मे (अर्थात १ अक्टूवर १९५२ से ३० सितम्वर १९५३ ई० तक) ८३ ६२६ एकड भूमि मे पोस्ते की कृषि की गयी थी। इतना क्षेत्र तो देश की कृषि योग्य भूमि का एक नगण्य अश है अर्थात १/५००० से ज्यादा नहीं है। पोस्ते की कृषि के लिए क्षेत्र का चुनाव करने मे भारत सरकार का आवकारी (एक्साइज) विभाग, राज्य सरकारो से परामर्श करता है क्योकि

पोस्ते की कृषि, उसका उत्पादन तथा संग्रहण का कार्य केन्द्रीय एक्साइज विभाग के अधीन है।

आंकड़ों के अनुसार १९४८-५२ ई० तक के वर्षों की अवधि में विश्व के विभिन्न देशों द्वारा जितनी अपरिष्कृत अफीम पैदा की गयी थी उसके आँकड़े नीचे दिये गये हैं। यह जानकारी १९२५ ई० के गवर्नमेन्ट कन्वेंशन के निर्णय के अनुसार स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड* को दी गयी थी।

देश	१९४८ ई० टनों में	१९४९ ई० टनों में	१९५० ई० टनों में	१९५१ ई० टनों में	१९५२ ई० टनों में
टर्की	३८०.७	१०.४	१८४.८	३५७.८	४६३.६
भारत	३८२.२	२२०.०	२३०.७	५२६.७	३४९.८
ईरान	२१.३	१९९.७	४८०.९	३२.२	१३०.६
रूस	७५.०	७६.०	८५.७	९३.८	१०४.३
युगोस्लाविया	२१.५	०.५	१९.२	२२.०	१२.१
बुल्गारिया	४.४	०.७	१.०	०.९	६.७
अन्य देश	०.१	—	०.५	—	—
कुल जोड़	८४४.४	५०७.३	१००२.८	१०३३.४	१०६७.०

रासायनिक संघटन

अफीम के उत्पादन-स्थान एवं निर्माण-विधि के अनुसार इसके स्वरूप, संघटन एवं गुण में अन्तर रहता है। यह विश्व के कई भागों में, विशेषकर टर्की, एशिया माइनर, ईरान, भारत, चीन, मिस्र और दक्षिणी पूर्वी यूरोप में पैदा की जाती है। लगभग उन २५ ऐल्केलॉयडों के अतिरिक्त (जो नीचे दिये गये हैं) अफीम में ऐसीटिक, लैक्टिक, सलफ्यूरिक और मेकोनिक अम्ल, गोंद तथा पेक्टिन युक्त पदार्थ, अल्बूमिन, मोम, वसा, कौटचूक (coutchouc), राल और अनेक प्रकार के अन्य उदासीन पदार्थ जैसे मेकोनिन, मेकोनॉयसिन आदि भी रहते हैं।

अफीम में अबतक जो ऐल्केलॉयड और उनकी मात्राएँ पायी गयी हैं, वे पृष्ठ ३३५ पर दी गयी हैं :—

---

* राष्ट्र-संघ, जेनेवा, १९५३ ई० के अन्तर्गत 'इकॉनॉमिक ऐन्ड सोशल काउन्सिल ऑन स्टैटिस्टिक्स ऑफ नार्कोटिक्स' को १९५२ ई० के लिये भेजी गयी रिपोर्ट तथा बोर्ड के १९५३ ई० का कार्य विवरण।

ज्ञात ऐल्केलॉयड	प्रतिशत
* मॉर्फीन	९
* कोडीन	० ३
निक्षोपीन	—
* थीवेन	० ४
पॉर्फिरॉक्सीन	—
मेकोनिडीन	—
* पैपावैरीन	० ८
स्यूडोपैपावैरीन	—
कोडामीन	०.००२
* लाउडामीन	०.०१
लाउडानोसीन	० ०००८
नैन्योपीन	० ००६
क्रिप्टोपीन	०.०८
पैपावेरामीन	—
* नार्कोटीन	५ ०
ग्नॉस्कोपीन	० २
स्यूडोमॉर्फीन	० ०२
ट्रिटोपीन	० ००१५
हाइड्रोकोटार्नीन	—

अफीम के प्रमुख ऐल्केलॉयडो के सम्बन्ध में कुछ तथ्य निम्नलिखित विवरण में दिये गये हैं।

एल्केलॉयड	सूत्र	अन्वेषक	समय	गुण
मॉर्फीन	$C_{17}H_{19}O_3N$	सर्टर्नर	१८०६ ई०	तीव्र क्षारक जो लिटमस पर क्षारीय है और अत्यधिक विषैले हैं।
कोडीन	$C_{18}H_{21}O_3N$	रॉबीक	१८३२ ई०	
थीवेन	$C_{19}H_{21}O_3N$	पैलेटियर	१८३५ ई०	
नार्कोटीन	$C_{22}H_{23}O_7H$	डेरोस्ने	१८०३ ई०	मन्द क्षारक जो बहुत कम विषैले है।
नार्सीन	$C_{18}H_{27}O_8N$	पेलेटीयर	१८३२ ई०	
पैपावैरीन	$C_{20}H_{21}O_4N$	मर्क	१८४८ ई०	

अफीम के एल्केलॉयडो को दो वर्गों मे विभक्त किया गया है। (१) फिनैन्थ्रीन-

* तारांकित ऐल्केलॉयड महत्त्वपूर्ण हैं।

पिरिडीन वर्ग–इसमें मॉर्फीन, कोडीन, स्यूडोमॉर्फीन, निओपीन और थीबेन होते है। (२) बेन्जिल—आइसोक्विनोलीन वर्ग—इसमे पैपावेरीन, नार्कोटीन और बचे हुए ऐल्केलॉयडो मे से अधिकाश रहते हैं। पहले वर्ग के ऐल्केलॉयड प्रबल क्षारक (बेस) हैं और बहुत ही विषालु होते है, किन्तु दूसरे वर्ग के ऐल्केलॉयडो का शरीर-क्रियात्मक प्रभाव नही के बराबर होता है। अफीम का मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसमे कितना मॉर्फीन है, क्योकि इसी का अफीम मे प्राचुर्य होता है और शरीरक्रियात्मक दृष्टि से यही सर्वाधिक सक्रिय ऐल्केलॉयड है। विभिन्न देशो के अफीमो के नमूनो में मॉर्फीन की मात्रा यह है —

टर्की —५ से १४ प्रतिशत; ईरान —६ से १४ प्रतिशत, मिस्र—० २८ से ८ प्रतिशत, भारत—३ से १५ प्रतिशत, चीन—१ ५ से १२ प्रतिशत, जापान—० ६ से १३ प्रतिशत, बोहिमिया—११-१२ प्रतिशत, तुर्किस्तान—५ से १८ प्रतिशत, आस्ट्रेलिया, ४'से ११ प्रतिशत।

भारतीय अफीम मे कौन-कौन से ऐल्केलॉयड कितनी मात्रा मे होते हैं, इसका पता निम्नलिखित आँकडो मे मिलेगा जो डनिक्लिफ ने (१९३७ ई०) दिये है।

मॉर्फीन	८ से २०	प्रतिशत
नार्कोटीन	५—७	"
कोडीन	१—४	"
पैपावेरीन	० ४—१ ०	"
नार्सीन	०·५—१·०	"

विभिन्न देशो की अफीमो मे न केवल मॉर्फीन और आर्द्रता की मात्रा की दृष्टि से विभिन्नता रहती है, बल्कि विभिन्न ऐल्केलायडो के अनुपात की दृष्टि से भी उनमे विभिन्नता होती है। उदाहरणार्थ भारतीय अफीम मे कोडीन प्रचुर मात्रा मे होती है। इसका विश्लेषण नीचे किया गया है।

किस्म	आर्द्रता की प्रतिशतता	निर्जल मॉर्फीन की प्रतिशतता	कोडीन की प्रतिशतता
टर्की की पुरानी किस्म की अफीम	१३·१—१९ ७	१० ७—११ ३	—
टर्की सरकार की एकाधिकारवाली अफीम	१४ ९—१६ ६	१२ ५—१३·०	० ५—२ ०
यूगोस्लाविया की अफीम	८·९—११ ५	१६ ७—१७ १	१ ०

भारतीय अफीम	११ १—१२ ९	९ ६—१० ५	४—५
ईरानी अफीम (लाल कागज मे ढकी)	—	१०·०९	२०—३ ७
ईरानी अफीम (पोस्ते की पत्ती से ढकी)	९ ६—१२·०	१२·२—१३ २,	—

भारतीय अफीम जो इग्लैण्ड को निर्यात की जाती है वह दो पौण्ड की वर्गाकार सिल्लियो (blocks) मे भेजी जाती है। हर सिल्ली पर दो परत सफेद कागज लिपटा रहता है जिस पर अफीम के तैलीय दाग पड जाते हैं। इन्हें डोरियो से बाँध कर पेटियो मे भर कर भेजा जाता है। एक पेटी मे ८० सिल्लियाँ रहती हैं। इसमे आर्द्रता की मात्रा लगभग ११ से १३ प्रतिशत होती है और मॉर्फीन की मात्रा—लगभग १० प्रतिशत होती है। भारतीय अफीम को सुखाकर चूर्ण वनाना वहुत मुश्किल होता है क्योकि यह तैलीय होती है। इसलिए चूर्ण वनाने के काम मे इसे नही लाया जाता, वल्कि ऐल्केलॉयड वनाने मे ही इसका प्रमुख उपयोग किया जाता है।

पहले ऐसा विश्वास था कि भारतीय अफीम मे जो मुख्यत धूम्रपान के प्रयोजनों के लिए काम मे लायी जाती थी, मॉर्फीन की मात्रा वहुत ही कम होती है और इसलिए औषधीय प्रयोजनो के लिए अनुपयुक्त होती है। औषधीय प्रयोजनो के लिए अफीम पैदा करने के विशेष प्रयास यहाँ १९१४ ई० से किये जा रहे है और तब से भारतीय अफीम मे मॉर्फीन मी मात्रा धीरे धीरे वढ गयी है। जहाँ तक इसके औषधीय महत्व का सम्वन्ध है, अव यह टर्की की अफीम का मुकावला कर सकती है। फिर अन्य देशो की अफीम की अपेक्षा यहाँ की अफीम मे कोडीन वहुत अधिक होती है, जो इसका अतिरिक्त गुण है। भारतीय तथा टर्की की अफीमो मे जो महत्वपूर्ण एल्केलॉयड है उनका अनुपात इस प्रकार है —

	भारतीय अफीम (औसत)	टर्की की अफीम (औसत)
मॉर्फीन	९ ५—१४·२ प्रतिशत	१०—१४ प्रतिशत
कोडीन	१·८—४ ,,	० २—३·२ ,,
नार्कोटीन	३·९—७ ६ ,,	४—११ ,,

भारत मे अफीम के उत्पादन पर वडा प्रभावशाली नियन्त्रण है। सरकार ने शुरू से ही यह अनुभव कर लिया है कि किसी क्षेत्र मे किसी भेषज की उपलब्धि से वहाँ वालो मे इसके सेवन का व्यसन पडता है। अफीम की खपत को घटाने के लिए पोस्ते

को कृषि पर नियत्रण रखना आवश्यक है, इस तथ्य को अधिकारियो ने पूरी तरह समझ लिया था, गवर्नर जनरल लार्ड रिपन ने वहुत दिन पहले भारत सचिव को एक पत्र भेजा था जिसमे उन्होने बताया था कि पोस्ते की अनियन्त्रित कृषि से जनता मे अफीम सेवन की आदत पडेगी। अफीम की खेती पर,१८५७ ई० मे ही इसके उत्पादन के विनियमन के लिए एक अधिनियम वनाकर, नियत्रण लगा दिया गया था। अब भी इसकी खेती का विनियमन १८५७ ई० के अधिनियम १३ (जिस रूप मे १९११ ई० के अधिनियम १ द्वारा यह सशोधित हुआ है) तथा १८७८ ई० के अधिनियम १ द्वारा होता है। इन अधिनियमो के आधीन पोस्ते की खेती भारत मे लाइसेन्स लेकर ही की जा सकता है। कुल कितने क्षेत्र मे पोस्ता बोया जाय इसका निश्चय सरकार हर साल करती है और लाइसेन्स मे यह विहित रहता है कि लाइसेन्सधारी ठीक कितनी खेती कर सकता है। पजाब मे कतिपय पहाडी इलाको को छोडकर, जहाँ लोगो को थोडी मात्रा मे पोस्ते की खेती करने की तथा सरकारी नियत्रण के अधीन लाइसेन्स प्राप्त विक्रेताओ को अफीम बेचने को अनुमति दी गयी थी, शेष स्थानो मे पोस्ते की खेती करने वाले कृषक के लिए आवश्यक है कि वह अपना समूचा उत्पाद निर्धारित दर पर सरकार को वेचे। अजमेर-मारवाड मे अफीम की खेती जनवरी १९२७ ई० से ही बन्द कर दी गयी है। उत्तर प्रदेश मे उसकी खेती अव एक सीमित क्षेत्र तक ही रह गयी है।

पोस्ता के बीज अक्टूबर और नवम्बर मे बोये जाते है। दिसम्बर के महीने मे अधिकारी इस बात की जाँच करते हैं कि कितने क्षेत्र मे इसकी खेती की गयी है और उसका अभिलेख रखते हैं। जनवरी से मार्च तक इसका रस इकट्ठा किया जाता है और अप्रैल से जून तक वह दे दिया जाता है। पौधे से निकाला गया समूचा रस सरकारी अफसरो को देना होता है।

अफीम के वितरण के सम्बन्ध मे ब्रिटिश-भारत सरकार की नीति हस्तक्षेप न करने की रही है जहाँ तक अपरिष्कृत अफीम को परिमित रूप से व्यवहार मे लाने की बात है, चाहे उपभोक्ता वास्तविक शारीरिक लाभ या केवल काल्पनिक लाभ के उद्देश्य से इसे लेता हो अथवा उद्दीपक और स्वापक पदार्थ लेने की जो मानवमात्र मे सर्वव्यापी इच्छा पायी जाती है उसकी तृप्ति के लिए लेता हो (विशेष कर वे लोग जिनका उद्यम ही ऐसा है कि शारीरिक श्रम करना पडता है और खुले मे रहना पडता है)। इसका परिमित उपयोग करने मे, सरकार की नीति हस्तक्षेप न करने की रही है। सरकार की यह इच्छा अवश्य है और हमेशा रही है कि इसके अत्यधिक सेवन को रोका जाय। अफीम के निर्माण, सधारण, परिवहन, आयात, निर्यात तथा उसको

बिक्री पर १८७८ ई० के अफीम अधिनियम के अधीन कठोर नियत्रण रखा जाता है। कोई व्यक्ति लाइसेन्स प्राप्त अफीम-विक्रेता से अथवा लाइसेन्स प्राप्त भेषज-विक्रेता से ही अफीम ले सकता है। खुदरा विक्रेता के पास पहुँचने तक की वितरण की प्रत्येक प्रावस्था पर परिवहन-परिपत्र की विस्तृत व्यवस्था करके, पूरा नियत्रण रखा गया है। खुदरा विक्रेता लाइसेन्स का दुरुपयोग न करने पाये इसके लिए बडी कठोर शर्तें रखी गयी हैं। किसी भी व्यक्ति को विक्रेता एकबार उससे ज्यादा अफीम नही दे सकता है जितना कि कानूनन वह रख सकता है। विक्रेता नगद बिक्री ही करेगा और उसी स्थान पर जहाँ के लिए उसे लाइसेन्स मिला है। वह उस स्थान पर किसी को अफीम खाने न देगा और अपनी बिक्री का दैनिक रजिस्टर रखेगा जिसे आवकारी इन्सपेक्टर किसी भी समय देख सकता है। जहाँ तक इसके निर्यात का सम्बन्ध है, चीनी सरकार के साथ हुए करार के परिणामस्वरूप भारत सरकार ने १९०८ ई० से ही कलकत्ते मे निर्यात के लिए होने वाली इसकी बिक्री को धीरे-धीरे कम कर दिया है। १९१३ ई० से भारत सरकार ने अफीम को चीन भेजने की पाबन्दी का दृढ़ता से पालन किया है। हेग सम्मेलन (१९१२ ई०) के निश्चित उपबन्धो मे एक उपबन्ध का—अर्थात इस उपबन्ध का कि अपरिष्कृत अफीम उन देशो को न निर्यात की जायगी जो इसका निर्यात बन्द करना चाहते हैं—भारत सरकार ने कठोरता के साथ पालन किया है। १९१५ ई० से भारत सरकार की यह नीति भी रही है कि उन देशों को

के लिए जो (हेग-सम्मेलन पर हस्ताक्षर करने के न

की तथा इसके आयात को वैध आवश्यकताओ तक।

हुए हैं सीधे वहाँ की सरकारो के साथ विक्रय करा

१९२३ ई० से राष्ट्र-सघ (लीग ऑफ नेशन्स

सिस्टम' भी अपना लिया गया है। १९२६ ई०

नीति शुरू की। ७ अप्रैल १९२६ ई०

दी गयी और उस तारीख से सुदूर पूर्व

साथ सीधा करार करके ही, अफीम

आगे चलकर सरकार ने सुदूर पूर्व

दिसम्बर १९३१ ई० से औषधीय

शवल मे या पानी मे मिलाकर ली जाती है। आसाम तथा मध्य भारत को छोडकर और जगहो मे अब धूम्रपान के रूप मे अफीम का सेवन बहुत कम हो गया है। इस विषय पर अभी हाल के प्रकाशनो से ऐसा लगता है कि अफीम सेवन का व्यसन यहाँ व्यापक सा हो गया है, पर यह बात नही है। यहा की जनता मे यह व्यसन नही फैला है यद्यपि कतिपय क्षेत्र और कतिपय वर्ग ऐसे है जो इस व्यसन के शिकार से हो गये है किन्तु इनकी सख्या नगण्य है। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि भारत के अधिकाश भागो मे इसका उपभोग उस प्रमाण से बहुत कम है जो कि राष्ट्र-सघ ने जनसख्या के आधार पर औषधीय एव वैज्ञानिक प्रयोजनो के लिए विहित कर रखा है। प्रत्येक प्रान्त मे यत्र-तत्र कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहा इसकी खपत बहुत ज्यादा है। सम्बद्ध स्थानीय सरकारो द्वारा ऐसे क्षेत्रो की सावधानी से जाँच की जा रही है ताकि वहाँ अफीम के बढे हुए उपभोग के कारणो का पता लगाया जाय और उनको दूर किया जा सके। अफीम सेवन की आदत का प्रसार नहीं हो रहा है, बल्कि तथ्य यह है कि गत बीस वर्षों के अन्दर समस्त देश मे इस आदत मे आश्चर्यजनक कमी हुई है। बर्मा सहित ब्रिटिश भारत मे उपभोग के लिए दी गयी अफीम की मात्रा का एक विवरण नीचे दिया गया है। इस विवरण से आदत मे कमी आने की बात स्पष्ट हो जाती है :—

वर्ष	मात्रा
१९११-१२ ई०	१,०३१,२२७ पौण्ड
१९१९-२० ई०	८८५,७२१ ,,
१९२५-२६ ई०	६००,७८४ ,,

इधर कुछ अरसे से इसकी खपत और भी कम हो गयी है। इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने उस दिशा में जो कुछ कार्य किया है उससे पता चलता है कि इस कमी का कारण है अफीम के उत्पादन का कम होना तथा इसके मूल्य का बढना। अफीम सेवन की आदत और इसके प्रभाव के सम्बन्ध में अगर और जानकारी पानी हो तो पाठको को चाहिए कि वे इस वरिष्ठ लेखक तथा उसके सहयोगियो द्वारा प्रकाशित अनुसधान पत्रो को पढे।

रुधिर-शर्करा तथा ऐल्ब्युमिनमेह पर अफीम का प्रभाव

इस प्रचलित विश्वास को दृष्टि मे रखकर कि इस भेषज का शर्करा—मेह (ग्लाइकोसूरिया) मे बडा लाभप्रद प्रभाव पडता है। चोपडा और बोस ने मधुमेह के रोगियो तथा बिना मधुमेह वालो की रुधिर-शर्करा पर इसके प्रभावो की छानबीन

की (१९३१ ई०) । उन्होने यह बताया है कि रुधिर-शर्करा पर अल्प या अधिक मात्रा मे लेने से अफीम का कोई प्रभाव नही पडता है। चिकित्सको मे यह विश्वास बहुत प्रचलित है कि वृक्क रोग से पीडित लोगो को अफीम सह्य नही है। इस सम्बन्ध मे चोपडा तथा बोस ने यह भी कहा है कि अफीम की १ से ९ ग्रेन की दैनिक मात्रा का ऐल्ब्यूमिनमेह के रोगियो के ऐल्ब्युमिन-उत्सर्जन पर कोई हानिकर प्रभाव नही पडता है, वल्कि तथ्य यह है कि वहुधा ऐल्ब्युमिन का उत्सर्जन वहुत कम हो जाता है।

अफीम सेवन के व्यसन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

चोपडा तथा बोस ने अस्पताल के रोगियो को लेकर इस बात का सावधानी से अध्ययन किया है कि अफीम सेवन के व्यसन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव क्या पडता है। इन लोगो ने वताया कि अफीम के व्यसनियो मे इसका सेवन रोकने पर जो लक्षण पैदा होते हैं उनमे एक मनोवैज्ञानिक भावना रहती है जिसका आवश्यकता पडने पर उपशमन किया जा सकता है। जेल मे अपराधियो तथा युद्ध मे निरत व्यक्तियो पर अनुभव करके यह देखा गया है कि तत्काल अफीम का सेवन वन्द कर देने पर उनमें कोई खास असुविधा अथवा परिवर्जन-जन्य (withdrawal) लक्षण दृष्टिगोचर नही हुए। अफीम का व्यसन छुडाने के लिए चिकित्सा काल मे अफीम की जगह जेन्शियन या कुचला जैसे भेषजो की गोली वनाकर देने से इसके व्यसनियो को कोई असुविधा नही होती। इन लोगो ने वहुत से रोगियो पर अध्ययन करके यह पता लगाया है कि यदि रोगी को यह न मालूम होने दिया जाय कि उसे अफीम दी जा रही है तो चिकित्सीय प्रभाव के लिए हफ्तो और महीनो तक उसे अफीम दी जा सकती है, और जब चाहे अफीम वन्द की जा सकती है, परन्तु अफीम परिवर्जन-जन्य व्यथा के कोई लक्षण उसमें नही मिलेंगे। इसलिए चिकित्सको को चाहिये कि वे ऐसे रोगियो को जिनके लिए अफीम-युक्त भेपज देना आवश्यक है, बिना किसी सशय के इसे दें, किन्तु यह अवश्य ध्यान मे रखे कि रोगी को इसका पता न चलने पाये कि उसे अफीम-युक्त औषधि दी जा रही है।

नार्कोटीन

नार्कोटीन उन ऐल्केलॉयडो में से एक है जो अफीम पाये जाते है और परिमाण की दृष्टि से मॉर्फीन के वाद इसका ही स्थान आता है। वहुत सी अफीमो में आधा तत्त्व इसी का होता है। यद्यपि इस ऐल्केलॉयड को उसी समय अलग किया गया था जब मॉर्फीन को निकाला गया था, किन्तु आरम्भिक

शोधकर्ताओ ने इसकी ओर अधिक ध्यान नही दिया सम्भवत इसलिए कि यह मॉर्फीन की अपेक्षा कम सक्रिय होता है। इसके शोधकर्ता डिरोस्ने ने इसको अफीम का सक्रिय तत्त्व माना और इसी कारण इसका नाम नार्कोटीन पडा। बाद मे यह सुझाव दिया गया कि इसका नाम अनार्कोटीन रखना अधिक उपयुक्त होगा क्योकि इसमे स्वापक प्रभाव का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराने लेखको ने इस बात को समझ लिया था कि इस ऐल्केलॉयड मे स्वापक गुणो का अभाव है क्योकि माइग्रेन (migraine) की चिकित्सा में वेदनाहारी औषधि के रूप मे यदा-कदा उल्लेख के अतिरिक्त केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र पर इसके प्रभाव के सम्बन्ध में चिकित्सा-शास्त्र मे इसका कोई विशेष उल्लेख नही मिलता है। इसका एक अन्य चिकित्सीय उपयोग मलेरिया के इलाज में इसका दिया जाना था।

रसायन तथा भौतिक गुण

नार्कोटीन ($C_{22}H_{23}O_7N$) पादप में मुक्तरूप से विद्यमान रहता है। पोस्ते की सूखी डोडियो में यह काफी बडी मात्रा मे पाया जाता है। पोस्ते के अविद्ध सम्पुटो के विश्लेषण से यह पाया जाता है कि अफीम से मिलनेवाले कुल ऐल्केलॉयडो में ३० प्रतिशत नार्कोटीन होता है। एशिया माइनर की अफीम में यह ५ से ६ प्रतिशत तक होता है, किन्तु भारतीय अफीम मे इसकी मात्रा १० से १२ प्रतिशत तक होती है। नीचे के आँकडो से यह प्रकट होता है कि पटना या बिहार की अफीम मे नार्कोटीन की मात्रा मॉर्फीन की अपेक्षा लगभग दूनी होती है। मालवा की अफीम में नार्कोटीन की मात्रा मॉर्फीन की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। स्मर्ना की अफीम में मॉर्फीन की अपेक्षा नार्कोटीन एक चौथाई से कम होता है।

अफीम का विवरण	मॉर्फीन की प्रतिशतता	नार्कोटीन की प्रतिशतता
पटना की अफीम (बिहार प्रोविज़न की सिल्ली)	३ ९८	६ ३६
मालवा की अफीम	४ ६१	५ १४
स्मर्ना की अफीम	८ २७	१ ९४

अफीम में नार्कोटीन मुक्तावस्था मे विद्यमान रहता है, यद्यपि कुछ विशेषज्ञो का यह ख्याल है कि यह मेकोनेट के रूप मे विद्यमान रहता है। अन्य ऐल्केलॉयडो से इसे आसानी से अलग किया जा सकता है।

जब अफीम का जल के साथ निष्कर्षण किया जाता है तो मॉर्फीन विलयन मे चला जाता है किन्तु नार्कोटीन का अधिकाश भाग अविलेय रह जाता है। इस अवशेष को तनु हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ अभिक्रिया करने से ऐल्केलॉयड, हाइड्रोक्लोराइड के रूप मे अलग हो जाता है। इस लवण को इसके घोल से सोडियम बाईकार्बोनेट द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और फिर अवक्षेप (मुक्त बेस) को ऐल्कोहॉल द्वारा क्रिस्टलीकरण किया जाता है। नार्कोटीन को अलग करने का एक अन्य उपाय अफीम को ईथर मे उबालना भी है।

नार्कोटीन गधहीन और स्वादहीन, चमकदार प्रिज्मीय क्रिस्टल के रूप मे मिलता है जिसका गलनाक १७६° सें० होता है। यह जल मे अत्यल्प विलेय है—१५° सें० पर जल के २५००० भाग मे १ भाग, और १००° सें० पर ७००० भाग मे १ भाग। यह ऐल्कोहॉल, ईथर और बेजीन मे विलेय, तथा क्लोरोफार्म मे अत्यधिक विलेय और ऐमिल ऐल्कोहॉल एव लाइट पेट्रोलियम में अल्प विलेय है।

गुण-कर्म

नार्कोटीन अफीम का एक महत्त्वपूर्ण गौण ऐल्केलॉयड है, क्योकि यह औसतन अफीम का ५ से ६ प्रतिशत भाग होता है। मॉर्फीन और कोडीन के औद्योगिक निर्माण मे उपोत्पाद के रूप में यह बहुत बडी मात्रा मे मिलता है, परतु इसका अभी तक औषधि में कोई उपयोग नही किया गया है। शरीर मे जिस स्थान पर इन्जेक्शन दिया जाता है वहाँ से यह ऐल्केलायड तुरत अवशोषित हो जाता है। यह स्थानीय क्षोभ या ऊतक-क्षय नही पैदा करता, यह आन्त्र की क्रमाकुचक गति को निश्चित रूप से सन्दमित करता है। पेशी तन्तुओ पर अपना सीधा प्रभाव डालकर यह समस्त शरीर की अनैच्छिक पेशियो की, जैसे गर्भाशय, मूत्राशय, पित्ताशय आदि की पेशियो के तनाव को शिथिल करता है।

पशुओ मे नार्कोटीन का अन्त शिरा इन्जेक्शन देने से दैनिक रक्तदाब मे पहले गिरावट आती है और फिर रक्तदाब कुछ बढ जाता है। रक्तदाब मे गिरावट का कारण यह है कि वाहिका भित्ति के पेशी न्यास पर इसका सीधा प्रभाव पड़ने से रक्त वाहिकाओ का विस्फारण हो जाता है विशेष कर आशयिक (splanchnic) प्रदेश की रक्त वाहिकाओ का। बाद मे वृद्धि होने का कारण सम्भवत वाहिकाप्रेरक केन्द्र का प्रतिवर्त्त (reflex) उद्दीपन है जो रक्तदाब के गिरावट के प्रतिकार के लिए होता है। हृद्पेशीलेखी (myocardiograph) परीक्षणो मे अलिन्द एव निलय मे जो उद्दीपन दिखाई पडता है उसका कारण केवल वाहिकाप्रेरक उद्दीपन ही नही कहा जा सकता,

और यह इस बात के प्रमाण है कि हृद्जालिका (cardiac plexuses) की अनुकम्पी गण्डिका कोशिकाएँ (sympathetic ganglion cells) भी उद्दीप्त हो सकती हैं। द्रवनिवेशन (perfusion) सम्बन्धी परीक्षणों में जो हृद्-अवसाद दिखाई पड़ता है उसकी इन दोनों तथ्यों में पूर्णरूपेण पूर्ति हो जाती है। मार्फीन के विपरीत नार्कोटीन मेडुला के श्वसन केन्द्र को उद्दीप्त करता है। श्वसनिकाओं की अरेखित पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं। जो भी हो, इस भेषज का प्राणियों की सुषुम्ना पर मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। निश्चय ही यह मार्फीन एवं कोडीन के प्रभाव को बढ़ाता है। इसलिए इन ऐल्केलॉयडों की अत्यल्प मात्रा भी नार्कोटीन के साथ मिलाकर देने से प्रभावी हो जाता है। ऐच्छिक पेशियों पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता है। नार्कोटीन को चिकित्सीय मात्राओं में देने से स्रावों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, पर विषालु मात्राओं में देने से लालास्राव में विशिष्ट वृद्धि दिखाई देती है, किन्तु मूत्र, स्वेद आदि पर शायद ही कुछ प्रभाव पड़ता हो। नार्कोटीन अतिविषालु ऐल्केलॉयड नहीं है। इसकी अल्पतम घातक मात्रा प्रतिग्राम शरीर भार के हिसाब से मेढकों के लिए २ मि० ग्रा० होती है और बिल्लियों के लिए प्रतिकिलो शरीर भार के हिसाब से १.५ से २.० ग्राम होती है। इसकी बड़ी मात्राएँ जैसे १ से २ ग्राम की मात्रा, बिना कोई विशिष्ट विषालु प्रभाव के मानव को दी जा सकती है।

चिकित्सीय उपयोग

१८९५ ई० के अफीम आयोग की रिपोर्ट में यह कहा गया था कि भारत में अफीम सेवन की आदत निचले आर्द्र और मलेरिया ग्रस्त जिले के लोगों में अत्याधिक पायी जाती है और इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि अफीम मलेरिया-नाशक प्रभाव रखती है। डा० राबर्ट ने अपनी टिप्पणी में कहा है कि आर्द्र और मलेरिया-ग्रस्त जिलों में अफीम लाभप्रद होती है, यह विश्वास बहुत व्यापक रूप में फैला हुआ है। उनका कहना है कि इंग्लैण्ड के उन जिलों में जहाँ पहले दलदल था अफीम का उपभोग उन दिनों में बहुत होता था जब कि वहाँ जलोत्सारण ठीक नहीं था, और मलेरिया बहुत रहता था। अफीम आयोग के समक्ष आये हुए साक्ष्यों से पता चलता है कि भारत के कुछ जिलों में अफीम की खपत का सम्बन्ध मलेरिया के कम या अधिक होने के साथ था।

मलेरिया में अफीम

जहाँ तक मलेरिया पर अफीम के प्रभाव का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने यह पहले ही (१९२८ ई०) बता दिया है कि इस समय यह भेषज अपने

रोगनिरोधी (prophylactic) या रोगहर (curative) प्रभावो के लिए घरेलू औषधि के रूप मे अधिक व्यवहृत नही होता है। पजाब के निम्नक्षेत्रवाले कुछ जिलो मे तथा झेलम, चिनाब और सिन्धु नदियो के तटवर्ती स्थानो मे जलवायु बहुत आर्द्र है और वहाँ एक उग्र (virulent) किस्म का मलेरिया फैला होता है। उन क्षेत्रो मे प्लीहा सूचकाक (spleen index) बहुत ज्यादा होती है, किन्तु अफीम की खपत वहाँ बहुत कम होती है, जब कि अन्य कतिपय स्थानो मे जो इनसे ज्यादा शुष्क और स्वास्थ्यप्रद है, अफीम की खपत बहुत ज्यादा है। उन क्षेत्रो में सावधानी से पूछताछ की गयी पर इस पूछताछ से ऐसा नही मिला कि वहाँ के शहरी या देहाती लोगो में ऐसा कोई विश्वास हो कि मलेरिया के उपचार के लिए या उसे फिर से रोकने के लिए अफीम में कोई मलेरियानाशक गुण है। इसमे कोई सदेह नही है कि अफीम की जिस हद तक वहाँ खपत होती है, उसका मुख्य कारण अफीम का उन स्थानो मे उपलब्ध होना है। जब अफीम की खेती उन क्षेत्रो में होती थी उस समय अफीम की खपत आज से कही ज्यादा थी। इसमे सदेह नही कि अपने शामक प्रभावो के कारण मलेरिया-जन्य लक्षणो को अफीम ठीक कर देती है, पर इसका रोग पर कोई उपचारात्मक प्रभाव नही पडता है। पजाब के मध्यवर्ती जिलो मे अफीम-व्यसनियो के बीच अपना जो दिन-प्रतिदिन का अनुभव रहा है उससे हम लोगो को यह विश्वास हो गया कि उन दिनो मे जब मलेरिया खूब फैलता है, अफीम-व्यसनियो पर भी मलेरिया का प्रकोप उतना ही होता है जितना कि अफीम न सेवन करने वालो पर। इस रोग मे अफीम न तो रोगनिरोधी प्रभाव रखती है और न रोगहर।

मलेरिया मे नार्कोटीन

इस सुझाव के सम्बन्ध मे कि नार्कोटीन ही सम्भवत वह ऐल्केलॉयड है जिसमें मलेरियारोधी गुण होते है, ऐसा प्रतीत होता है कि यह विश्वास दो ससूचनाओ के आधार पर किया गया है। पहली ससूचना डा० पामर (१८५७-५९ ई०) की थी जिन्होने गाजीपुर में मलेरिया के ५४६ रोगियो को एक ग्रेन से तीन ग्रेन की मात्रा मे नार्कोटीन देकर, जो १५ ग्रेन मे ४८ ग्रेन अफीम के बराबर होती है, ठीक किया था। उन्होने अपने अनुभव का सार यह बताया था कि ७० प्रतिशत रोगियो में मलेरिया के दूसरे प्रवेग में नार्कोटीन देने के बाद ज्वर स्थायी रूप से रुक गया था और २० प्रतिशत रोगियो मे ज्वर बन्द तो हुआ, पर उतनी जल्दी नही जितनी कि उक्त ७० प्रतिशत रोगियो में हुआ था और शेष १० प्रतिशत रोगियो मे औषधि का कोई

उपचारात्मक प्रभाव नही पडा । दूसरी ससूचना डा० गार्डन की रिपोर्ट से प्राप्त की गयी है जो "इण्डियन ऐनाल्स ऑफ मेडिकल साइस" के सातवे खण्ड में प्रकाशित हुआ था । डा० गार्डन ने ६८४ मलेरिया रोगियो की नार्कोटीन देकर चिकित्सा की थी और १९४ रोगियो के उपचार का विस्तृत विवरण दिया था । इनके अनुसार १८७ रोगी तो शीघ्र ठीक हो गये, पर ७ रोगियो पर ऐल्केलायड का कोई प्रभाव नही पडा । इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी निश्चय पूर्वक कहा है कि नार्कोटीन से कुछ ऐसे रोगी भी ठीक हुए हैं जिन्हे कुनैन द्वारा रोगमुक्त नही किया जा सकता था । डा० गार्डन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद नार्कोटीन की बडी माँग होती रही और सरकारी कारखाने (factories) इसका नियमित रूप से सम्भरण करती रही ।

मलेरिया ज्वर मे अफीम का क्या प्रभाव पडता है यह बात अब भी अनिर्णीत रह गयी थी इसलिए इस ग्रन्थ के वरिष्ठ लेखक ने कई रोगियो पर इस ऐल्केलॉयड की क्रिया का परीक्षण किया, ताकि यह बात निश्चित हो सके कि मलेरिया-परजीवियो पर तथा उस रोग के लक्षणो पर वस्तुत यह भेषज कोई प्रभाव डालता है या नही । ऐल्केलॉयड नार्कोटीन की १०-१५ ग्रेन की बडी मात्रा का भी परिसरीय रक्त में सचरण करने वाले मलेरिया-परजीवियो पर कोई प्रभाव नही पडता है । रोगी का तापमान ज्यो का त्यो बना रहता है और शीतकम्प तथा प्रवेग बना रहता है, किन्तु वेदना-क्षेत्र कुछ अवसादित अवश्य हो जाते हैं, तथा रोग-जन्य वेदना और उसके प्रति रोगी की सवेद्यता कम हो जाती है । ऐल्केलॉयड देने के बाद रोगी को आराम मिलता है और वह अपने को पहले से बहुत अच्छा समझता है, यद्यपि तापमान पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता है । श्वसन एव हृदय पर कोई विशेष उद्दीपन नही होता, और न प्रतिवर्त्तों (reflexes) मे ही कोई अभिवृद्धि होती है । इसलिए मनुष्य को चिकित्सीय मात्राओ मे देने से मेडुला या सुषुम्ना में अतिउत्तेजकता (hyper-excitability) के कोई वाह्य लक्षण नही दिखायी देते ।

आर्थिक पक्ष

जो कुछ पहले कहा गया है उसको पढने से यह पता चलेगा कि भारतीय अफीम मे नार्कोटीन वडी मात्रा मे पाया जाता है और चिकित्सा मे इसका उपयोग किया जा सकता है तथा यह सस्ते दाम पर मिल सकता है । गाजीपुर की अफीम फैक्ट्री मे यह एल्केलॉयड बहुत इकट्ठा हो गया था क्योकि मलेरिया के उपचार मे इसका व्यवहार बन्द कर दिया गया था । क्योकि इस ऐल्केलॉयड मे कोई शक्तिशाली चिकित्सीय गुण नही दिखाई पडा इसलिए इसके ऐसे व्युत्पन्न (derivatives)

बनाने के प्रयास किये गये है जो शरीरक्रियात्मक दृष्टि से अधिक सक्रिय हो। इनमे से एक उत्पाद है कोटार्नीन हाइड्रोक्लोराइड (Stypticin)। कोटार्नीन हाइड्रोक्लोराइड वहुत वर्ष पहले वाजार मे लाया गया था और कहा जाता है कि गर्भाशय के हर प्रकार के रक्त-स्राव और अत्यधिक ऋतु-स्राव को रोकने में लाभप्रद होता है। यह रूई को पैक पर (टैम्पन—tampon) के रूप मे १ या २ प्रतिशत के घोल में लगाया जा सकता है। अफीम के ऐल्केलॉयड प्रभाव की दृष्टि से न्यूनाधिक स्वापक तथा आक्षेपकारी (convulsant) होते हैं किन्तु इनमे आक्षेपक गुण कम रहता है, इसलिए स्वापक प्रभाव की प्रधानता रहती है। मॉर्फीन, अफीम तथा अन्य ऐल्केलॉयडो के सम्मिश्रण जो चिकित्सा क्षेत्र मे पैन्टोपॉन (pantopon), नार्कोफीन (narcophine) आदि नामो से प्रवेश किये है, के गुण-कर्म मे कितना अन्तर है यह अभी ठीक से पता नही लगाया गया है, फिर भी यह वात सुविदित है कि नार्कोटीन जो वहुत सक्रिय एल्केलॉयड नही है, मॉर्फीन और कोडीन की विपालुता को वढाता है। पुराने अनुसधानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि अफीम की एकमात्रा का मेढक पर उससे कही अधिक प्रभाव पडता है जितना कि उतनी अफीम में निहित मॉर्फीन की मात्रा देने से पडता है। मॉर्फीन की ये लघुमात्राएँ जो स्वय प्रभावी नही होती है अन्य सहायक ऐल्केलायडो की लघुमात्रा मे मिलाकर देने से विपाक्तता के तीव्र लक्षण प्रकट करती हैं (Gottlieb and Eeckhout, १९०८)।

विण्टरनिट्ज (Winternitz) (१९१२ ई०) ने यह दर्शाया है कि अफीम के ऐल्केलॉयड का, जिसमे से मॉर्फीन विल्कुल ही निकाल दी गयी हो, मनुष्य पर निद्राकारी यथा शामक प्रभाव पडता है। मॉर्फीन को छोडकर एक मात्र अन्य ऐल्केलॉयड कोडीन है जिसका मनुष्य पर शामक प्रभाव पडता है जो यदि अलग से दिया जाय तो उसका वडा मन्द प्रभाव पडता है। अफीम के अन्य एल्केलॉयडो के साथ मिल जाने पर कोडीन का भी वैसा ही सशक्त प्रभाव पडता है जैसा मॉर्फीन का। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य ऐल्केलॉयड कोडीन को क्रिया का प्रवलीकरण (potentiation) करते है और इनमें नार्कोटीन सबसे महत्त्वपूर्ण सहकारी होता है। जहाँ तक केन्द्रीय तान्त्रिकातन्त्रि पर नार्कोटीन की क्रिया का सम्वन्ध है, इसको यदि मॉर्फीन के साथ मिलाकर दिया जाय तो यह यहाँ भी अत्यधिक सहकारी प्रभाव डालता है। लेवी (१९१६ ई०) ने ऐसा पाया कि यदि वरावर-वरावर मात्रा मे मॉर्फीन और नार्कोटीन को मिलाया जाय तो उस मिश्रण के ३ मिलीग्राम का उतना ही स्वापक प्रभाव पडता है जितना कि १०

मिलीग्राम मॉर्फीन का। नार्कोटीन और मॉर्फीन का वरावर-वरावर भाग कर मिला देने से क्रियाशीलता मे वडी वृद्धि हो जाती है। इन दोनो को मिलाकर देने से वेदना-वोध वहुत ही कम हो जाता है। स्ट्राउव (Straub) ने (१९१२ ई०) मेकोनिक अम्ल के साथ एक-एक अणु इन दोनो का मिलाकर देने की सिफारिश की और इस मिश्रण का नाम 'नार्कोफीन' रखा है। यह मिश्रण साधारण वेदनाहर औषधि के रूप में लिया जा सकता है। माल्ट, जॉनसन और वोलिंगर द्वारा १९१६ ई० मे तथा माल्ट, हरमान और लेवी द्वारा १९१८ ई० मे वडे ही रोचक परीक्षण यह सिद्ध करने के लिए किये गये थे कि वेदनाहरण क्रिया मे वृद्धि होने का कारण सहायक एल्केलायड होते हैं और विशेष कर नार्कोटीन। विद्युत् की उतनी प्रेरित प्रवाह शक्ति को, जितने से किसी भी सवेदन विन्दु पर वेदना का आभास हो सके, नाप कर उन्होने यह दर्शाया कि पैण्टोपॉन और नार्कोफीन, तद्वत परिमाण में मार्फीन की अपेक्षा उद्दीपन की प्रभाव सीमा (threshold value) वढा देते है। इन कथनो की पुष्टि हो चुकी हे और इनसे नार्कोटीन को व्यवहार मे लाने के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल गया है।

मस्तिष्क के आर्तिसवेदनशील भाग (algesic areas) पर नार्कोटीन के अवसादक प्रभाव का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं, और इस एल्केलॉयड के अनुभव से हम उस सहकारिता की पूर्णत सम्पुष्टि कर सकते हैं जो नार्कोटीन और मॉर्फीन के बीच तथा नार्कोटीन और कोडीन के बीच वर्तमान रहती है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि स्वय नार्कोटीन तो चिकित्सीय दृष्टि से वहुत सक्रिय भेषज नही है किन्तु यदि इसे अफीम के अन्य ऐल्केलॉयडो के साथ उपयुक्त अनुपात में मिलाकर काम में लाया जाय तो यह एक उपयोगी चिकित्सीय औषधि वन सकता है। इन्हें किस अनुपात में मिलाया जाय इस पर अभी खोज करना होगा।

सन्दर्भ:

(1) *Report of the Opium Commission*, 1892-93, (2) Chopra, R N, and Grewal, K S, 1927, *Ind Jour Med Res*, 15, 51, (3) Chopra, R N. 1928, *Ind Jour Med Res*, 16, 389, (4) Chopra, R N, 1930 *Ind Med. Gaz*, 65, 361, (5) Chopra, R N, Grewal, Chowhan, and Chopra 1930, *Ind Jour Med Res*, 17, 985, (6) Chopra, R N, and Knowles R, 1930 *Ind. Jour Med Res*, 18, 5, (7) Chopra, R N, Mukherjee B, and Dixit, B B, 1930, *Ind Jour, Med Res*, 18, 35, (8) Chopra, R. N, and Bose, J P, 1930, *Ind Jour. Med Res*, 18, 15, (9) Chopra

R. N., and Bose, J P, 1931, *Ind Jour. Med Res*, 18, 1087, (10) Chopra, R N, and Bose, J P, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 299, (11) Chopra, R N, Bose J P., and De N, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 625, (12) Chopra, R N, and Bose, J P, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 663, (13) Trease, G E, 1952, *A Text Book of Pharmacognosy* 288, 290, (14) Chopra, R N, Badhwar, R L, and Ghosh, S, 1949 *Poisonous Plants of India*, 172

प्यूसिडैनम ग्रैविओलेन्स (अम्बेलीफेरी)
Peucedanum graveolens Linn (Umbelliferae)

पर्याय०* —ऐनिथम सोवा (*Anethum sowa* Kurz)

भारतीय डिल (Indian Dill)

नाम —बं०—सोवा, बम्ब०—सुआ, गु०—सुर्वा, हि०—सोआ, सोवा, काश्मी०—सोई, कुमायू—सोया, म०—शेपु, प०—सोया, स०—शतपुष्पी, त०—सतकुप्पी, ते०—सोम्पा, उर्दू—सोया।

डिल तैल, डिल-जल तथा ऐसी अन्य औषधियो के गुणो को लोग अच्छी तरह जानते है, जिनमे (डिल) फल का उपयोग हुआ रहता है, इसलिए उसका विस्तृत विवरण देना आवश्यक नही है। चिकित्सीय उपयोग के अतिरिक्त एक व्यजन के रूप मे भी इसकी बडी माँग रहती है और इसके तेल का उपयोग साबुन बनाने के काम मे बहुत होता है। ऐनिथम सोवा या भारतीय डिल (सोवा या सोआ) भारत भर मे सर्वत्र पाया जाता है और शीतकालीन फसल के रूप मे उसकी खेती की जाती है। भूमध्य सागर के तटवर्ती प्रदेशो का यह पौधा है, किन्तु उसकी खेती दक्षिणी फ्रास मे, सैक्सोनी मे और रूस मे भी होती है। यूरोप की असली डिल से यह कुछ भिन्न होता है, क्योकि इसका फल डिल के फल से ज्यादा लम्बा (चौडाई से दुगुना लम्बा) और अपेक्षाकृत अधिक उत्तल (convex) होता है, तथा ऊपर की (पृष्ठीय) धारियो का रग अधिक पीला होने से डिल की धारियो की तुलना मे ये धारिया स्पष्ट होती है। भारतीय तथा विदेशी फलो से निकलने वाले वाष्पशील तेल भी सघटन मे भिन्न होते है।

बगलौर के बाजार से मँगाये गये सोवा फलो का परीक्षण राव, सदबरो और वाट्सन ने किया है और उनका कहना है कि उससे ३ १९ प्रतिशत वाष्पशील तेल निकलता है। इस तेल के दो प्रभाग होते है एक वह जो पानी से भारी होता है और

* यूरोपीय डिल को *Anethum graveolens* Linn कहते है—अनु०

तेल का ३२ प्रतिशत होता है और दूसरा वह जो पानी से हल्का होता है और तेल का ६८ प्रतिशत भाग होता है। सम्पूर्ण तेल का आपेक्षिक घनत्व १५° से० पर ० ९७८५ होता है। इसका ध्रुवण-घूर्णन २५° पर+४७ ६, n_D^{25} पर १ ४९४३ और अपने मे ३ गुने अनुपात मे ८० प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे विलेय होता है। इसमे १९ ५ प्रतिशत कार्वोन विद्यमान होता है।

मालवीय और दत्त ने फलो से वाष्पशील तेल के जल से भारी और हल्के दोनो ही प्रभाग क्रमश ० ४७४ तथा ० ८२५ प्रतिशत की मात्रा मे पाये, जिनकी विशेषताएँ क्रमश ये थी २०° पर आपेक्षिक घनत्व १ ०५७३ तथा ० ९७१९, ध्रुवण-घूर्णन ३०° पर+२३ ६° तथा+३८ ५°, और n_D^{30} १ ५३८५ और १ ४९०५। तेल मे डी-लिमोनीन (९ प्रतिशत), डी-कार्वोन (४६ ५ प्रतिशत) डिल-ऐपिऑल (३९ ६ प्रतिशत) और कदाचित सूक्ष्म मात्रा मे ऐनियोल, ऐनिसैल्डिहाइड, यूजिनॉल एव थाइमॉल विद्यमान रहता है। पैरी के अनुसार भारतीय सोआफल के तेल मे आपेक्षिक घनत्व ० ९४५ से ०·९७० और ० ९१८ तक होता है और ध्रुवण-घूर्णन+४०° से+५०° तक होता है, जब कि यूरोपीय डिल तेल का आपेक्षिक घनत्व ० ८९५ से ० ९१८ और ध्रुवण-घूर्णन+७०° से+८२° तक होता है। सोआ तेल के इस ऊंचे आपेक्षिक घनत्व का कारण यह बताया जाता है कि उसमे डिल-ऐपिऑल बडी मात्रा मे विद्यमान रहता है। अगर इस निकाल दिया जाय तो भारतीय तेल की भौतिक विशेषताएँ उनसे मिलती जुलती होती हैं जो यूरोपीय तेल की होती हैं। इस प्रकार राव, सडवरो तथा वाट्सन के अनुसार वडौदा के सोआ तेल का जिसमे से ऐपिऑल अश निकाल दिया गया था, आपेक्षिक घनत्व १५°C पर ० ९०३०, ध्रुवण-घूर्णन २५°C पर+६३ ६, और n_D^{25}, १ ४७९२ था, तथा उसमे १८ प्रतिशत कार्वोन पाया गया।

यद्यपि वहुधा सोवा फलो को यूरोपियन डिल मानकर विभ्रम रहा है पर यह स्पष्ट है कि भारतीय सोवा फल के तेल मे आपेक्षिक घनत्व अधिक होता है और कार्वोन कम होता है और इसी तरह के अन्य अन्तर भी पाये जाते है। इसलिए औषधि के प्रयोजन के लिए यूरोपियन डिल का स्थानापन्न मानकर सोवा फलो का उपयोग करना ठीक नही प्रतीत होता है। जापान के फल भारतीय सोवा फलो के समान ही होते है। ब्रेनीगन के अनुसार अमेरिका सोआ फल के तेल का कई वर्षों तक आयात करता रहा और शायद सुवास देने के प्रयोजनो के लिए, किन्तु कृष्णा और बधवार ने इस बात की पुष्टि नही की है।

सूखे और (तेल निस्सारित) फलो मे १६ ८ प्रतिशत वसा तथा १५ १ प्रतिशत प्रोटीन रहता है और पशु खाद्य रूप मे इसकी सिफारिश की गयी है। सोआ के पौधे मे ० ०६ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिलता है जिसमे टर्पीन, एक्स-फिलैन्ड्रीन अधिक अनुपात मे होता है किन्तु कार्वोन नही होता। यूरोपीय तथा अमेरिकी डिल के पौधो से उपलब्ध तेलो म कार्वोन एव डी-एक्स फिलेण्ड्रीन दोनो ही रहते है, पर उनमे कार्वोन की मात्रा (लगभग २० प्रतिशत) बीज-तेल की अपेक्षा बहुत कम रहती है। भारतीय फर्मास्यूटिकल कोडेक्स के अनुसार भारतीय डिल के फल से ३ ५ प्रतिशत वाष्पशील तेल प्राप्त होता है। इस वाष्पशील तेल से डिल-ऐपिऑल $C_{12}H_{14}O_4$, एक तैलीय अक्रिस्टलीय तरल पदार्थ मिलता है जो पार्सली ऐपिऑल का समावयवी होता है। एक तरल हाइड्रोकार्बन ऐनिथीन $C_{10}H_{16}$, तथा एक अन्य पदार्थ जो कार्वोन के समरूप है, इसके अन्य सघटक है।

वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद (काउन्सिल ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च) की वाष्पशील तेल सम्बन्धी मत्रणा समिति ने बताया है (१९४६ ई०) कि १९३७-३८ एव १९३८-३९ई० में भारत से डिल के जो बीज निर्यात किये गये उनकी कीमत क्रमशः ५५,०९७ रु० (२३७ टन) तथा ७३,४८८ रु० (३३५ टन) थी।

सन्दर्भ:

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Rao, Sudborough and Watson, 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 183, (3) *Pharm Jour*, 1898, 7, 176 (4) Ciamician and Silber, 1896, *Bar* 29, 1799, (5) *Wealth of India, Raw Materials*, 1948, I, 78, (6) Wehmer, C, 1929-31, Die Pflanzenstoffe, II, 897, (7) Malviya and Dutt, 1941, *Proc Ind Acad Sci*, 12A, 251, (8) Report of Essenial Oil Advisory Committee (Exploratory) C S I R, Monograph, 1946, New Delhi, (9) Krishna, S and Badhwar R L 1952, *Jour Sci Industr Res*, Suppl 11A, 250, (10) Indian Pharmaceutical Codex, 1952

पिक्राज्मा क्वैसिआँइडिस (सिमारुबेसी)
Picrasma quassioides Benn (Simarubaceae)
क्वैसिआ काष्ठ—Quassia Wood

यह एक धीरे बढने वाला लम्बा क्षुप है जो हिमालय के वहिर्वर्ती क्षेत्रो मे चिनाव से पूर्व की तरफ ३ हजार से ८ हजार फुट की ऊचाई पर पाया जाता है। यह चम्बा

कुलू, बशाहर, उत्तरी गढवाल मे ६००० से ८००० फुट की ऊंचाई पर पाया जाता है, तथा नेपाल और भूटान मे भी पाया जाता है। असम में खासी और नागा पहाड़ियो मे ३ से ८ हजार फुट की ऊंचाई पर पाया जाता है। यह चीन मे भी पाया जाता है। यह पादप अप्रैल जून मे फूलता है। इसके छिलके तथा पत्तियो को पजाब मे ज्वर—शामक और कीटनाशी के रूप मे काम मे लाते है। इसके काष्ठ की साधारण बनावट और इसका स्वाद ब्रिटिश भेपजकोश के पादप पिक्रीना एक्सेल्सा से बहुत मिलता जुलता है और उसके स्थानापन्न के रूप मे इसे व्यवहृत करने की सिफारिश की गयी है। ब्रिटिश भेषजकोश द्वारा मान्य क्वैसिआ, पिक्रीना एक्सेल्सा (*Picroena excalsa* (SW) Lindl (*P excelsa* (Sw,) Planchon) का स्तम्भ काष्ठ है। इसे वाणिज्य मे जमेका क्वैसिआ कहते हैं। इस काष्ठ का अमेरिका में भी उपयोग होता है, किन्तु अधिकाश यूरोपीय भेपजकोशो मे क्वैसिआ अमारा (*Quassia amara* Linn) को जिसे सुरिनाम क्वैसिया कहते है, अधिक पसन्द किया जाता है। **पिक्रीना एक्सेल्सा** एक १५-२० मीटर ऊँचा वृक्ष है जो वेस्टइण्डीज (जमैका, ग्वाडेलूप, मार्टिनिक, वार्वेडोज और सेण्ट विसेंट) मे होता है। क्वैसिआ अमारा १ से २ मीटर ऊंचा क्षुप है जो गाइना, उत्तरी ब्राजील और वेनजुएला में होता है। 'कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन' मे जो परीक्षणात्मक कार्य किया गया था उससे प्रकट होता है कि पिक्राज्मा क्वैसिऑइडिस मे एक तिक्त तत्त्व होता है जिसे क्वासिन कहते है और यह अधिकृत पादप पिक्रीना एक्लेल्सा से प्राप्त पिक्राज्मिन के प्राय समरूप है। एक और सहजातीय पादप पिक्राज्मा नेपालेन्सिल का भी परीक्षण किया गया था, किन्तु उसे निष्क्रिय पाया गया।

इस भेषज के सक्रिय तत्त्वो को अलग करने की कोई प्रभावी रासायनिक विधि अभी तक नही निकाली जा सकी है। इस भेषज से प्राप्य एक क्रिस्टलीय तिक्त पदार्थ, क्वासिन को इसका सक्रिय तत्त्व समझा जाता है, किन्तु कुछ अन्य तिक्त वर्ग भी इसके साथ मिले रहते है। क्योकि क्वासिन के मूल्याकन की कोई सही विधि नही है इसलिए ब्रिटिश भेपजकोश मे व्यवहृत होने वाले भेषज की तरह इस भारतीय भेपज का मूल्याकन करना कठिन है। पिक्रीना एक्सेल्सा के तिक्त तत्त्वो को अलग करने की ब्रिटिश भेपजकोश मे बतायी गयी विधि के अनुसार जो परिणाम निकाले थे ये हैं —

	पिक्राज्मा क्वैसिऑइडिस	पिक्रीना एक्सेल्सा
जलीय निस्सार	८ ३६ प्रतिशत,	५ ०४ प्रतिशत
ऐल्कोहॉलीय निस्सार	५ ७८ ,, ,	३ २५ ,,
तिक्त तत्त्व	० २१ ,, ,	० ४८ ,,

एल्कोहॉलीय सार पर गर्म जल से बार-बार अभिक्रिया करने के पश्चात् उसे उदासीन करके और फिर सान्द्रित करके तथा अन्त में टैनिक अम्ल द्वारा अवक्षेपित करके यह तिक्त तत्व प्राप्त किया गया था। इस प्रकार से प्राप्त किये गये अवक्षेप को ताजा अवक्षेपित लेड हाइड्रॉक्साइड से अपघटित करके उसके जल को वाष्पीकरण कर दिया गया था। इस शुष्क पदार्थ को फिर परिशुद्ध ऐल्कोहॉल द्वारा निष्कर्षित किया गया। ऐल्कोहॉलीय विलेय को जलोष्मक पर वाष्पित किया गया और अवशेष को तौल लिया गया। श्वेत सूचिकाकार क्रिस्टल अन्य निष्कर्षित पदार्थ से मिले हुए पाये गये और अवशेष बहुत ही तिक्त पाया गया।

भारतीय फार्माकोपियल लिस्ट (१९४६ ई०) तथा भारतीय फार्मास्यूटिकल कोडेक्स (१९५२ ई०) मे इस भेषज को स्थान प्राप्त है।

क्वैसिआ* एक बहुत ही सशक्त तिक्त भेषज है जो जठर-दौर्बल्य के कारण क्षुधा के मन्द होने की दशा मे बडा ही उपयोगी होता है, किन्तु अधिक मात्रा मे दिये जाने पर यह उदर-क्षोभ पैदा करता है जिससे वमन होने लगता है। सर्वथा टैनिनरहित होने के कारण लोहे के लवण के साथ इसे दिया जा सकता है। सूत्र कृमि को निकालने के लिए इसके फाण्ट (१-२० के अनुपात) का एनिमा (enema) दिया जाता है। इसका निस्सार उद्यान-कृषि मे कीटनाशी के रूप मे व्यवहृत होता है।

सन्दर्भ :

(1) Chopra, Ghosh and Ratnagiriswaran 1929, *Ind Jour Med Res*, 16, 770, (2) *British Pharmaceutical Codex*, 1923, (3) Trease, G E. 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 354, (4) *Indian Pharmaceutical Codex*, 1952, (5) Gathercoal, E N and Wirth E W, *Pharmacognosy*, 1936, 421, (6) *Indian Pharmacopoeial List*, 1946.

पिम्पिनेला ऐनिसम (अम्बेलीफेरी)

Pimpinella anisum Linn. (Umbelliferae)

ऐनिसीड, ऐनिसीफ्रूट—Aniseed, Anise Fruit

नाम—बं०—मौरी, बम्ब०—सौफ, गु०—सोआ, अनीसा; हि०—सौफ, सौंरिफ, कन्न०—सम्पू, प०—सौफ, स०—शेतपुष्प, त०—सोम्बु, पेरुन्-शिरागम, ते०—कुप्पी, सोपू।

यह एक वार्षिक शाक है जिसका मूल उत्पत्ति स्थान मिस्र और लीवाण्ट रहा है, किन्तु अब यूरोप मे, विशेषकर रूस मे तथा स्पेन, हालैण्ड, बुल्गारिया, फ्रास, टर्की साइप्रस और अन्य कई स्थानो मे इसकी खेती होती है। रूस मे इसकी खेती की ओर बहुत ध्यान दिया जाता है और इसकी कृषि धीरे-धीरे वालुइकी जिला से अन्य जिलो की तरफ भी फैल रही है। इसके फल और उससे निकला वाष्पशील

---

*'क्वैसिआ' को हिन्दी मे 'भारङ्गी' (स०-भार्गी) कहते है। भारङ्गी के नाम से बाजार मे क्लेरोडेन्ड्रान जाति के तथा अन्य द्रव्य मिलते है। देखें, अनुवादक एव सहयोगियो द्वारा प्रकाशित शोधपत्र–(1) Proc XVIII Indian Pharmaceutical Cogress, Bombay, 1966, (2) *Jour. Res Ind Med*, 1 (2), 223, 1967 तथा डा० कृष्णचन्द्र चुनेकर द्वारा 'भावप्रकाश निघण्टु का टीका–चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी, १९६९-अनु०।

तेल रूसी उत्पादको के लिए आय के अच्छे साधन हैं। साइप्रस मे भी यह बहुत पैदा होती है। भारत में यह उत्तर प्रदेश और पजाब के कई भागो मे पायी जाती है तथा कुछ हद तक उडीसा में भी होती है। यह यहाँ की देशीय वनस्पति नही है और ऐसा समझा जाता है कि ईरान के मुसलमान आक्रामक इसको यहाँ लाये, किन्तु अब यह पूर्णत यहाँ की हो गयी है, लेकिन भारत में उसकी माँग का एक बडा भाग ईरान से आयात करके पूरा किया जाता है।

कृषि

इस पौधे के लिए उपजाऊ, हल्की दुमट मिट्टी चाहिये जहाँ जलोत्सारण अच्छी तरह होता हो। प्रतिरोपण से नवोद्भिदो पर बुरा प्रभाव पडता है। इसलिये फल को सीधे खेत में बो देते है। जब पौधे २ या ३ इच होते हैं तो इनका विरलन करके इन्हे पक्ति मे आठ आठ इच की दूरी पर रहने दिया जाता है। पक्तियाँ एक एक फुट की दूरी पर होती है। एक एकड भूमि के लिए १२ पौण्ड फल काफी होता है। कुछ देशो में बीजो को छिटककर -बोया जाता है, किन्तु इसमे एक बडी कठिनाई निराई करने की होती है। ज्योही फलो का अग्रभाग धूसर-हरित रग का हो जाता है फसल काट ली जाती है। फसल की लबाई के लिए पौधो को काटकर उसके ढेर बना लिये जाते है। प्राय काटने की अपेक्षा हाथ से उखाडना ज्यादा अच्छा समझा जाता है और पौधे के अग्रभाग को नीचे की ओर करके ६ फुट ऊँचे ढेर लगा दिये जाते है अथवा पौधो को वहाँ से हटाकर उनके उतने ही ऊँचे ढेर बताये जा सकते हैं। फल चार या पाँच दिनो मे पक जाते हैं और फिर पौधो को पीटकर फलो को अलग कर लिया जाता है। इसके बाद उन्हे साफ करके बाजार में भेजने के लिए बोरियो मे भर लिया जाता है। अनुकूल दशाओ मे प्रति एकड ६०० से १००० पौण्ड तक उपज हो सकती है।

इसका फल जिसे (ऐनिसीड) कहते हैं, एक बहुत ही प्राचीन मसाला है और केक, मसालेदार व्यञ्जन, पेस्ट्री, कैण्डी और बिस्कुट को सुवास देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। घरेलू पशुओ के खाद्य-निर्माण उद्योग मे भी इसकी बडी माँग रहती है। अपने वातानुलोमक और मृदु कफोत्सारक गुणो के लिए चिकित्सा में इसको बडी मान्यता दी जाती है और इन गुणो का कारण है एक वाष्पशील तेल जो उसमें विद्यमान रहता है। इसका वाष्पशील तेल औषधि तथा सुगन्धि-द्रव्यो मे व्यवहृत होता है तथा पेयो और मदिरा को सुवासित करने मे इसका उपयोग किया जाता है। ऐनिसी का आसवन-जल 'अर्क बादियान'

या 'अर्क सौंफ' के नाम से भारतीय बाजारो में विकता है जो औषधीय होता है।

तेल की उपलब्धि

ऐनिसीड से २ से ३ ५ प्रतिशत की मात्रा मे एक वाष्पशील तेल प्राप्त होता है जो रग रहित था कुछ पीले रग का होता है और स्टार ऐनिसी (इलिसियम वीरम–Stai anise-*Illicium verum* Hookf.) के तेल के समान होता है। कुछ फलो से तेल ज्यादा मिलता है जैसे सीरिया देश के फलो से ६ प्रतिशत तेल मिल जाता है। यद्यपि इन दोनो ही पादपो के तैलो को ब्रिटिश भेपज-कोश मे मान्यता प्राप्त है, फिर भी स्टार ऐनिसी का तेल ही मुख्य व्यापारिक उत्पाद है, किन्तु लिकर (liqueur) के निर्माण मे इन दोनो तेलो मे थोडा विभेद किया जाता है, क्योकि असली ऐनिसीड तेल की गन्ध कुछ अधिक कोमल होती है।

सघटक

इसके तेल मे ८० से ९० प्रतिशत या इससे भी अधिक ऐनिथोन रहता है जिसके कारण इसकी अपनी विशिष्ट गन्ध और सुरभियुक्त मधुर स्वाद रहता है। अन्य घटको के सम्वन्ध मे शोध पत्रो और ग्रन्थो मे कुछ भ्रम रहा है, क्योकि स्टार एनिसी के तेल पर किये गये अनुसधानो के निष्कर्षों को कभी-कभी असली ऐनिसी के तेल मे जोड दिया गया है। फिर भी श्री ग्वेन्थर (१९५० ई०, एसेन्शल ऑयल्स, ४,५६३) के अनुसार असली एनिसी के तेल मे एनीथोल के अतिरिक्त, मेथिल चैविकॉल और पैरामेथॉक्सी-फेनिलऐसिटोन (ऐनिसिलऐसिटोन, ऐनिसी कीटोन) पाये जाते है। प्रथम प्रभाज मे ऐसिटैल्डिहाइड, कुछ अरुचिकर गन्धवाले सल्फरयुक्त यौगिक और सम्भवत: टर्पीन की अति लघु मात्रा विद्यमान होती है। फर्मास्यूटिकल कोडेक्स (१९४९ ई०, ५६७) के अनुसार इसमें ऐनिसैल्डिहाइड और ऐनिसिक अम्ल भी विद्यमान होते है।

ऐनिसी तेल का प्रयोग चिकित्सा मे आध्मान (flatulence) के शमन के लिए ऐरोमेटिक वातानुलोमक के रूप मे किया जाता है। मृदु कफोत्सारक होने के कारण पेयो और मद्धिराओ मे एक घटक के रूप मे इसका उपयोग किया जाता है। गन्ध द्रव्यो मे इसका सीमित उपयोग होता है किन्तु दन्त और मुख प्रक्षालक योगो को सुवास-युक्त वनाने मे इसका वहुत उपयोग होता है। रसोई के व्यजनो और मिठाइयो मे सुवास लाने के लिए इसका व्यापक उपयोग होता है।

ऐनिसी के तेल मे घटिया दाम वाली स्टार ऐनिसी के तेल को मिलाकर प्राय अपमिश्रण किया जाता है। स्टार ऐनिसी के तेल को ब्रिटिश भेषजकोश मे ऐनिसी तेल ही माना गया है। सुवास की दृष्टि से पिम्पिनेला ऐनिसम से निकाला गया ऐनिसी तेल, इलीसियम वीरम (स्टार ऐनिसी) से निकाले गये तेल की अपेक्षा निस्सन्देह बहुत उत्तम होता हे। सौफ का तेल, तारपीन का तेल, देवदारु तेल तथा कोपेवा एव गुर्जुन वालसम आदि के तेल अन्य अपमिश्रक है जो इसमे मिलाये जाते है। इनकी भौतिक और रासायनिक विशेषताओ के कारण इनमे से प्राय सभी अपमिश्रको की पहचान की जा सकती है। पाइन (तारपीन) तेल से बने सश्लिष्ट ऐनीथोल के अपमिश्रण की सूचनाएँ भी मिली है। ऐनिसी तेल, बहुत दिनो तक भण्डारण किये जाने पर और विशेषकर ऐसी दशा मे जब उसे प्रकाश और हवा से बिलकुल अलग रखने की सावधानी न बरती जाय, बिगडने लगता है, और धीरे-धीरे उसकी क्रिस्टलन की क्षमता जाती रहती है और अन्ततोगत्वा यह जमता ही नही है। विशिष्ट घनत्व १ ० से ऊपर का हो जाता है, अपवर्तनांक कम हो जाता है और तेल ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे तुरन्त विलेय हो जाता है। ठीक से भण्डारण न होने से तेल गन्ध और स्वाद मे स्वाभाविक रूप से घटिया हो जाते है। ऐनिसी तेल का उपयोग ताजा रहने पर ही करना चाहिये। जम जाने पर इसे अच्छी तरह पिघलाकर मिला लेना चाहिये और तब इसको काम मे लाना चाहिये।

जिस ऐनिसी पौधे की भारत मे कृषि की जाती है उससे भी आसवन करने पर वही घटक मिलते है जो इसकी अन्य किस्मो से मिलते है। वाणिज्य के काम में आनेवाला अधिकाश ऐनिसी तेल इलिसियम वीरम (*Illicium verum*) या स्टार ऐनिसी (Star anise) से निकाला जाता है। इलिसियम वीरम मैग्नोलिएसी कुल का है, जो दक्षिणी चीन और तार्गकिंग का देशीय पादप है और उसकी वहाँ विस्तृत रूप से कृषि होती है। यह सदाहरित वृक्ष हे जो ऊँचाई मे ४ से ५ मीटर तक होता है और निरन्तर फल की पैदावार देता रहता है जो असली ऐनिसी की अपेक्षा बहुत अधिक सस्ते दाम पर मिलता है। इन दोनो के तेल प्राय एक से होते हैं सिवाय इसके कि असली ऐनिसी तेल की गध और सुवास स्टार ऐनिसी तेल की अपेक्षा अधिक कोमल होती है। दोनो की विशेषताएँ नीचे दी गयी है। ऐनिथोल, जो इनका प्रमुख घटक है, की मात्रा दोनो मे एक सी होती है।

	असली ऐनिसी तेल पिम्पिनेला ऐनिसम	स्टार ऐनिसी तेल इलिसियम वीरम
२०°C पर आपेक्षिक घनत्व	०.९७५ से ०.९९०	०.९८० से ०.९९०
ध्रुवण-घूर्णन	० से —२°	० से —२°
अपवर्तनाक	१.५५२ से १.५५८	१.५५३० से १.५५६५
जमनाक(Congealing point)	+१५° से +१९°	+१५° से +१७°
गलनाक	१६° से १९°	१६.५° से १९°

ये दोनो ही तेल अधिकृत मान लिये गये है और इसलिए चिकित्सा मे इनका निर्वाध रूप से उपयोग किया जा सकता है। ऐनिसी तेल के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि उसका सुवास कुछ ज्यादा अच्छा होता है, किन्तु अधिकाश ऐनिसी तेल जो व्यवहार मे आता है वह स्टार ऐनिसी से निकाला हुआ होता है। ऐनिथोल अथवा ऐनिसी कपूर को बनाने मे एक मात्र कच्चे माल के रूप मे स्टार ऐनिसी का कुछ वर्षों से वाणिज्य मे उपयोग हो रहा है। इन तथ्यो के कारण असली ऐनिसी के प्रति रूस के उत्पादको का उत्साह जाता रहा है और वहाँ इसकी खेती घटती जा रही है। उस विशिष्ट जाति की स्टार ऐनिसी जिससे वाणिज्यिक तेल प्राप्त होता है, भारत मे उपलब्ध नही है, किन्तु अन्य दो जातियाँ अर्थात् इलिसियम ग्रिफिथाई एव इलिसियम मैनीपुरेन्स (*Illicium griffithii* Hook and Thomas, and I. *manipurense* Wattex King) पायी जाती है। इन जातियो के सम्बन्ध मे कुछ अधिक मालूम नही है केवल इतना ही ज्ञात है कि भूटान और खासिया पहाडियो (४००० से ५००० फुट) मे उगने वाले इलिसियम ग्रिफिथाइ के फल पहले तो स्वाद रहित लगते है, किन्तु शीघ्र ही वाद मे उनमे कवाबचीनी और सूखी घास की पत्तियो के बीच का स्वाद आ जाता है, इसके फल असली ऐनिसी जैसे ही होते है और आसवन करने पर इनसे एक वाष्पशील तेल मिलता है जो ऐनिसी तेल और सौफ (फेनेल) के तेल से कुछ मिलता-जुलता होता है।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Schimmel & Co 1928, *The Report*, (3) Parry, 1924, *The Chemistry of Essential Oils and Artificial Perfumes*, (4) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacogsosy*, 448, (5) Krishna, S and Badhwar, R L, 1953, *Jour Sci Industr Res Suppl*, 12A, 284

पाइनस लॉङ्गिफोलिया (पाइनेसी)

Pinus longifolia Roxb (Pinaceae)

चीड पाइन Chir Pine

नाम : स०—सरल, हि०—सरल, चीड, चील ।

विभिन्न शकुधारी (coniferous) वृक्षो के रस-दारु (sapwood) को क्षत करने से जो ओलिओरेजिन बाहर निकलता है उसका वाष्प आसवन करने से तारपीन का तेल मिलता है। यह रस (sap) क्षतभाग की रक्षा करने के लिए निकलता है। तारपीन-तेल शब्द का कभी-कभी व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जाता है और इससे उस तेल का भी बोध होता है जो चीड के काष्ठ या उसके बुरादे से शुष्क आसवन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इस ओलिओरेजिन से २० प्रतिशत तारपीन-तेल मिलता है और अवशिष्ट ८० प्रतिशत 'कोलोफोनी' या रेजिन (राल) के नाम से काम मे लाया जाता है। परिशोधित तेल, ओलियम टर्बिंथिनी रेक्टिफिकेटम का बहुधा औषध मे उपयोग किया जाता है किन्तु इसकी माँग ज्यादा नही है। फिर भी उद्योग क्षेत्र मे तारपीन का बहुत ज्यादा उपयोग होता है। परिमल उद्योग मे तथा कृत्रिम कपूर बनाने मे इसकी बडी खपत होती है। इसकी सबसे ज्यादा खपत रग और वार्निश बनाने मे होती है। रेजिन की बहुत बडी मात्रा का उपयोग चपडे (shellac) का अपमिश्रण करने मे, वार्निश बनाने मे, कागज बनाने म साबुन-कारखानो आदि मे की जाती है।

ये शकुधारी वृक्ष विश्व के सभी भागो मे प्रचुर रूप से पाये जाते है। जो वृक्ष समशीतोष्ण या उष्ण प्रदेशो मे उगते है उनसे सर्वोत्तम रेजिन मिलता है, पर जो अधिक शीत जलवायु वाले प्रदेशो मे उत्पन्न होते है उनसे कम मात्रा मे रेजिन मिलता है और रेजिन की भी उपलब्धि कम अवधि तक होती है। अमेरिका मे अटलाटिक महा-सागर तथा मेक्सिको की खाडी के तटवर्ती क्षेत्रो मे चीड के बडे विशाल वन है जिनका कुल विस्तार लगभग एक करोड एकड है। यहाँ बहुत बडी मात्रा मे तारपीन के तेल का उत्पादन होता है और अनुमान है कि विश्व के कुल उत्पादन का ६७ प्रतिशत यहाँ से आता है। वहाँ चीड के वनो का बहुत ही सुव्यवस्थित उपयोग किया जाता है और उनके विदोहन की सभी क्षयकारी प्रणालियो पर कानूनी रोक है जिससे तेल का सम्भरण समाप्त न हो जाय। चीड की ये जातियाँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण होती है। (१) अमेरिका के दक्षिणी और दक्षिणीपूर्वी भागो मे उगने वाली चीड

की जातियाँ पाइनस पैल्युस्ट्रिस (पाइनस आस्ट्रेलिस *P australis* Michaux) जिसके पत्ते लम्बे होते है तथा पाइनस कैरीबीया (पाइनस हेटेरोफिला *P. heterophylla* Sudworth)। (२) फ्रास मे उगने वाला पाइनस मैरिटाइमा (*P maritima* Lam) (पाइनस पिनैस्टर *P pinaster* Solander), और (३) भारत मे उगने वाला पाइनस लॉङ्गिफोलिया (*P longifolia* Roxb)। तारपीन कितनी वडी मात्रा मे पैदा होता है, इसका पता इस तथ्य से लगेगा कि १९२५-२६ ई० मे पचास-पचास गैलन के ४८०,००० पीपे तथा पाँच-पाँच सौ पौण्ड रेज़िन के १,५९९,००० पीपे कारखानो से बाजार मे भेजने के लिए निकाले गये थे। तारपीन के उत्पादो के लिए फ्रास का विश्व मे दूसरा स्थान है और विश्व के कुल उत्पादन का लगभग २२ प्रतिशत यहाँ होता है। ध्यान देने योग्य वात यह है कि यह विशाल उद्योग विगत शताब्दी मे ही इतना विकसित हो गया है। इस उद्योग का केन्द्र बोर्डो मे है जो एक त्रिभुजाकार क्षेत्र मे स्थित हे जिसे 'लैण्डीज' (Landes) कहते है। इसका आधार अटलांटिक महासागर तट के किनारे-किनारे ४० मील तक फैला हुआ है। पहले 'लैण्डीज' ऊसर और वालुकामय मरूस्थल था जो जाडे में जलमग्न हो जाता था, गर्मियो मे सूखा रहता था और सर्वथा अनुपजाऊ और ऊसर प्रदेश था। चीड की खेती वहाँ १९ वी शताब्दी मे आरम्भ की गयी और सन् १८०३ से १८६४ ई० के बीच कृत्रिम बाँध बनाकर, जलोत्सारण की समुचित व्यवस्था करके तथा वालुबन्धक घास उगाकर भूमि को धीरे-धीरे कृषि-योग्य और समुन्नत बनाया गया। आज फ्रान्स के पास 'लैण्डीज' मे १० लाख हेक्टर से अधिक चीड के जगल है जिनमे मुख्यत पाइनस मैरीटाइमा तथा पाइनस सिल्वेस्ट्रिस (*P sylvestris*) के वृक्ष हे जिनसे अत्यधिक मात्रा मे तारपीन तेल और राल (कोलोफोनी) मिलता है। इस तारपीन क्षेत्र मे लगभग १८० तारपीन के कारखाने स्थित है और १९२६ ई० मे ७,६८१,००० फ्राक के मूल्य का तारपीन का तेल वहाँ से निर्यात किया गया। स्पेन, पुर्तगाल तथा यूनान मे भी तारपीन तेल और उसके उत्पादो के वडे समृद्ध उद्योग है।

भारत चीड के ससाधनो की दृष्टि से बडा सम्पन्न है। यहाँ चीड की पाँच जातियाँ पायी जाती है जिनमे तीन तारपीन के उत्पादन की दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है। ये जातियाँ पाइनस लॉगिफोलिया, पाइनस एक्सेल्सा, (*P. excelsa*) और पाइनस खास्या (*P khasya*) है। पाइनस एक्सेल्सा (कैल या नीला चीड) हिमालय के शीतोष्ण प्रदेश मे होता हे और उत्तर प्रदेश तथा पजाब मे साठ हजार एकड भूमि पर ये पेड उगे हुए है। इन पेडो तक पहुँचना कुछ दुर्गम है और इसमे सन्देह है कि वाणिज्यिक

दृष्टि से आसवन सम्भव होगा क्योकि इनमे ओलिओरेजिन कम मिलता है । पाइनस खास्या (डिग्सा या खासिया चीड) खासिया पहाडियो में, लुसाई पहाडियो मे, चटगाँव के पहाडी क्षेत्रो में, शान की पहाडियो में और वर्मा मे मर्तवान की पहाडियो मे पाया जाता है। वाजार मे उपलब्ध भारतीय तारपीन, मुख्यत पाइनस लाँगिफोलिया (चीड) से प्राप्त किया जाता है जो यहाँ का एक महत्त्वपूर्ण वृक्ष है। हिमालय के ढालो पर २ हजार से ६ हजार फुट की ऊँचाई तक, अफगानिस्तान, कश्मीर, पजाव उत्तरप्रदेश मे लेकर भूटान, असम और (अपर एण्ड लोवर) वर्मा तक लगभग २० लाख एकड भूमि मे चीड के विस्तृत वन सर्वत्र फैले हुए हैं। मोटे तौर पर वनो का वितरण इस प्रकार है—उत्तरप्रदेश मे १० लाख एकड, पजाव में २,७०,००० एकड, कश्मीर मे ६,९२,००० एकड और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त (पाकिस्तान) मे २३,००० एकड ।

आर्थिक पक्ष चीड के इन वनो से जो आर्थिक सम्भावनाएँ हैं उनके विषय मे ज्यादा कहने की आवश्यकता नही है। लगभग चालीस साल पहले चीड के पेडो से रेजिन निकालने की दिशा मे ध्यान दिया गया था। आरम्भ मे प्रयोगात्मक परीक्षण का काम वन विभाग के तत्त्वावधान मे किया गया था और ज्योही यह बात सिद्ध हुई कि कुमायूँ के वनो से मिलने वाले तारपीन और रेजिन (राल) की खपत तुरन्त ही वाजार में हो जायगी, नैनीताल के वनखण्ड मे दस हजार पेडो को लेकर क्रमवद्ध कार्य शुरू किया गया और ५५०० फुट की ऊँचाई पर भवाली मे एक आसवनी (distillery) स्थापित की गयी जहाँ जल-पूर्ति की अच्छी सुविधाएँ थी। वाद मे एक कारखाना (आसवनी) लाहौर के निकट जल्लो स्थान पर खोला गया और १९१४ ई० से ही वहाँ तारपीन और रेजिन वडे पैमाने पर निकाला जा रहा है। १९२५ ई० मे १,४७,००० गैलन तारपीन तेल और ४५,००० मन कोलोफोनी (राल) वेचा गया था। १९२० ई० मे वरेली के निकट क्लटरवक गज मे आधुनिक उपकरणो से युक्त एक आसवनी खोली गयी और वह भी वडे पैमाने पर तेल और राल तैयार कर रही है। उत्तर प्रदेश मे पूर्वी तथा पश्चिमी अल्मोडा और नैनीताल मे तथा पजाव मे कतिपय स्थानो पर ओलिओरेजिन निकालने का कार्य हो रहा है। रेजिन (राल) और तारपीन के कारखाने जम्मू, कश्मीर और हिमाचल प्रदेश में भी स्थापित किये गये हैं जिससे वहाँ के ससाधनो से उत्पादन किया जा सके। रेल-मार्ग से दूर होने के कारण और इसके फलस्वरूप परिवहन-व्यय अधिक होने से सभी चीड के वनो से तारपीन और रेजिन प्राप्त करने का काम लाभप्रद नही हो सकता है। किन्तु इस असुविधा के बावजूद

भारतीय तारपीन का उत्पादन तेजी से बढता जा रहा है। १९१३-१४ ई० मे २८,३१९ पौण्ड के मूल्य का तारपीन और ३३,१५० पौण्ड के मूल्य का रेज़िन भारत मे आयात किया गया था। समुद्रपार व्यापार विभाग की रिपोर्ट के अनुसार १९१७-१८ ई० मे, भारत मे २,७६,००० गैलन तारपीन का उपयोग हुआ था जिसमे से १,४०,७७२ गैलन आयात किया गया था और १,३६,०५२ गैलन यहाँ देश मे तैयार किया गया था। यह अनुमान भी व्यक्त किया गया था कि तव से १० साल की अवधि के अन्दर भारतीय तारपीन का उत्पादन बहुत बढ जायगा, रेज़िन का उत्पादन ३ लाख मन तक और तारपीन का ८ लाख गैलन तक पहुँच जायगा। तारपीन उत्पादन की वृद्धि के सम्वन्ध मे जो आशा व्यक्त की गयी थी वह पूरी हो गयी है। भारत अब विलकुल आत्म-निर्भर हो गया है और इस उत्पाद को विदेश मे निर्यात भी करने लगा है। फिर भी, अभी कठिनाइयाँ है जिनको दूर करना होगा। अमेरिका और फ्रान्स की तारपीन मे टर्पीन मुख्यत 'पाइनीन' रहता है किन्तु भारतीय तारपीन मे मुख्यतया दो अन्य हाइड्रोकार्बन 'कैरीन' और 'लागिफोलीन' होते हैं। भारतीय तारपीन मे पाइनीन के न होने से, कपूर उद्योग मं उसका उपयोग नही किया जा सकता है। आसानी से उसका ऑक्सीकरण हो जाता है और वाष्पित करने पर इसमे रेज़िन की ऊँची प्रतिशत मात्रा रह जाती है, इसलिए उसे अन्य उत्पादो की अपेक्षा हीन समझा जाता है, किन्तु भारतीय तारपीन कई उद्योगो मे अमेरिकी या फ्रेन्च तारपीन की जगह काम मे लायी जा सकता है, यद्यपि इसका सघटन कुछ हद तक भिन्न होता है।

तारपीन तेल का प्रति-क्षोभक और रक्तिमाकर (rubefacient) के रूप मे वाह्य उपयोग किया जाता है। श्वसनीशोथ और यक्ष्मा मे लघु मात्राओ मे, तथा कृमिघ्न के रूप मे वडी मात्राओ मे तारपीन तेल का सेवन कराया जाता है। कभी-कभी श्वसनीशोथ म तारपीन तेल का 'अभिश्वसन कराया जाता है किन्तु इस प्रयोजन के लिए 'टेरेवीन' को साधारणतया अधिक पसन्द किया जाता है। टेरेवीन, तारपीन तेल से शीत सल्फ्युरिक अम्ल की क्रिया द्वारा तैयार किया जाता है, इससे पाइनीन ध्रुवण-अघूर्णक (optically inactive) डी-एल-लाइमोनीन मे वदल जाता है जो डाइपेण्टीन कहलाता हे।

कोलोफोनी (राल) मे अवीटिक अम्ल के ऐनहाइड्राइड के कई समावयवी यौगिक विद्यमान रहते हैं जिनकी मात्रा ८० प्रतिशत से ऊपर होती है। शिर्ख और स्टुडर (Tschirch & Studer, १९०४ ई०) ने इन ऐनहाइड्राइडो को ऐल्फा, वीटा, तथा गामा-एवीटिनिक अम्ल का नाम दिया था, किन्तु वहुधा इन सवको अवीटिक

अम्ल कहते है। जनक-अबीटिक अम्ल का, सूत्र $C_{20}H_{30}O_2$ है और इस प्रकार यह पिमैरिक अम्ल का समावयवी है। कोलोफोनी को तनु एल्कोहॉल के साथ पकाकर वाणिज्यिक अबीटिक अम्ल तैयार किया जाता है। कोलोफोनी मे एक रेजिन, तिक्त स्वाद वाले कोलोफेनिक अम्ल तथा वाष्पशील तेल के सूक्ष्म अश भी पाये जाते है। भेषजी (फार्मेसी) मे प्लास्टर और मरहम बनाने के लिए इसकी जितनी मात्रा खपती है, वह अपेक्षाकृत बहुत कम ही होती है। बी, सी, डी ग्रेड के कोलोफोनी का, जो अधिक काले रग के होते है, भजक आसवन करके रोजिन स्पिरिट और रोजिन तेल प्राप्त किया जाता है, या वे लिनोलियम या काले रग के वार्निश बनाने के काम मे लाये जाते है। ई, एफ, जी ग्रेड वाले कोलोफोनी को सज्ज या चिक्कण (साइज) करने के काम मे लाया जाता है। मध्यम ग्रेड वाले कोलोफोनी का साबुन बनाने के लिए बहुत उपयोग किया जाता है और हल्के ग्रेड वाले कोलोफोनी को मुहर लगाने की राल या हल्के वार्निश और भेषजी के लिए उपयोग मे लाया जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Gibson and Mason, 1927, *Ind For*, 53, 379, (3) Fowler G, 1928, *Capital* Dec 13, (4) Schimmel & Co, 1928, *Report*, (5) Simonsen, J L, 1920, *J C S Trans*, 570, (6) Simonsen and Pillay, 1928, *J C S Trans*, 359, (7) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 125

पाइपर क्युबेबा (पाइपरेसी)

Piper cubeba Linn (Piperaceae)

क्यूबेब्स, टेल्ड पिपर (Cubebs, Tailed pepper)

नाम —स०—सुगन्ध मुरिच, हि०, ब० एव बम्ब०—कबाब-चीनी, त०—बाल-मिलकु, ते०—चलवमिरियालु, फा०, अ०—किबाबेह।

यह एक आरोही काष्ठीय क्षुप है जो जावा, सुमात्रा और मलाया द्वीप समूह का देशीय पादप है और इसकी खेती भारत मे थोडी मात्रा मे होती है। इसके फल को आमतौर से कबाब-चीनी कहते है जिसे विशेषकर उष्ण प्रदेशो मे व्यजन के

रूप मे काम मे लाया जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे अरब और ईरान के चिकित्सक इसके फल को जनन-मूत्रीय रोगो में देते थे। पाश्चात्य चिकित्सा मे इसका उपयोग मध्य-युग से होने लगा था। इसका अग्रेजी नाम सम्भवत अरबी नाम 'किबाबेह' से लिया गया है। इस फल की सक्रियता का कारण उसमें एक वाष्पशील तेल की विद्यमानता है जो उसमे १० से १५ प्रतिशत की मात्रा मे पाया जाता है। इस तेल की एक विशिष्ट सुखद गन्ध होती है और उसका रग हरा से लेकर नीला-हरा तक होता है। तेल का सीमित उपयोग मूत्राशयशोथ, गोनोरिया और ग्लीट जैसे जनन-मूत्रीय रोगो मे किया जाता है।

कबाबचीनी के तेल के रसायन का पूरी तरह पता नही लगाया गया है, किन्तु निम्नलिखित स्थिराको का पता है—आपेक्षिक घनत्व, ० ९१० से ० ९३०, ध्रुवण-घूर्णन —२५° से —४०°, अपवर्तनाक १ ४८६ से १ ५००। ऐल्कोहॉल मे तेल की विलेयता मे बडी भिन्नता पायी जाती है, पर अधिकाश (तेल के) नमूनो की विलेयता ९० प्रतिशत ऐल्कोहॉल के १० भाग मे १ भाग होता है। यद्यपि कबाबचीनी का पौधा भारत का देशीय नही है किन्तु मैसूर मे यह उगाया गया है। वहाँ परीक्षणात्मक रूप से पैदा किये गये कबाबचीनी को आसवित करके निकाले गये तेल का सडबरो और वाट्सन ने अध्ययन किया था (१९२५ ई०)। उनको ११ ८५ प्रतिशत तेल मिला जिसके ये स्थिराक थे—आपेक्षिक घनत्व ० ९१६७, ध्रुवण-घूर्णन-२९ ९°, अपवर्तनाक १ ४८९४, साबुनीकरण मान ० ५ और एसिटिलेशन के उपरान्त साबुनीकरण मा २४ १।

सारणी-१२

(६६५ मि. मि दाब पर प्रभाजित) भारतीय कबाबचीनी तेल

तापमान सेण्टीग्रेड	प्रतिशत
१४० से १७० के बीच	५
१७० से २२५ के बीच	२०
२२५ से २४५ के बीच	१५
२४५ से २६५ के बीच	४५
२६५ से २८० के बीच	१०
अवशेष तथा क्षति	५

ब्रिटिश भेषजकोशीय कबाबचीनी तेल

तापमान सेण्टीग्रेड	प्रतिशत
२०० से नीचे	५
२०० से २३० के बीच	११
२३० से २४० के बीच	३
२४० से २५० के बीच	१५
२५० से २५५ के बीच	३१
२५५ से २५७ के बीच	३५

सारणी १२ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि असली तेल का ५६ प्रतिशत २५०° से० और २८०° से ० के बीच आसुत हो जाता है, जबकि भारतीय तेल का ५५ प्रतिशत इसी तापमान के बीच आसुत हो पाता है, इसलिए इन दोनो तेलो मे अन्तर नगण्य है और ऐसा सम्भव है कि औषधीय गुणो की दृष्टि से भारतीय तेल वाणिज्यिक तेल की तुलना मे किसी तरह कम नही है। यदि यहाँ कबाबचीनी और प्रचुरता से पैदा की जाय तो इसकी पर्याप्त सम्भावना है कि औषधीय तथा अन्य प्रयोजनो के लिए इसके तेल का समुचित उत्पादन यहाँ होने लगे ।

ट्रीज के अनुसार कबाबचीनी से १० से १८ प्रतिशत वाष्पशील तेल मिलता है जिसमे टर्पीनो और सेस्क्विटर्पीनो के अतिरिक्त एक क्रिस्टलीय गन्ध-शून्य पदार्थ क्यूबेविन, एक अक्रिस्टलीय श्वेत पदार्थ क्यूबेविक अम्ल (१ प्रतिशत) और अक्रिस्टलीय रेजिन (३ प्रतिशत) होते है। सल्फ्यूरिक अम्ल के मिलाने पर क्यूबेविन और क्यूबेविक अम्ल लाल रग देते हैं। अच्छे किस्म की कबाबचीनी से अम्ल मे अविलेय राख २ प्रतिशत से अधिक नही मिलती और १३ प्रतिशत से कम वाष्पशील तेल नही मिलता। पाश्चात्य चिकित्सा मे इस भेषज का गोनोरिया और चिरकालिक श्वसनीशोथ में उपयोग किया जाता रहा है, किन्तु अब इसका बहुत कम उपयोग होता है। स्थानिक क्षोभक प्रभाव के कारण कबाबचीनी का श्लेष्मकला पर उद्दीपक प्रभाव पडता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके सक्रिय तत्त्वो में अवशोषित हो जाने की और वृक्क द्वारा बहिर्गत हो जाने की क्षमता होती है, और जनन-मूत्र मार्ग की श्लेष्मकला पर ये अपने विशिष्ट गुणो का प्रभाव डालते है। गोनोरिया मे प्रतिरोधी और मूत्रल रूप मे इसका सेवन किया जाता है, और श्वसनिका की श्लेष्म-कला के लिए उद्दीपक एव प्रतिरोधी कफोत्सारक के रूप मे इसका लाजेज बनाकर चूसा जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Rao, Sudborough and Watson 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 139, (3) Umney and Potter, 1912, *Perfumery and Essential Oil Records*, 3, 64, (4) Trease, G E, 1952, Text Book of Pharmacognosy, 235, (5) Mukerji, B 1953, Indian Pharmaceutical Codex, 85

पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम (बर्बेरिडेसी)

Podophyllum hexandrum Royle (Berberidaceae)

पर्याय पोडोफिलम इमोडी Podophyllum emodi Wall

*भारतीय पोडोफिलम—Indian Podophyllum

नाम :—हिं०-पाप्रा, पाप्री, भवन-चक्रा, वक्रा-चिमयाका, कश्मी०—वनवागन, प०—वन-ककड़ी, गुल-कक्रू, म०-पडवल।

भारतीय पोडोफिलम एक छोटा सा शाकीय पौधा है जो हिमालय के छायादार शीतोष्ण वनो मे सिक्किम से लेकर कश्मीर तक सात हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। कश्मीर मे यह ६ हजार फुट की ऊँचाई पर होता हे और विशेषकर पर्वत की उत्तरी ढलानो पर जहाँ सूर्य का ताप अधिक नही होता बहुत पाया जाता है। शिमला की पूर्ववर्ती शलाई पहाडियो की ढलानो के वनो मे भी प्रचुरता से पैदा होता है। कागडा, कुल्लू और चम्बा की अधिक ऊँची श्रेणियो में बहुत से समृद्ध वन है जहाँ के वन-गलियारे (glades) इसी शाकीय पौधे से भरे हुए हैं। इसकी बडी मात्रा बिक्री के लिए वहाँ से एकत्र की जाती है। इस पौधे ने प्राचीन हिन्दू चिकित्सको का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था और देशीय चिकित्सा मे इसको जो 'पाप्रा' (पापडा) 'निर्वाश' और 'भवन-चक्रा' का नाम दिया गया है उससे यह प्रकट होता है कि इसके पित्तनाशक गुणो का उन्हें पूरा ज्ञान था।

एक विरेचक और पित्तोत्सारक औषधि के रूप मे इसके रेजिन का उपयोग चिकित्सा मे किया जाता हे। इसका रेजिन पौडोफिलम पेल्टेटम (*P. peltatum*) मे ऐपुल या मैनड्रेक—बरबेरिडेसी कुल के प्रकन्द से निकाला जाता है जो ब्रिटेन तथा अमेरिका दोनो ही देशो के भेषजकोशो मे अधिकृत (official) है। यह अमेरिका मे बहुत होता है। प्राय ३५ वर्ष पूर्व अमेरिकी 'पोडोफिलम' के प्रकन्द और 'पोडोफिलिन' रेजिन की बहुत बिक्री इग्लैण्ड में और यूरोप के अन्य देशो मे होती थी। उस समय यह रेजिन भारत मे भी बहुत आता था क्योंकि भारतीय भेषज पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम के सघटक और गुणो को पूर्णत मान्यता नही मिल पायी थी। अधिकृत भेषज का स्थानापन्न होने का जो इसका दावा था उसके सम्बन्ध मे बहुत वर्ष पूर्व वॉट ने अनुसधान किया था और उन्होने यह पाया कि भारतीय पोडोफिलम मे उससे तीन गुना अधिक रेजिन होता है जितना कि वाणिज्यिक अमेरीकी पोडोफिलम मे होता है। डाइमॉक

* इसे सस्कृत मे 'गिरिपर्पट' या 'वनवृन्ताक' कहते है—अनु०

(Dymock) और हूपर (Hooper) ने (१८८८ ई०) भारतीय पोडोफिलम मे १० प्रतिशत रेजिन पाया था और उम्नी (Umney) ने १२ प्रतिशत, जब कि पोडोफिलम पेल्टेटम के प्रकन्द के चार नमूनो मे हेनरी एव डन्स्टन (Henry and Dunstan) को (१८९८ ई०) क्रमश ४ १७, ५'२, ५'४, और ५ २ प्रतिशत रेजिन मिला था। इन आँकडो मे यह आसानी मे समझ में आ जाता है कि रेजिन प्राप्ति की दृष्टि से भारतीय पादप कितना अधिक मूल्यवान है। अमेरिकी पादप की अपेक्षा भारतीय पादप मे एक और विशेषता यह है कि इसमे 'पोडोफिलोटॉक्सिन' जिसपर रेजिन का विरेचक गुण अशत निर्भर करता है अधिक मात्रा मे होता है। सारणी सख्या १३ में भारतीय तथा अमेरिकी 'पोडोफिलम' के प्रकन्दो से मिलने वाले रेजिन तथा पोडोफिलोटॉक्सिन की प्रतिशत मात्रा बतायी गयी है और इस सारणी से यह पता चल जाता है कि भारतीय पोडोफिलम में कितना अधिक रेजिन और पोडोफिलो-टॉक्सिन विद्यमान हैं।

सारणी संख्या १३

जाति	उत्पत्ति स्थान	उपयोग मे लाये गये प्रकन्द की मात्रा	पाये गये पोडोफिलो-टॉक्सिन की प्रतिशतता	प्राप्त रेजिन की प्रतिशतता
पोडोफिलम हेक्सैंड्रम	कुलू (पजाव)	११ ९२ ग्राम	२ ८	९ ५५
,,	वशहर (पजाव)	३२ ४६ ,,	३ ५	९ ०
,,	चम्बा (पजाव)	९ ८१ ,,	४ ७	११ १२
,,	हजारा (उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त)	११ ६ ,,	२'९	—
पोडोफिलम पेल्टेटम (यू० एस० ए०)	अमेरिका	११'३५ ,,	० ७७	५'२
,,	,,	२३'५५ ,,	०'९	४'१७

भारतीय पोडोफिलम के प्रकन्द का एक मूल्याकन १९२६ ई० मे किया गया था जिसमें उसके १०'०२ प्रतिशत सक्रिय तत्त्व पाये गये थे और पहले के कार्य-कर्ताओ ने जो निष्कर्ष निकाले थे उसकी पुष्टि इस मूल्याकन से हो जाती है।

चिकित्सीय दृष्टि से भारतीय जाति के प्रकन्दो से मिलने वाला रेजिन भी, यदि अधिक नही तो, उतना ही प्रभावी होता है जितना आयातित प्रकन्द का रेज़िन होता है।

सघटक :

ट्रीज के मतानुसार पोलोफिलम का सक्रिय तत्त्व उस रेजिनी मिश्रण मे होता है जिसे पोडोफिलिन कहते हैं। इस भेषज के ऐल्कोहॉली निस्सार को जल मे डालकर और प्राप्त अवक्षेप को सुखाकर यह पोडोफिलिन तैयार की जाती है। अमेरिकी पोडोफिलम मे यह रेजिन ४ से ५ प्रतिशत तक मिलता है, जव कि भारतीय पोडो-फिलम मे यह ८ से १२ प्रतिशत तक मिलता है। पोडोफिलम रेजिन बी० पी० दोनो ही भेषजो से प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु शरीरक्रियात्मक सपरीक्षणो से यह पता चलता है कि भारतीय रेजिन अमेरिकी रेजिन की अपेक्षा प्राय दुगुना प्रभावी होता है। विहोवर और मैक (Vichoever and Mack) के मतानुसार (१९३८ ई०) अमेरिकी तथा भारतीय दोनो ही पोडोफिलम या पोडोफिलिन से जो एकमात्र सक्रिय क्रिस्टलीय पदार्थ अलग किया गया है वह पोडोफिलोटॉक्सिन है। सम्भव है कि यह इसका मुख्य विरेचक तत्त्व न हो और अभी उस मुख्य तत्त्व को निकालना बाकी हो। पाडविस्सोटास्की (Padwyssotaski) ने (१८८१ ई०) जो अपरिष्कृत पोडोफिलोटॉक्सिन अलग किया था, वह कोएर्स्टेन (१८९१ ई०) द्वारा क्रिस्टली रूप मे पाया गया था। इसका सूत्र $C_{22}H_{22}O_8$ है और यह एक जटिल त्रिचक्रीय (tricyclic) यौगिक है। यह बहुत ही विपालु होता है और जल मे बडा ही अल्प विलेय है। यह जलीय या क्षारीय विलेय मे अस्थिर होता है और इन विलेयो से पोडोफिलिक अम्ल ($C_{22}H_{24}O_9$) तथा पिक्रोपोडोफिलिन (जो पोडोफिलोटॉक्सिन का समावयवी और पोडोफिलिक अम्ल का ऐनहाइड्राइड है) मिलते हैं। पिक्रोपोडो-फिलिन एक जिलैटिनी अवक्षेप है यद्यपि यह हाल मे क्रिस्टली रूप मे तैयार किया गया है। पोडोफिलोटॉक्सिन पर क्षार की अभिक्रिया करने पर यह जिलैटिनी अवक्षेप बनता है, इस अभिक्रिया द्वारा अमेरिकी तथा भारतीय रेजिनो को अलग किया जा सकता है, क्योकि भारतीय रेजिन मे पोडोफिलोटॉक्सिन अधिक होता है। पोडो-फिलोटॉक्सिन, पोडोफिलिक अम्ल तथा पिक्रोपोडोफिलिन का सरचना-सूत्र प्रस्तुत किया गया है। पोडोफिलम रेजिन मे एक पीतवर्णी, क्रिस्टली फ्लैवोनॉल भी होता है जिसे क्वेर्सेटिन कहते है। इस भेषज मे पर्याप्त स्टार्च, कैल्सियम ऑक्जलेट, तथा कुछ स्थिर तेल भी पाये जाते है।

संघटको की दृष्टि से भारतीय पोडोफिलम, अमेरिकी पोडोफिलम से बहुत मिलता जुलता है, किन्तु उसमे रेजिन की (८-१२ प्रतिशत) और पोडोफिलोटॉक्सिन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसके रेजिन मे, पोडोफिलम पेल्टेटम से तैयार किये रेजिन की अपेक्षा दुगुना पोडोफिलोटॉक्सिन होता है, और अमोनिया मे घुलनशीलता या जलीय पोटैशियम हाइड्राक्साइड में जिलैटिनीकरण के आधार पर इन भेषजकोशीय परीक्षणो द्वारा उन दोनो रेजिनों मे विभेद किया जा सकता है। दोनो रेजिनो से तैयार, छाने गये ऐल्कोहॉली निस्सार मे कॉपर ऐसीटेट के सान्द्र विलयन की कुछ बूंदे डालकर इन भेषजो का रासायनिक विभेद भी किया जा सकता है। इस परीक्षण मे पोडोफिलम पेल्टेटम से चमकीला हरा रग मिलता है, भूरे रग का अवक्षेप नही, किन्तु पोडोफिलम हेक्सैण्ड्रम से भूरे रग का अवक्षेप प्राप्त होता है।

आर्थिक पक्ष

इन सब गुणो के रहते हुए भी भारतीय पोडोफिलम हेक्सैड्रम, अमेरिकी पोडोफिलम का मुकावला नही कर सकता और भारत के बहुत से भेषज-निर्माता अपने कारखानो मे अमेरिकी पोडोफिलम का उपयोग करते है। इसका कारण स्पष्ट है, भारत मे पोडोफिलम हेक्सैड्रम प्रचुरता से पैदा होता है, किन्तु उसका सग्रहण वैज्ञानिक ढग से नही किया जाता। इसका परिणाम यह हुआ है कि भेषज की एकरूपता का कोई प्रभाव स्थिर नही रखा जा सका है। हमे मालूम हुआ है कि पोडोफिलम पहले हजारा में कृषि द्वारा पैदा किया जाता था किन्तु १९१२ ई० से इसकी खेती बन्द हो गयी है। सभी स्थानो मे सभी मौसमो मे और सभी तरह की ऊँचाइयो से सग्रहीत किये गये पोडोफिलम मे रेजिन की मात्रा एक सी नही होती हैं और न पोडोफिलोटॉक्सिन तथा पोडोफिलो-रेजिन जो इसके सक्रिय तत्त्व हैं, की मात्रा भी सबमे एक सी होती हैं। इन सक्रिय तत्त्वो का ध्यान रखे विना वेढगे तौर से जो इसका सग्रहण किया जाता है उससे इस भेपज की ख्याति को बहुत हानि पहुँची है। ढग से इसकी कृषि न होने से इसका नियमित सम्भरण नही होता इसलिये व्यापारियो से तथा सग्रहकर्ताओ से जो अपरिष्कृत भेपज मिलता है उस पर विश्वास करना निर्माताओ के लिए कठिन होता है।

इधर कुछ ही समय से भारती निर्माताओ ने यहाँ के पोडोफिलम से रेजिन तैयार करना आरम्भ कर दिया है। कश्मीर मे उगाये पोडोफिलम से ड्रग रिसर्च लैबोरेटरी द्वारा तैयार किया गया अधिकाश रेजिन जो बी० पी० के स्तर के पोडोफिलम रेजिन

की तुलना में ठीक पाया गया, विदेशी बाजार मे बिक गया। पोडोफिलम की अधिकाश सम्पूर्त्ति वरजीनिया, उत्तरी कैरोलिना, केण्टुकी, इण्डियाना और टेनिसी से होती है। इसकी खपत अमेरिका मे बडी मात्रा मे होती है। जैसा बताया गया है कि यह भारत मे स्वत पैदा होता है, यद्यपि छोटे पैमाने पर इसकी खेती का प्रयास कश्मीर और हिमाचल प्रदेश मे किया गया है। यह भेपज वसत या शरद ऋतु मे सग्रहीत किया जाता है। शरद काल मे सग्रहीत किये पोडोफिलम मे वसत काल में सग्रहीत पोडोफिलम की अपेक्षा रेजिन की मात्रा कम होती है। प्रकन्द को खोदकर निकाला जाता है और उसे धोकर रम्भाकार छोटे-छोटे टुकडो मे काटकर सावधानी से सुखा लिया जाता है। युद्ध के दिनो मे जब विदेशो से इसका सम्भरण प्राय बन्द हो गया था तो भारतीय पोडोफिलम की बिक्री बाजार मे बढ गयी थी, किन्तु अब स्थिति फिर बदल गयी है। जब तक समुचित ढग से सग्रहण करने और सुखाने की ओर अधिक ध्यान नही दिया जायगा अथवा उपयुक्त स्थानो मे इसकी ठीक ढग से खेती नही की जायगी, तब तक यह सभव नही है कि भारतीय पोडोफिलम का उपयोग भारत मे हो पाये, जहाँ अमेरिकी पोडोफिलम बहुत कम कीमत मे मिल जाता है। इसकी खेती कठिन नही है। ऊँचे स्थानो मे जहाँ पर्याप्त आर्द्रता रहती है इसकी अभिवृद्धि सतोषजनक रूप से होती है और दो से चार वर्षो के अन्दर ही इसके प्रकन्द सग्रह करने और बाजार भेजे जाने के योग्य हो जाते है। सम्भवत सिक्किम के हिमालयीय क्षेत्र मे इसकी खेती बडी सफल होगी। ९००० से १४००० फुट की ऊँचाई पर यह खूब पैदा होता है, किन्तु ६ हजार से ९ हजार फुट की ऊँचाई पर भी इसकी खेती का प्रयास किया जा सकता है। सायादार जगलो की भूमि मे या जगल के खुले क्षेत्रो मे यह खूब उगता है।

गुण-कर्म

यह आँखो को और साधारणत श्लेष्मकलाओ को बहुत क्षोभित करता है। अक्षत त्वचा पर रेजिन का प्रभाव नही पडता है, किन्तु क्षतिग्रस्त चर्म पर यह अवशोषित हो सकता है और रेचक प्रभाव पैदा कर सकता है। यह बहुत ही सक्रिय रेचक है और औसतन ० ०१ ग्राम की मात्रा मे इसका सेवन किया जाता है। विषालु मात्रा में दिये जाने पर यह अत्यन्त तीव्र आन्त्रशोथ पैदा करता है जिससे मृत्यु भी हो सकती है। पॉड्विस्सोटस्की (Podwyssotaski) ने इसकी रेचक क्रिया का कारण एक मात्र पोडोफिलोटॉक्सिन को माना है। क्रिस्टलीय रूप मे देने पर कुत्ते और बिल्लियो के लिए यह अत्यन्त ही विषालु होता है। ० ००५ ग्राम की मात्रा मे

इसका अधत्वक् इन्जेक्शन देने से एक बिल्ली मर गयी थी। उन्हे कुत्ते को इसका अधत्वक् इजेक्शन देने पर ये लक्षण दिखाई दिये—इजेक्शन लगाते ही तंत्रिकातंत्र पर इसका सद्य॰ प्रभाव प्रत्यक्ष हो गया और अध॰ अगो (posterior extremities) मे समन्वय विक्षोभ (disturbances of co-ordination) पैदा हो गया, दौर्बल्य द्रुत गति से बढता दिखायी देने लगा जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध जठरान्त्रीय लक्षणो की उग्रता से सर्वदा नही होता था, सास की गति बहुत तेज हो गयी और शरीर तापमान बहुत ही गिर गया, जानवर की मृत्यु साधारणत सन्यस्त (comatose) अवस्था मे हुई, मृत्यु के पहले कई तीव्र अवमोटन उद्वेष्ट (clonic cramps) परिलक्षित हुए। मृत्योपरान्त शव-परीक्षा मे आमाशय की श्लेष्म-कला रक्तिम मिलती है, आँते सामान्यत बहुत ही सकुचित रहती है किन्तु श्लेष्म-कला अपेक्षाकृत कम अतिरक्त (hyperaemic) मिलती है। यकृत काला हो जाता है, और रक्त से भरा रहता है, और पित्ताशय बहुधा फूल जाता है।

सन्दर्भ :—

(1) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (2) Dunstan and Henry 1898, *J C S Trans*, 209, (3) Chopra, R N, and Ghosh, N N, 1926 *Ind Jour Med Res*, 66, 533, (4) Trease, G E, 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 277, (5) Seshadri, T R, and Subramanian, S S, 1950, *Jour Sci Industr Res*, 9, (6) B, 137-141, (6) Dutta, S. C and Mukerjee, B, 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 30, (7) Chopra, R N, Badhwar, R L, and Ghosh, S, 1949, *Poisonous Plants of India*, I, 161, (8) Podwyssotski 1881-82, *Pharm, Jour.*, 12 (III) 217, 1011, *Arch Exp Path Pharmak*, 1880, 13, 29, *Pharm Z Russland*, 1881, 12, 44, *Ber*, 1882, 15, 377 Vide *J Amer Pharm Assoc.* 1938, 27 (8), 632, (9) Chopra, R N, Kapoor, L D, Handa, K L, and Chopra, I C, 1947, *Jour Sci Industr. Res*, 6, 12, (10) Handa, K. I. Kapoor, L D and Chopra, I C, 1951, *Ind Jour Pharm*, XIII, 5, 118

सिकोट्रिया इपीकैकुआन्हा (रूबिएसी)

Psychotria ipecacuanha Stokes (Rubiaceae)

पर्याय—सेफेलिस इपीकैकुआन्हा

Syn.—Cephaclis ipecacuanha (Brot.) A. Rich.

नाम—इपीकैकुआन्हा, इपीकाक।

इपीकैकुआन्हा एक सुविज्ञात भेषज है जिसे बहुत से देशो की भेषजकोशो मे अधिकृत रूप से मान्यता प्राप्त है। यह सिकोट्रिया इपीकैकुआन्हा (जिसे आजकल सेफेलिस इपीकैकुआन्हा कहते है) की सूखी जड होती है। सेफेलिस इपीकैकुआन्हा ब्राजील का देशीय पादप है और इसकी सूखी जड का रायो डी जानिअरो से विश्व के विभिन्न भागो मे निर्यात होती है। इपीकैकुआन्हा की अन्य दो किस्मो को अर्थात् मिनास इपीकैकुआन्हा' को 'ब्राज़ील मे मिनास जिरेस' मे इसकी खेती होती है और जोहोर इपीकैकुआन्हा को(मलयेशिया मे जोहोर और सिलागोर नामक स्थानो मे इसकी खेती होती है) ब्रिटिश भेपजकोश द्वारा मान्यता प्राप्त है। इसकी एक दूसरी जाति 'कार्थेजिना इपीकैकुआन्हा' है जो कोलम्बिया के सेफेलिस ऐक्यूमिनेटा (*C acuminate* Karsten) से प्राप्त होती है और इसका भी व्यापार मे उपयोग होता है। इस जाति की जड अपेक्षाकृत अधिक मोटी और सावली होती है और ब्राजील की इपीकाक की तुलना में इसमे वलयन (annulation) कम सुस्पष्ट होते है। ब्राजील की इपीकाक की जड पतली और टेढी-मेढी (tortuous) होती है और इसका रग ईंट जैसा लाल से लेकर गहरा भूरा होता है। इपीकैकुआन्हा का पौधा ऊँचाई में ३० सेण्टीमीटर तक बढता है। इसके पतले प्रकन्दो और शयान (prostrate) स्तम्भो से जगह जगह जडें निकलती है। इन जडो की छाल कभी कभी असामान्य रूप से मोटी हो जाती है और इन्ही मोटी छालो और जडो को व्यापार मे भेषज के रूप मे काम मे लाया जाता है। यह पौधा ब्राजील के अनेक भागो मे पाया जाता है और अपने आप पैदा होता है, किन्तु इस देश के कई प्रदेशो मे निर्यात के लिए इसकी खेती भी होती है। निर्यात किया हुआ इपीकैकुआन्हा ही भारतीय बाजारो मे बहुत बिकता है।

इपीकैकुआन्हा का भारतीय स्थानापन्न :

इपीकैकुआन्हा भारत का देशीय पादप नही है, किन्तु समय-समय पर कई स्थानीय पादपो के बारे मे यह कहा गया है कि उनमे भी इपीकैकुआन्हा के सदृश गुण वर्तमान है और उनको इसका स्थानापन्न बनाने का सुझाव दिया गया है।

नरेगैमिया ऐलेटा (*Naregamia alata*–गोवा का इपीकाक) कुल-मीलिएसी, नाम–म०–तीनपाति, पित्तवेल, यह एक अरोमिल छोटी झाडी है जिसकी पत्तियाँ त्रिपर्णक (trifoliate) होती है। यह पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत मे पाया जाता है और इसमे इपीकाक के सदृश गुण की विद्यमानता बताई गई है। मद्रास में इसका परीक्षण तीव्र अतिसार मे किया गया तथा वामक और कफोत्सारक के रूप मे प्रयोग किया गया, पर परिणाम अनिश्चित मिले। इसमे नेरेगैमीन नामक ऐल्केलॉयड विद्यमान रहता है जिसका एमेटीन से कोई सम्बन्ध नही है। क्रिप्टोकोरीन स्पाइरैलिस (*Cryptocoryne spiralis*), कुल–ऐरॉयडी, जिसे तमिल मे नत्तु-अति-वादयाम कहते है, एक छोटा एकबीजपत्री पौधा है जिसका प्रकन्द 'पूर्व भारतीय मूल' (East Indian root) के नाम से मद्रास से बाहर निर्यात किया गया है। पर न इसमे एमेटीन मिलता है, न सेफेलीन। टाइलोफोरा ऐस्थ्मेटिका (*Tylophora asthmatica*–पर्याय टाइलोफोरा इन्डिका - (*Tylophora indica*), कुल ऐस्क्लीपियाडेसी, नाम–हि०–जगली पिक्वन, ब०–अन्तमूल, त०—नाय-पालै, एक ऐसा पौधा है जो अभी भी स्थानापन्न के रूप मे व्यवहृत हो रहा है और जिससे सन्तोषप्रद परिणाम मिले है। यह एक छोटी वल्लरी है जो पूरे पूर्वीय भारत बगाल, आसाम, कछार, चटगाव, दक्षिणी भारत, और बर्मा के जगलो में पायी जाती है। अनेको वर्ष पूर्व रॉक्सवर्ग ने पश्चिमी चिकित्सा मे इस लता की ओर सर्व प्रथम ध्यान आकृष्ट कराया। ओशाउघ्नेसी (O'Shoughnesy) ने रॉक्सवर्ग की धारणा की पुष्टि की और कहा कि इसके मूल मे वामक गुणो की उपस्थिति भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है और यह इपीकाक एक उत्कृष्ट स्थानापन्न है। इस पौधे के गुणो से आरम्भिक शोधकर्ता इतने प्रभावित हुए कि इसे बगाल फर्माकोपिया (१८४४ ई०) मे मान्यता मिल गयी। जब १८६८ ई० मे भारत के फर्माकोपिआ (Pharmacopodia of India) का सकलन किया गया तो मूल के स्थान पर इसकी पत्तियो को उसमे मान्यता दी गयी, क्योंकि पत्तियो के प्रयोग से एक समान तथा निश्चित परिणाम मिलते थे। इसमे दो ऐल्केलॉयड टाइलोफोरीन तथा टाइलोफोरिनीन विद्यमान है। श्वसनीशोथ तथा अतिसार मे इसका प्रयोग इपीकाक के स्थानापन्न के रूप मे किया जाता है। एस्क्लीपियाज कुरासैविका (*Asclepias curassavica*) भी एक अन्य पौधा है जो वेस्ट इन्डीज से भारत मे लाया गया और अब यह पूर्ण रूप से यहाँ की प्रकृति के अनुकूल हो गया है। अब यह दक्षिण भारत के कई भागो मे तथा बगाल मे वन्य दशा में उगता है। इस पौधे की जड मे वामक गुण पाये जाते है इसलिये वेस्ट इन्डीज के उपनिवेशी इसे 'नकली या जगली इपीकाक' की सज्ञा प्रदान की। इसका सक्रिय तत्त्व 'ऐस्क्लीपीन'

नामक एक ग्लाइकोसाइड है, ऐमेटीन ऐल्केलॉयड नही। इसके जडो में वामक गुण पाये जाते है। इन सब पौधो के अतिरिक्त, देशीय चिकित्सा पद्वति मे कई अन्य बूटियाँ भी प्रयोग मे लाई जाती है जिनको इपीकाक का स्थानापन्न माना जाता है। उदाहरण के लिए ऐनोडेन्ड्रॉन पैनिकुलेटम, कैलोट्रॉपिस जाइगैन्टिया, गिलेनिया स्टिपुलैसिया, यूफॉर्विया इपीकाकुआन्हा, वूरहैविया डिफम्वेन्स, सार्कोस्टेमा ग्लेब्रा आदि। यद्यपि इन भेषजो पर विस्तृत रासायनिक तथा गुण-कर्म सम्बन्धी अध्ययन नही किया गया है, फिर भी यह देखा गया है कि इनमे से किसी मे भी एमेटीन या सम्बद्ध ऐल्केलॉयड विद्यमान नही ह, अपितु अधिकाश में क्षोभक पदार्थ विद्यमान है जिनके कारण उनमे वामक गुण पाया जाता है। इनमे से कुछ का प्रयोग अमीबी अतिसार मे किया गया, पर सफलता नही मिली।

भारत मे अमीवी अतिसार की व्यापकता को देखते हुए इस देश के लिए इपीकैकुआन्हा बहुत ही महत्त्व का भेषज है। कलकत्ता के ट्रॉपिकल स्कूल ऑफ मेडिसिन के प्रोटोजुआ विज्ञान विभाग मे बहुत से मलो (stools) के परीक्षण से यह पता चला कि १४ प्रतिशत लोग (इस व्याधि से पीडित थे), इससे इस बात का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इस भेषज की कितनी अधिक माँग है। यह भेषज भारत में पैदा नही किया जाता था, इसलिए बडी मात्रा मे अपरिष्कृत भेषज और ऐल्केलॉयड एमेटीन हरसाल बाहर से मँगाया जाता था। अच्छे किस्म का इपीकैकुआन्हा भारत मे उगाया जा सकता है और अपनी माँग की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त मात्रा मे यहाँ पैदा किया जा सकता है। इस उपक्रम से भारत को लाभ मिल सकता है, इसको समझने मे भारत सरकार ने शिथिलता नही दिखायी, और १९१६-१७ ई० मे ही इपीकैकुआन्हा की खेती नीलगिरी और दार्जिलिग के निकट मुँगपू मे शुरु कर दी गयी थी। बाद मे इसकी खेती बर्मा मे भी आरम्भ की गयी। इसमे बीज अच्छे लगे और १९२० ई० के प्रतिवेदन से ऐसा पता चला कि यदि बोये गये बीज से पौधो-को उगाया जाय तो इसकी खेती के सफल होने की सर्वथा सम्भावना है। १९२२ ई० के प्रतिवेदन मे बताया गया था कि इपीकैकुआन्हा के पौधे अच्छी तरह बढ रहे थे और उनकी सख्या मे भी काफी वृद्धि हो गयी थी और वर्तमान रोपणियो को और विस्तृत करने की बात सोची जा रही थी। इसकी खेती के विस्तार की सम्भावना बहुत आशाप्रद है किन्तु कुछ कठिनाइयाँ भी है। दैनिक तापमान मे ज्यादा उतार-चढाव का इसकी खेती पर बुरा प्रभाव पडता है और यदि इसके निराकरण के लिए समुचित व्यवस्था नही की जाती तो आशका इस बात

की है कि समूची खेती ही नष्ट हो जाय। इन कठिनाइयो के होते हुए भी मुंगपू मे और अन्यत्र भी पौधो ने अब तक अच्छी प्रगति की है। ऐसा अनुमान है कि अकेले मुंगपू मे ही २,२६,४९६ पौधे उपाये गये थे। वर्मा की रोपणियो मे ६६८,८५१ पौधे उगाये गये थे। इनकी जडो की कोटि काफी सन्तोप प्रद है जैसा निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट होता है। इसमे वाजार मे विकने वाली विभिन्न जडो मे निहित कुल ऐल्केलॉयड और एमेटीन की मात्राओ का तुलनात्मक विवेचन दिया गया है —

	कुल ऐल्केलॉयड	एमेटीन
ब्राज़ील का जड	२ ७ प्रतिशत	१ ३५ प्रतिशत
वाज़ील का स्तम्भ	१ ८० ,,	१ १८ ,
कोलम्बिया का जड	२ २० ,,	० ८९ ,,
भारतीय जड	१ ९८ ,,	१·३९ ,,

उपरोक्त ऑकडो को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राजील के जड की तुलना मे भारतीय जड मे एमेटीन की मात्रा अधिक रहती है यद्यपि इसमे कुल ऐल्केलॉयड कम होता है। कोलम्बिया की जड में कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा पर्याप्त होती हे किन्तु वाणिज्यिक प्रयोजनो के लिए उसमे एमेटीन का अनुपात वहुत कम होता है। भारतीय इपीकैकुआन्हा से मिलने वाला एमेटीन शुद्ध रूप मे अव वाजार में उपलब्ध है, किन्तु माँग की तुलना मे यह मात्रा वहुत अपर्याप्त है। पश्चिमी बगाल के पहाडी प्रदेशो मे इपीकैकुआन्हा की खेती अब वाणिज्यिक स्तर पर की जाती है।

कृषि :

विश्व के अन्य भागो मे इपीकैकुआन्हा की खेती का प्रयास अव किया गया हे। जावा और श्रीलका मे इसकी कृषि सफल नही सिद्ध हो पायी है, किन्तु मलयेशिया मे और स्ट्रेट सेट्लमेण्ट्स मे इसकी खेती मे अच्छी प्रगति हुई है विशेपतः रवर के वागानो मे और अव वहाँ से इपीकैकुआन्हा की जड का, जो देखने मे वहुत ही अच्छी होती है और एल्केलॉयड से सम्पन्न होती है, पर्याप्त मात्रा मे निर्यात होता है। इस पादप की जलवायु विषयक एव मृदीय आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे भारत मे सर्वेक्षण किया गया है जिससे यह पता चलता है कि इस पादप की खेती का परीक्षण सफलता के साथ जोरहाट (असम), चटगाँव (कॉक्स वाजार, पूर्वी वगाल), सुन्दरवन (मोरालगज, कालीगज, वगाल), जिला जलपाइगुडी (वगाल), वालासोर (उडीसा) तथा मेघासिनी के पहाडी क्षेत्रो मे किया जा सकता है। यह पाइप मुंगपू मे १२ सौ से १५ सौ फुट की ऊँचाई पर उगायी जाती है जहाँ वार्षिक वृष्टि प्राय १२० इच है और

अधिकतम ग्रीष्मकालीन तापमान १००° फारेनहाइट है और जाडे मे कुहरा नही पडता है। इस पादप के लिए अच्छी वलुई, कछार वाली दुमट मिट्टी चाहिये जो बनावट मे खुरदरी हो और जहाँ जलोत्सारण अच्छा हो। इस पादप की आवश्यकताओ के लिए निम्नांकित सरचना वाली मिट्टी सम्भवत' उपयुक्त होगी।

स्वच्छ धुला वालू १ भाग, भलीभाँति सडी पत्ती की खाद १ भाग, साधारण (चूर्णशील दुमट) मिट्टी १ भाग, चूना मिला कचरा १ भाग, चूर्णित ईंटे २ भाग, तेल की खली तथा सूखी गाय के गोवर का खाद २ भाग। कैल्सियम फास्फेट, मैग्नीसिया और पोटैश लवण यदि ठीक ढग से दिया जाता रहे तो वह उस पौधे के लिए वडा लाभप्रद होता है।

इस पौधे को वीज से या कर्त्तन द्वारा (कलम रोपकर) उगाया जा सकता है, किन्तु कर्त्तन (कलम) द्वारा उगाये पौधे अधिक तेजी से वढने वाले और स्वस्थ होते है। वीजो को अकुरित होने मे वहुत समय लगता हे, कभी-कभी इसमे ६ महीने लग जाते है और केवल ३० प्रतिशत वीज ही अकुरित हो पाते हे। कलम लगाकर इसका जो प्रजनन किया जाता है वह जड या प्ररोह अथवा पर्ण के कर्त्तन लगाकर किया जा सकता है। जड की कर्त्तनो या टहनियो को ऐसे पात्र मे रोपना चाहिये जो ३ इच से ज्यादा गहरा न हो और जिसमे महीन वालू भरा हो। वालू भरे पात्र को सदा आर्द्र रखना चाहिये, किन्तु जलप्लावित नही होना चाहिये और उन्हे सायेदार स्थान मे ही रखना चाहिये जहाँ मुक्तरूप से हवा मिलती रहे, किन्तु इस वात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सूर्य की किरणे पौधो पर सीधी न पडे। एक पक्ष या तीन सप्ताह मे पत्तो मे कैलस (callus) वन जाते है और फिर कैलस से पतली जडो का एक पुञ्ज निकलता है और एक, दो, तीन, या कभी-कभी चार नये अकुर जमीन के ऊपर आ जाते है। ये अकुर जव एक या डेढ इच ऊँचे हो जाते है तो उन्हे अलग करके पात्रो मे रोपा जा सकता हे। जडो की कतरने (कर्त्तन) आधी-आधी इच लम्बी काट ली जाती है और उन्हे ऐसी क्यारियो मे जिनमे दो हिस्सा वालू और एक हिस्सा ह्यूमस (वनस्पति खाद) हो, रोप दिया जाता है। इन कर्त्तनो को सदा सीचते रहना चाहिये और इन्हे सायेदार स्थान मे रखना चाहिये। जडो के कर्त्तनो की अपेक्षा प्ररोहो के कर्त्तनो मे जल्दी जड निकल आती है। जडो के कर्त्तनो से जड निकलने मे प्राय' १ महीना लग जाता है। दो महीने वाद इन्हे दूसरी क्यारियो मे रोपना चाहिये जिसमे वरावर-वरावर वालू और जगल की पत्तियो की खाद हो और उन्हे चार-चार फुट के अन्तर पर प्रतिरोपित करना चाहिये। चार महीने बाद इन पौधो को सायेदार स्थानो मे स्थायी

क्यारियो मे एक-एक फुट की दूरी पर लगाना चाहिये। ऐसा करने से पौधो का विकास अच्छी तरह हो पायेगा। साधारणत जडो की कटाई (लवाई) तीन साल पूरा होने पर की जाती है। कर्त्तन द्वारा उगाये गये पौधो के सम्बन्ध मे इस तीन साल की गणना का आरम्भ तव से माना जाता है जव कलमो मे जड निकल आती है और वीजजन्य पौधो के सम्बन्ध मे आरम्भकाल तव से माना जाता है जव पौधो मे पत्तियाँ निकल आती है। अभिलेखो से ज्ञात हुआ है कि जोहोर मे उगाये २½ वर्ष के पौधो से अधिकतम मात्रा मे ऐल्केलॉयड मिला। जडो को जल्द से जल्द सुखाकर वाजार के लायक वनाया जाता है। जडो को सुखाने की प्रचलित प्रणाली यह है कि उन्हे धूप मे सुखाया जाता है और रात को सायेदार स्थान मे उन्हे रख दिया जाता है ताकि ओस से उनमे नमी न आये। कृत्रिम ताप की प्रक्रिया से जडो को बहुत जल्दी सुखाया जा सकता है और इससे जड के गुण मे कोई अन्तर नही आता। जड की औसत पैदावार लगभग ६०० पौण्ड प्रति एकड होती हे।

सघटक इसकी जडो मे एमेटीन, सेफेलीन, क्रिप्टोनीन तथा सिकोट्रीन ऐल्केलॉयड, आर्थोमेथिल सिकोट्रीन एव एमेटामीन के साथ विद्यमान रहते है। उनमे इपेकामीन, हाइड्रोइपेकामीन, एक ग्लाइकोसाइड इपेकैकुआन्हिन, इपेकैकुआन्हिक अम्ल, स्टार्च, कैल्सियम ऑक्जलेट आदि भी पाये जाते है। सिकोट्रीन को आर्थोमेथिलसिकोट्रीन या सेफेलीन मे रूपान्तरित किया जा सकता है, और इनका मेथिलीकरण करके एमेटीन प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा देखा गया है कि ब्राजील के पादपो की जडो मे कुल ऐल्केलॉयड की मात्रा २·५ प्रतिशत रहती है जिसमे लगभग ७० प्रतिशत एमेटीन होता है, जव कि कार्टेजिना के इपीकैकुआन्हा की जडो मे २ प्रतिशत कुल ऐल्केलॉयड होता हे जिसमे आधा से कम एमेटीन होता है। भारतीय इपीकैकुआन्हा की जडो से कुल ऐल्केलॉयड तथा अफिनोली (non-phenolic) ऐल्केलॉयड और राख की प्रतिशत मात्रा, जडो के शुष्क भार के आधार पर प्राप्त सारणी १४ मे दिखायी गयी हे।

सारणी १४

पौधे की उम्र वर्ष	कुल ऐल्केलॉयड प्रतिशत	अफिनोली ऐल्केलॉयड प्रतिशत	राख प्रतिशत
१	१ ४५ से २·३० तक	१ ८१ से १·२० तक	२ ८९
२	१ ७० से २ ३३ तक	१ २१ से १ २४ तक	२ ००
३	२ ३३ से २ ५० तक	१ ३५ से १·४० तक	२ २५
४	२ १४ से २ ६० तक	१ २१ से १·३३ तक	१·६८
५	२ ४५ से २·५१ तक	१ ३० से १ ३४ तक	—

मलयेशिया मे डेरडाग नामक स्थान पर उगाये पौधो मे ऐल्केलॉयड की प्रतिशत मात्रा भारतीय पौधो की तुलना में बहुत अधिक है। वहाँ (मलयेशिया) के पौधो की जडो मे कुल ऐल्केलॉयड ३·१ प्रतिशत मिले, जिसमे एमेटीन की मात्रा १ ६ प्रतिशत पायी गयी।

गुण-कर्म

इपीकैकुआन्हा के दो प्रमुख ऐल्केलॉयड एमेटीन तथा सेफेलीन है। इन दोनो ऐल्केलॉयडो के प्रभाव मे बहुत साम्य रहता है, फिर भी सेफेलीन की क्रिया अपेक्षाकृत अधिक क्षोभक होती है और कुछ लोगो मे यह क्षोभक प्रभाव बहुत अधिक दिखाई पडता है। त्वचा पर लगाने से वे स्थानिक क्षोभ तथा शोथ पैदा करते है जिसके फलस्वरूप पूयस्फोटिका और जलस्फोट (vesicles and pustules) उभड आती है। जडो का चूर्ण बनाते समय, चूर्ण बनानेवाले को अपना मुख अवश्य ढँके रहना चाहिये, अन्यथा महीन चूर्ण उडकर उसके आँखो मे बहुत क्षोभ पैदा करेगी तथा निश्वसन मे भीतर प्रवेश कर श्वसन-मार्ग की श्लेष्मकला पर उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी जिससे वह नासा-प्रतिश्याम (nesal catarrah), गले के भीतर क्षोभ तथा खाँसी आदि से बहुत पीडित हो जायगा। इन ऐल्केलॉयडो का वामक प्रभाव आमाशय पर उनकी क्षोभक क्रिया के कारण मुख्यत होता है, पर यह भी सम्भव है कि अधिक मात्रा मे जानवरो मे अन्त शिरा इन्जेक्शन देने से उनके अन्तस्था-केन्द्र (medullary centre) पर और अधिक क्रिया होती हो।

सन्दर्भ :—

(1) *Report of the Government Cinchona Plantations, Bengal,* 1919-20, 1922-23, 1923-24, (2) Carr, F H and Pyman, F L , 1914, *J C S Trans* , 1591, 15, (3) Pyman, F L , 1917, *J C S Trans* , 419, (4) Pyman, F L , 1918, *J C S Trans* , 222, (5) Chopra, R N , and Mukerjee, B , 1931, *Ind Med Gaz* , 66, 622, (6) Chopra, R N , Badhwar, R L , and Ghosh, S , 1949, *Poisonous Pants of India*, 550, (7) Dutta, S C , and Mukherji, B , 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 63, (8) Trease, G E , 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 534, (9) Mukherji, B , 1953, *Indian Pharmaceutical Codex*, 122

रीअम इमोडी (पोलीगोनेसी)

Rheum emodi Wall. (Polygonaceae)

भारतीय रेवदचीनी (Indian Rhubarb)

नाम—हि० और व०—रेवदचीनी, रूचीनी, बम्ब०—लद्दाकी रेवद-चीनी, प० रेवद-चीनी, त०—नट्टू-इरेवल-चिन्नी, ते०—नट्टू-रेवल-चिन्नी।

रेवदचीनी का पाश्चात्य औषधि मे अधिकाश प्रयोग रेचक के रूप मे किया जाता है। बच्चो की बीमारी मे यह विशेष लाभदायक होती है। यह वास्तव मे छोटे बच्चो की प्रतिदिन की औषधियो मे से एक है। चिकित्सा मे इसका प्रयोग ४७०० वर्षों से या उससे भी पूर्वकाल से किया जा रहा है, जब से प्राचीन चीनी भेषज-सहिता 'शेन—नुग—पेण्टसाओ—किग' (Shen-Nung-Pentsao-King) मे २७०० वर्ष ई० पू० मे इसका वर्णन किया गया है। व्यापारिक रेवदचीनी जो चीनी, रूसी एव पूर्व भारतीय रेवदचीनी के नाम से विख्यात है, दक्षिण पूर्वी तिब्बत एव उत्तरी पश्चिमी चीन मे पैदा होने वाले रीअम ऑफिसिनेल (*Rheum officinale*) तथा रीअम पामेटम (*Rheum palmatum*) पौधो से प्राप्त किया जाता है। यह भारत-वर्ष मे चीन से फारस होता हुआ आता है। लदन से भी थोडी मात्रा में इसका आयात किया जाता है। हिमालय पर्वत पर रीअम इमोडी (*Rheum emodi*) नेपाल और सिक्कम से लेकर कश्मीर तक ४००० फुट से १२००० फुट तक की ऊँचाई पर बहुत अधिक उपजता है। इसी के साथ इसके कुछ सजातीय पौधे जैसे रीअम मूरक्रॉफ्टिऐनम (*Rheum moorcroftianum*), रीअम वेबिऐनम (*Rheum webbianum*) एव रीअम स्पिसिफार्मे (*Rheum spiciforme*) भी उत्पन्न होते है।

यद्यपि रीअम इमोडी एक ऐसी जाती है जिसका उल्लेख सर्वाधिक रूप से किया जाता है फिर भी यङ्गकेन (Yongken) महोदय के अनुसार जो रेवदचीनी भारत से सयुक्त राज्य अमरीका को निर्यात की जाती है वह रीअम वेबिऐनम है। हिमालय पर पैदा होने वाली रेवदचीनी, चीन मे होने वाली रेवदचीनी की अपेक्षा अधिक कृष्ण वर्ण की तथा गठन मे अधिक खुरखुरी होती है। इसकी छाल नही उतारी जाती है। भारतीय रेवदचीनी का चूर्ण कुछ भूरे पीले रग का होता है जब कि चीन मे होने वाली रेवद चीनी का चूर्ण चमकीले पीले रग का होता है। भारतीय रेवदचीनी व्यापार मे कम महत्त्वपूर्ण समझा जाता था क्योकि प्राय ऐसा विश्वास किया जाता था कि गुण मे यह चीनी रेवदचीनी की अपेक्षा निम्न श्रेणी की होती है। देशी औषधियो मे

प्रयोग करने के लिए यह काफी मात्रा मे पजाब के कागडा जिले एव कश्मीर से नीचे भागो मे ले जायी जाती है। भारतीय रेवदचीनी का परीक्षण भारतीय भेषज समिति (Indigenous Drugs Committee) द्वारा किया गया था परन्तु उससे कोई सतोष-जनक परिणाम नही निकले। जो कारण समिति द्वारा बताये गये वे भी सतोषजनक एव विश्वसनीय नही है। निम्न लिखित विश्लषण जो एलबोर्न (Elborne) द्वारा किया गया है पूर्वीय भारतीय एव आँग्ल रेवदचीनी के विभिन्न नमूनो के प्रतिशत सघटन का द्योतक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय रेवदचीनी मे रेचक तत्वो (ऐन्थ्राक्विनोन व्युत्पन्नो) की कमी नही होती है जो विदेशी और अधीकृत (मान्यता प्राप्त) रेवदचीनी मे पाया जाता है।

	रीअम इमोडी (निचले क्षेत्रो की कृषि से प्राप्त)	रीअम इमोडी (ऊँचे क्षेत्रो की कृषि से प्राप्त)	पूर्वीय भारतीय रेवदचीनी	रूसी रेवदचीनी
आर्द्रता	६·०६	७ ९	५ ४	१२ ६
राख	९ ३३	४ ९	९ २८	६ ६३
जल-विलेय म्यूसिलेज	६ ५	४ ८	४ ०	५ ५
कैथार्टिक अम्ल	३ ५	३ २	४ ५	३ २
कार्बनिक अम्ल, जैसे गैलिक अम्ल, आदि	३ ३	२ २	३ ०	४ ५
ऐल्कोहॉल मे विलेय रेजिनी पदार्थ	२ ६	२ ०	४·६	५ २
पेट्रोलियम ईथर मे विलेय वसा तथा मुक्त क्राइसोफेनिक अम्ल	०·४	० ३	०·७	१ ५

यह देखा गया है कि सावधानी पूर्वक उगायी गयी भारतीय रेवदचीनी, चीन से आयात की गयी रेवदचीनी के ही समान गुणकारी होती है। रयूमेक्स नेपालेन्सिस (*Rumex nepalensis*) भारत के कुछ भागो मे प्रचुर मात्रा मे उगता है। इसकी जडे बगाल के बाजारो मे रेवदचीनी के नाम से बेची जाती है। इसमें भी रेवदचीनी के ही समान रेचक तत्व पाये जाते है। इसे गृह-चिकित्सा मे प्रयोग किया जाता है, परन्तु ऐसी कोई भी सूचना नही मिली जिससे यह निश्चय किया जा सके कि यह भी व्यापारिक रेवदचीनी के ही समान लाभदायक है। भारत वर्ष मे अच्छी रेवद-चीनी पैदा की जा सकती है और इसकी क्रम बद्ध कृषि से यथेष्ट लाभ होने की

सम्भावना है। असम के कुछ भागों में रेवदचीनी पहले से ही सफलता पूर्वक उगायी गयी है, परन्तु यह स्थानीय निवासियों द्वारा खाने के उपयोग में लायी जाती है और औषधि में इसका उपयोग नहीं होता।

कृषि

इसका प्रजनन बीज से होता है अथवा इसके छत्र (तने के ऊपरी भाग) को कई भागों में विभाजित कर, कर्तनों को रोपा जाता है, परन्तु प्रत्येक कर्तन में एक कली अवश्य होनी चाहिये। पौधों को वसंत ऋतु के प्रारम्भ में लगाया जाना चाहिये, इसके लिए काफी उर्वर भूमि होनी चाहिये जिसमें सड़ी खाद अच्छी तरह मिलाया गया हो। पौधों के मध्य की दूरी प्रत्येक दिशा में ४ या ५ फुट होनी चाहिये और कर्तनों को पृथ्वी में चार इंच की गहराई में गाड़ना चाहिये। इसके प्रकन्द एवं मूल का संग्रह शरद ऋतु में करना चाहिये। ८ एवं १० वर्ष की आयु वाले पौधों को सितम्बर के अन्तिम दिनों में खोदा जाता है, प्रकन्द, मूल को जल में धोया जाता है। उसके छत्र एवं छोटी-छोटी शाखाओं को अलग कर दिया जाता है, तत्पश्चात् उसके ऊपर का छिलका अधिकांश उतार दिया जाता है और फिर या तो उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर, आवे में या धूप में सुखाया जाता है अथवा सुखाने के लिए छिद्रित करके और रस्सियों में गूंथकर उन्हें लटका दिया जाता है। रीअम (*Rheum*) की अन्य जातियों, विशेषतः रीअम ऐक्युमिनेटम (*Rheum acuminatum* H f & T), रीअम नोबिले (*Rheum nobile* H f & T) एवं रीअम वेबिएनम (*Rheum webbianum* Royle) के प्रकन्द, रीअम इमोडी (*Rheum emodi* Wall) के प्रकन्द के स्थान पर प्रयोग किये जाते हैं।

संघटक

रेवदचीनी में ऐन्थ्राक्विनोन के व्युत्पन्न पाये जाते हैं जो गुण में रेचक माने जाते हैं और जो इसमें २० से ४५ प्रतिशत तक मिलते हैं। स्तम्भक गुण वाले संघटक प्रमुख रूप से ग्लूकोगैलिन के रूप में जो गैलिक अम्ल का ग्लाइकोसाइड है पाया जाता है और उसी के साथ टैनिन एवं सम्भवतः कैटेचिन की भी थोड़ी मात्रा विद्यमान रहती है। अन्य निष्क्रिय संघटक सिनामिक अम्ल, स्टार्च, वसा, डेक्स्ट्रोज, लेव्यूलोज, पेक्टिन और कैल्सियम ऑक्ज़लेट भी पाये जाते हैं। कैल्सियम ऑक्ज़लेट एवं इसी के कारण इसकी राख की मात्राओं में बड़ी विभिन्नता पायी जाती है। राख की उपलब्धि ३.५ से ४३ ३ प्रतिशत होती है, जब कि चीन की अच्छी रेवद चीनी में यह ७ से १३ प्रतिशत तक पायी जाती है। राख को अम्ल में घुलाने पर

अविलेय अश वहुत ही कम वचता है जो १ प्रतिशत से अधिक नही होना चाहिये, इससे यह स्पष्ट है कि राख मे प्राय सम्पूर्णत कैल्सियम ऑक्जलेट ही होता है। ऐन्थ्राक्विनोन के जो व्युत्पन्न रेवदचीनी में पाये जाते है वे रीन, इमोडिन, ऐलो इमोडिन, इमोडिन मोनोमेथिल ईथर तथा क्राइसोफेनॉल है। ये अशत मुक्त पाये जाते है और अशत ग्लाइकोसाइड के रूप मे होते है एव सभवत अक्रिस्टलीय रेजिनी पिण्ड मे अनिर्धारित सयोगो मे भी ये अशत पाये जाते हैं। इस रेजिन को, जिसे ट्यूटिन एव क्लेवर ने रेवदचीनी से निस्सारित किया था, रीओनिग्रीन कहते है और जल-अपघटन करने पर इससे गैलिक और सिन्नामिक अम्ल एव उपर्युक्त ऐन्थ्राक्विनोन व्युत्पन्न उपलब्ध होते हे। वालिस (१९४६ ई०) के अनुसार भारतीय रेवन्दचीनी रीअम इमोडी (*Rheum emodi* Wall) के खण्ड अधिक सिकुडे और कोमल होते है तथा सरलतापूर्वक काटे जा सकते है। परावैंगनी (ultra-violet) मे रखने से इसमे से नील प्रतिदीप्ति (fluorescence) निकलती है जिसमे कही-कही पर मखमली भूरा धब्बा दिखाई पडता है। इसमे रैंपोण्टिसिन नही पाया जाता है, परन्तु जाँच करने पर ऐन्थ्राक्विनोन के व्युत्पन्न पाये जाते हैं।

इसका रेचक तथा स्तम्भक वल्य के रूप मे प्रयोग किया जाता है। प्रकन्द स्वाद मे तीक्ष्ण तिक्त होता है और आर्त्तवजनक एव मूत्रल माना जाता है। इसका प्रयोग पैत्तिकता, कटिवेदना (लम्वेगो), दीमाग की गर्मी, नेत्र-दाह, अर्श, जीर्ण श्वसनी-शोथ, जीर्ण ज्वर, दमा, प्रतिश्याम, दर्द तथा नील (bruises) मे किया जाता हे।

वाणिज्य व्यापारिक रेवदचीनी रीअम ऑफिसिनेल (*Rheum officinale* Baill.) से प्राप्त की जाती है, इसकी पूर्ति अधिक मात्रा मे चीन से होती है। इसका सग्रह प्रमुख रूप से उस पर्वतीय प्रदेश मे होता हे जो तिब्बत और जेचुआन (Szechuan) को एक दूसरे से अलग करता है तथा जिसका विस्तार पूर्व मे ह्यूपेह (Hupeh) तक है। चीन मे पैदा होने वाली रेवदचीनी की किस्मे शेन्सी (Shensi), कैण्टन (Canton) और हाई ड्राइड (High Dried) कहलाती है, जिसमे शेन्सी रेवदचीनी सर्वोत्तम समझी जाती हैं। भारतीय एव चीनी इन दोनो प्रकार की रेवदचीनी से निर्मित भैषेजिक योगो को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर ज्ञात हुआ कि कुछ योग (विशेषकर मिस्चुरा रियाइ एटसोडी और टिंक्चुरा रियाइ ऐरोमेटिका) जो भारतीय रेवदचीनी से तैयार किये गये थे, चीन के रेवदचीनी से निर्मित योगो के सदृश दिखाई पडे। कुछ योग अपेक्षाकृत कम सतोषजनक मिले जैसे—पुलविस रिआइ कम्पोजिटस (Pulvis Rhei Compositus) जिसमे रेवदचीनी का गध अल्पमात्रा मे

मिली । उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया कि असली भारतीय रेवदचीनी, चीन से उपलब्ध रेवदचीनी के स्थान पर प्रयोग करने के लिए सर्वोत्तम है जो पहले बाजारो में सामान्यत प्राप्त रहती थी । यद्यपि चीन से प्राप्त होने वाली रेवदचीनी का विरेचक गुण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होता है और अपनी एक विशिष्ट उग्र गन्ध के कारण अधिक आकर्षक होता है फिर भी भारतीय रेवदचीनी की कुछ अपनी विशेषताएँ एव लाभ हैं और यह संयुक्त राज्य अमरीका एव ग्रेट ब्रिटेन में व्यापार एव चिकित्सा की दृष्टि से संतोषजनक पायी गयी है ।

सन्दर्भ :

(1) Tretir and Clewer, 1915, *J C S Trans*, 946, (2) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (3) Wallis, T E, 1946, *Text Book of Pharmacognosy*, 320, (4) Dutta, S C and Mukerji, B 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 115, (5) Hocking G M 1945, *Ind Jour Pharm*, 3, VII, 89, (6) Youngken, H W, May, 1944, *J Amer Pharm Assos* (Sc Ed)

रिसिनस कॉम्यूनिस (यूफॉर्बिएसी)

Ricinus communis Linn. (Euphorbiaceae)

एरण्ड बीज—Castor Seeds

नाम—सं०—एरण्ड, हि०—अरण्ड, एरण्ड, ब०—भेरेण्डा, प०—अरण्ड, बम्ब०—एरेण्डी, त०-आमणक्कम-चेडि ।

एरण्ड तेल प्रमुख रूप से एरण्ड (रिसिनस कॉम्यूनिस) के बीज से प्राप्त किया जाता है, परन्तु कुछ सम्बद्ध जातियाँ जैसे रिसिनस विरिडिस (*R viridis*) इत्यादि के भी बीज लाभदायक होते हैं । यद्यपि स्पष्टत यह अफ्रिका का देशीय भेषज है, फिर भी रिसिनस कम्यूनिस भारतवर्ष मे इतना अधिक उपजता है कि इस विषय पर लोगो को सन्देह हो जाता है कि भारतवर्ष ही इसकी वास्तविक जन्मभूमि तो नही है । इसकी कृषि भारतवर्ष में अनेक शताब्दियो से की जा रही है । इसका पौधा दो प्रकार का मिलता है (१) एक बहुवर्षी झाडीदार क्षुप अथवा छोटा वृक्ष है जो साधारणत वृति-क्षुप (hedge) के रूप में उगाया जाता है । इसका फल और बीज बडा होता है एव बीज लाल रग का होता है जिसमे तेल की उपलब्धि ४०% से भी अधिक होती है । तेल का प्रयोग दीपक में जलाने एव उपस्नेहन (lubrication) के

लिए होता है। (२) दूसरे प्रकार का पौधा कुछ ज्यादा छोटा और वार्षिक होता है जो एक विशेष फसल के रूप मे पैदा किया जाता है। इसके बीज श्वेत होते है जिन पर भूरे-भूरे दाग बने रहते है। इसमे ३७% तेल की उपलब्धि होती है। यह प्रमुख रूप से भैषेजिक कार्यों में प्रयुक्त होता है। इसकी कृषि सम्पूर्ण भारतवर्ष मे होती है, विशेषकर मद्रास, बम्बई तथा बगाल मे। अण्ड बीजो को प्रचुर मात्रा मे निर्यात किया जाता है।

कृषि :

यज्ञ नारायण अय्यर के अनुसार जब एरण्ड की कृषि विशुद्ध फसल के रूप मे की जाती है, तब अच्छे क्षेत्रो से प्रतिएकड ९०० पौण्ड तक बीज प्राप्त होता है, वैसे औसतन ४०० से ५०० पौण्ड तक बीज प्रति एकड प्राप्त होता है। बहुत ही खराब फसल होने पर भी प्रति एकड २०० से ३०० पौण्ड तक बीज की उपज होती है। बीजो के आयतन और भार मे पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती हे जो उनके किस्म पर निर्भर करती है।

एरण्ड के बीज मे छिलका या शल्क का अश २० प्रतिशत होता हे और ८० प्रतिशत अश गिरी का होता है जिसमे तेल रहता है। छिलका-युक्त बीजो में तेल का अश ४० से ५३ प्रतिशत तक होता है, जब कि गिरी मे तेल का अश ५८ से ६६ प्रतिशत तक होता है। छोटे बीजधारी पौधो के बीजो मे बडे बीज वाले पौधो के बीजो की अपेक्षा तेल की मात्रा अधिक होती है। एक ही वैराइटी के बीजो मे तेल के उपलब्धि की मात्रा भिन्न-भिन्न होती हे जो बीजो के भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे सग्रह किये जाने के कारण होता है। अति परिपक्व बीजो और उससे पूर्व सग्रह किये गये बीजो के तेल मे ९ ५ प्रतिशत तक का अतर हो सकता है। वास्तव मे बीजो की परिपक्वता के कारण तेल की उपलब्धि की मात्रा मे जितना अतर पैदा हो जाता है उतना इसकी उपजातीय (varietal) विशेषताओ जैसे तने का रग, सम्पुटो की चिकनाहट अथवा इसके कटीले पन के कारण नही होता है।

बीजो से वाणिज्य के लिए तेल निकालने की दो विधियाँ है—

(१) शीत प्रक्रिया जब यह बिना गर्मी के ही निकाल लिया जाता है तब यह रग विहीन होता है अथवा मद पीत। उस समय इसमे कोई सुगधि नही होती, इसका स्वाद स्निग्ध और कुछ तीक्ष्ण होता हे।

(२) गर्म प्रक्रिया भारत वर्ष मे यह प्रक्रिया बीज को पानी मे उबाल कर की जाती है और तेल ऊपर से निथार लिया जाता है। गर्म प्रक्रिया साधारणत. इस देश

मे प्रयुक्त की जाती है। जिस मिल से तेल निकाला जाता है उसके नीचे मद अग्नि जला दी जाती है जिससे तेल द्रव रूप मे परिवर्तित हो जाता है और तेल की उपलब्धि की मात्रा अधिक हो जाती है। इसे धूप मे खुला रख कर रग हीन किया जाता है, तत्पश्चात पानी मे उबाल कर इसे स्वच्छ किया जाता है। उबालने से प्रोटीन स्कदित (coagulated) हो जाते है और म्यूसिलेजी पदार्थ पानी मे घुल जाते है।

बाजार मे अनेक प्रकार के एरण्ड के तेल पाये जाते है। औषधीय उपयोग मे लाने के लिए बीजो को हाथ से साफ किया जाता है और उनका छिलका भी उतारा जाता है, गिरी को धूप मे सुखाया जाता है, फिर उसे दलने वाले यत्र मे डाल कर दला जाता है। ऐसा समझा जाता है कि इस समय अधिकाश तेल द्रवचालित दावक (hydraulic press) द्वारा कलकत्ता, बम्बई और दक्षिणी भारत मे प्राप्त किया जाता है। इस प्रक्रिया से यह लाभ है कि यह अपेक्षाकृत कम जटिल होती है और साथ ही स्वाद की तीक्ष्णता और उत्क्लेशकता (nauseousness) जो इस तेल मे साधारणत. पायी जाती है, भी नही रह जाती। प्राप्य तेल का केवल अर्द्धांश ही प्रथम निपीडन मे निस्सारित किया जाता है। पुन इसका निपीडन द्वारा तेल निकाला जाता है जिसमे १६ प्रतिशत और तेल निकल आता हे जिसका उपयोग उपस्नेहन के कार्य मे किया जाता है।

एरण्ड तेल का रसायन इस तेल मे मुख्यत ग्लिसरॉल का रिसिनोलियेट (ricinoleate) अथवा ट्राइरिसिनोलेइन जिसके साथ पामिटिन और स्टीयरिन भी कुछ मात्रा मे विद्यमान रहते हैं, पाये जाते है। तेल परिशुद्ध ऐल्कोहॉल और ग्लेशियल ऐसीटिक अम्ल मे सभी अनुपातो मे घुल जाता है। यह विशिष्ट गुण अधिकाश स्थिर तेलो मे नही पाया जाता है। इस तेल का रेचक प्रभाव रिसीनोलाइक अम्ल, (OH)COOH) (जो एक हाइड्राक्सी अम्ल है) के ग्लिसराइडो के ऊपर मुख्यत निर्भर करता है। एरण्ड तेल का आमयिक प्रयोग किये जाने पर इसका साबुनीकरण हो जाता है और वसीय अम्ल मुक्त हो जाते हे जिनके कारण रेचक प्रभाव पडता हे। गिरी मे तेल के अतिरिक्त एक और विषाक्त पदार्थ भी पाया जाता है। यह विषाक्त सघटक एलब्यूमिनॉयड (albuminoid) की प्रकृति का होता है और उसे रिसिन (ricin) कहते है। शरीर मे यह प्रतिजीवविष (anti-toxin) पैदा करता है जो ऐण्टी-रिसिन कहलाता है, यह ऊष्मा द्वारा नष्ट हो जाता है। रिसिन, नमक के विलयन द्वारा निस्सारित किया जाता है, मैग्नीशियम या अन्य विद्युत अपघट्य द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और अपोहन (dialysis) द्वारा शुद्ध किया जाता है। यह बडा ही शक्ति-

शाली विष है और रक्त-स्कन्दन पर एक निश्चित प्रभाव डालता है। इसमे रेचक प्रभाव नही होता हे परन्तु अधस्त्वक इनजेक्शन के द्वारा दिया जाने पर भी आमाशयान्त्र में रक्त-स्रावी-शोथ उत्पन्न कर देता है। तेल मे यह सूक्ष्म मात्रा मे विद्यमान रहता है। वीज मे लाइपेजेज भी पाये जाते है जो उपयुक्त दशाओ मे ग्लिसराइडो का जल-अपघटन करते है एव कभी-कभी वाणिज्य मे वसा और तेल से ग्लिसरिन निकालने के लिए उपयोग मे लाये जाते है। एक क्रिस्टलीय ऐल्केलॉयड $C_8H_8O_2N_2$, जिसे रिसिनीन कहते हे, इससे निकाला गया है और अव इसे सश्लेषित भी किया गया है। यह अति विषालु नही होता हे।

यज्ञ नारायन अय्यर के अनुसार एरण्ड के तेल मे निम्नलिखित भौतिक और रसायनिक नियताक होते हे।

आपेक्षिक घनत्व १४ ५° से० पर ० ९५९ से ०'९६९ तक, अपवर्त्तनाक ४०° से० पर १ ४६७९ से १ ४७२३ तक, श्यानता (viscosity) १००° फा० पर ११६० से ११९० तक, साबुनीकारण सख्या १७५ से १८५ तक, आयोडिन सख्या ८२ से ९० तक, राइकर्ट-मिसेल सख्या (Reichert Miessel number) १ ० से २ ० तक। तेल मे विकृतगधिता (rancidity) नही पैदा होती है, परन्तु यदि छिलकारहित गिरी को अधिक समय तक यो ही रहने दिया जाय तो वीजो मे लाइपेज क्रियाशील हो जाता हे और वसा-अम्ल मुक्त हो जाते हे। यदि ये वीज शीत प्रक्रिया द्वारा तेल निकालने मे प्रयुक्त किये जायँ तो वसा-अम्ल तेल मे चला जायगा, उससे विकृतगंधिता उत्पन्न हो जायेगी। यदि तेल निकाले जाने वाले वीज सूखे न हो और उनमे पर्याप्त आर्द्रता विद्यमान हो तो इससे भी शीघ्र ही विकृतगधिता उत्पन्न हो जायगी।

आर्थिक पक्ष

यद्यपि एरण्ड का कृषि-क्षेत्र सब से अधिक भारतवर्ष मे ही है फिर भी एरण्ड के वीज पश्चिमी द्वीप समूह के कई द्वीपो मे एव उत्तरी अमेरिका, अल्जियर्स और इटली मे तेल निकालने के लिए प्रतिवर्ष पर्याप्त परिमाण मे एकत्रित किये जाते है। प्राचीन मिश्र मे एरण्ड का पौधा एक तेल-प्रदायक पादप समझा जाता था। और इस वात के स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध है कि लोग भारतवर्ष मे इस तेल को बहुत प्राचीन समय से जानते रहे हैं। एरण्ड बीज एव एरण्ड तेल दोनो को वाणिज्य की महत्त्व पूर्ण वस्तुओ मे मान्यता दी गयी है। औषधि के रूप मे सम्पूर्ण विश्व मे इसका प्रयोग पर्याप्त परिमाण मे किया जाता है। इस तेल का उपयोग चिकित्सोपयोगी परिमाण से कही अधिक मात्रा मे साबुन, चमडा और तेल के निर्माण करने तथा

हवाई जहाजो के इन्जिन में उपस्नेहन के लिए और अन्य औद्योगिक कार्यों मे किया जाता है।

उत्पादन एव व्यापार .

सन् १९३७-३८ ई० मे भारत के सभी राज्यों को मिलाकर एरण्ड के उत्पादन का क्षेत्रफल १.३ अरब एकड था। इस क्षेत्रफल का सबसे बडा भाग हैदराबाद में है जहाँ लगभग ७,३५,००० एकड मे इसकी खेती की जाती है। मद्रास, बम्बई और मैसूर में यह क्षेत्र क्रमश २,५०,०००, ४२,००० और ९६,००० एकड था। भारतवर्ष एरण्ड तेल एव एरण्ड बीज की पूर्ति के क्षेत्र में मद्रास में सबसे आगे है। सन् १९३९-४० ई० में एरण्ड बीज एव एरण्ड तेल का निर्यात निम्न लिखित था एरण्ड बीज ४०,४३७ टन जिसका मूल्य लगभग ३२ लाख रुपया तथा एरण्ड तेल १२,५३,७५० गैलन जिसका मूल्य २३ लाख रुपया था। इसके अतिरिक्त एरण्ड की खली का भी निर्यात-लगभग ३,००० टन प्रतिवर्ष किया जाता है। इतनी अधिक मात्रा में इसका उत्पादन होते हुए भी यह एक निराशाजनक तथ्य है कि भारतवर्ष में चिकित्सोपयोगी उत्कृष्ट तेल का उत्पादन इतना भी नहीं किया जाता, जिससे देश को अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। केवल अपरिष्कृत तेल का ही उत्पादन किया जाता है जिसका प्रयोग मुख्यत औद्योगिक कार्यों में ही होता है। चिकित्सोपयोगी सर्वोच्चकोटि का तेल इटैलियन या फ्रेन्च होता है जो शीत निपीडन द्वारा तैय्यार किया जाता है। उत्तम कोटि का तेल प्रथम निपीड मे ही निकलता है और इसकी मात्रा ३३ प्रतिशत होती है जब कि अंतिम निपीडन में ४० से ४५ प्रतिशत तक तेल उपलब्ध होता है। इटैलियन और फ्रेन्च तेल अरण्ड के बीजो से (उन्हें शल्करहित करके) निकाला जाता है और इसलिए स्वाद मे भारतीय तेल की तुलना में अधिक मृदु होता है। भारतवर्ष मे चिकित्सोपयोगी उत्कृष्ट तेल का उत्पादन बिना किसी विशेष कठिनाई के पर्याप्त परिमाण मे किया जा सकता है और ऐसा विश्वास है कि उस प्रकार के तेल के उत्पादन से आर्थिक लाभ अधिक होगा और साथ ही भारतवर्ष, भेषजकोश की एक सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे सस्ती रेचक पदार्थ की अपनी आवश्यकता की पूर्ति म समर्थ हो सकेगा। तेल के शोधन मे भी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। खेतों की उर्वरा शक्ति बढाने के लिए एरण्ड की खली उत्तम मानी जाती है, परन्तु इसकी विषाक्तता के कारण यह पशुओ को खिलाने के योग्य नही है। शल्करहित और सशल्क बीजो की खली की सरचना मे अतर होता है। शल्करहित बीजो की खली में नाइट्रोजन की मात्रा ६ से ७ प्रतिशत और

फासफोरस पेण्टाऑक्साइड (P_2O_5) की मात्रा लगभग २ २५ प्रतिशत होती है, जब कि छिलकेसहित बीजो की खली मे नाइट्रोजन ४ प्रतिशत और फासफोरस पेण्टाऑक्साइड (P_2O_5) लगभग १ ८ प्रतिशत होता है।

सन्दर्भ :—

(1) Andes, L E , 1917, *Vegetable Fats and Oils*, (2) Trease, G E , 1952, *A Text Book of Pharmacognosy*, 321, (3) Yegna Narayan Ayer, 1950 *Field Crops of India*, 675

रोजा डैमेस्सिना (रोजेसी)
Rosa damascena Mill (Rosaceae)
गुलाव–The Rose

नाम —हि०—गुलाव का फूल, व०—गोलाप फूल, वम्ब०—गुल, त०—गुलप्पु।

गुलाव जल एव गुलाव के तेल (इत्र) या ओटो का चिकित्सीय प्रयोग वहुत ही सीमित है। गुलाव का जल लोशन एव आँख की औषधि के लिए प्रयोग किया जाता है और तेल का प्रयोग अरुचिकर योगो को स्वादिष्ट वनाने मे किया जाता है। देशीय औषधि मे गुलाव की पखुडियो का प्रयोग एक मृदु विरेचक योग के तैयार करने मे किया जाता है जिसे 'गुलकद' कहते है। गुलाव का प्रयोग परिमल के रूप मे अधिक किया जाता है और अपनी मृदु सुगन्ध के कारण वहुत से देशो मे इसे मूल्यवान समझा जाता है। गुलाव उद्योग का प्रमुख केन्द्र वूल्गारिया है जहाँ वाल्कन पर्वत की दक्षिणी ढाल पर और घाटियो मे इसका वहुत विस्तृत रोपणी पायी जाती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसका उत्पादन क्षेत्र ८० मील लम्वा तथा ३० मील चौडा है और उत्पादन वहुत ही अधिक होता है। औसतन ८०,००,००० से ९०,००,००० किलो तक फूल प्रतिवर्ष प्राप्त किये जाते है जिनसे २०५० से ३००० किलो तक सुगध तेल निकलता है। निम्नलिखित विवरण मे वुल्गारिया से गुलाव के निर्यात का पता चलता है, इससे स्पष्ट हो जायगा कि इस उद्योग का कितना महत्त्व है और विभिन्न देशो मे इसकी कितनी माँग है। फ्रान्स, १४५५ किलो, सयुक्त राज्य अमेरिका ९७५ किलो, जर्मनी ३११ किलो, इगलैण्ड १९० किलो, दूसरे देश १७२ किलो, कुल योग ३१०३ किलो। इसके अतिरिक्त गुलाव के फूल से एक वहुत वडी मात्रा मे सत्त्व निकाला जाता है जो आधुनिक भेषजी (फार्मेसी) मे उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व प्राप्त

कर रहा है। गुलाब का तेल रोज़ा डैमेस्सिना (*Rosa damascena*), रोज़ा गैलिका (*R gallica*), रोज़ा आल्वा (*R alba*) और रोज़ा सेण्टीफोलिया (*R centifolia*) के ताजे फूलो को आसुत करके प्राप्त किया जाता है। यूरोप के अन्य स्थानो जैसे फ्रान्स, इटली, ग्रीस एव जर्मनी में भी गुलाव की कृषि होती है। पूर्व मे फारस, शताब्दियों से गुलाव के ओटो (इत्र) के लिए प्रसिद्ध रहा है और ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि गुलाव के आसवन की विधि का आरम्भ सर्वप्रथम इसी देश मे हुआ। उस देश में उत्पन्न अधिकाश गुलाव का उपयोग वही की आवश्यकताओ की पूर्ति में होता है, परन्तु कभी-कभी गुलाव की शुष्क पखुडियो का निर्यात भारतवर्ष को गुलावजल वनाने हेतु किया जाता है। यूरोप में गुलाव का तेल तावे के देशी भभको में किसानो द्वारा या वडे-वडे कारखानो में वैज्ञानिक नियत्रण मे तैयार किया जाता है। लगभग फूलो के ३००० भाग से तेल का एक भाग प्राप्त होता है। तेल वहुत ही महगा होता है तथा इसमें अपमिश्रण की वहुत आशका रहती है। किसानों द्वारा आसवित तेल का मूल्य वडे वडे कारखानो मे तैयार किये गये तेलो के मूल्य की अपेक्षा कम होता है। तेल का निर्यात वुल्गेरियाई रग मे रगी नमत पट्टिकाओं (फेल्ट रिवन) से ढके धातु के सुन्दर वर्तनो में किया जाता है जिनके ऊपर सीमा-शुल्क (customs) की मुहर लगी रहती है। तेल अत्यन्त गाढा (अर्द्धठोस) और हल्के पीले रग का होता है। तेल का वह भाग जो साधारण ताप पर ठोस होता है, गधहीन स्टियरोप्टीन (stearoptene) है जो १५ से २० प्रतिशत तक रहता है। द्रव अश ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल में घुलनशील होता है और यह विलयन वहुत स्वच्छ होता है, इसमें सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहॉल जो जिरैनिऑल और सिण्ट्रोनेलॉल है, पाये जाते है तथा एस्टर और अन्य गधयुक्त तत्वो की थोडी मात्रा भी पायी जाती है। यद्यपि इस तेल में ऐल्कोहॉल का अश लगभग ७० से ७५ प्रतिशत तक होना है फिर भी इसमें पाये जाने वाले अन्य सघटको के प्रभाव से इसकी गध ऐसी परिवर्त्तित होती है कि ज्ञात सघटको का नकली मिश्रण, प्राकृतिक तेल जैसी गध नही प्रदान कर सकता।

किसी समय भारतवर्ष मे गुलाव की खेती वहुत वडे पैमाने पर होती थी। ऐसा कहा जाता है कि गाज़ीपुर मे लगभग २५० वर्षों से गुलाब की खेती होती आ रही है और आज भी गाज़ीपुर भारतवर्ष में गुलाब के उत्पादन का सवसे वडा केन्द्र है। पजाव में लाहौर और अमृतसर में, उत्तरप्रदेश के कानपुर, अलीगढ और हाथरस जिलो में तथा विहार और उडीसा में पटना के निकट कुछ क्षेत्रो में इसकी खेती होती है। सम्प्रति इससे मुख्यतया गुलाबजल

तैयार किया जाता है, असली सगंध-तेल बहुत कम निकलता है। वास्तव में यह उद्योग बडी गिरी दशा में पहुँच गया है। इस देश में गुलाब जल और इत्र का जितना उत्पादन होता है उससे यहाँ की ही आवश्यकताएँ नही पूरी हो पाती, इसलिए इन वस्तुओ को बहुत बडी मात्रा में विदेशो से मँगाया जाता है। भारतवर्ष मे गुलाब उद्योग के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। ९०० से १५०० फुट तक की ऊँचाई पर गुलाब की खेती अच्छी होती है, परन्तु यह २५०० से ३००० फुट की ऊँचाई पर भी उगाया जाता है। बुल्गारिया मे गुलाब के उत्पादन की सफलता जिन तथ्यो पर निर्भर है, वे भारतवर्ष में कई स्थानो पर सरलता पूर्वक उपलब्ध हो सकते हैं, जैसे वर्षा की अधिकता, उर्वर बलुई मिट्टी, जहाँ जलोत्सरण भली-भाँति होता हो, ढालू जमीन, और तेज हवाओ से गुलाब की झाडियो की रक्षा। बुल्गारिया में पैदा होने वाली गुलाब की जाति अर्थात् रोज़ा डैमेस्सिना (लाल गुलाब) भारतवर्ष में भी उगायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जगली पहाडी गुलाब बहुत बडी मात्रा मे उत्तरी पूर्वी हिमालय और कश्मीर मे उपजते हैं, इनका सम्प्रति कोई उपयोग भी नही हो पाता है। इनका उपयोग भी उसी प्रणाली को अपना कर किया जा सकता है जो अन्य देशो में जहाँ जगली गुलाबो से इत्र निकाला जाता है, प्रयुक्त हुई है और इससे काफी लाभ भी हो सकता है। साथ ही साथ भारतीय गुलाब के फूलो की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिये, क्योकि इसमें सगंध-तेल का अश बल्गेरियन और फ्रेन्च गुलाब की अपेक्षा कम होता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि ताजे फूलो का उपयोग करके और अपव्ययी आसवन की पुरानी पद्धति को छोड कर सगंध-तेल की उपलब्धि मे ० ००४ से ० ०२५ प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है। यदि सगंध-तेल की औसत उपलब्धि ० ०२५ और गुलाब के फूल का प्रति एकड औसत उत्पादन १५०० टन हो तो भारतीय गुलाब सहज ही बुल्गारिया के गुलाब की समता कर सकेगा।

सगंध-तेल पर अपनी अन्वेषण-विज्ञप्ति मे नारियलवाला तथा रक्षित ने निम्नलिखित विचार प्रगट किये हैं —

"आज भी जो कुछ थोडी सी मात्रा मे भारतवर्ष मे गुलाब का तेल तैयार किया जाता है वह प्राय इतना ही अच्छा है जितना बुल्गारिया के गुलाब का तेल और भारतवर्ष के लिए यह अत्यधिक महत्त्व की बात है कि यहाँ गुलाब के तेल का उत्पादन आज जिस स्तर पर किया जाता है इसमें अधिक अभिवृद्धि की जाय। गाजीपुर जो किसी समय सम्पूर्ण विश्व में भारतीय गुलाब के तेल के लिए विख्यात

था, आज वहाँ बहुत कम गुलाब के तेल का उत्पादन होता है। इसका कारण गुलाब की जाति में निम्नता और जमीन की उर्वराशक्ति का कम हो जाना है। अब उत्तम तेल के उत्पादन का केन्द्र उत्तर प्रदेश में अलीगढ जिले मे बारवाना नामक स्थान हो गया है। गुलाब के उत्पादन का समय बारवाना में केवल छ. सप्ताह तक रहता है। ऐसा ज्ञात हुआ है कि इस अवधि में प्रतिदिन लगभग २०० मन गुलाब की पखुडियो का आसवन होता है और जब मौसम पूरे जोर पर रहता है, जो केवल एक सप्ताह तक ही रहता है, तब गुलाब की कलियो की आमदनी १००० मन तक पहुँच जाती है। अधिकाश गुलाब इत्र बनाने में प्रयुक्त होता है और प्रतिवर्ष केवल ५ से ६ पौण्ड तक ही शुद्ध इत्र तैयार हो पाता है। बारवाना में आसवन का कार्य कन्नौज के आसवको द्वारा पुरानी पद्धति के अनुसार किया जाता है और प्राप्त सूचनाओ से ज्ञात हुआ कि लगभग १३००० पौण्ड गुलाब की पखुडियो से केवल १ पौण्ड गुलाब का तेल निकलता है (दूसरे शब्दो में इत्र की उपलब्धि केवल ०·००८ प्रतिशत होती है जो गुलाब-जल की उपलब्धि के अतिरिक्त है, क्योंकि गुलाब-जल इस आसवन क्रिया के अन्तर्गत ही प्राप्त होता है)। यदि आसवन की वैज्ञानिक प्रणाली अपनायी जाय तो उत्पादन की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है। वर्तमान समय में प्रयुक्त प्रणाली से बारवाना मे यदि सम्पूर्ण गुलाब की पखुडियो का उपयोग गुलाब के आटो (otto) बनाने मे किया जाय, अतर * (Atter) बनाने के लिए नही, तो गुलाब के तेल का उत्पादन प्रतिवर्ष ५० पौण्ड तक हो जायगा। आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली से गुलाब के तेल के उत्पादन का क्रमबद्ध अध्ययन उत्तर प्रदेश के औद्योगिक विभाग द्वारा किया गया है और उससे यह ज्ञात हुआ है कि आसवन के सुधरे हुए उपकरणों द्वारा तेल की उपलब्धि ०·०१५ प्रतिशत तक हो सकती है, अर्थात हम बारवाना में गुलाब की सम्पूर्ण फसल से जितना तेल पुरानी पद्धति से प्राप्त करते हैं उससे दुगना और तेल इस नयी सुधरी हुई प्रक्रिया द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। हमारे विचार से गुलाब की अधिक विस्तृत खेती और गुलाब के इत्र का अधिक उत्पादन भारतवर्ष के लिए अत्यन्त आवश्यक एव महत्वपूर्ण है। ऐसा विदित हुआ है कि दक्षिणी भारत में लगभग १२५ एकड भूमि पर गुलाब की खेती की गयी है परन्तु फूलो के आसवन के लिए अभी तक कोई प्रयास नही किया गया है। तेल के आसवन के लिए केवल रोजा

* (गुलाब का अतर (इत्र) गुलाब के सगन्ध तेल को चन्दन के तेल या पैराफिन के तेल मे विभिन्न अनुपातो में मिलाकर बनाया जाता है, जब कि आटो विशुद्ध गुलाब का सगन्ध तेल होता है। अनु०)

डैमेस्सिना ही उपयुक्त जाति समझी जाती है, परन्तु भारतवर्ष में पैदा होने वाली विभिन्न गुलाव की जातियो एव उपजातियो के क्रमवद्ध अध्ययन से यह हो सकता है कि उनमे से और भी कोन सी उपजातियाँ आसवन के लिए उतनी ही उपयुक्त हो सकती हैं। भारतवर्ष मे गुलाव की कृषि के विस्तार एव उन्नति के लिए हम इससे अधिक क्या जोर दे सकते है, जब कि हम देखते है कि वाल्कन से आने वाले गुलाव के तेल का मूल्य प्रति पौण्ड ६०० रुपये से १००० रुपये तक हैं, इसी तथ्य से भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे गुलाव के तेल के महत्त्व को आँका सकता है।

इग्लैण्ड और यूरोप में गुलाव के तेल के अतिरिक्त गुलाव के फल का भी प्रयोग किया जाता है क्यो कि इनमें विटामिन सी की मात्रा अधिक रहती है। इसे रोज हिप्स (Rose hips) कहते हैं जो गुलाव की विभिन्न जातियो, जैसे सामान्य डॉग गुलाव (R *canina*) और रोमिल पर्णवाले रोजा मोलिस (R *mollis*) के अपरिपक्व फल होते है। इनको उस समय सग्रह करते है जब इनका रग बदलने लगता है और पूर्णरूप से लाल होने के पहले ही उन्हे एकत्र कर लेते है। सग्रह के पश्चात् यथा शीघ्र भैषजिकयोग (Galenicals) तैयार करने में उनका उपयोग किया जाता है जिससे विटामिन नष्ट नही होने पावे। इन अपरिपक्व फलो (रोज हिप्स) का उपयोग ब्रिटेन मे, इनमे विटामिन सी मात्रा अधिक होने के कारण बहुत अधिक होने लगा है। विटामिन सी की इतनी अधिक मात्रा जो गुलाव के इन अपरिपक्व फलो मे रहती है उसका पता सन् १९३८ ई० मे गोल्डवर्ग और वाल्श द्वारा लगाया गया था। वोक्स (Wokes) तथा उनके सहयोगियो के मतानुसार रोज हिप्स में विटामिन "पी" और कैरोटिन भी पर्याप्त परिणाम मे उपलब्ध होता है। इन अपरिपक्व फलो से निर्मित शर्वत मे विटामिन स्थिर नही रहता, परन्तु शुष्क सत्त्व मे स्थिरता बनी रहती है। विटामिन सी अनेक फलो और सब्जियो मे विद्यमान रहता है, परन्तु विटामिन पी जो कई फलो मे पाया जाता है, सब्जियो मे साधारणत अल्प मात्रा में पाया जाता है। रोज हिप्स मे लगभग ३ प्रतिशत मैलिक और साइट्रिक अम्ल पाये जाते हैं और शर्करा का अश लगभग ३० प्रतिशत होता है। रोज हिप्स का उपयोग औषधि निर्माण के लिए पाक के रूप मे बहुत समय से होता आ रहा है परन्तु विटामिन के लिए इसके महत्त्व को अभी कुछ समय से ही जाना गया है।

सन्दर्भ :

(1) (Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (2) Dutt, 1928, *The Commercial Drugs of India*, (3) Schimmel & Co, 1928, *Report*, (4)

Melville, R , and Pyke, M., 1947, *Proc Linn Soc Lond* , 159, 5, (5) Trease, G E , 152, *Text Book of Pharmacognosy*, 334, (6) Naricwala, P A and Rakshit, J N , 1949, *Essential Oils Advisory Committee, Report*, C S I R *Monograph*

सैण्टेलम ऐल्बम (सेण्टेलेसी)

Santalum album Linn (Santalaceae)

चन्दन-काष्ठ (सैन्डलवुड)

नाम—स०—श्वेत चन्दन, हि०—सफेद चन्दन, ब०—सादा चन्दन, त०—शन्दनक कट्टई।

सैण्टेलम ऐल्बम (*Santalum album*) (श्वेत चन्दन) का काष्ठ चीन और भारतवर्ष में अपने विशिष्ट गध के कारण प्राचीन समय मे अत्यधिक मूल्यवान समझा जाता था। हिन्दुओ के धार्मिक उत्सवो मे इसको विशेष मान्यता दी गयी है। ब्राह्मण लोग इसका प्रयोग तिलक के रूप में करते रहे है तथा पारसी लोग इसका प्रयोग अपने मदिरो मे अग्नि मे जलाने हेतु करते रहे हैं। चन्दन-काष्ठ बहुत अधिक टिकाऊ माना जाता है क्योकि दीमक चन्दन-काष्ठ को छूते तक नही, जबकि वे अन्य लकडियो के लट्ठो को नष्ट कर देते है। अत्यन्त प्राचीन चीनी और सस्कृत ग्रन्थो मे चन्दन के नाम का उल्लेख किया गया है। मिश्र वाले इसे १७वी शताब्दी ई० पू० से ही जानते थे। इसका वृक्ष छोटा होता है तथा सदाहरित रहता है। यह सभवत देशीय (भारतीय) पादप है, यद्यपि वनस्पतिज्ञ इसके विषय मे एकमत नही है कि इसका मूल उत्पत्ति-स्थान कहाँ है (किव-Kew-बुलेटिन न ५) मैसूर राज्य, कुर्ग, कोयम्बटूर और मद्रास के दक्षिणी भागो में या तो यह वन्य अवस्था मे उगता है या इसकी कृषि की जाती है। भारतवर्ष में वह क्षेत्र जहाँ से अधिकाश चन्दन-काष्ठ प्राप्त किया जाता है, लम्बाई में लगभग २४० मील तथा चौडाई में १६ मील है जो नीलगिरि पहाडियो से आरम्भ होकर उत्तर में उत्तरी पश्चिमी मैसूर तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र मे समुद्र धरातल से लगभग ४००० फुट तक की ऊँचाई पर इसके पेड उगते है। ऐसा अनुमान किया गया है कि चन्दन रोपणी का सम्पूर्ण क्षेत्र लगभग ६००० वर्गमील है जिसका ८५ प्रतिशत भाग मैसूर और कुर्ग में स्थित है।

श्वेत चन्दन का वृक्ष पराश्रयी होता है। अकुरित होने के कुछ मास बाद ही चन्दन के मूल से चूषकाग (haustoria) निकलते हैं जो प्रथम घास और शाक के

मूल मे घुसते हैं, फिर छोटी-छोटी झाडियो तथा क्षुप में और अन्त में बड़े-बड़े वृक्षो के मूल मे प्रवेश कर जाते है। चन्दन के नव पादप अन्य वृक्षो के नव पादपो के साथ बांस की पत्तियो की बनी हुई टोकरियो में लगाया जाता है। ये छोटे-छोटे वृक्ष चन्दन के वृक्ष के लिए परपोषी होते है। इसके बीज या तो क्यारियो में बोये जाते है या दो-तीन बीजो को साथ ही छोटे-छोटे गड्ढो मे लाल मिर्च के एक बीज के साथ रखकर बोया जाता है। लाल मिर्च के बीज बहुत शीघ्र ही अकुरित होते है और बढकर चदन के नवोद्भिद को छाया और भोजन दोनो प्रदान करते हैं। चदन का वृक्ष बहुत ही कोमल होता है और प्रतिरोपण की क्रिया में आघात पडने से इन्हें बहुत क्षति उठानी पडती है। स्पाइक (spike) नामक व्याधि से ग्रसित होने की सभावना भी इसे अधिक रहती है जो बहुत ही सक्रामक होती है और जो विस्तृत क्षेत्र में विनाशकारी प्रभाव डालती है, विशेषकर वहाँ जहाँ पर वृक्ष बहुत समीप उगे होते है। इसलिये चन्दन की कृषि में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। चन्दन के वृक्ष की वृद्धि पर मिट्टी का विशेष प्रभाव पडता है। जब यह अपने प्राकृतवास से दूर उगाया जाता है तो इसकी सगन्ध तेल का अधिकाश भाग नष्ट हो जाता है। इस तेल का औषधि में बडा महत्त्व है। उर्वर भूमि पर उगनेवाले पौधो की अपेक्षा कडी चट्टानी और लोहित भूमि पर उगनेवाले पौधे में तेल का अश अधिक होता है। वस्तुत जो वृक्ष अनुर्वर भूमि में धीरे-धीरे उगाये जाते हैं उनमें अन्त-काष्ठ (heartwood) का भाग सबसे अधिक होता है और तेल भी सर्वाधिक उपलब्ध होता है। मैसूर के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य स्थानो पर भी चन्दन के वृक्षो के उत्पादन और तेल के आसवन के लिये प्रयास किये गये है, परन्तु इस कार्य मे पर्याप्त सफलता नही मिली है। अभिलेखो से ज्ञात हुआ है कि उत्तरप्रदेश मे कन्नौज मे कुछ समय पूर्व चन्दन-तेल का आसवन किया जाता था, परन्तु इस विषय मे और ज्यादा कुछ नही सुना गया और यह सभव है कि इस क्षेत्र मे श्वेत चन्दन के अभाव के कारण यह उद्योग स्वभावत समाप्त हो गया हो। चन्दन के वृक्ष १८-२० वर्षों की अवस्था मे प्रौढ हो जाते है तब इसके अत काष्ठ की मोटाई इतनी अधिक हो जाती है कि बाहरी सतह दो इच से भी कम रह जाती है। तब वह उखाडने योग्य माना जाता है। पूर्ण विकसित वृक्ष जिनकी अवस्था २७ और ३० वर्ष के लगभग होती है, समूल उखाड दिये जाते प्रथम इसका छाल उतार दिया जाता है, तत्पश्चात बाह्य श्वेत रस-दारू wood) और शाखाये, गधहीन होने के कारण, अलग कर दिये जाते है।

स्वच्छ किये गये अन्त-काष्ठ आरो से २½ फीट लम्बे टुकडो मे काट दिये जाते है और समाक्रन्तन के पश्चात् इन्हे बन्द कोष्ठागार (warehouse) में सूखने के लिये रख दिया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रक्रिया से काष्ठ की सुरभि बढ जाती है। भार मे अन्त काष्ठ सम्पूर्ण वृक्ष का तिहाई भाग होता है।

वाणिज्योपयोगी श्वेत चन्दन तेल .

केवल भारतवर्ष ऐसा देश नही है जहाँ श्वेत चन्दन पाया जाता हो। पूर्वी जावा द्वीप मे श्वेत चन्दन थोडी मात्रा मे प्राप्त होता है। काष्ठ और कभी-कभी श्वेत चन्दन तेल का वाणिज्य भी होता है जो मैकासर (जो सेलीबीस द्वीप मे है) होकर आता है, यह 'मैकासर श्वेत चन्दन तेल' के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि यह तेल सैण्टेलम ऐल्बम से ही आसुत किया जाता है, फिर भी यह भारतीय चन्दन तेल जितना सुरभि-दायक नही होता। समय २ पर अन्य वृक्षो के काष्ठ भी असली चन्दन के स्थान पर प्रयुक्त किये गये है, और इस प्रकार चन्दन के तेल मे एक भ्रम पूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है, क्योकि वाणिज्य मे ये सभी तेल असली चन्दन तेल के नाम से ही चलते है। तथा-कथित 'पश्चिम भारतीय श्वेत चन्दन तेल' असली श्वेत चन्दन तेल नही है क्योकि यह सैण्टेलम ऐल्बम से नही उपलब्ध किया जाता है, अपितु यह फ्यूजेनस ऐक्यू-मिनेटस (*Fusanus acuminatus*— पर्याय-सैण्टेलम प्राइसिऐनम *Santalum preissianum*) से प्राप्त किया जाता है। 'पूर्व अफ्रीकी श्वेत चन्दन तेल' ऑसिरिस की एक जाति सम्भवत ऑसिरिस टेनुइफोलिया (*Osyris tenuifolia*) से प्राप्त किया जाता है। 'पश्चिम आस्ट्रेलियाई श्वेत चन्दन तेल' यद्यपि फ्यूज़ेनस स्पिकेटस (*Fusanus spicatus*) से प्राप्त किया जाता है, फिर भी यह भारतीय चन्दन तेल के सदृश ही होता है, इस लिये इधर कुछ वर्षो से वाणिज्य और चिकित्सा क्षेत्र मे इसने पूर्वी भारतीय श्वेत चन्दन तेल के लिये स्पर्धक होने के नाते एक गभीर परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।

रसायन .

श्वेत चन्दन का सुगध तेल वृक्ष के अत—काष्ठ के छोटे-छोटे टुकडो और बुरादे से प्राप्त किया जाता है। इसके मूल का भी उपयोग होता है और ऐसा समझा जाता है कि इससे अपेक्षाकृत अधिक और अच्छे तेल की उपलब्धि होती है। तेल की उप-लब्धि २ ५ प्रतिशत से ६ प्रतिशत तक होती है। काष्ठ के घनिष्ठ-वयन (closed grained) होने के कारण और तेल की मन्द वाष्पशीलता के कारण आसवन की क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है और इसी से व्ययसाध्य होती है। तेल अत्यन्त श्यान (गाढा) और पीताभ रग का होता है और इसकी विशिष्ट गुलाबी और अत -प्रवेशी

गध होती है। इसका स्वाद कुछ तिक्त और उग्र होता है। यह २० सें० पर ७० प्रतिशत ऐल्कोहॉल मे अपने आयतन के ३ से ६ गुने भाग मे विलेय होता है। इसमे निम्न लिखित नियताङ्क और विशिष्टताये पाई जाती है —

आपेक्षिक घनत्व, ० ९७३ से ०.९८५ तक, प्रकाशीय घूर्णन–१४° से–२१°, अपवर्तनाक १.५०४० से १ ५१०० तक, अम्लमान, ० ५ से ६ तक, एस्टर-मान ३ से १७ तक, सेस्क्विटर्पीन ऐल्कोहॉल (अधिकतर सैन्टेलॉल) ९० से ९६ प्रतिशत तक।

तेल मे प्रमुख रूप से कई ऐल्कोहॉल और उनसे सम्बन्धित ऐल्डिहाइड विद्यमान रहते हैं। तेल के प्रमुख सघटक सैन्टेलॉल मे या तो एक पदार्थ या समावयवियो का मिश्रण विद्यमान रहता है। तेल मे सैन्टेलॉल का अश ९० प्रतिशत या उससे भी अधिक रहता है। यह दो समावयविधो का मिश्रण है जिन्हें अल्फा-सैन्टेलॉल और बीटा-सैन्टेलॉल कहा जाता है। शेष अश के घटक ऐल्डिहाइड और कीटोन जैसे आइसोवैलेरिक ऐल्डिहाइड, सैन्टिनोन, (santenone), सैन्टेलोन (santalone) इत्यादि होते हैं।

अपमिश्रक —वाणिज्योपयोगी तेल मे लगभग १० प्रतिशत देवदार का तेल प्राय मिलाया रहता है। भारतवर्ष मे एरण्ड तेल का भी प्रयोग अपमिश्रक के रूप मे होता है। अपमिश्रण के कारण तेल के भौतिक स्वरूप मे परिवर्तन हो जाने से दोनो अपमिश्रको का पता सरलता पूर्वक लगाया जा सकता है। देवदारु के अपमिश्रण से ऐल्कोहॉल मे चन्दन तेल की विलेयता कम हो जाती है और एरण्ड तेल के अपमिश्रण से एस्टर-मान (ester value) मे पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। ग्लिसरिल ऐसिटेट, वेन्जिल ऐल्कोहॉल, टेर्पिनिऑल इत्यदि कुछ अन्य अपमिश्रक भी प्रयोग मे लाये जाते है।

चिकित्सीय उपयोग —चन्दन के काष्ठ और इससे आसुत तेल दोनो का उपयोग अनेक शताब्दियो से भारतीय चिकित्सा मे किया गया है। चन्दन काष्ठ का उल्लेख भारतीय निघटुओ मे किया गया है, यह तिक्त, शीतल, स्तम्भक माना जाता है एव पैत्तिकता, ज्वर एव प्यास मे लाभदायक माना जाता है। श्वेत चदन को पानी के साथ घिसकर और लेप बनाकर विसर्प (erysipelas), प्रूरिगो (prurigo) और स्वेदराजिका (sudamina) मे त्वचा पर शीतलता लाने के लिये लगाया जाता है। पिसे चन्दन और जल के लेप का प्रयोग साधरणतया स्थानिक शोथ मे किया जाता है और ज्वर एव आधासीसी मे कनपटी (temples) पर इसका प्रलेप किया जाता है। त्वचा पर इसका लेप खुजली एव शोथ को शमन करने के लिये होता है। इसका

प्रयोग स्वेद-जनक एव वाजीकर रूप मे भी किया गया है। ग्लासगो के डा० हेन्डरसन ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने यूरोपीय चिकित्सको का ध्यान सुजाक मे चन्दन के प्रयोग करने की ओर आकर्षित किया। और उन्ही के समय से इसका आन्तरिक प्रयोग होने लगा है जहाँ पर कोपेवा और कवावचीनी असफल सिद्ध हुए हैं। यह कोपेवा की अपेक्षा अधिक पसद किया जाता है, क्योकि चन्दन तेल मूत्र मे किसी प्रकार की दुर्गंध नही पैदा करता और न ही इससे कोई कुप्रभाव शीघ्र पडता है।

आर्थिक सभावनाये .—

मैसूर और कुर्ग मे श्वेत चन्दन के वृक्ष राज्य की सम्पत्ति माने जाते है जब कि कोयम्बटूर और मद्रास के सालेम जिले मे श्वेत चन्दन का जगल वन विभाग के द्वारा परिरक्षित होता है तथा उसी के द्वारा इसका प्रवध भी होता है, यद्यपि पूर्णाधिकार उसका नही है। ब्रिटिश सरकार द्वारा टीपू सुल्तान के हराये जाने के पूर्व मैसूर के शासको का श्वेत चन्दन के वृक्षो पर अपना अधिकार था और विना किसी समुचित अधिकारी की आज्ञा के किसी को भी इनका विदोहन (exploitation) नही करने दिया जाता था, इसके उपयोग के लिये वहुत कडे नियम वना रखे थे। वस्तुत चन्दन का वृक्ष जहाँ भी पाया जाता था, चाहे उगाया गया हो या चाहे स्वय जात हो, वह शासक की सम्पति समझी जाती थी, न कि उस भूमि पर अधिकार रखने वाले भूमि-धर की। इन नियन्त्रणो के प्रयोग मे लाये जाने का मूल्याकन तव किया जा सकता है जब हम इस वात पर ध्यान देते हैं कि वहुत वर्षों तक चन्दन-काष्ठ का निर्यात प्रचुर परिमाण मे होता रहा। १८२५ ई० मे भारतवर्ष के सामुद्रिक व्यापार के विवरण (coastal trade returns) और विदेशी व्यापारिक आकडो (statistics of foreign trade) मे चन्दन-काष्ठ के निर्यात का उल्लेख किया गया है। १८८५–९० ई० के आयात आकडो को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इससे कितना राजस्व प्राप्त होता रहा होगा। इन पाँच वर्षों मे औसतन ६ लाख रुपये के मूल्य का चन्दन-काष्ठ भारत से दूसरे देशो द्वारा खरीदा गया था। मैसूर इस व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और ऐसा कहा जाता था कि श्वेत चन्दन के विक्रय से प्राप्त होनेवाला राजस्व मैसूर के सम्पूर्ण वन-राजस्व का एक मुख्य अश होता था। जब हम वर्तमान समय से कुछ पहले की ओर ध्यान देते है तो हम यह देखते हैं कि प्रथम महायुद्ध के पूर्व श्वेत चन्दन-काष्ठ का वार्षिक उत्पादन लगभग २,५०० से ३,००० टन तक था जिसमे से ५०० से ६०० टन की खपत तो देश मे ही हो जाती थी और शेष निर्यात किया जाता था। यह क्रम १९१६ के मई तक चलता

रहा जब कि बगलोर मे श्वेत चन्दन का कारखाना खोला गया। बगलोर का कारखाना भारतीय दृष्टिकोण से निश्चित ही एक सफल प्रयास सिद्ध हुआ है। आरम्भ मे तेल का उत्पादन शीघ्र ही प्रतिमास २,००० पौण्ड हो गया और १९२१ ई० मे ५५,६४१ पौण्ड तेल का निर्यात निम्नलिखित देशो मे किया गया —

ग्रेट ब्रिटेन, २६,९३१ पौण्ड, जापान, १२,३३६ पौण्ड, फ्रान्स, ७,८१८ पौण्ड, स्ट्रेट्स सेटेलमेण्ट्स १,९८६ पौण्ड, हांगकांग, १,९७४ पौण्ड, आंग्ल मिश्र सूडान, १,५५५ पौण्ड, सयुक्त राज्य अमेरिका १,००० पौण्ड, अन्य देश, ७०१ पौण्ड, कुल ५४,३०१ पौण्ड।

१९२२ ई० और १९२३ ई० के निर्यात आकडे क्रमश १,२१,६०२ पौण्ड और १,४९,४६४ पौण्ड थे। बंगलोर मे कारखाना खुल जाने से भारत मे श्वेत चन्दन तेल के व्यापार मे एक प्रगति आ गयी है। यह ध्यान मे रख कर कि एक टन चन्दन काष्ठ से औसतन लगभग १०५ से ११० पौण्ड तक तेल निकलता है विदेशी ग्राहक तेल का आयात करने लगे है, क्योकि इससे उन्हें अधिक लाभ होता है और चन्दन काष्ठ के भाडे मे अधिक व्यय करने से बच जाते हैं। यूरोपीय माग मे वृद्धि होने से उसकी पूर्ति के लिये मैसूर सरकार ने मैसूर मे एक और कारखाना खोल दी है जिसकी उत्पादनक्षमता प्रति मास २०,००० पौण्ड है। मैसूर से प्राप्त होने वाले सम्पूर्ण श्वेत चन्दन-काष्ठ का आसवन वहाँ की सरकार द्वारा सचालित कारखानो मे ही नही किया जाता। आर्थिक कारणो से चन्दन-काष्ठ का कुछ भाग का आसवन न्यूयार्क मे होता है। १९२७-२८ के आकडो को देखने से पता चल जायगा कि वहाँ कितने चन्दन काष्ठ का आसवन किया गया।

	आसवन के लिये प्रयुक्त चन्दन-काष्ठ का परिमाण			उपलब्ध तेल का परिमाण
	टन	हण्डरवेट	पौण्ड	पौण्ड
बगलोर	७९६	२	९६	१,६७,२६०
मैसूर	८४९	१८	०	
न्यूयार्क	३७५	०	०	४५,८४०
कुल योग	२,०२१	०	९६	२,१३,१००

मैसूर और बगलोर मे सरकार द्वारा सचालित कारखानो मे आसुत तेल के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत कारखानो मे भी थोडी मात्रा मे तेल का आसवन किया जाता है। इसका अधिकाश भाग भारतीय गधियो द्वारा उपयोग मे लाया जाता है जो अनुमानत प्रतिवर्ष १०,००० से १५,००० पौण्ड तक होता है।

वर्तमान समय मे विश्व मे अमेरिका ही श्वेत चन्दन का सर्वाधिक उपभोग करने वाला देश है जहाँ चन्दन तेल का प्रमुख उपयोग स्नान करने का साबुन बनाने मे किया जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे चन्दन तेल के आयात के अध्ययन मे ज्ञात होता है कि इसकी मात्रा १९२४ ई० मे ५०,००० पौण्ड मे कम होकर १९२७ ई० मे ५,००० पौण्ड हो गयी और पुन १९२८ ई० मे बढकर १२,००० पौण्ड हो गयी। यह पता लगाना कठिन है कि आयात में इतनी बडी गिरावट क्यो आ गयी। ऐसा कहा जाता है कि चन्दन-काष्ठ की उपलब्धि मे ७० प्रतिशत कमी हो गयी क्योकि अविवेक पूर्ण ढग से चन्दन वृक्षो को उखाडने से जगलो मे चन्दन वृक्ष की कमी होती जा रही है। अमेरिका मे श्वेत चन्दन की कमी का तीव्र अनुभव किया जा रहा है जो इस बात से सुस्पष्ट है कि वहाँ तेल को दूसरे स्रोतो से प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। आस्ट्रेलियाई तेल पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे उगने वाले यूकैरिया स्पिकेटा (*Eucarya spicata*) नामक छोटे पेड के काष्ठ के आसवन एव परिशोधन द्वारा प्राप्त किया जाता है, यह तेल अब बाजारो मे स्थायी रूप से बिकता है। रासायनिक विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ है कि आस्ट्रेलियाई तेल में लगभग ९५ प्रतिशत सैन्टेलॉल पाया जाता है। इसमे भारतीय तेल की भाँति मीठी सुगधि नही पायी जाती है और इसके ध्रुवण-घूर्णन (optical rotation) मे भारतीय चन्दन तेल से यथेष्ठ अतर पाया जाता है। आस्ट्रेलियाई श्वेत चन्दन तेल के प्रभाजी आसवन से तेल का वह अश प्राप्त किया जाता है जिसकी सुगधि श्वेत चन्दन के तेल के समान होती है और इसे इस प्रकार से समायोजित किया जा सकता है जिससे यह ब्रिटिश भेषजकोश की मन्यता के अदर आ जाय। [ब्रिटिश भेषज-कोश की मान्यता के अन्तर्गत न्यूनतम घूर्णन–१३° होना चाहिये, जब कि मैसूर के चन्दन तेल का घूर्णन कम से कम–१७° है, यदि आस्ट्रेलियाई तेल का प्रभाजी आसवन किया जाय और उसमे सैन्टेलम लैन्सिओलेटम (*S lanceolatum*) से उपलब्ध तेल जिसका घूर्णन–४०° है, मिला दिया जाय तो वह ब्रिटिश भेषज मे निर्धारित सीमा के अन्तर्गत आ सकता है।]

इसमे कई सेस्क्विटर्पीन ऐल्कोहॉल जिसे फ्यूजेनाल कहते है विद्यमान रहते हैं। इन ऐल्कोहॉलो मे उचित परिशोधन करके चन्दन तेल को प्राप्त किया जाता है जिसमे मुक्त ऐल्केहॉल ९० प्रतिशत से कम नही रहते। इन मुक्त ऐल्कोहॉलो का परिकलन $C_{15}H_{24}O$ के रूप मे किया जाता है। भारतीय एव आस्ट्रेलियाई दोनो प्रकार के तेलो को परिमल कार्य मे प्रयुक्त किया जाता है। इनका प्रयोग मूत्र-

प्रजनन-पथ मे निस्सक्रामक के रूप मे और श्वसनी शोथ मे कफोत्सारक के रूप मे किया जाता है। श्वेत चन्दन तेल सन् १९३७-३८ ई० तथा १९३८-३९ ई० मे क्रमश १३,२५९ गैलन तथा ९,६९५ गैलन जिसका मूल्य क्रमश १३,८६,२१६ रु० तथा ९,४७,३१८ रु० था, भारत से निर्यात किया गया। इसी अवधि मे १,००२ टन चन्दन काष्ठ जिसका मूल्य १०,०८,८६७ रु० था और ६४७ टन जिसका मूल्य ६,५३,७४३ रु० था, भारत से निर्यात किया गया। 'सगध तेल सलाहकार समिति' ने सूचना दी कि सम्पूर्ण विश्व के श्वेत चन्दन का वार्षिक उत्पादन ११२ टन है इसमे से ६० से ८० मैसूर (भारत वर्ष) मे उत्पादन होता है जिसका मूल्य ३५,१२,३०० रु० है।

'सगध तेल सलाहकार समिति' का निम्नलिखित प्रतिवेदन ध्यान देने योग्य है। "श्वेत चन्दन तेल का उत्पादन प्रमुख रूप से मैसूर मे होता है और साधारण रूप से कुप्पम, मेटूर, बम्बई, कन्नौज और कारकल (दक्षिणी कर्नाटक) मे भी कुछ उत्पादन होता है। अधिकतर कारखाने आधुनिक भभको से वाष्प के द्वारा श्वेत चन्दन तेल का आसवन करते है जो उच्चकोटि का होता है और इसलिये भारतीय श्वेत चन्दन तेल को विश्व भर मे मान्यता मिली है। फिर भी मगलौर मे कुछ ऐसे कारखाने हैं जो अब भी प्राचीन ढग से तेल का आसवन करते हैं परन्तु उनका उत्पादन नगण्य है और इसलिये उनका कोई महत्व नही है। मैसूर के राजकीय चन्दन तेल कारखाने के एस० जी० शास्त्री के कथनानुसार द्वितीय महायुद्ध काल मे जब यूरोप मे चन्दन काष्ठ का निर्यात अवरुद्ध हो गया था, मैसूर राज्य की सरकार ने मैसूर मे चन्दन तेल का उत्पादन निर्यात करने के उद्देश्य से प्रारभ किया। जिससे चन्दन-काष्ठ का निर्यात कम हो गया। इस प्रकार गत महायुद्ध मे भारत मे चन्दन तेल के उद्योग की पर्याप्त प्रगति हुई और परिणामस्वरूप आज भारतवर्ष चन्दन तेल मे स्वावलम्बी ही नही रहा, अपितु इसका निर्यात भी पर्याप्त रूप मे करने लगा है। ज्यो ज्यो तेल के निर्यात मे वृद्धि होती गयी चन्दन-काष्ठ का निर्यात कम होता गया। फिर भी अभी मैसूर से चन्दन-काष्ठ का पर्याप्त निर्यात सयुक्त राज्य अमेरिका को किया जाता है जहाँ तेल का आसवन किया जाता है, इसका कारण यह है कि वहाँ आयातित तेल पर अमेरिका की सरकार ने अत्यधिक कर लगा दिया है जिससे आयातित तेल अत्यन्त महगा पडता है। अनुमानत भारतवर्ष मे श्वेत चन्दन का उत्पादन १०० टन प्रति वर्ष होता है जिसका मूल्य आज १० रु० प्रति पौण्ड के दर से २२५ लाख रु० होता है। भारतवर्ष मे साबुन सौन्दर्य प्रसाधन एव परिमल उद्योगो के विकास तथा औषधीय पदार्थों के निर्माण मे वृद्धि के साथ ही साथ ऐसा विश्वास किया जा

सकता है कि भारतीय चन्दन तेल के उत्पादन मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जायगी। हमें यह भी मालूम है कि ब्रिटिश भेषज-कोश मे चन्दन तेल के लिये अब एक विशिष्टता और जोड दी गयी है, वह यह है कि इसमे कमसे कम २·० प्रतिशत सैण्टेलिल ऐसिटेट भी होना चाहिये। इस अतिरिक्त विशिष्टता के कारण भारतीय चन्दन तेल के विक्रय मे रुकावट आ सकती है, इसलिये हम चन्दन तेल के उत्पादको का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहते हैं जिससे इस भेषजकोश के अनुसार चन्दन तेल की जहाँ मांग हो वहाँ उसकी पूर्ति वे समुचित ढग से कर सकें।

सन्दर्भ :—

(1) Finnemore, 1926, *The Essential Oils* , (2) Parray E J , 1931, *Sandalwood Oil*, Published by the Govt of Mysore, (3) Parry, E. J *Chemistry of Essential Oils*, 4th Ed , 1; (4) Venkatasaiya and Watson, 1928, *Jour Soc Chem Ind*, 44, (5) Trease, G E., 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 217, (6) Essential Oil Advisory Committee *Report* (Exploratory), 1946, C. *S. I.* R , New Delhi

स्ट्रोफैन्थस (ऐपोसाइनेसी)
Strophanthus (Apocynaceae)

ब्रिटिश भेषजकोश मे मान्य स्ट्रोफैन्थस मे स्ट्रोफैन्थस कोम्बे (*Strophanthus kombe*) के शूक-रहित, सूखे परिपक्व बीज होते है। स्ट्रोफैन्थस कोम्बे अफ्रीका में पाये जाने वाले स्ट्रोफैन्थस की तीस जातियो मे से एक है। यह पूर्वी अफ्रीका के झीलों (नियाजा, टगैनिका, न्यासा) तथा शायर (Shire) नदी के पास के क्षेत्रो मे उपजता है। इसके बीजो का निर्यात जोम्बा (न्यासालैण्ड) और पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका के बन्दरगाहो (क्विलीमेन, इनुहैम्बेन और चिण्डे) से किया जाता है। ओवावेन जो एक क्रिस्टलीय ग्लोइकोसाइड है, स्ट्रोफैन्थस ग्रेट्स के बीजो से या एकोकैन्थेरा ओवावेयो (*Acocanthera ouabaio*) या एकोकैन्थेरा शिम्पेराइ (*A schimperi*) के काष्ठ से प्राप्त किया जाता है।

स्ट्रोफैन्थस की इन जातियो के बीजो का प्रयोग पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकावासी तीरो को विषाक्त बनाने के लिए बहुत दिनो से करते रहे है। इनमे से एक जाति का नाम कोम्बी (kombi) शायर नदी के निकटवर्ती देश के निवासियो को बहुत पहले से था, सन् १८६१ मे लविंगस्टोन ने इसका पता लगाया था। सन् १८८५ मे इस के बीज और उसके सार दोनो के नमूने इग्लैण्ड भेजे गये। फ्रेजर ने सन्

१८८५ ई० मे स्ट्रोफैन्थिन को अलग किया और चिकित्साहेतु बीज के प्रयोग की सिफारिश की। इसका पौधा काष्ठारोही है जो स्वय जात होता है और जिसकी कृषि भी की जाती है। प्रत्येक फूल से दो अपसारी फॉलिकिल (divergent follicles) फलिया उत्पन्न होती हैं, जो पकने पर २० से० से ३५ से० तक लम्बी तथा २ से २.५ से० तक चौडी होती है। ब्रिटिश भेषजकोश मे केवल स्ट्रोफैन्थस कोम्बे के बीज को ही मान्यता मिली है, किन्तु अन्य देशो की भेषजकोशो मे स्ट्रोफैन्थस हिस्पिडस (*S hispidus*) और स्ट्रोफैन्थस ग्रेटस (*S gratus*) इन दोनो जातियो के बीजो को भी मान्यता मिली है। ऐल्कोहॉली फरफुरॉल एव सल्फ्यूरिक अम्ल के द्वारा स्ट्रोफैन्थस की विभिन्न जातियो को विभेद करने की विधि इकेर्ट ने १९३१ ई० मे तथा ड्यूमोण्ट एव थामसन ने १९३९ ई० मे बतायी। भारतवर्ष मे स्ट्रोफैन्थस कोम्बे नही पाया जाता परन्तु स्ट्रोफैन्थस की अन्य बहुत-सी जातियाँ भारत तथा मलाया प्रायद्वीप के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो मे पायी जाती हैं। फिर भी अभी तक ऐसा कोई भी प्रयास नही किया गया जिससे इनमे स्ट्रोफैन्थिन की उपलब्धि का ज्ञान हो सके, तथा जिससे यह जाना जा सके कि कौन सी जातियो के बीज आयातित बीजो के स्थान पर चिकित्सा मे प्रयुक्त हो सकते हैं। भारत मे प्रति वर्ष स्ट्रोफैन्थस के बीजो तथा इससे निर्मित योगो का एक बडी मात्रा मे आयात किया जाता है। असम, उडीसा और दक्षिणी भारत मे स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस (*S wightianus* Wall) स्ट्रोफैन्थस वालिचाइ (*S wallichii* DC) तथा स्ट्रोफैन्थस डाइकॉटैमस (*S. dichotamus*) वन्य अवस्था मे उगते पाये जाते हैं। हाण्डा ने स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस (जो मालाबार मे आरोही के रूप मे पाया जाता है) के बीजो का अध्ययन किया। बीज मे २ १ प्रतिशत ग्लाइकोसाइड पाया गया है जिसको अस्थायी रूप से स्ट्रोफैन्थिन डब्ल्यू, (Strophanthin–W) की सज्ञा दी गयी है। प्रारम्भिक अध्ययन से यह सकेत मिलता है कि स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस के बीजो से निर्मित टिक्चर, भेषजकोशीय स्ट्रोफैन्थस कोम्बे के बीजो से निर्मित टिक्चर के प्राय समान ही रक्त-दाब तथा हृदय पर प्रभाव डालता है। स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस के बीजो से तैयार किये गए टिक्चर की औसत शक्ति (potency), स्ट्रोफैन्थस कोम्बे से निर्मित टिक्चर की अपेक्षा अधिक होती है। स्ट्रोफैन्थस वाइटिआनस से अलग किये गये ग्लाइकोसाइडो मे जैव-सक्रियता उतनी ही पायी जाती है जितनी स्ट्रोफैन्थिन-के बी० पी० (Strophanthin-k B P) तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाप के ओवाबेन (Ouabain) मे पायी जाती है।

कृषि ·

स्ट्रोफैन्थस की कुछ जातियो के पादप सुन्दर होते हैं, जो किसी भी उद्यान की शोभा वढा सकते है। भारत मे स्ट्रोफैन्थस कोम्बे की कृषि वर्तमान परिस्थितियो मे कठिन नही है कलकत्ता के वोटैनिकल गार्डेन मे इसका परीक्षण भी किया गया है, जिसमे कुछ सफलता भी मिली है। भारतवर्ष मे इसकी कृषि की सभावनाओ की ओर औषध-निर्माताओ की दृष्टि उत्सुकता पूर्वक लगी हुई है।

सघटक

स्ट्रोफैन्थस मे ग्लाइकोसाइडो का एक मिश्रण जिसे स्ट्रोफैन्थिन अथवा के-स्ट्रोफैन्थिन (k-strophanthin) कहते हैं, लगभग ८ से १० प्रतिशत तक की मात्रा में पाया जाता है। वीजो मे लगभग ३० प्रतिशत तक स्थिर तेल, नाइट्रोजनी क्षारक (bases) ट्रिगोनेलीन तथा कोलीन, रेज़िन तथा म्यूसिलेज विद्यमान होते है। स्ट्रोफैन्थस एक महत्वपूर्ण औषधि है तथा हृदूवल्य एव मूत्रल के रूप मे इसका प्रयोग किया जाता है। यह वहुत अधिक विषैला होता है और डिजिटैलिस की अपेक्षा आठ-दस गुना अधिक विषैला होता है। डिजिटैलिस की भाँति यह भी हृदय पर कार्य करता है परन्तु स्ट्रोफैन्थस का प्रभाव तन्त्रिका-तन्त्र पर अपेक्षाकृत कम होता है। इसके तथा-कथित शुद्ध तत्त्व का सेवन मुँह के द्वारा नही किया जाना चाहिये। अक्रिस्टलीय स्ट्रोफैन्थिन को ही भेषजकोश मे मान्यता प्राप्त है। जव शुद्ध रूप मे इमका मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है तो पोषणनाल (alimentary canal) मे यह अपघटित हो जाता है। मुख द्वारा प्रयुक्त होने पर यह प्राय कुसह्य होता है और इसके विषैले प्रभाव को दूर करने के लिये स्ट्रिक्नीन का प्रयोग सर्वोत्तम प्रतिविष के रूप मे किया जाता है। अधिक मात्रा मे सेवन करने से सिर दर्द, वक्ष एव पुरोहृद (praecordium) मे सकुचन की अनुभूति, नाडी की गति मे सुस्पष्ट मन्दता अथवा सयोजित हृद-स्पन्द, रक्त दाव मे अति वृद्धि, हृद-अतालता, अनिद्रा तथा उत्क्लेश (मतली) पैदा हो जाते हैं। अन्त शिरा इन्जेक्शन द्वारा इस औपधि के प्रवेश कराने पर उपरोक्त लक्षण सर्वाधिक प्रगट होते हैं।

विषाक्तता की अवस्था मे आमाशय को किसी वामक की सहायता से अथवा आमाशय-नली द्वारा खाली करा देना चाहिये। फिर इसे टैनिक अम्ल के तनु घोल द्वारा साफ किया जाना चाहिये। उद्दीपक औषधि जैसे ब्रान्डी या ऐरोमैटिक स्पिरिट आफ अमोनिया दिया जा सकता है।

सन्दर्भ :

(1) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 475; (2) Chopra, R N, Badhwar, R L and Ghosh, 1949, *Poisonous Plants of India*, 664, (3) Handa, K L, Chopra, I C and Kartar Singh, 1951, *Ind Jour Med Res*, 39, 3

स्ट्रिक्नॉस नक्स-वोमिका (लोगैनिएसी)

Strychnos nux-vomica Linn. (Loganiaceae)

नक्स वोमिका—Nux Vomica

नाम—हिं०—कुचला, ब०—कुचिला, बम्ब०—काजरा, त०—येट्टि, येट्टि-कोट्टे ।

कुचला भारतवर्ष के उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो मे समुद्रतट से ४००० फुट की ऊँचाई तक वन्य अवस्था मे और प्रचुर रूप से उपजता है। बगाल मे यदा-कदा पाया जाता है। दाक्षिणी भारत, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, कोचीन, त्रावणकोर, और कारोमण्डल तट पर बहुत अधिक उपजता है। यह गोरखपुर, विहार, उडीसा, कोकण, उत्तरी कर्नाटक, दक्षिणी महाराष्ट्र और कर्नाटक के जगलो मे भी पाया जाता है। स्ट्रिक्नॉस की एक अन्य जाति जिसे स्ट्रिक्नॉस नक्स-ब्लैण्डा (*Strychnos nux-blanda*) कहते हैं, भी पैदा होती है परन्तु इसका कोई औषधीय महत्व नही है, क्योकि इसमे स्ट्रिक्नीन या ब्रूसीन नही पाया जाता। उडीसा तथा इसके समीपस्थ प्रदेशो मे भी रोपण प्रारम्भ हो गया है। यद्यपि उडीसा मे इसके कृषि के क्षेत्रफल का कोई निश्चित ऑकडा नही प्राप्त हुआ है, परन्तु इसके बीजो का निर्यात आरम्भ हो गया है और ऐसी सूचना मिली है कि देश के निजी उपयोग के लिए बीजो की कुछ मात्रा उपलब्ध हुई है। इससे ऐसी आशा की जाती है कि इन रोपणस्थलियो मे वृक्षो को सफलतापूर्वक पैदा किया जा रहा है।

कुचला एक अत्यन्त चिकित्सोपयोगी महत्त्वपूर्ण भेषज है। बीजो को चूर्ण करके या कभी-कभी उनका क्वाथ बनाकर इसका प्रयोग हिन्दू चिकित्सको द्वारा मदाग्नि तथा तन्त्रिका-तन्त्र के रोगो मे किया गया है। देशीय चिकित्सा मे कुचला का प्रयोग वल्य, उद्दीपक तथा ज्वरशामक के रूप मे किया जाता है, एव चर्म रोगो मे, विशेषकर ऐसे व्रणो मे जिनमे कीडे पड गये हो, उसका प्रयोग होता है। ऐसा कहा गया है कि भारत के कुछ भागो मे वाजीकरण के उद्देश्य से इसका सेवन किया जाता है। बीजो के चूर्ण को भोजन मे मिलाकर घोडो को वल्य के रूप में भी दिया जाता है। फलो के श्वेताभ गूदे मे भी स्ट्रिक्नीन पाया जाता है

फिर भी यह पक्षियो, बन्दरो, गायो और कदाचित् अन्य जानवरो के द्वारा भी खाया जाता है, ऐसा कहा जाता है कि कुछ स्थानो मे इसे मनुष्य भी खाते है। ज्ञातव्य है कि गायो को इसकी पत्तियो को खिलाने से उनके दूध मे कुछ कटुता आ जाती है (जो स्ट्रिक्नीन के कारण होता है), और उस स्थान के लोग ऐसा समझते हैं कि इस प्रकार के दूध से पाचन-शक्ति मे वृद्धि होती है तथा वल्य प्रभाव पडता है, उनके ऐसा समझने का कारण भी है। गैम्बुल के अनुसार इस वृक्ष की लकड़ी को दीमक नही खाते हैं। वाट (Watt) ने वर्णन किया है कि देशी शराव वनाने वाले इसके वीजो का कुछ भाग 'अर्राक' (arrack) शराव मे मिलाते हैं जिससे वह और अधिक मादक वन जाय। वे यह भी उल्लेख करते है कि नीलगिरि की पर्वतीय जनजातियो द्वारा वीज का प्रयोग विप के रूप मे मछलियो को मारने के लिए किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा मे स्ट्रिक्नॉस का प्रयोग साधारणत सत्व टिंचर तथा ऐल्केलॉयड के रूप मे किया जाता है।

संघटक

स्ट्रिक्नीन जैसा कि ऊपर वताया गया है, इस वृक्ष मे पाया जाना वाला सबसे महत्त्वपूर्ण ऐल्केलॉयड है। इसके अतिरिक्त इसमे ब्रूसीन तथा अन्य सघटक भी पाये जाते हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है। ये यौगिक केवल इसके वीज, जो कि इसका सवसे महत्त्वपूर्ण अग है, मे ही नही पाये जाते, अपितु इसके मूल, काष्ठ, छाल, पत्ती तथा फल के गूदे आदि मे भी पाये जाते हैं। वीजो मे कुल ऐल्केलॉयड १ ५३ से ३.२४ प्रतिशत पाया जाता है, जिसका लगभग अर्धांश स्ट्रिक्नीन होता है। इनमे लोगैनिन ग्लाइकोसाइड भी पाया जाता है। हाल के शोधकार्यो से यह ज्ञात हुआ है कि ब्रूसीन और स्ट्रिक्नीन के अतिरिक्त वीजो मे अन्य ऐल्के-लॉयड भी पाये जाते है जैसे वोमिसीन, ऐल्फा-कोल्युब्रीन, वीटाकोल्युब्रीन, स्यूडो-स्ट्रिक्नीन इत्यादि। फल के गूदे मे ग्लाइकोसाइड लोगैनिन तथा ब्रूसीन और स्ट्रिक्नीन पाये जाते हैं। पत्तियो मे ब्रूसीन, स्ट्रिक्नीन तथा स्ट्रिक्निसीन ऐल्केलॉयड पाये गये हैं। छाल मे मुख्यत ब्रूसीन पाया जाता है, स्ट्रिक्नीन केवल लेश मात्र और स्ट्रिक्निसीन तो विल्कुल ही नही पाया जाता है। कम आयु के छाल मे ब्रूसीन की मात्रा ३ १ प्रतिशत तथा पुराने छाल मे १ ६८ प्रतिशत होती है। काष्ठ मे ब्रूसीन तथा स्ट्रिक्नीन दोनो पाये जाते हैं। पुरानी मूलो मे कुल ऐल्कोलॉयड ०.९९ प्रतिशत पाया जाता है, जिसमे ब्रूसीन का अश ०७१ प्रतिशत होता है। भारत मे इसके विस्तृत प्रयोग तथा इसकी अत्यधिक उपज के होते हुए भी स्थानीय लोगो

का ध्यान इस कच्चे माल (कुचले) की उपयोगिता की ओर वहुत ही कम गया है। विदेशी निर्माताओ ने भारतवर्ष मे उपजनेवाले वीजो का यथेष्ट मूल्याङ्कन किया है और स्थानीय एजेण्टो ने प्रचुर परिमाण मे क्रमवद्धरूप से इसका निर्यात किया है। दक्षिणी भारत मे कोचीन निर्यात का प्रमुख वन्दरगाह है, यद्यपि मद्रास, कलकत्ता तथा वम्बई जैसे वन्दरगाहो से भी पर्याप्त मात्रा मे निर्यात होता है। भारतवर्ष का कुल वार्षिक निर्यात लगभग ४५,००० से ५०,००० हण्डरवेट है, जिसका मूल्य लगभग ३,००,००० रु० होता है। यह कुल निर्यात प्राया ग्रेटब्रिटेन को ही किया जाता है। स्ट्रिक्नीन का निर्माण भारतवर्ष (कलकत्ता) मे विशाल पैमाने पर होने लगा है और १५,००० पौण्ड तक इसका उत्पादन होता है जो चूहो को मारने के लिए आस्ट्रेलिया को निर्यात किया जाता है। कलकत्ता के उत्पादको के सामने वडी कठिनाई वीजो का अधिक ऊँचे मूल्य पर प्राप्त होना है, कारण ढुलाई मे रेल का भाडा अधिक पड जाता है। (कलकत्ता मे वीज का मूल्य प्रति ८२ पौण्ड वाले मन का ६ रु० है जव कि उड़ीसा के वन्दरगाहो पर १०५ पौण्ड वाले प्रति मन का मूल्य १ रु० ४ आने है)। यूरोप के निर्माता वहुत कम मूल्य पर बीजो को प्राप्त कर लेते हैं, क्योकि जहाजी कम्पनियाँ इसे स्थैर्यभार (ballest) के रूप मे वहुत कम भाडे मे ही ढो देती है। वर्तमान मूल्य पर भी आस्ट्रेलिया मे इसका आयात पर्याप्त मात्रा मे कृन्तको (चूहो आदि) को मारने के लिए क्रिया जाता है, क्योकि ये वहाँ वहुत अधिक पाये जाते हैं। कुचला के व्यापार पर वस्तुत भारत और श्रीलका का एकाधिकार है। यद्यपि स्ट्रिक्नॉस की अन्य जातियो मे भी ऐल्केलॉयड पाये जाते है तथापि उनकी उपलब्धि इतनी अधिक नही होती कि वे (जातियाँ) व्यापार के लिए उपयोग मे आ सकें। स्ट्रिक्नॉस कोल्युब्रिना (*S colubrina* Linn), जो दक्षिणी भारत मे पाया जाता है तथा जिसमे स्ट्रिक्नीन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है, ऐल्केलॉयडो की उपलब्धि का एक और स्रोत है। एक अन्य स्पर्धक स्ट्रिक्नॉस इग्नेशाई (*S ignatii*) है जो फिलीपाइन्स द्वीपो मे एक आरोही पादप के रूप मे उगता है तथा जिसके फलो को 'सेण्ट इग्नेशियस' फली (St Ignatius beans) कहते हैं। इन फलियो मे स्ट्रिक्नीन तथा ब्रूसीन की मात्रा पर्याप्त होती है और वाणिज्य स्तर पर इनसे सफलता पूर्वक ऐल्केलॉयड निकाला जा सकता है। वीजो मे कुल ऐल्केलॉयड २.५ से ३.० प्रतिशत पाया जाता है, जिसमे स्ट्रिक्नीन का अश ४६ से ६२ प्रतिशत तक रहता है। इन वीजो का प्रयोग प्रमुख रूप से स्ट्रिक्नीन और ब्रूसीन तैयार करने मे होता

है। स्ट्रिक्नीन की मांग धीरे-धीरे बढ़ रही है, क्योंकि इसका प्रयोग कीड़ो तथा अन्य जानवरो को मारने के लिए बहुत अधिक होने लगा है। यदि (कुचला के) वृक्षो के समुचित ढग से उगाने (कृषि करने) तथा बीजो के सग्रह करने की अच्छी प्रणाली की ओर अधिक ध्यान दिया जाय तो देश को पर्याप्त आर्थिक लाभ होगा।

सन्दर्भ :—

(1) Thorpe, *Dictionary of Applied Chemistry*, (2) Dutt, 1928, *Commercial Drugs of India*, (3) Watson and Sen, 1926, *Jour Ind Chem. Soc*, 3, 397, (4) Trease, G. E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 465, (5) Chopra, R N, Badhwar, R L and Ghosh, S, 1949, *Poisonous Plants of India*, 698.

स्वर्शिया चिराता (जेन्शिएनेसी)

Swertia chirata Buch-Ham (Gentianaceae)

चिरेता (Chiretta)

नाम—स०=किरात-तिक्त, भूनिम्ब, हि०—चिरायता, ब०—चिरेता, बम्ब०—चिराइता, किराइता, त०—निल-वेम्बु।

चिरायता एक शाकीय पादप है, जो शीतोष्ण हिमालय मे कश्मीर से भूटान और खसिया पर्वत-श्रेणी तक, समुद्र तल से लगभग ४,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई तक बहुत अधिक उपजता है। इनका प्रयोग हिन्दू चिकित्सको द्वारा प्राचीन समय से ही तिक्त बल्य, क्षुधावर्धक, ज्वरशामक एव कृमिनाशक के रूप मे किया गया है। साधारणत इस पौधे के फाट (infusion) का प्रयोग किया जाता है, परन्तु यह अनेक भैपजिक योगो के निर्माण मे प्रयुक्त होता है। मुसलमान चिकित्सक (हकीम) भी इसे विस्तृत रूप मे प्रयोग करते है। प्रारम्भ मे यूरोपीय चिकित्सको ने जो भारत वर्ष मे चिकित्सा व्यवसाय मे लगे थे, चिरायता के महत्त्व को समझा और प्राय अधिकृत (official) जेन्शियन (Gentian) के स्थान पर चिरायता का प्रयोग करते थे। फ्लेमिङ्ग की रिपोर्ट जिसको वाट ने अपने 'डिक्शनरी ऑफ इकोनॉमिक प्रॉडक्ट्स ऑफ इण्डिया' मे उद्धृत किया है) से चिरायता की तत्कालीन प्रसिद्धि का यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त होता है। उनके कथनानुसार चिरायता मे क्षुधावर्धक, बल्य, ज्वरशामक एव अतिसाररोधी वे सभी गुण जो जेन्शियन मे पाये जाते हैं, विद्यमान हैं।

इन गुणो की मात्रा यूरोप से आये हुए जेन्शियन मे उतनी नही प्राप्त होती जितना यहाँ के चिरायते मे पायी जाती है। स्वर्शिया चिराता के रासानिक सघटन सम्बन्धी परीक्षणो से जो यहाँ भारत मे किये गये है, ऐसा ज्ञात हुआ है कि यह भेपजकोशीय जेन्शियन के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। भारतीय बाजारो मे प्राय साधारण चिरायता का आमापन उसकी तिक्तता के लिए जेल्नर (Zellner) द्वारा बतायी गयी विधि से किया गया है।

इस विधि द्वारा इसमे जो तिक्त तत्व पाये गये उनकी मात्रा १ ४२ से १ ५२ प्रतिशत तक थी। गैथरकोल तथा वर्थ (Gathercoal and Wirth) के अनुसार चिरायता मे चिराटिन नाम का एक तिक्त ग्लाइकोसाइड पाया जाता है जो टैनिन के द्वारा अवक्षेपित किया जाता है और जल अपघटन करने पर उससे दो तिक्त तत्व निकलते है जिन्हे ओफेलिक अम्ल और चिरैटोजेनिन कहा जाता है। चिरैटोजेनिन जल मे अविलेय होता है। इस भेषज मे रेज़िन, टैनिन तथा ४ से ८ प्रतिशत राख भी पाये जाते हैं।

बाज़ारो मे कई प्रकार का नकली चिरायता भी पाया जाता है। दक्षिणी भारत मे स्वर्शिया अगुस्टिफोलिया (*S angustifolia*), स्वर्शिया डिकसैटा, (*S decussata*) स्वर्शिया कोरिम्बोसा (*S corymbosa*) और स्वर्शिया पुलचेला (*S pulchella*) देशी चिकित्सा मे प्रयोग किये जाते हैं। इनमे से कुछ बिल्कुल ही तिक्त नही होते, इसी लिए चिकित्सीय गुणो से रहित होते है। असली चिरायता अर्थात् स्वर्शिया चिराता (*S chirata*) को अब ब्रिटिश एव अमेरिकी भेपजकोशो मे मान्यता मिली है। यह भारतीय बाजारो मे बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है। जापानी चिरायता स्वर्शिया चाइनेन्सिस (*S chinensis* Franchet) नामक पौधे से प्राप्त होता हैं जो अधिक छोटा होता है। इसमे ऐल्कोहॉली सत्व स्वर्शिया चिराटा की अपेक्षा अधिक उपलब्ध होता है तथा यह उससे अधिक तिक्त भी होता है। इसमे एक क्रिस्टलीय ग्लाईकोसाइड स्वर्शियामैरिन विद्यमान रहता है जिससे इमल्सिन द्वारा जल-अपघटन करने पर एरिथ्रोसेण्टौरिन तथा ग्लूकोज़ उपलब्ध होतें हैं। इसमे क्रिस्टलीय स्वादहीन स्वर्टिक अम्ल भी पाया जाता है। चिरायता तिक्त बल्य है। यह अग्निमाद्य तथा उल्लाघ (convalescence) की दुर्बलता मे दिया जाता है। सामान्यतया इसका प्रयोग बल्य के रूप मे (स्फूर्ति लाने के लिए) किया जाता है। चूर्ण, आक्वाथ, टिंक्चर अथवा तरल सत्व के रूप मे इसको दिया जा सकता है। यह गाउट (गठिया) से पीडित रोगियो मे बल्य के रूप मे प्रयुक्त होता है।

सन्दर्भ:

(1) Chopra, R N , Ghosh, N N , and Ratnagiriswaran, 1929, *Ind Jour Med Res* , 16, 770, (2) Wallis, T E , 1946, *Text Book of Pharmacognosy*, 278 , (3) Gathercoal, F N and With E H , 1936, *Pharmacognosy*, 573, (4) Mukerji, B , 1953, *Indian Pharmaceutical Codex*

अर्जिनिया इण्डिका (लिलिएसी)
Urginea indica Kunth. (Liliaceae)
भारतीय स्क्विल (Indian Squill)

नाम—स०—वन-पलाण्डु, कोलकन्द, हिं० और व०—काण्दा, जगली प्याज, प०—फफोर, कचवस्सल, वम्ब०—जगली कादा, त०—नैरि-वेंगायम।

सिला इण्डिका (लिलिएसी)—Scilla indica Roxb (Liliaceae)

नाम—हिं० एव व०—सुफेदी खस, वम्व०—भुइकादा, त०—शिरू-नैरि वेंगायम।

इसे वाणिज्य मे श्वेत स्क्विल के नाम से पुकारा जाता है। इसका पौधा भूमध्य सागरीय तट पर बलुई जमीन मे स्पेन, फ्रान्स, इटली, सिसली, माल्टा, ग्रीस, अल्जीयर्स तथा मोरक्को मे उपजता है। शल्क कन्दो (bulbes) का सग्रह अगस्त मास मे किया जाता है, यह ऐसा महीना होता है जिसमे पौधे पर्ण-विहीन रहते हैं। शल्क कन्द के ऊपर के शुष्क शल्कपत्रो को अलग कर दिया जाता है। तब शल्क कन्दो को छोटे-छोटे अनुप्रस्थ टुकडो मे काटा जाता है जिन्हें धूप मे या स्टोव की गर्मी मे सुखाया जाता है। सूखने पर उनका भार ८० प्रतिशत कम हो जाता है। सूखे टुकडो को बोरों मे (जिसमे लगभग एक हण्डरवेट होता है) या पीपो मे भर कर बन्द कर दिया जाता है। यूनान के प्राचीन चिकित्सको तथा मिस्रवासियो को स्क्विल का ज्ञान भली भाँति था। इसके सिरके का ज्ञान डायस्कोराइडेस को तथा चुक्र मधु (oxymel) का ज्ञान अरब के चिकित्सको को था। स्क्विल के दो किस्म माने जाते है। (१) श्वेत स्क्विल (इटली का अथवा मादा स्क्विल), इसका ऊपरी सतह श्वेत या पीत रग का होता है और इसकी कृषि माल्टा, सिसली तथा इटली मे होती है, और (२) लाल स्क्विल (स्पेन का अथवा नर स्क्विल), इसके स्क्विल की ऊपरी सतह लाल रग का होती है तथा इसकी कृषि अल्जीरिया मे होती है।

भूमध्य-सागरीय देशो से इसके शल्क कन्दो (bulbs) तथा इनसे निर्मित योगो का आयात भारत मे किया जाता था और अब भी किया जाता है और इनके लिए अधिक मूल्य देना पडता है। भारतवर्ष मे स्क्विल की अनेक जातियाँ प्रचुरता

से उगती हैं जिनमे अधीकृत (official)* स्क्विल के ही समान गुण होते हैं। सिला इण्डिका (*S indica* Baker) प्राय रेतीले स्थानो मे, विशेष कर समुद्र के किनारे तथा दक्षिणी प्रायद्वीप मे कोकण और नागपुर के दक्षिण के भागो मे बहुत अधिक उपजता है। इससे सम्बद्ध एक अन्य जाति सिला होहेनाकेराई (*S. hohenackeri* Fisch et Mey) पञ्जाब मे पायी जाती है। इसका कन्द श्वेताभ-भूरे रग का शल्की होता है जिसका आकार जायफल की भाँति होता है तथा जिसका शल्क बहुत ही चिकना एव मासल तथा अतर्ग्रथित (imbricated) होता है। यदि सावधानी से निरीक्षण न किया जाय तो ये शल्क भूल से शल्क कन्द के ऊपरी चोल (coat) समझे जायेगे। ये गोल तथा लट्वाकार होते है तथा कभी-कभी चपटे पार्श्ववाले होते हैं। अर्जिनिया इण्डिका (*U indica* Kunth) बलुई जमीन पर उपजता है, विशेष रूप से भारत के समुद्री तटो पर। यह हिमालय की निचले भागो की शुष्क पहाडियो पर, पञ्जाब के साल्ट रेन्ज तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त मे भी २,००० फुट की ऊँचाई पर उपजता है। इसके शल्क कन्द आकार मे मीठा नीबू के बराबर तथा कचुकित (tunicated) होते हैं, बाहरी शल्क अक्रिय (inert) होते हैं। भारतीय बाजारो मे बिकने वाले स्क्विल इन्ही दोनो जातियो का मिश्रण है। किसी भी सामान्य भेषज विक्रेता की दूकान पर साधारणत समूचे बल्ब ही विक्रय होता है, किन्तु इधर कुछ समय से चटगाँव, बम्बई और जौनपुर (उ० प्र०) से जो स्क्विल भेषज निर्माताओ को उपलब्ध हो रहा है वह छोटे छोटे टुकडो मे विभाजित रूप मे भी प्राप्य हो रहा है। दोनो जातियो के स्क्विल मे एक ही प्रकार की क्रियाशीलता पायी जाती है, और उनका विभेद इस तथ्य से किया जा सकता है कि अर्जिनिया के बल्ब कचुकित (tunicated) होते है जब कि सिला के बल्ब अतर्ग्रसित (imbricaed) होते है। भारतीय शल्क कन्द यद्यपि आयातित शल्क कन्द से छोटा होता है फिर भी समान रूप से ही उत्क्लेशी एव तिक्त होता है। वाणिज्योपयोगी स्क्विल को तैयार करने के लिए विभाजित शल्ककन्द के सुखाने पर विशेष ध्यान दिया जाता है, अन्यथा परिवहन मे उन पर फफूंदी लग सकती है, जिससे इनकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है।

सिला के कपोत्सारक, हृदयोद्दीपक तथा मूत्रल गुणो की ओर इधर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यह लाभदायक एव शक्तिशाली भेपज है, पर इसका आमाशयान्त्र पथ पर बडा ही क्षोभक प्रभाव पडता है। इसलिये चिकित्सा मे हृद्बल्य

* बी० पी० अर्जिनिया मेरीटिमा या अर्जिनिया सिला अधिकृत थे और आइ० पी० मे अर्जिनिया इन्डिका मान्य है —अनु०

के रूप मे इसका अधिक प्रयोग अभी तक नही हो पाया है। अत इसके सक्रिय तत्वो को अलग करने के लिए गत कुछ वर्षों से प्रयास किये गये है तथा यह पता लगाने का भी प्रयास किया गया है कि वल्व मे पाये जाने वाले क्षोभक-तत्वो को उनके सक्रिय-तत्वो से अलग किया जा सकता है अथवा नही। दो यौगिक अलग किये जा चुके है • (१) सिलारेन-ए, जो स्पष्टत एक विशुद्ध क्रिस्टलीय ग्लाइकोसाइड है, और (२) सिलारेन-बी, जो एक अक्रिस्टलीय जटिल सघटक है तथा जो सभवत. दो ग्लाइकोसाइडो का मिश्रण है। यह दूसरा सघटक जल मे सरलता पूर्वक विलय हो जाता है, जब कि प्रथम सघटक (सिलारेन-ए) प्राय अविलेय होता है। इस भेषज पर किये गए प्रयोगो से एव रोगो पर जांच सम्बन्धी अनुभवो से यह ज्ञात हुआ है कि सिलारेन की क्रियाशीलता स्ट्रोफैन्थिन के ही समान है और इसका भी मुख के द्वारा सेवन नहीं किया जा सकता है। स्टोल तथा रेञ्ज ने सिला मेरीटिमा (*S maritima*) की लाल उपजाति से एक नये क्रिस्टलीय हृदग्लाइकोसाइड सिलारोसाइड का पता लगाया है, जो चूहो को मारने के लिए विष के रूप मे प्रयोग किया जाता है। स्क्विल की दो दक्षिण अफ्रीकी जातियो—अर्जिनिया रुबेला (*U rubella*) तथा अर्जिनिया हुर्काइ (*U burki*) से लोउ (Louw) ने क्रमश रुवेलिन तथा ट्रान्सवालिन नायक ग्लाइकोसाइडो को विलग किया है। हाल ही मे शेषाद्री और सुब्रमण्यन ने परिलक्षित किया है कि भारतीय स्क्विल अर्जिनिया इण्डिका (*U. indica*) और सिला इण्डिका (*S indica*) जो छोटे छोटे टुकडो के रूप मे बाजारो मे बिकते हैं, मे दो ग्लाइकोसाइडी प्रभाज पाये जाते हैं—(१) जल-अविलेय प्रभाज यह ग्लाइकोसाइडों का एक मिश्रण है जिसे अम्ल द्वारा जल अपघटन करने पर ग्लूकोज तथा रैम्नोज़ के अतिरिक्त सिलारिडिन ए (Scillaridin A) सबसे अधिक मात्रा मे उपलब्ध होता है। सिलारिडिनए एक नया एग्लूकोन है जिसका गलनाङ्क २६५—२६७° से० और जिसका अणु सूत्र $C_{26}H_{32}O_4$ है। सिलारेनए इस प्रभाज का सबसे प्रमुख ग्लाइकोसाइड समझा जा सकता है, (२) जल-विलेय प्रभाज जो सिलारेन बी से मिलता जुलता है तथा जिसका जल-अपघटन करने पर एक क्रिस्टलीय ऐग्ल्यूकोन जिसका गलनाङ्क २२७—२३०° से० है तथा ग्लूकोज प्राप्त होता है। डे (१९२७ ई०) ने बतलाया कि सिलारेन हृदय पर डिजिटैलिस के समान ही प्रभाव डालता है और आहार (पोषण) नालपर इसकी क्षोभक क्रिया अल्प होती है और यह पोषण पथ द्वारा अवशोषित हो जाता है। स्टेहले, रॉस तथा ड्रेयर ने १९३१ ई० मे यह ज्ञात किया कि सिलारेनबी जानवरो के रक्त-दाव

मे वृद्धि करता है जो उसके वाहिका-सकोचक प्रभाव के कारण होता है। इससे निलय स्पदन के आयाम मे और हृद्निकास क्रिया मे भी वृद्धि हो जाती है। अनेक वर्षों से वम्बई के सरकारी मेडिकल स्टोर डीपो द्वारा अधिकृत (official) स्क्विल के स्थान पर भारतीय स्क्विल को औषधीय योगो के निर्माण के लिये उपयोग मे लाया जा रहा है और इनका परीक्षण रोगियो पर किया गया है जिसका परिणाम सन्तोपजनक रहा है। ब्रिटिश भेषजकोश (१९१४ ई०) मे भारतीय स्क्विल को मान्यता भी मिल गयी थी। ऐसा कहा जाता है कि अर्जिनिया इण्डिका अर्जिनिया मैरिटिमा की अपेक्षा सस्ता होता है, और यदि इसकी कृपि तथा कटाई मे सुधार किया जाय और इसे वडे पैमाने पर उगाया जाय तो यूरोप के बाजारो मे यह सफलता पूर्वक वेचा जा सकेगा। कलकत्ता मे कुछ भेषज निर्माणकर्त्ता चटगाँव के पहाडी क्षेत्रो से उपलब्ध सिला इण्डिका तथा अर्जिनिया इण्डिका के शल्क कन्दो का प्रयोग टिक्चर आदि तैयार करने मे कर रहे है और देश के इस भाग मे इस भेषज का अच्छा व्यापार होने लगा है। नीचे लिखी सारणी मे हमने विदेशो से आयातित तथा भारतीय स्क्विल से निर्मित टिक्चरो को वायोएसे (bioassay) का परिणाम सक्षिप्त रूप से दर्शाया है। ये वायोएसे हैचर की बिल्ली विधि द्वारा, जिसे चोपडा और डे ने सशोधित किया था, किया गया और इससे हृदय पर अच्छा प्रभाव दिखायी दिया।

	वायोएसे के नमूनो की सख्या	वी पी (ब्रिटिश भेषजकोशीय) मानक तक	बी पी मानक से नीचे	बी पी मानक से अधिक शक्तिवाला
चटगाँव से प्राप्त अर्जिनिया इण्डिका तथा सिला इण्डिका	७३	६४ (८७ ६ प्रतिशत)	८ (१० ९६ प्रतिशत)	१ (१.४४ प्रतिशत)
भूमध्यसागर का तटीय अर्जिनिया सिला (आयातित)	२८	१९ (६७.९ प्रतिशत)	३ (१०,७ प्रतिशत)	६ (२१.४ प्रतिशत)

उपर्युक्त सारणी के अध्ययन से ज्ञात हो जायगा कि भारतीय स्क्विल आयातित अर्जिनिया सिला (*U. scilla*) और अर्जिनिया मैरीटिमा से किसी भी दशा मे निम्न कोटि का नही है।

सन्दर्भ:

(1) Chopra, R N, and De, P, 1926 *Ind Jour. Med Res*, 13,781, (2) De, P, 1927, *Jour Pharm. Exp Therap* 31, 6, (3) Stehle, R I, Ross, J and Dryer, M D, 1930, *Jour Pharm Exp Therap.* 42, 1, 45, (4) Chopra, R N, De, P and Mukerjee, B, 1931, *Ind Med Gaz*, 66, 666, (5) Forsdike, J L, and Meek, H O, 1946, *J Pharm Pharmacol* 340, (6) Seshadri T R and Subramanian, S S, 1950, *Jour Sci Industr Res*, 9, 114, (7) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 164

वैलेरियाना वालिचाइ (वैलेरिएनेसी)

Valeriana wallichii DC. (Valerianaceae)

भारतीय तगर (Indian Valerian)

नाम—स०–तगर, हि० और व०–तगर, नहानी, शुमिओ, असारून, वम्व० तगर-गथोडा ।

तगर एक बहुत प्राचीन औषधि है । यूनानी चिकित्सक डायेस्कोरिडेस को इसका ज्ञान 'फू' (Phu) के नाम से था तथा १५४२ ई० मे फूक्स ने इसे 'फू जर्मैनिकम' (Phu Germanicum) की सज्ञा दी थी । मध्ययुग मे इसका प्रयोग परिमल पदार्थ तथा (spice) के रूप मे होता था और इसके औषधीय नाम 'निर्धन मनुष्य का शीरा' (Poor man's treacle) का तात्पर्य बहुत मूल्यवान वस्तु से था । इसके वैलेरियन' नाम का प्रयोग १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हैलर (Haller) के द्वारा किया गया और तत्पश्चात आग्ल वनस्पतिज्ञो ने भी यही नाम प्रयोग किया । जर्मनी, रूस, यूनान तथा एशिया माइनर मे इस भेपज का ज्ञान बहुत प्राचीनकाल से था । आँग्ल वैलेरियन की दो उपजातियाँ होती हैं—(१) वैलेरियाना आफिसिनैलिस वैराइटी मिकानिआइ (*V officinalis* var *mikanii* (Syme) तथा (२) वैराइटी साम्बुसिफोलिया (var *sambucifolia* (Mik) । इस दूसरी उपजाति की चौडी दीर्घायित प्रासवत (oblong lanceolate) पत्तियाँ होती है, जब कि प्रथम उपजाति का पौधा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट होता है, तथा इसकी जडें अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और सुगन्धयुक्त होती हैं । ये पौधे साधारणत डरबीशायर मे पैदा होते हैं और इसकी कृषि उस जिले मे तथा इगलैण्ड के अन्य भागो मे थोडी होती है । ब्रिटिश भेपजकोश मे मान्य मूल भूरे रग का होता है और उससे ८ से १० प्रतिशत तक राख की मात्रा

उपलब्ध होती है जिसमे मैगनीज का अंश अधिक रहता है। फ्रेञ्च-वेल्जियन मूल पीले तृण (पुआल) के रंग का होता है और सम्प्रति यही वाणिज्य का प्रमुख स्रोत है। वेल्जियम मे तथा फ्रान्स के नॉर्ड (Nord) विभाग मे इसकी वैज्ञानिक ढंग से कृषि होती है, परन्तु वन्य अवस्था मे उगने वाले पौधे जो आर्डेनेस (Ardennes) और वोस्जीज (Vosges) पहाड़ियो की सूखी मिट्टी पर पाये जाते है गुण (प्रभाव) मे अधिक क्रियाशील वताये जाते हे। वैलेरिअन की एक उपजाति स्काटलैण्ड और डर्वीशायर मे उगायी जाती थी, इसकी माँग अमेरिका मे वहुत अधिक थी परन्तु अव यह उद्योग समाप्त ही है। स्कालिन्सका (१९४७ ई०) ने यह वताया है कि वैलेरियाना आफिसिनैलिस मे वहुगुणिता (Polyploidy) पायी जाती है जिसके अन्तर्गत द्विगुणित, चतुर्गुणित अथवा अष्टगुणित सभी प्रकार के पादप पाये जाते है। कृषि द्वारा उत्पन्न आँग्ल तगर प्राय अष्टगुणित होते हैं जव कि मध्य यूरोपीय तगर चतुर्गुणित होते हैं।

तगर की माँग विगत कुछ वर्षों से विश्वभर मे वढ गयी हे। सन् १९१८ ई० मे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् तगर का मूल्य इसके साधारण मूल्य से तीन गुना वढ गया था। इसका कारण सम्भवत यह था कि वम विस्फोट के आघात से त्रस्त लोगो के लिए इसका प्रयोग वहुत होता था। यद्यपि गुणो से तगर का प्रयोग हिस्टीरिया और स्त्रियो की तन्त्रिका सम्वन्धी विकारो को दूर करने मे किया गया है तथापि इधर कुछ वर्षों मे किये गये अनुसन्धानो से इसका महत्व और अधिक वढ गया है, क्योकि इसमे विक्षिप्त (न्यूरोसिस) तथा अपस्मार के लिए लाभदायक गुण पाये गये है। इसकी उपयोगिता के कारण भारतवर्ष मे तगर के स्रोतो का विस्तृत अध्ययन किया गया है। भारतवर्ष मे वाणिज्योपयोगी तगर अधिकाशत वैलेरियाना वालिचाइ के प्रकन्दो से प्राप्त होता है जिसका अफगानिस्तान और पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रो से आयात किया जाता है। हिमालय की श्रेणियो मे तगर की कई जातियाँ वन्य अवस्था मे उपजती हैं। वैलेरियाना हार्डविकाइ (*V hardwickii* Wall) और वैलेरियाना वालिचाइ (*V wallichii* DC) दोनो काश्मीर से भूटान तक फैली हुई पर्वत श्रेणियो पर समुद्र तट से ४,००० फुट से १२,००० फुट की ऊँचाई तक वहुत अधिक उपजती है। व्रिटिश भेषजकोशीय वैलेरियाना ऑफिसिनैलिस (*V. officinalis*) भी कश्मीर मे सोनमर्ग मे ८,००० से ९,००० फुट तक की ऊँचाई पर उगता है परन्तु यह वैलेरियन की अन्य जातियो की अपेक्षा कम पाया जाता है। तगर का उद्वेष्टरोधी एव उद्दीपक गुण देशीय चिकित्सा मे भलीभाँति विदित है और निघण्टुओ और आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे इनका वर्णन भी किया गया है।

कृषि

तगर का पौधा सभी प्रकार की साधारण मिट्टियों मे उपजता है, परन्तु उर्वर और भारी दुमट मिट्टी मे जहाँ भली-भाँति आर्द्रता होती है, वहाँ इसकी वृद्धि अपेक्षाकृत अधिक होती है। यह छायादार स्थानो तथा आर्द्र भूमि मे अच्छी तरह उपजता है। इसके जलाभावसह (drought resistant) प्ररूप (form) चाकमय (chalk) तथा चूने के पत्थरवाली पहाडियो पर भी पाये जाते है। पौधो का प्रजनन वसत या पतझड मे इनके पुराने मूलो को छोटे २ टुकडो मे विभाजित करके और उनको दो मे तीन फुट तक की दूरी वाली क्यारियो मे एक-एक फुट की दूरी पर लगा कर सरलतापूर्वक किया जा सकता है। यदि टुकडो को पतझड के आरम्भ मे ही लगा दिया जाय, जिससे तुषार-पात होने के पहले ही वे भली-भाँति लग जाय तो दूसरी पतझड मे अच्छी फसल उपलब्ध हो सकती है। ग्रीष्म मे इसकी क्यारियो को निराया जाता है और तने के आधार पर पत्तियो को वढाने के लिए पुष्प-वृन्तो को तोड दिया जाता है, इससे इसका मूल स्तभ भी वडा हो जाता है। बीजो से भी पौधो का प्रजनन किया जा सकता है। बीज को साधारणत क्यारियो मे वो दिया जाता है। अकुरित बीजो का प्रतिरोपण ७-८ इन्च को दूरी पर पक्तियो मे किया जाता है। पक्तिया १२ इच की दूरी पर वनायी जाती है। वसन्त ऋतु के प्रारम्भ मे ही इन नवपादपो का प्रतिरोपण खेतो मे किया जा सकता है तथा जितनी दूरी पर मूलकर्तन लगाये जाते है उतनी ही दूरी पर इन्हे भी रोपित किया जाता है। मिट्टी मे खेत की (फार्मयार्ड) खाद अच्छी तरह मिला देने से पौधा अच्छा वढता है। खाद को पौध लगाने से पहले ही भली-भाँति मिट्टी मे मिला देना चाहिये। पौधो की जड के चारो ओर मिट्टी का एक छोटा-सा ढूहा वना दिया जाता है, जिससे प्रकद पर्याप्त वडा हो सके।

मूल-कर्त्तन के द्वारा प्रजनित पौधो के मूल का सग्रह १ वर्ष के वाद पतझड मे किया जा सकता है, यद्यपि उस समय प्रकद कम परिमाण मे प्राप्त होता है। बीजो द्वारा प्रजनित पौधे विना दो वर्षो के उचित वृद्धि नही कर पाते। सितवर या अक्टूवर मे उनके प्ररोह हँसुये से जमीन के वरावर काट दिये जाते है और प्रकद खोद लिये जाते है। प्रकदो को वहते हुये पानी मे छिद्रित पेटियो या टोकरियो मे रख कर धोया जाता है। इन्हे किसी संकिर (rake) की सहायता से हिलाकर शीघ्र ही स्वच्छ कर लेते है। तत्पश्चात् भट्ठो की आँच मे सुखा लेते है। वडे-वडे प्रकदो को आधे-आधे और छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित कर दिया जाता है, जिससे वे सरलतापूर्वक सुखाये जा सके। इनको वहुत अच्छी तरह सुखाया जाना चाहिये। स्वीडेन के तगर

जब वसंत ऋतु मे सग्रहीत किये जाते हैं तो उसमे पतझड मे सग्रहीत प्रकन्दो की अपेक्षा तेल की मात्रा अधिक पायी जाती है।

तगर मे मूल्यवान सगन्ध तेल के विद्यमान रहने से इसको औषधि मे इतना अधिक महत्व दिया जाता है। इसके औसत नमूने मे तेल की मात्रा ० ५ से ० ९ प्रतिशत पायी जाती है, परन्तु स्थान और सग्रह-काल के अनुसार तेल की उपलब्धि मे अन्तर पाया जाता है। डच प्रकन्द से १ प्रतिशत तेल उपलब्ध होता है जब कि स्वीडिश प्रकन्द से अपेक्षाकृत अधिक तेल की उपलब्धि होती है। वसन्त ऋतु मे सग्रहीत ताजे प्रकन्दो से २.१२ प्रतिशत से भी अधिक यह वाष्पशील तेल प्राप्त हुआ था, पतझड ऋतु मे सग्रहीत प्रकन्दो से इससे अल्पमात्रा मे तेल निकाला गया। भारतीय तगर मूल जो वैलेरियाना वालिचाइ से प्राप्त किया जाता है, का विश्लेषण बुलॉक (Bullock) के द्वारा किया गया, इन्होने १९२५-२६ ई० मे सूचित किया कि इसमे वाष्पशील तेल की मात्रा ० ३ से १ ० प्रतिशत है जिसमे आइसो-वैलेरिऐनिक तथा फॉर्मिक अम्ल के एस्टर विद्यमान रहते हैं। कश्मीर से प्राप्त तगर-मूलो का परीक्षण स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडीसिन कलकत्ता मे किया गया, जिसका परिणाम वस्तुत वही निकला। इसका कारण शायद यह है कि प्रकन्दो का सग्रह उचित समय पर नही किया गया और न उनका भण्डारण ही ठीक ढग से किया गया। कपूर (१९५३) ने यह ज्ञात किया कि चम्बा मे सग्रहीत वैलेरियाना वालिचाइ मे १ २ सगन्ध तेल पाया जाता है। उपरोक्त स्कूल में परीक्षण के लिए आयी हुई मूलो मे अधिकतर सूखी हुई थी जिससे सगन्ध तेल का अधिकाश भाग उड गया था। सावधानी से सग्रह और भण्डारण करने पर निस्सदेह इसके गुणो मे अभिवृद्धि की जा सकती है जैसा कि विदेशी अन्वेषको द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। भारतीय तगर को ब्रिटिश भेषजकोश मे १९१४ ई० मे तथा १९३२ ई० के चौथे अडेण्डम मे मान्यता प्राप्त हुई थी। भारतवर्ष तथा पूर्वी उपनिवेशो मे भारतीय तगर का प्रयोग वातनुलोमक एव उद्वेष्टरोधी के रूप मे किया जाता है। अमोनियेटेड वैलेरियन टिंक्चर मे वैलेरियाना आफिसिनैलिस के ही समान गुण पाये जाते हैं।

सन्दर्भ :

(1) Chopra, R N 1926, *Ind Jour Med Res* 13, 533, (2) Bullock 1925-26, *Pharm Jour*, 115, 122, 117, 152, (3) Finnemore, 1926, *The Essential Oils*, (4) Kapoor, L D, 1953, *Ind For*, 79, 4, 239, (5) Trease G E 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 546, (6) Dutta, S C and Mukerji, B, 1950, *Pharmacognosy of Indian Roots and Rhizome Drugs*, 71

जिंजिबर ऑफ़िसिनेल (जिंजिबरेसी)

Zingiber officinale Rosc. (Zingiberaceae)

अदरक (जिंजर—Ginger)

नाम—व०—आदा, बम्ब०—आदु, हि०—आदा, अदरक, म०—आले, स०—आद्रकम्, ते०—अल्लमु, आर्द्रकमु, सोटि, स्रिंगवेरमु, त०—अल्लम, अत्तिरादम, मारुप्पु, सगाई, सिंगरम, सुक्कु, सुन्डी, उबुगल्लम, उ०—आद्रोका, ओदा ।

अदरक का इतिहास मनोरजक है। ऐसा प्रतीत होता है कि मसाला एव औषधि के रूप मे उसका उपयोग चीन एव भारत के लोग बहुत प्राचीनकाल से करते आये हैं, चीन के चिकित्सीय ग्रन्थो मे तथा सस्कृत साहित्य मे इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। प्राचीनकाल के ग्रीक और रोमन भी इस मसाले की उत्पत्ति अरव से मानते थे। इसका कारण सम्भवत यह था कि उन्हे इसका सम्भरण लालसागर के रास्ते से होता था। मसाला एवं औषधि के रूप मे अदरक का इतना विस्तृत उपयोग होता रहा है कि इसके सम्वन्ध मे कुछ भी वताना अनावश्यक है। किसी समय वीयर (पेय) को मसालायुक्त वनाने के लिए अदरक का वडा उपयोग किया जाता था और उसी का आधुनिक सस्करण है जिंजर वीयर, जिसे वहुमूल्य समझा जाता है। शीतऋतु के लिए यह अत्यन्त लाभकर पेय समझा जाता है। अदरक का स्वाद ऐरोमेटिक और रुचिकर तीक्ष्ण होता है, इसलिए रसदार व्यञ्जन से लेकर जिंजर ब्रेड तक के विभिन्न प्रकार के व्यञ्जनो को तैयार करने मे मसाले के रूप मे इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है। जठरान्त्र-मार्ग पर वातानुलोमक तथा उद्दीपक प्रभाव डालने के कारण भेपजी (फारमेसी) मे अदरक का वडा महत्वपूर्ण स्थान है। आध्मान (flatulence) के इलाज के लिए अदरक एक घरेलू औषधि के रूप मे व्यापक रूप से व्यवहृत होता है। व्रिटिश तथा अन्य औषधकोशो मे से अनेक औषधियाँ हैं जिनमे अदरक शामिल रहता है।

जिंजिवर आफिसिनेल एक वहुवर्पी शाकीय पादप है जिसके पर्णयुक्त प्ररोह १ से ३ फीट ऊँचे होते हैं। फूलो के झड जाने और तनो के मुरझा जाने पर अदरक सग्रहण के लिए परिपक्व हो जाता है। प्रकदो को खोदकर निकाल लिया जाता है और उन्हें विभिन्न रूपो मे तैयार करके वाजार भेजा जाता है।

जमैका मे जिंजर की कृपि और उसको तैयार करने की विधि हैरिस ने निम्न-लिखित रूप से वतायी है "सर्वोत्तम अदरक जगल की अक्षत भूमि से पैदा होता है,

किन्तु इसके लिए अच्छी तरह से जलोत्सारित चिकनी मिट्टी उपयुक्त होती है। वर्षा पर्याप्त अर्थात ८० इच वार्षिक या इससे अधिक होनी चाहिये और जलवायु समशीतोष्ण होनी चाहिये। प्रकन्द के हर टुकडे को जिसमे आँख या कली हो, छिद्र या खाइयो मे जमीन से कुछ इच गहरा, मार्च या अप्रैल के महीने मे रोप दिया जाता है। अदरक की लवाई या सग्रह दिसम्बर और जनवरी के महीनो मे किया जाता है, किन्तु पूर्व-मूलाकुरो (ratoons) का मार्च से दिसम्बर तक सग्रह किया जा सकता है। तनो के मुर्झा जाने पर प्रकदो को खोदकर निकाला जाता है। पुष्पण के तुरत बाद ही यह काम किया जाता है। प्रकदो को खोदकर निकाल लेने पर उन्हे एक ऐसे चाकू से छीला जाता है जो विशिष्ट रूप से इसी काम के लिए वनाये जाते है। छीलने की क्रिया मे बडी सावधानी और अनुभव की अपेक्षा रहती है प्रकन्दो के 'अगुलियो' (शाखाओ) के बीच की छिलाई अनुभवी कर्मियो द्वारा की जाती है और अन्य भागो की छिलाई कम अनुभवी कर्मियो द्वारा भी कराई जा सकती है। यह काम बहुधा स्त्रियाँ और बच्चे ही करते है। प्रकदो को छीलने के तुरत बाद उन्हे पानी मे डालकर खूब धो दिया जाता है। जितना ही शुद्ध जल होगा और जितना अधिक यह धोया जायगा, उतना ही साफ उत्पाद प्राप्त होगा। दिन मे छीले गये अदरक को रात भर पानी मे रहने दिया जाता है। धो लेने के बाद प्रकदो को सवेरा होते ही साफ फर्श (barbecues) या चटाइयो पर फैलाकर धूप मे सुखाया जाता है। दिन के समय उनको उलट-पलट दिया जाता है और बादल एव वर्षा के मौसम मे तथा रात के समय उन्हे छायादार स्थान मे रख दिया जाता है, क्योकि नमी आने पर फफूदी लग जाती है। सुखाने की प्रक्रिया मे ५ से ६ दिन लग जाते है और इस अवधि मे अदरक का वजन ७० प्रतिशत घट जाता है। सुखाने के बाद इसे धोकर विरजित किया जाता है और तब फिर दो दिनो तक सुखाया जाता है और तब यह जहाज मे लादे जाने के लायक होता है।"

वाणिज्य मे ऐसा अदरक भी व्यवहार मे आता है जो छिला हुआ नही या बहुत कम छिला होता है। इन बिना छिले अदरको को भी कभी सल्फ्युरस ऐसिड या क्लोरिन जैसे रसायनो के माध्यम से सफेद बना दिया जाता है, अथवा उनपर कैलसियम कार्बो-नेट या सल्फेट पाउडर छिडक दिया जाता हे, ताकि देखने मे और अच्छे लगें। यूरोप मे तथा लन्दन मे भी जिंजर पर चूना लगा दिया जाता है, ताकि कीडे-मकोडे खराब न करे। किन्तु जमैका मे जिंजर धूप मे विरंजित किया जाता है, क्योकि ऐसे नमूनो मे जिन पर चूना अधिक लगा रहता है राख की प्रतिशत मात्रा उससे अधिक रहती है जितनी कि अधिकृत रूप से मान्य है। दत्त एव मुकर्जी के अनुसार भारत मे इस पादप की

कृषि आसानी से हो जाती है। वसन्त ऋतु मे प्रकदो के टुकडे करके इसका प्रवर्धन किया जाता है। इन टुकडो को ऐसे गमलो मे रोपना चाहिये जिसमे दुमट मिट्टी हो और उसमें एक तिहाई ऐसी खाद पडी हो, जो खूब सडा गोवर या भेड की लेंडी से बनी हो। जब तक प्ररोह अच्छी तरह न निकल आये तब तक उसमे पानी कम देना चाहिये, और प्ररोहो के विकसित हो जाने पर खूब पानी देना चाहिये। जब-तब हल्की खाद वाला पानी देने से भी इनको लाभ पहुँचता है। ग्रीष्म ऋतु का अन्त आने के समय प्ररोह प्रौढ़ होने लगते है और तब इनमे पानी देना कम कर देना चाहिये। ज्योंही पादप परिपक्व हो जाये तो गमलो को पौधा घरो मे या अन्य सुविधाप्रद स्थानों मे रख देना चाहिये और शीतकाल भर उनको प्राय सूखा रखना चाहिये।

जिजर को तैयार करने की विधियों के अनुसार, तथा जहाँ यह उत्पन्न होता है उन देशो के अनुकूल, सूखे जिजर की अन्य कई किस्मों को मान्यता दी गयी है। "प्लैंटेशन जिजर" उन प्रकदो को कहते हैं जो शीतकाल मे पैदा होते है और प्रकदो के ऐसे टुकडो को रोपने से तैयार होते है जिनमे आँख हो और जिन्हें पूर्ववर्ती वसन्त ऋतु मे रोप दिया गया हो। "रैटून जिजर" (ratoon ginger) ऐसे नये प्रकदो को कहते है जो प्लैंटेशन जिजर की लवाई के समय उसकी पहली फसल के कुछ अश को जमीन के अन्दर ही छोड देने पर उनसे तैयार होते हैं। भारत मे जिजर (अदरक) की खेती कई स्थानो पर होती है। खेती की विधि भी उसी तरह की है जैसी जमैका मे है। भारतीय अदरको मे कोचीन अदरक सबसे अच्छा माना जाता है, किन्तु बगाल के रगपुर, मिदनापुर और हुगली जिले, वम्बई मे थाना और सूरत तथा उत्तर प्रदेश मे कुमाऊँ क्षेत्र अच्छे अदरक के लिए प्रसिद्ध हैं।

रासायनिक सघटन :

अदरक मे ० २५ से ३ प्रतिशत की मात्रा मे एक वाष्पशील तेल होता है जो हल्के भूरे रग का होता है और जिसमे एक विशिष्ट गन्ध होती है। जमैकी अदरक से लगभग १ प्रतिशत, अफ्रीकी से २ से ३ प्रतिशत और भारती अदरक से लगभग ३ ५ प्रतिशत तैल प्राप्त होता है। अदरक के तेल मे, जिसके कारण ही अदरक मे सुवास रहती है, टर्पीन (डी-कैम्फीन तथा बीटा-फिलैन्ड्रीन) एक सेस्क्विटर्पीन (जिजिबेरीन) सिनिओल, साइट्रल तथा बोर्निऑल होते है। अदरक मे जो तीखापन है वह "ओलियो-रेजिन" जिजेरॉल के कारण है, यह एक तैलीय द्रव है जिसमे फिनॉल के सजातीय होते है। २ प्रतिशत पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड मे उबालने से जिजेरॉल की तीक्ष्णता जाती रहती है। बैरिटा पानी मे उबालने से यह अपघटित हो जाता है और इसमे

एक फिनॉली कीटोन जिसे ज़िंजेरोन कहते है, तथा ऐलिफैटिक ऐल्डिहाइड जिसमे मुख्यत नार्मल हॅप्टैल्डिहाइड होता है), प्राप्त होते है। जिंजेरॉल की तरह ज़िंजेरोन भी तीक्ष्ण होता है, किन्तु उसमे एक मधुर गन्ध भी होती है। यह एक क्रिस्टलीय पदार्थ है जो जल मे अल्प विलेय होता है किन्तु तनुक्षारो मे तथा अधिकाश कार्बनिक विलायको मे मुक्त रूप से विलेय होता है। ५० प्रतिशत सोडियम हाइड्रॉक्साइड मे कुछ काल तक रखने से इसकी तीक्ष्णता नष्ट हो जाती है। ज़िंजेरोन वैनिलिन से सम्बन्धित है और उसी से यह सश्लेषण द्वारा तैयार किया गया है। जिंजर (अदरक) मे रेजिनो पदार्थ, स्टार्च या मण्ड तथा म्युसिलेज भी होते है। इससे लगभग ३ से ५ प्रतिशत भस्म और १२ से १५ प्रतिशत जल-विलेय सा प्राप्त होते है।

आर्थिक पक्ष —बाजार मे जमैकी जिंजर बहुत उत्तम समझा जाता है और अधिकतम मूल्य पर बिकता है। भारत मे पैदा होने वाला जिंजर भी काफी बिकता है तथा अधिक ध्यान देने से इसे और व्यापक मान्यता प्राप्त हो सकती है। जमैकी जिंजर बलुई दुमट भूमि मे पैदा होता है, जहाँ अपर्याप्त वृष्टि होने पर अच्छी तरह सिंचाई की जा सकती हो। जमैका मे प्रति एकड औसत उत्पादन (सूखा जिंजर) १००० पौड से १५०० पौड तक होता है और कभी यह २००० पौड तक पहुच जाता है। बगाल मे इसका प्रतिएकड उत्पादन १००० से १५०० पौड है, पजाब मे २१०० पौड तथा त्रावणकोर मे २५०० पौड है। इन आकडो से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक उत्पादन की मात्रा का सम्बन्ध है भारत जमैका के समकक्ष है और अगर वैज्ञानिक ढग से इसकी कृषि की जाय तो विश्वास पूर्वक इस बात की आशा की जा सकती है कि यहाँ का उत्पादन बढ जायेगा।

वाणिज्य मे जिंजर की कई किस्मे हैं जिनके विशिष्ट स्वरूप नीचे दर्शाये गये हैं।

(१) अफ्रीकी जिंजर —प्रकदो के चिपटे तरफ का कॉर्क (छिलका) अशत छिला हुआ रहता है, बिना कॉर्क वाली सतह चिकनी और हल्के भूरे रग की होती है। जो भाग कॉर्क वाला होता है वह धूसर भूरे रग का होता है जिस पर जालिका रूपी या अनुदैर्घ्य झुर्रिया पडी रहती है। विभग (fracture) लघु अथवा लघु एव रेशेदार होता है। भीतरी भाग हल्के पीत रग से भूरे रग का होता है जिसमे अनेक पीत तेल कोशिकाये और रक्ताभ वभ्रु रग के रेजिन कोशिकायें होती हैं। गन्ध तीव्र सुवासयुक्त होता है और स्वाद सुवासयुक्त और बडा तीक्ष्ण होता है।

(२) कोचीन जिंजर —प्रकदो के चिपटे भाग की कॉर्क वाली परत अधिकाशत या बिलकुल ही छील दी गयी रहती है। ऊपरी भाग अत्यन्त हल्के भूरे रग

से लेकर पीताभ धूसर रग का होता है। भीतरी भाग हल्के पीले रग से लेकर मद्धिम पीले रग का होता है जिसमे अनेक पीताभ तेल कोशिकाये तथा भूरा-लाल से लेकर भूरा काले रग की रेजिन कोशिकाये होती है।

इसकी गन्ध ऐरोमेटिक होती है, स्वाद बडा सुवासपूर्ण तथा कडुवा तीखा होता है। विभग लघु और मडयुक्त (mealy) होता है या श्रृगी (horny) होता है।

(३) कलकत्ता जिंजर (रेस जिंजर) इसके प्रकद अफ्रीकी जिंजर के प्रकद के सदृश होते है। शाखाये साधारणत अपेक्षाकृत अधिक लम्बी होती है जिनका अधिक भाग सिकुडा हुआ होता है। रग आधूसर (greyish) भूरे से आधूसर नीला होता है, विभग लघु और भगुर होता है, या मडयुक्त या श्रृगी होता है। इसका भीतरी भाग हल्के पीत या आवभ्रुपीत रग का होता है जिसमे अनेक पिताभ रग की तेल कोशिकाये तथा पीताभ धूसर रग की रेजिन कोशिकाये होती है। इसकी गन्ध सुवासयुक्त होती है, स्वाद मड (स्टार्च) जैसा खूब सुवासयुक्त एव तीखा होता है।

(४) कालीकट जिंजर (लेमन जिंजर) इसके प्रकद अफ्रीकी जिंजर के प्रकद के सदृश होते हे, किन्तु वाह्यत्वक् अधिकाशत छीला हुआ रहता है। बाहरी भाग गहरा पीला, नारगी या आवभ्रुपीत रग का होता है। विभग भगुर तथा असम और मडयुक्त होता है। भीतरी भाग हल्का पीला रग का या आवभ्रु पीत रग का होता है जिसमे रभ (Stele) बडा, तथा पीत रग की अनेक तेल या रेजिन कोशि-काये पायी जाती हैं। गन्ध सुवासयुक्त, स्वाद अत्यन्त सुवासयुक्त और तीखा होता है।

(५) जापानी जिंजर (*Zingiber mioga* Rosc) इसके प्रकद पर साधारणत चूना की एक पतली परत रहती है, बाहर से यह प्राय चिकना और श्वेत होता है, इसके विभग लघु, भगुर एव अत्यन्त मडयुक्त होते है। भीतरी भाग पीताभ श्वेत से लेकर आवभ्रु पीत रग का होता है, जिसमे अनेक आवभ्रु लाल रग की रेजिन कोशिकाये होती है, गन्ध सुवासयुक्त होती है। स्वाद मे यह बहुत ही सुवास पूर्ण और तीखा होता हे।

भारतीय जिंजर के लिए दीर्घकाल तक ग्रेट ब्रिटेन ही सर्वोत्तम बाजार रहा है। जैसा कि नीचे दिये गये निर्यात विवरण से प्रत्यक्ष है। यह विवरण प्रथम विश्वयुद्ध से पहले १९१२ ई० मे ग्रेट ब्रिटेन को भेजे गये निर्यात से सम्बन्ध रखता है।

विभिन्न देशों से भेजे गये निर्यात

	मात्रा हंडरवेट मे	मूल्य पौंड मे
भारत	६५,५४४	१०७,४६४
जमैका	२०,०९६	३७,१८०
सियरालीओन (अफ्रीका)	२१,८६०	३३,२८०

इस व्यवसाय मे भारत की जो सुविधामूलक स्थिति थी उसपर ऐसा लगता है कि अतीत मे जमैका तथा अफ्रीका के उत्पादों के कारण बडा प्रतिकूल प्रभाव पडा था। इस तरह १९२७ ई० मे जमैका ने १२०० टन के ऊपर (२४,०००-हंडरवेट) जिंजर निर्यात किया, सियरा लीओन (अफ्रीका) भी इस सम्बन्ध मे प्रगति का निश्चित सकेत दे रहा है। उसने इस वर्ष १४०० टन (२८,०००-हंडरवेट) जिंजर निर्यात किया। भारतीय जिंजर का निर्यात निश्चित रूप से गिर गया है, जैसा कि वर्ष १९२८-२९ ई० के मार्च ३१ तक हुए निर्यात के आकडो से प्रत्यक्ष है। यह निर्यात २,३०० टन (४६,००० हंडरवेट) का था, किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि जिंजर की बडी मात्रा भारत मे ही रसदार व्यजन बनाने मे तथा औषधीय प्रयोजनों के लिए व्यवहृत हो जाती है। अन्तत यदि हम यहाँ की खपत को ध्यान मे रखे, तो जिंजर के उत्पादन की मात्रा उससे कही अधिक होगी जो कि आकडो मे दिखायी गयी है।

सन्दर्भ :

(1) Nomura, H, 1917, *J C. S, Trans.* 769, (2) Lapworth, Pearson and Royle, 1917 *J C S Trans*, 777, (3) Lapworth and Wykes, 1917 *J C S Trans*, 790, (4) Moudgill, 1925, *Jour Ind Chem Soc*, 5, 251; (5) Rao, Sudborough and Waston, 1925, *J Ind Inst Sci*, 8A, 151, (6) Finnemore, 1926, The *Essential Oils*, (7) Trease, G E, 1952, *Text Book of Pharmacognosy*, 179, (8) Dutta, S. C and Mukerji, B *Pharmacognosy of Indian Root and Rhizome Drugs*, 124.